अष्टाङ्गहृदयम्

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

।। श्रीः ।।

व्रजजीवन आयुर्विज्ञान ग्रन्थमाला
27

अष्टाङ्गहृदयम्

'निर्मला'-हिन्दीव्याख्यया विशेषवक्तव्यादिभिश्च विभूषितम्

(सूत्रस्थान)

व्याख्याकार

डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

साहित्य-आयुर्वेद-ज्यौतिष-आचार्य

एम.ए., पी-एच.डी., डी.एस-सी.ए.

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली

अष्टाङ्गहृदयम्

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड़
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली - 110007
दूरभाष : 23856391; 41530902

पुनर्मुद्रित संस्करण 2014
पेज : 36+336+14
मूल्य : ₹ 200.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129
वाराणसी - 221001

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड़
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISBN : 978-81-7084-559-0

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

THE

VRAJAJIVAN AYURVIJNANA GRANTHAMALA

27

AṢṬĀṄGA HṚDAYAṂ

OF

ŚRĪMADVĀGBHAṬA

Edited with

'Nirmalā' Hindi Commentary
Alongwith Special Deliberation etc.

By

Dr. Brahmanand Tripathi

Sahitya-Ayurveda-Jyotish-Acharya

M.A., Ph.D., D.Sc. A.

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

DELHI

AṢṬĀṄGA HṚDAYAṂ

Publishers :
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
38 U. A., Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007
Phone : (011) 23856391, 41530902
E-mail : cspdel.sales@gmail.com

Reprinted : 2014
Pages : 36+336+14
Price : ₹ 200.00

Also can be had from :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

ISBN : 978-81-7084-559-0

Printed by :
A. K. Lithographers, Delhi



समर्पण पद्य

श्रीलालचन्द्र ! 'गुरुवर्य' ! विदां वरिष्ठ !
पीयूषपाणिरितिविश्रुत ! कीर्तिसिन्धो !
वाराणसेयजनतानुतपादपद्म,
भक्त्याऽर्पयामि भवते स्वकृतिं नवीनाम् ॥ १ ॥

अष्टाङ्गहृदये शास्त्रकाव्ये वाग्भटनिर्मिते ।
व्याख्यैषा निर्मला भायाद् ब्रह्मानन्दकृता नवा ॥ २ ॥

पुरोवचन

आयुर्वेदीय वाङ्मय का इतिहास ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवों से सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त प्राचीन, गौरवास्पद एवं विस्तृत है। भगवान् धन्वन्तरि ने इस आयुर्वेद को **'तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरं चेति'** (सु.सू. १।१९) कहा है। लोकोपकार की दृष्टि से इस विस्तृत आयुर्वेद को बाद में आठ अंगों में विभक्त कर दिया गया। तब से इसे 'अष्टांग आयुर्वेद' कहा जाता है। इन अंगों का विभाजन उस समय के आयुर्वेदज्ञ महर्षियों ने किया। कालान्तर में कालचक्र के अव्याहत आघात से तथा अन्य अनेक कारणों से ये अंग खण्डित होने के साथ प्रायः लुप्त भी हो गये। शताब्दियों के पश्चात् ऋषिकल्प आयुर्वेदविद् विद्वानों ने आयुर्वेद के उन खण्डित अंगों की पुनः रचना की। खण्डित अंशों की पूर्ति युक्त उन संहिता ग्रन्थों को प्रतिसंस्कृत कहा जाने लगा, जैसे कि आचार्य दृढ़बल द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता। इसके अतिरिक्त प्राचीन खण्डित संहिताओं में भेड(ल)संहिता तथा काश्यपसंहिता के नाम भी उल्लेखनीय हैं। तदनन्तर संग्रह की प्रवृत्ति से रचित संहिताओं में अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय संहिताएँ प्रमुख एवं सुप्रसिद्ध हैं। परवर्ती विद्वानों ने वर्गीकरण की दृष्टि से आयुर्वेदीय संहिताओं का विभाजन बृहत्त्रयी तथा लघुत्रयी के रूप में किया। बृहत्त्रयी में– चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता तथा अष्टांगहृदय का समावेश किया गया है, क्योंकि 'गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति'। यह भी तथ्य है कि वाग्भट की कृतियों में जितना प्रचार-प्रसार **'अष्टांगहृदय'** का है, उतना **'अष्टांगसंग्रह'** का नहीं है। इसी को आधार मानकर बृहत्त्रयी रत्नमाला में 'हृदय' रूप रत्न को लेकर पारखियों ने गूँथा हो ?

चरक-सुश्रुत संहिताओं की मान्यता अपने-अपने स्थान पर प्राचीनकाल से अद्यावधि अक्षुण्ण चली आ रही है। अतएव इनका पठन-पाठन तथा कर्माभ्यास भी होता आ रहा है। यह भी सत्य है कि पुनर्वसु आत्रेय तथा भगवान् धन्वन्तरि के उपदेशों के संग्रहरूप उक्त संहिताओं में जो लिखा है, वह अपने-अपने क्षेत्र के भीतर आप्त तथा आर्ष वचनों की चहारदिवारी तक सीमित होकर रह गया है तथा उक्त महर्षियों ने पराधिकार में हस्तक्षेप न करने की प्रतिज्ञा कर रखी थी। यह उक्त संहिताकारों का अपना-अपना उज्ज्वल चरित्र था। महर्षि अग्निवेश प्रणीत कायचिकित्सा का नाम **चरकसंहिता** और भगवान् धन्वन्तरि द्वारा उपदिष्ट शल्यतन्त्र का नाम **सुश्रुतसंहिता** है। ये दोनों ही आयुर्वेदशास्त्र की धरोहर एवं अक्षयनिधि हैं। उन-उन आचार्यों द्वारा इनमें समाविष्ट विषय-विशेष आयुर्वेदशास्त्र के जीवातु हैं, अतएव ये संहिताएँ समाज की परम उपकारक हैं।

चरकसंहिता में स्वास्थ्यरक्षा के सिद्धान्तों, रोगमुक्ति के उपायों तथा आयुर्वेदीय सद्वृत्त आदि विषयों का जो विशद विवेचन उपलब्ध होता है, वह सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। अधिक क्या कहा जाय चरकोक्त सभी सिद्धान्त त्रिकालाबाधित हैं। इस प्रकार के विषयों की पुष्कल सामग्री से प्रभावित होकर **आचार्य दृढबल** ने 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' (च.सि. १२।५४) यह जो डिण्डिमघोष किया है, वह चिकित्सा-सिद्धान्तों पर पूर्णतया सही उतरता है। सुश्रुतसंहिता में आयुर्वेद के आठों अंगों का विभाजन शल्यकर्म को प्रधान मानकर किया गया है; फिर भी आधुनिक शल्य-शालाक्य चिकित्सा की दृष्टि से इन प्राचीन सिद्धान्तों में पग-पग पर प्रतिसंस्कारों की अपेक्षा प्रतीत होती है।

सिंहगुप्त के पुत्र वाग्भट ने इसी प्रतिसंस्कार की उत्कट भावना से प्रेरित होकर पहले अष्टांगसंग्रह की रचना की, जिसे उन्होंने **'युगानुरूपसन्दर्भ'** संज्ञा दी (अ.सं.सू. १।१८)। फिर उसी अष्टांगसंग्रह में से 'हृदय' के समान सारभाग का स्वतन्त्र रूप से पृथक् संग्रह करके 'अष्टांगहृदय' की रचना कर डाली

और उसका विश्व में सादर प्रचार-प्रसार हुआ। वाग्भट ने न केवल आत्रेय आदि महर्षियों के वचनों का अनुकरण मात्र किया है, अपितु प्रसंगोचित अभिनव विषयों का भी इसमें स्थान-स्थान पर समावेश किया है, जो चिकित्सा की दृष्टि से उपादेय हैं। इन्होंने उत्तरस्थान में उन रोगों के निदान तथा चिकित्सा का वर्णन किया है, जिनका वर्णन आरम्भ के निदान तथा चिकित्सास्थानों में नहीं हो पाया था, अतएव आयुर्वेद की बृहत्त्रयी में परवर्ती विद्वानों ने 'अष्टांगसंग्रह' को छोड़कर 'अष्टांगहृदय' का समावेश कर डाला, जो कि इस ग्रन्थ की सर्वांगीण गुणवत्ता का ज्वलन्त प्रमाण है।

वास्तव में कालिदास के अनुसार—'पुराणमित्येव न साधु सर्वं, नवीनमित्येव न चाप्यवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः'॥ (मालवि० १।२) इसका आशय यह है कि पुरानी अथवा नयी सभी वस्तुएँ अपनी गुणवत्ता के कारण ही ग्राह्य एवं तद्विपरीत होने से त्याज्य होती हैं। ऐसा कोई मापदण्ड नहीं है कि पुरानी सभी वस्तुएँ अच्छी हों और नयी सभी वस्तुएँ अनुपादेय हों। तात्पर्य यह है कि अच्छी वस्तु अपने गुणों के प्रभाव से सबका मन आकर्षित कर ही लेती हैं। नारायणभट्ट ने अपने **'प्रक्रियासर्वस्व'** ग्रन्थ में इस बात की प्रामाणिक चर्चा की है कि जिस विषय को पाणिनि ने कहा है, उसकी कमी को उसके परवर्ती वार्तिककार ने पूरा किया; उसमें जो कमी रह गयी थी उसे भाष्यकार पतञ्जलि ने तथा उसमें भी जो त्रुटि रह गयी थी उसे भोज आदि विद्वानों ने सुधारा-सँवारा। अतएव व्याकरण सम्प्रदाय में यह सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है—**'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'**। आयुर्वेद के क्षेत्र में इसी प्रकार का प्रामाण्य महर्षि वाग्भट की रचना का भी है।

भारतीय वाङ्मय में 'वाग्भट' का उल्लेख बहुत मिलता है। यथा—वृद्ध, मध्य, लघु तथा रसवाग्भट नामों से प्रायः चार वाग्भट प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य साहित्यिक क्षेत्र में अनेक वाग्भट कृतिकार के रूप में पाये जाते हैं। हारीतसंहिता में आयुर्वेद के ये आचार्य बहुचर्चित हैं—**'चरकः सुश्रुतश्चैव वाग्भटश्च तथा परः। मुख्याश्च संहिता वाच्यास्तिस्र एव युगे युगे॥ अत्रिः कृतयुगे वैद्यो द्वापरे सुश्रुतो मतः। कलौ वाग्भटनामा च गरिमात्र प्रदृश्यते'**॥ महर्षि वाग्भट के वचनों का उल्लेख **निश्चलकर** ने चक्रदत्त ग्रन्थ की रत्नप्रभा व्याख्या में किया है। १३वीं शती के **रसरत्नसमुच्चय** के रचयिता वाग्भट को ही यहाँ 'रसवाग्भट' के नाम से स्मरण किया गया है, क्योंकि इनके पित्ता का नाम भी **सिंहगुप्त** था। पिता-पुत्र के नाम की समानता को आधार मानकर कुछ ऐतिहासिक विद्वान् अष्टांगहृदय तथा रसरत्नसमुच्चय के रचयिताओं को एक ही मानने का आग्रह करते हैं। इतना सब होने पर भी समय का अन्तराल दोनों को एक स्वीकार करने में बाधक सिद्ध होता है।

वृद्ध या प्रथम वाग्भट—ऐतिहासिकों की मान्यता के अनुसार इन्होंने पूर्ववर्ती आर्षसंहिताओं को अपने ग्रन्थ की आधारशिला बनाकर **'अष्टांगसंग्रह संहिता'** की रचना की। उसके उत्तरस्थान अध्याय ५०।१३२-३३ में अपना संक्षिप्त परिचय भी दिया है। हमारे विचार से ये अपने जीवन के आरम्भ में वैदिक धर्मानुयायी थे और 'अवलोकित' नामक बौद्ध गुरु से दीक्षा लेने के बाद इनके विचारों में परिवर्तन आया, जिसका पूर्ण प्रभाव इनकी उक्त रचना में परिलक्षित होता है। जहाँ बौद्धधर्म के अतिरिक्त वचनों का समावेश हुआ है, उसे आत्रेय आदि महर्षियों के वचनों का तथा इनके पूर्वाश्रम का प्रभाव समझ लेना चाहिए। चिकित्सा-क्षेत्र का विषय 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' होता है। इसमें धार्मिक प्रभाव बाधक नहीं होता। प्रस्तुत वाग्भट ने वैदिकधर्म के साथ बौद्धधर्म का समुचित समन्वय अपनी कृतियों में स्थापित किया है। ऐसा अन्यत्र भी देखा जाता है। अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ गुप्तकाल में अधिकाधिक मात्रा में मिली हैं। कालक्रम में अवलोकितेश्वर की मूर्ति की भुजाओं की संख्या में वृद्धि होती गयी। देखें—कलकत्ता संस्कृत सिरीज XII-8.37-38. इसी के अनुसार वाग्भट ने अवलोकितेश्वर की १२ भुजाओं का उल्लेख किया है। वाग्भट के इस संग्रह तथा हृदय में मन्त्रयान का रूप तो दृष्टिगोचर होता है किन्तु वज्रयान का नहीं। बौद्ध ग्रन्थों में आठ प्रकार की सिद्धियों का जो वर्णन मिलता है, उनका उल्लेख वाग्भट ने रसायन प्रकरण

में अञ्जन, पादलेप, रस, रसायन के रूप में किया है। कोषकार अमरसिंह बौद्ध थे। उन्होंने अपने कोष में पहले सांकेतिक रूप से बुद्ध को प्रणाम कर शास्त्रीय मर्यादा का पालन मंगलाचरण के रूप में किया है। तदनन्तर स्वर्ग, गणदेवता, देवयोनि तथा दैत्यों के नामों का उल्लेख कर बाद में बुद्ध के नामों का परिगणन करते हुए इन्हीं में जिनका भी समावेश किया है, वे अब भिन्न रूप में देखे जाते हैं।

चीनी यात्री इत्सिंग (६७१-६९५ ई०) ने समस्त भारत में प्रसिद्ध 'अष्टांगहृदय' के प्रचार का उल्लेख किया है। इत्सिंग से पूर्ववर्ती वराहमिहिर (५०५-५८७ ई०) के ज्यौतिष सम्बन्धी सिद्धान्तों से हृदयकार प्रभावित थे। जैसा कि इन्होंने आत्रेय आदि को अपनी संहिता का जीवातु माना है, परन्तु इन्होंने दृढबल का उल्लेख कहीं भी नहीं किया, इससे लगता है कि इनके सामने चरकसंहिता का आदिम स्वरूप ही सुलभ था, न कि दृढबल द्वारा प्रतिसंस्कृत स्वरूप। इससे प्रतीत होता है कि दृढबल तथा प्रथम वाग्भट प्रायः समकालीन ही रहे होंगे अथवा दृढबल कुछ पूर्व रहे हों। बाह्य एवं आभ्यन्तर साक्ष्यों की समानता होने पर भी 'हृदय' से 'संग्रह' का कलेवर विशाल है। अतः परिनिरीक्षण करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वाग्भट प्रथम का काल ५५० ई० मान लेना चाहिए। जैसा कि इतिहासकारों ने स्वीकार किया है, तदनुसार यहाँ तक प्रथम अथवा वृद्धवाग्भट की चर्चा की गयी है। अब इसके आगे 'अष्टांगहृदय' के रचयिता वाग्भट की चर्चा प्रस्तुत है।

साम्प्रदायिक स्वरूप— शास्त्र-रचना अथवा शास्त्र-चिन्तन के क्षेत्र में सभी वर्गों के विद्वानों के विचार साम्प्रदायिक भावों को छोड़कर तत्त्वचिन्तन की ओर अग्रसर देखे जाते हैं। कतिपय उदाहरण— नामलिंगानुशासन के रचयिता अमरसिंह की भाँति वाग्भट भी अपने क्षेत्र में सर्वमान्य एवं सुप्रसिद्ध हुए। बौद्ध जिनेन्द्रबुद्धि ने अष्टाध्यायी की काशिकावृत्ति पर **'काशिकाविवरण पञ्जिकान्यास'** नामक व्याख्या लिखी है। व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र में इसका पर्याप्त सम्मान है। वैसे भी लोक में इन्हें बुद्ध के समान सम्मान प्राप्त है। बौद्ध पुरुषोत्तमदेव कृत त्रिकाण्डशेष, भाषावृत्ति (अष्टाध्यायी व्याख्या) ग्रन्थों का सर्वत्र समभाव से आदर है। इन शास्त्रकारों का कहीं भी धर्म की ओर दुराग्रह परिलक्षित नहीं होता। क्योंकि शास्त्रचिन्तन में परम्परा कहीं भी बाधक नहीं होती। देखें—हर्षवर्धन शैव थे और राज्यवर्धन सौगत थे, जबकि ये दोनों सहोदर भाई थे। वास्तुपाल जैन थे। इन्होंने सोमनाथ की यात्रा की तथा अनेक शिव मन्दिरों की स्थापना की— ऐसा वर्णन अरिसिंह कृत 'सुकृतसंकीर्तनकाव्य' में मिलता है। श्रीकृष्णभक्त जयदेव ने गीतगोविन्द में 'केशवधृतबुद्धशरीर' कहकर उनकी स्तुति की है। रत्नावली में श्रीहर्ष ने 'शिव-पार्वती' की और नागानन्द नाटक में **'बुद्धो जिनः पातु वः'** कहकर बुद्ध की वन्दना की है। इन सभी उद्धरणों को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उस काल में आज का जैसा कलह तथा मनोमालिन्यपूर्ण दुराग्रह नहीं था। यही कारण था कि वाग्भट ने आयुर्वेद के निर्वचन में मध्यममार्ग का अनुसरण किया जिससे वाग्भट तथा उनकी कृति का विश्व में सर्वत्र समादर है।

अष्टांगहृदयकर्ता वाग्भट— संग्रह तथा हृदय के कर्ता वाग्भट **'इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः'** इस अंश में दोनों समान हैं। मंगलाचरण के पद्य का आरम्भ 'रागादिरोग' पद से भी दोनों समान हैं और उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार दोनों द्वारा ग्रथित ग्रन्थों में चरक-सुश्रुतानुयायित्व भी समान है। अधिक क्या कहें 'संग्रह' के अनेक अविकल पद्य 'हृदय' में सुलभ हैं। इन दृष्टियों से संग्रह एवं हृदय के रचयिताओं को एक मान लेना चाहिए। इसके समर्थन में हम नागपुर निवासी **वैद्य श्रीगोवर्धनशर्मा छांगाणी** द्वारा लिखित अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान की भूमिका से कुछ अंश साभार उद्धृत कर रहे हैं—

'स्वर्गीय ज्योतिषचन्द्र सरस्वती ने भी अष्टांगहृदय उत्तरस्थान (शिवदास सेन टीका) के सम्पादकीय उपोद्घात में अष्टाङ्गसंग्रह और हृदय के कर्ता भिन्न-भिन्न माने हैं। इसमें आधार केवल संग्रह से हृदय की कुछ स्थानों में मत भिन्नता बतायी है। इस भिन्नता में संग्रह का मत तो दे ही दिया है परन्तु उसमें थोड़ा-सा

सुश्रुतादि के अनुसार आगे और कुछ जोड़ा है जो कि संग्रह के रचनाकाल में छूट गया था। केवल इसी कारण को लेकर अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय के कर्ता भिन्न नहीं हो सकते। अष्टाङ्गसंग्रह की रचना पहले की है। उसके अनन्तर लिखे गये अष्टाङ्गहृदय में वही ग्रन्थकार छूटे हुए विषय को ले सकता है।'

महामहोपाध्याय स्वर्गीय गणनाथसेन सरस्वती एवं श्रद्धेय यादवजी आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ-द्वय के सर्वत्र भाषा-सादृश्य तथा पिता-पितामह का एक नाम आदि होने से संग्रह एवं हृदय के भिन्न-भिन्न कर्ता मानना यह बड़ी भूल की बात है। सारांश यह है कि अष्टांङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय का कर्ता वास्तव में एक ही वाग्भट है।

इन्हीं तथ्यों से आश्वस्त अष्टांगसंग्रह के व्याख्याकार तथा वाग्भट के शिष्य श्री इन्दु ने अपने द्वारा किये गये मङ्गलाचरण '**दुर्व्यारव्याविषसुप्तस्य वाग्भटस्यास्मदुक्तयः**' में तथा व्याख्या '**सोऽयं वाग्भटनामा शास्त्रकारः**' में कहीं भी वृद्ध, प्रथम, मध्य अथवा लघु विशेषणों का प्रयोग इनके नाम के पूर्व नहीं किया है। इन्होंने केवल सिंहगुप्तसूनु वाग्भट कहा है। इनकी दृष्टि से भी दोनों (संग्रह तथा हृदय) के कर्ता वाग्भट एक ही थे। उक्त मत के समर्थन में अष्टांगहृदय के रचयिता की निम्न सूक्तियों का अवलोकन तथा मनन करें और इनकी व्याख्या यथास्थान देखें—

तेभ्योऽति विप्रकीर्णेभ्यः प्रायः सारतरोच्चयः।
क्रियतेऽष्टाङ्गहृदयं नातिसङ्क्षेपविस्तरम्॥ (अ.हृ.सू. १।४)
अष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थनेन योऽष्टाङ्गसङ्ग्रहमहामृतराशिराप्तः।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्॥ (अ.हृ.उ. ४०।८०)

ग्रन्थकारों की व्यास एवं समास पद्धति—प्राचीनकाल में ऐसे अनेक उदाहरण पाये जाते हैं, जहाँ एक ही ग्रन्थकार ने एक ही विषय की व्यास एवं समास पद्धति से रचनाएँ की हैं; यथा—भट्टोजिदीक्षित के पौत्र तथा नागेशभट्ट के विद्यागुरु श्री हरिदीक्षित ने **बृहच्छब्दरत्न** तथा **लघुशब्दरत्न** की रचना की थी। इसी का प्रभाव था कि उनके शिष्य आचार्य नागेशभट्ट ने व्याकरण विषय के अनेक ग्रन्थ लिखे; यथा— **बृहच्छन्देन्दुशेखर** तथा **लघुशब्देन्दुशेखर, मञ्जूषा, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा**। जयपुर के राजा सवाई जयसिंह (१६८८-१७२८ ई०) का काल तथा श्रीनागेशभट्ट का काल समान ही था।

नामनिर्धारण परम्परा—प्रायः प्राचीनकाल में पितामह का ही नाम पौत्र का भी रखा जाता था। देखें—नीलकण्ठ दीक्षित विरचित '**गंगावतरणम्**' की भूमिका, काव्यमाला गुच्छक ७६ पृष्ठ १२, निर्णय-सागर प्रेस से १९१६ में प्रकाशित—'विदितमेव हि सर्वेषामस्माकमस्मद्देशीयाः प्रायशो बिभ्रति पितामहानां नाम; यथा—आचार्य दीक्षितः,—आचार्य दीक्षित पौत्रः'। इस प्रकार की यह नाम निर्धारण परम्परा कहाँ-कहाँ थी और कब से चली आयी है, यह भी एक गवेषणीय विषय है, जिसका प्रभाव 'वाग्भट' नाम पर भी परिलक्षित होता है। देखें—'**भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे पितामहः**'। (अ.सं.उ. ५०।२०३)

अष्टाङ्गहृदय का कलेवर—'कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषान्। अष्टावङ्गानि'। (अ.हृ.सू. १।५) के अनुसार आयुर्वेद के आठ अंग ये हैं— १. कायचिकित्सातन्त्र, २. बाल (कौमारभृत्य) तन्त्र, ३. ग्रहचिकित्सा (भूतविद्या) तन्त्र, ४. ऊर्ध्वांगचिकित्सा (शालाक्य) तन्त्र, ५. शल्यचिकित्सा (शल्यतन्त्र), ६. दंष्ट्रा विषचिकित्सा (अगदतन्त्र), ७. जराचिकित्सा (रसायनतन्त्र) तथा ८. वृषचिकित्सा (वाजीकरणतन्त्र)। यद्यपि उक्त सभी अंगों में कायचिकित्सा एक ऐसा अंग है, जो सम्पूर्ण काय से सम्बन्ध रखता है, अतएव इससे सभी अंग प्रभावित हो जाते हैं, फिर भी अन्य अंगों की सत्ता अपने-अपने स्थान पर विशेष महत्त्व रखती ही है, तथापि कायचिकित्सा अंग को सबमें प्रधान माना जाता है। इन्होंने भी सुश्रुत की भाँति अपने ग्रन्थ (अष्टाङ्गहृदय) को ६ स्थानों में विभाजित किया है।

वाग्भट की प्रतिज्ञा—वैयाकरण सम्प्रदाय में यह प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है कि **'एकमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'**। ऐसा लगता है कि अपने ग्रन्थ रचनाकाल में वाग्भट उक्त सूक्ति से प्रभावित थे। अतएव उन्होंने भी **'न मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम्'** (अ.सं.सू. १।२०) एक ऐसी प्रतिज्ञा की, जिससे ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। उक्त सूक्ति का आशय इस प्रकार है—इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में शब्द अथवा वाक्य की बात तो कौन कहे, एक मात्रा भी शास्त्रों के विपरीत नहीं है। इसके अतिरिक्त भी इन्होंने अपने ग्रन्थ की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के उद्देश्य से प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में लिखा है—**'इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः'**।

आयुर्वेद के प्रति दृढ़ निष्ठा—वाग्भट कुलक्रमागत अधीतविद्य वैद्य एवं अनेक विषयों के उद्भट विद्वान् थे, अतएव वे आयुर्वेद के प्रति स्वयं भी अत्यन्त निष्ठावान् थे। यही कारण था कि उन्होंने सम्पूर्ण समाज को यह सन्देश दिया है—**'आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः'** (अ.सं.सू. १।३ तथा अ.हृ.सू. १।२) अर्थात् धर्म, अर्थ, सुख (काम) नामक तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति सुखायु से होती है। अतः इनकी इच्छा रखने वाले पुरुषों को आयुर्वेद के विश्वजनीन उपदेशों का पालन अत्यन्त आदर के साथ सदैव करते रहना चाहिए।

धन्वन्तरि अवतार की कल्पना—'रसरत्नसमुच्चय' ग्रन्थ की भूमिका में श्रीकृष्णराव शर्मा लिखते हैं—शल्यचिकित्सा के आदिदेव भगवान् धन्वन्तरि का 'वाग्भट' नाम से पुनः कलियुग में अवतार हुआ, इस बात को सिद्ध करने के लिए और उनकी पीयूषपाणित्व शक्ति को दिखाने के लिए ही अष्टाङ्गसंग्रहकर्ता वृद्धवाग्भट ने अपने प्राणहरण के बिना हृदय (अष्टांगहृदय) को सजीव अलग कर दिया, अर्थात् उन्होंने अपने इस उक्तिवैचित्र्य से 'वाग्भट' शल्यचिकित्सा विशेषज्ञ थे, यह विद्वानों को दिखलाया। उक्त विषय को इस प्रकार समझें—'अष्टांगसंग्रह' सर्वावयव पूर्ण आयुर्वेद का शरीरस्वरूप है और 'अष्टांगहृदय' उसके महत्त्वपूर्ण विषयों का सारभूत 'हृदय' है। शल्यकर्म विशेषज्ञ वाग्भट ने 'शरीर' तथा 'हृदय' दोनों को अलग करके भी दोनों को जीवित रखा है, यह इनका वैशिष्ट्य है। वास्तव में यह वाग्भट का आलंकारिक परिचय है।

ग्रन्थरचना-कौशल—सरस्वती के वरदपुत्र वाग्भट द्वारा विरचित 'अष्टांगहृदय' की समृद्ध काव्य-सम्पदा से यह सुविदित है कि ये आयुर्वेदीय समस्त अंगों के ज्ञाता होने के साथ-ही-साथ सुकवि भी थे तथा साहित्यशास्त्र पारावारपारीण भी थे। जो इनके छन्द, रस, गुण, अलंकार आदि से परिपूर्ण प्रस्तुत काव्य-सम्पत्ति से प्रमाणित होता है। एतदर्थ आचार्य दण्डी कृत महाकाव्य-लक्षण का अवलोकन करें—

'सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलङ्कृति'॥ (काव्यादर्श १।१९)

छन्दःसन्दोह प्रयोग कौशल—आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्ततिलक' में उन कवियों को दरिद्र कहा है, जिन्होंने अपने काव्य की रचना एक ही छन्द द्वारा पूर्ण की है, क्योंकि छन्दःप्रयोग में स्वच्छन्द कवि समवृत्त, अर्धसमवृत्त तथा मात्रावृत्त के प्रयोगों में पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं। इसी प्रकार के कवियों में वाग्भट भी अन्यतम हैं। इन्होंने पाठकों के मनोविनोद के लिए श्रुतिमधुर विभिन्न छन्दों का स्थान-स्थान में प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो श्लेष अलंकार का सहारा लेकर स्वागता, पुष्पिताग्रा, पृथ्वी, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित आदि छन्दों को मुद्रालंकार से अलंकृत किया है। यह कवि एवं कविराज वाग्भट का शास्त्र एवं काव्य-कौशल है।

मुद्रालंकार परिचय—'सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः।
नितम्बगुर्वी तरुणी दृग्युग्मविपुला च सा'॥ (कुवलयानन्द)

अर्थात् जिस छन्द में उस छन्द का नाम सार्थक रूप से श्लेषप्रतिभा द्वारा प्रयुक्त किया गया हो, उसे 'मुद्रा' अलंकार कहते हैं। यहाँ अनुष्टुप् छन्द के भेदों में परिगणित 'युग्मविपुला' छन्द का द्व्यर्थक

प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के काव्यकौशल का प्रयोग वाग्भट ने अनेक स्थानों पर किया है। कतिपय अन्य उदाहरण भी देखें—

१. हिङ्गूग्राविडशुण्ठ्यजाजिविजयावाट्याभिधानामयै-
श्चूर्णः कुम्भनिकुम्भमूलसहितैर्भागोत्तरं वर्धितैः।
पीतः कोष्णजलेन कोष्ठजरुजो गुल्मोदरादीनयं
शार्दूलः प्रसभं प्रमथ्य हरति व्याधीन् मृगौघानिव'॥ (अ.हृ.चि. १४।३६)

उक्त 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द के चतुर्थ चरण में द्व्यर्थक 'शार्दूल' शब्द का प्रयोग अपने विविध अर्थों को प्रकट कर रहा है।

२. 'सहचरं सुरदारु सनागरं क्वथितमम्भसि तैलविमिश्रितम्।
पवनपीडितदेहगतिः पिबेत् **द्रुतबिलम्बित**गो भवतीच्छया'॥ (वही, २१।५५)

इस पद्य में आया हुआ 'द्रुतबिलम्बित' पद छन्द तथा अपने प्रसंगोचित महत्त्वपूर्ण अर्थ का भी बोध करा रहा है।

३. 'बीजकस्य रसमङ्गुलिहार्यं शर्करां मधु घृतं त्रिफलां च।
शीलयत्सु पुरुषेषु जरत्ता **स्वागताऽपि** विनिवर्तत एव'॥ (अ.हृ.उ. ३९।१५३)

इस पद्य में प्रयुक्त 'स्वागता' पद छन्द एवं अपने अर्थ का विशिष्ट सूचक भी है।

४. 'मधु मुखमिव सोत्पलं प्रियायाः कलरणना परिवादिनी प्रियेव।
कुसुमचयमनोरमा च शय्या किसलयिनी लतिकेव **पुष्पिताग्रा**'॥ (वही, ४०।४६)

यहाँ श्लेषप्रतिभोत्थापित पुष्पिताग्रा का एक प्राकरणिक अर्थ है और दूसरा है छन्द नाम। यह अर्धसमवृत्त का उदाहरण है।

आचार्य वाग्भट की यही प्रवृत्ति अष्टांगसंग्रह के रचना काल में भी रही है। देखिये—पृथ्वीवृत्त का उदाहरण अ.सं.उ. ४९।३७९-३८० में। प्रायः वृत्तरत्नाकर, छन्दोमञ्जरी, सुवृत्ततिलक आदि के सभी छन्दों के उदाहरण वाग्भट की रचनाओं में सुलभ हैं। अतः कतिपय विशिष्ट छन्दः प्रयोगों को ऊपर दे दिया गया है।

वाग्भट द्वारा प्रयुक्त छन्द—यहाँ हम अकारादि क्रम से छन्दों के नामों का उल्लेख कर रहे हैं। यदि आप इनको देखना चाहें तो सम्पूर्ण अष्टाङ्गहृदय पर लिखी गयी अरुणदत्त की टीका का अवलोकन करें। **छन्द नाम**— १. अनुष्टुप्, २. आर्या, ३. आर्यागीति, ४. आर्याजघनचपला, ५. आर्याविपुला, ६. इन्द्रवज्रा, ७. उद्गीतिरार्या, ८. उपचित्रा, ९. उपजाति, १०. उपेन्द्रवज्रा, ११. औपच्छन्दसिक, १२. कुसुमितलता, १३. गीति, १४. गीतिसमुखचपला, १५. तोटक, १६. दण्डकोऽर्णाख्य; १७. दण्डको व्यालाख्यः, १८. दोधक, १९. द्रुतविलम्बित, २०. धीरललिता, २१. नर्कुटक, २२. पुष्पिताग्रा, २३. पृथ्वी, २४. प्रहर्षिणी, २५. भद्रा, २६. मत्तमयूर, २७. मन्दाक्रान्ता, २८. मात्रासमक, २९. मालिनी, ३०. मुखचपला, ३१. रथोद्धता, ३२. वसन्ततिलका, ३३. वंशस्थ, ३४. विपुला, ३५. वैतालीय, ३६. वैश्वदेवी, ३७. शार्दूलविक्रीडित, ३८. शालिनी, ३९. शुद्धविराट्, ४०. स्रग्धरा, ४१. स्वागता, ४२. हरिणी। इनमें १६ वें तथा १७ वें दो गद्य छन्द हैं।

अलंकार परिचय—वाग्भट की प्रस्तुत रचना में वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों के अनेक उदाहरण अनायास उपलब्ध होते हैं। उन्हें आप निम्न सन्दर्भ संकेतों के अनुसार स्वयं देखने का प्रयत्न करें—हृ.सू. ३।३५; ३।५१; १४।३५; २७।१। हृ.नि. ७।२५; १०।१३। हृ.चि. १८।३२; १९।७; १९।१७; १९।३२। हृ.उ. २।३६; ७।२३; २१।३६; ३९।८०; ३९।१२७ आदि।

रचना-वैशिष्ट्य—वाग्भट की रचना में स्थल-विशेष पर उनके काव्यगत प्रसाद, सुकुमार, मांधुर्य आदि जो विशिष्ट गुण देखे गये हैं, उनमें से कतिपय स्थलों के संक्षिप्त संकेत सूत्र यहाँ दिये जा रहे हैं, तदनुसार आप साहित्यसुधा का रसास्वादन करें। मद्यपान विधि का वर्णन देखें—अ.हृ.चि. ७।७५ से ९० तक तथा अ.हृ.उ. ४०।४२-४७।

पुत्रसुख का माहात्म्य—वाग्भट ने आलंकारिक शब्दशय्या द्वारा पुत्र का वर्णन इस प्रकार किया है—

'स्खलद् गमनमव्यक्तवचनं धूलिधूसरम्। अपि लालाविलमुखं हृदयाह्लादकारकम्।
अपत्यं तुल्यतां केन दर्शनस्पर्शनादिषु। किं पुनर्यद् यशोधर्ममानश्रीकुलवर्धनम्॥

(अ.हृ.उ. ४०।१०-११)

ऐसा लगता है कि पुत्र का वर्णन करते समय वाग्भट कालिदासीय निम्न पद्य से प्रभावित थे—

'आलक्ष्य दन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति'॥ (अ.शा. ७।१७)

वाग्भट की विशेषता—इन्होंने 'इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः' इस प्रतिज्ञा का परिपालन करते हुए आत्रेय आदि के विचारों, सिद्धान्तों, चिकित्साविधियों तथा अपने सभी पूर्ववती आचार्यों (ब्रह्मा, अश्विनीकुमार, वसिष्ठ, भार्गव, अगस्त्य, भेड(ल), हारीत, वृद्धकाश्यप, काश्यप, अग्निवेश, आत्रेय पुनर्वसु, धन्वन्तरि, शौनक, निमि, विदेहाधिपति, जिन, माणिभद्र आदि) द्वारा कहे गये औषध योगों का अपने तन्त्र में संग्रह किया है। इनके इस रचनाकौशल को देखकर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि ऐसी विषय-सम्पदा इसके पूर्ववर्ती किसी दूसरे ग्रन्थ में दुर्लभ है। अतएव सूक्तिकारों ने **'सूत्रस्थाने तु वाग्भटः'** कहकर इसकी प्रशंसा की है। दूसरे आचार्यों ने **'कलौ वाग्भटनामा च'** कहकर आयुर्वेद जगत् में इसी का एकमात्र साम्राज्य स्वीकार किया है। सुना जाता है कि इसके अतिरिक्त इन्होंने **'अष्टाङ्गनिघण्टु'** तथा **'अष्टाङ्गावतार'** नामक दो अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी। इस विषय में अन्य विद्वान् सहमत नहीं हैं। 'अष्टांगनिघण्टु' की हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ ओरियण्टल लायब्रेरी मद्रास में तथा तञ्जौर ग्रन्थ संग्रहालय में हैं जो आज तक प्रकाशित नहीं हो सकी।

वाग्भट सम्बन्धी किंवदन्ती—प्राचीनकाल से प्रचलित किंवदन्तियों का ऐतिहासिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। तदनुसार सुना जाता है कि एक बार भगवान् धन्वन्तरि 'कलियुग के कुप्रभाव से पीड़ित मनुष्य किस प्रकार नीरोग हों'–इस शुभकामना से वे अत्यन्त मनोहर पक्षी का रूप धारण कर उस समय में सुप्रसिद्ध वैद्यों के प्रत्येक घर के पास जाकर **'कोऽरुक्, कोऽरुक्, कोऽरुक्'** इन तीन प्रश्नों को पूछते थे। उत्तर न मिलने पर वे एक घर से दूसरे घर में चले जाते थे। इस प्रकार एक दिन सिन्धुप्रदेश में स्थित वैद्यराज वाग्भट के आँगन के समीप स्थित खिले हुए वृक्ष की शाखा पर बैठकर फिर इन्होंने वे ही तीन प्रश्न पूछे। उस समय श्री वाग्भट रोगियों की चिकित्सा करने में व्यस्त थे, फिर भी उनका ध्यान उस पक्षी की स्पष्ट, श्रुतिमधुर तथा परोपकार प्रेरित गम्भीर अर्थ वाली वाणी को सुनकर और उस पक्षी के अत्यन्त सुन्दर रूप से प्रभावित होकर साथ ही उसे अलौकिक पक्षी समझकर इन्होंने सादर पके हुए फल एवं जल उसे समर्पित किये, किन्तु ग्रहण किये बिना उस पक्षी ने पुनः उन्हीं प्रश्नों को दुहराया। तब वाग्भट ने सोचा—यह पक्षी जब तक अपने प्रश्नों का उत्तर नहीं पायेगा, तब तक यह खायेगा-पीयेगा नहीं। यह निश्चय करके वाग्भट ने उसके उन प्रश्नों का उसी शैली में शास्त्रसम्मत उत्तर इस प्रकार दिया—**'हितभुक् मितभुक् अशाकभुक्'**। वाग्भट के इन उत्तरों को सुनकर इनके द्वारा समर्पित फल-जल का सेवनकर प्रसन्न होकर उस पक्षी ने कहा—मैं सुयोग्य वैद्य की परीक्षा के लिए पक्षी का रूप धारण कर

भारतवर्ष में घूमता हुआ यहाँ आया हूँ। मैं तुम्हारे इस आयुर्वेदीय ज्ञान से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम अष्टांग आयुर्वेद की रचना करो! ऐसा कहकर वह पक्षी अन्तर्धान हो गया। उसके पश्चात् ही इन्होंने अपने इन ग्रन्थरत्नों की रचना की। यह किंवदन्ती चिरकाल से 'वाग्भट' के साथ अनुस्यूत है।

परवर्ती कतिपय ग्रन्थकार एवं ग्रन्थ—'कल्याणकारक'—इसकी रचना आचार्य **उग्रादित्य** ने की। ये जैन धर्मानुयायी थे, अतएव इन्होंने अपनी धर्मपरम्परा के अनुरूप चरकोक्त 'माधुतैलिकबस्ति' के स्थान पर 'गौडतैलिकबस्ति' का विधान किया, क्योंकि जैन सम्प्रदाय के आचार्य प्राणिज द्रव्य (मधु) का प्रयोग नहीं करते।

योगशतक—इस ग्रन्थ के रचयिता श्री नागार्जुन हैं। अलबरूनी ने अपनी यात्रा के प्रसंग में जिस नागार्जुन का उल्लेख किया है, वे ८वीं अथवा ९वीं शती के आचार्य थे, न कि ये सुश्रुतसंहिता के प्रतिसंस्कर्ता थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में अनेक पद्य 'अष्टांगहृदय' से लिये हैं। अतः निश्चित रूप से यह वाग्भट से परवर्ती रचना है। इसमें आयुर्वेद के ८ अंगों के विवरण के अतिरिक्त उत्तरतंत्र भी दिया है। वररुचि द्वारा लिखित **'योगशतक'** इससे भिन्न है।

सिद्धसारसंहिता—इसके कृतिकार दुर्गगुप्तात्मज **'रविगुप्त'** हैं। ये बौद्धधर्मावलम्बी थे। १०वीं शती में वर्तमान चन्द्रट ने अपनी रचनाओं में 'सिद्धसारसंहिता' के अनेक स्थलों को उद्धृत किया है। उक्त संहिता के रचयिता ९वीं शती में विद्यमान थे। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी तीन पाण्डुलिपियाँ नेपाल सरकार के पुस्तकागार काठमाण्डू में सुरक्षित हैं।

हृदय के टीकाकार—अकोला निवासी हरिशास्त्री पराडकर वैद्य ने अष्टांगहृदय के **'वाग्भटविमर्श'** में ३४ व्याख्याओं तथा २३ व्याख्याकारों के नाम दिये हैं। जिनमें श्री अरुणदत्त द्वारा रचित सर्वांगसुन्दरा व्याख्या सम्पूर्ण तथा श्री हेमाद्रि द्वारा रचित आयुर्वेदरसायना व्याख्या अपूर्ण है, जिसके शेष अंश अद्यावधि प्राप्त नहीं हुए हैं। **वाग्भट संहिता** अपने गुणों से सर्वत्र सम्मानित है, अतएव प्रायः सभी भाषाओं में इसके अनुवाद सुलभ हैं।

वाग्भट के व्याख्याकार अरुणदत्त—श्रीमृगांकदत्त पुत्र के श्री अरुणदत्त ने अष्टांगहृदय की 'सर्वांगसुन्दरा' नामक व्याख्या लिखी है। अन्य टीकाओं की तुलना में यह महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने इसमें यथासम्भव पदों के अर्थ दिये हैं। शंकायुक्त स्थलों का समाधान किया है। प्रायः छन्दों के नाम-निर्देश तथा उनके लक्षण दिये हैं। विषय का समर्थन करने के लिए प्राचीन आयुर्वेदीय शास्त्रों के उद्धरण उद्धृत किये हैं, साथ में उनके ठीक-ठीक सन्दर्भ-संकेत भी दिये हैं। आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र छन्द, व्याकरण आदि का परिचय भी दिया है। यद्यपि अरुणदत्त नामक अनेक विद्वान् हुए हैं तथापि अष्टांगहृदय के व्याख्याकार मृगांकदत्त के पुत्र अरुणदत्त ही हैं, जैसा कि इन्होंने ग्रन्थारम्भ की व्याख्या के तृतीय पद्य में कहा है—

श्रीमन्मृगाङ्कतनयष्टीकामष्टाङ्गहृदयस्य ।
श्रीमानरुणः कुरुते सम्यग्द्रष्टुः पदार्थबोधाय॥ ३॥

वाग्भट के व्याख्याकार हेमाद्रि—देवगिरि निवासी महाराजाधिराज महादेव के पुत्र श्रीरामदेव के शासन काल में हेमाद्रि ने **'चतुर्वर्गचिन्तामणि'** नामक ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने ही इसके बाद **'अष्टांगहृदय'** पर टीका की। प्राचीनकाल में पण्डितों की प्रतिभा बहुमुखी देखी जाती थी। आज 'हृदय' में जो इनकी टीका देखी जाती है, वह केवल अष्टांगहृदय के सूत्रस्थान तथा कल्पसिद्धि स्थानों पर ही है, अन्यत्र नहीं। इनकी टीका का नाम **'आयुर्वेदरसायना'** है।

विशेष—हेमाद्रि ने अपनी व्याख्या द्वारा अष्टांगहृदय में निर्दिष्ट विषयों का अपनी योग्यतानुसार अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। अनेक स्थानों पर इन्होंने अरुणदत्त की व्याख्या का खण्डन करके अपने मत की बुद्धिपूर्वक स्थापना की है और कहीं-कहीं तो इन्होंने अरुणदत्त की व्याख्या से भी विस्तृत

विवरण उपस्थापित किया है। ऐसे अवसरों को चरक ने **'बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीत्'** कहा है। सच तो यह है— **'विद्या गुरूणां गुरुः'**।

पाठभेद तथा प्रक्षिप्त पद्य—वैदिक वाङ्मय को छोड़कर परवर्ती सभी प्रकार के साहित्य में पाठभेदों तथा प्रक्षिप्त गद्यों तथा पद्यों की भरमार देखी जाती है। तद्विद्य विद्वान् भी प्रसंगोचित पाठभेद को देखकर उसके समर्थक हो जाते हैं। 'इदम् इत्थम्' (यह ऐसा ही है) की कोई कसौटी उनके पास भी नहीं होती। प्रस्तुत 'हृदय' की व्याख्या करते समय मैंने निर्णयसागरीय प्रति को अपने ग्रन्थ का मूल आधार माना है। उसमें भी जहाँ-जहाँ स्खलन थे, उनको **'यथाबुद्धिबलोदय'** ठीक करने का प्रयास किया है। फिर भी अनेक स्थानों पर ऐसा अनुभव हुआ है कि जो पाठ मूल में (ऊपर) होना चाहिए था वह पाठ नीचे टिप्पणी में दिया गया है। ऐसे पाठनिर्णायकों को मेघदूत के व्याख्याकार **पूर्णसरस्वती** ने इस प्रकार आड़े हाथों लिया है। देखें—

'सुकविवचसि पाठानन्यथाकृत्य मोहाद् रसगतिमवधूय प्रौढमर्थं विहाय।
विबुधवरसमाजे व्याक्रियाकामुकानां गुरुकुलविमुखानां धृष्टतायै नमोऽस्तु'॥

टीकाकारों की आलोचना—धारानगरी के सुप्रसिद्ध भोजराज ऐसे अधिकांश टीकाकारों की आलोचना करते हुए कहते हैं—जो पाठ उनकी समझ में नहीं आता, उसे 'इति स्पष्टम्' लिखकर छोड़ देते हैं और जो पाठ स्वयं स्पष्ट है, उसकी निरर्थक समास, विग्रह आदि द्वारा विस्तार से व्याख्या कर दिया करते हैं। इनके अतिरिक्त जहाँ आवश्यकता नहीं है, वहाँ अनुपयोगी विषयों को डालकर पढ़ने तथा सुनने वालों के मन में प्रायः सभी टीकाकार भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। यथा—

'दुर्बोधं यदतीव तद्विजहति स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः
स्पष्टार्थेष्वतिविस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिभिः।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते
श्रोतॄणामितिवाक्यविप्लवकृतः सर्वेऽपि टीकाकृतः॥ (भोजराजकृत राजमार्तण्ड)

यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ के श्रीअरुणदत्त एवं श्रीहेमाद्रि आयुर्वेद जगत् में स्वनाम धन्य प्राचीन व्याख्याकार हैं, तथापि **'दुर्बोधं यदतीव तद्विजहति'** के अनेक उदाहरण इनकी टीकाओं में देखने को मिलते हैं, फिर भी उनकी योग्यता के सामने हम नतमस्तक हैं।

अष्टांगहृदय का कलेवर—निर्णयसागरीय अरुणदत्त तथा हेमाद्रि व्याख्या समुल्लसित अष्टांगहृदय की भूमिका की नवीं सूची में इसका उल्लेख विस्तार के साथ किया गया है। तदनुसार इसकी कुल स्थान संख्या ६, अध्याय संख्या १२० तथा श्लोक संख्या प्रायः ७४७१ है।

'कीर्तिरक्षरसम्बद्धा स्थिरा भवति भूतले' इस सूक्ति के अनुसार विद्वान् लेखकों की कृतियाँ ही उन्हें सुदीर्घ काल तक जीवित रखने तथा यशस्वी बनाने में सहायक होती हैं। अतएव विद्वज्जन इस कार्य की ओर प्रवृत्त होते हैं। इसमें भी प्रकाशकों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। वे न केवल ग्रन्थ के प्रकाशक होते हैं, अपितु ग्रन्थकार के भी प्रकाशक होते हैं। अन्यथा इनके अभाव में उत्तमोत्तम ग्रन्थों को दीमक चाट जाती है अथवा उन्हें प्राचीन ग्रन्थागारों की कारावास में शरण लेनी पड़ती है।

प्रस्तुत व्याख्या की विशेषता—अष्टांगसंग्रह की विस्तार से रचना करने के बाद जब वाग्भट ने साररूप 'हृदय' की रचना की तो विषयों को संक्षेप में उपस्थित करना आवश्यक हो गया था। व्यास-संक्षेप रचनाचतुर वाग्भट ने इस ग्रन्थ से सम्बन्धित विषयों की पूर्ति कैसे और कहाँ से की होगी, इसका ध्यान रखते हुए सम्पूर्ण ग्रन्थ में जहाँ-जहाँ जो संकेत दिये हैं, उन्हें व्याख्याकाल में सन्दर्भ-संकेत देकर अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। इनकी सहायता से विज्ञ पाठक उन विषयों को यथास्थान सरलता से ढूँढ़ लेगा। साथ ही स्थान-स्थान पर 'अष्टांगहृदय' के दुरूह विषयों को स्पष्ट करने की दृष्टि से जिन-जिन विषयों को ग्रन्थान्तरों से लिया गया है, उनके भी सन्दर्भ-संकेत यथास्थान दे दिये हैं। मूल ग्रन्थ की टीका के

अन्त में वक्तव्य तथा विशेष वचन दिये गये हैं, जो ग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करने में सहायक होंगे। यद्यपि 'अष्टांगहृदय' में ग्रन्थकार ने तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख नहीं किया है जिसका अष्टांगसंग्रह में उल्लेख हुआ है। अतः उनका परिगणन मात्र हमने यथास्थान अपने वक्तव्य में कर दिया है। औषधनिर्माण प्रसंग में जहाँ-जहाँ आवश्यक समझा गया वहाँ-वहाँ औषध द्रव्य परिमाण तथा उसके निर्माण-विधि का भी उल्लेख कर दिया गया है। प्रस्तुत 'निर्मला' व्याख्या की ये विशेषताएँ हैं।

अष्टांगहृदय एक संग्रह-ग्रन्थ है। इसमें चरक, सुश्रुत, अष्टांगसंग्रह के तथा अन्य अनेक प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों से उद्धरण लिये गये हैं। वाग्भट ने अपने विवेक से अनेक प्रसंगोचित विषयों का प्रस्तुत ग्रन्थ में समावेश किया है, यही कारण है कि इस ग्रन्थ का रूप अद्यतन बन पड़ा है। चरक आदि प्राचीन तन्त्रकारों ने जिन विषयों का सामान्य रूप से वर्णन किया था, उन्हें वाग्भट ने प्रमुख रूप देकर पाठकों का इस ओर विशेष ध्यानाकर्षण किया है; जैसे—रक्तविकारों में **रक्तनिर्हरण** (सिरावेध, फस्द खोलना) एक महत्त्वपूर्ण चिकित्सा है। वातविकारों में आयुर्वेदीय विधि से **बस्ति-प्रयोग** करना अपने में एक दायित्वपूर्ण चिकित्सा है। जिसकी आज का चिकित्सक समाज प्रायः उपेक्षा कर बैठा है। **शिलाजतु प्रयोग**—शास्त्रीय विधि से इसका दीर्घकाल तक सेवन करना तथा कराना चाहिए। पथ्य-अपथ्य का विचार करके किया गया इसका प्रयोग रोग को नष्ट करके दीर्घायु प्रदान करता है। **अग्र्यद्रव्यसंग्रह**—यह (अ.हृ.उ. ४०।४८-५८) प्रमुख रोगों में हितकर है। भूल किसी से भी हो सकती है, क्योंकि कहा गया है—**'प्रमादो धीमतामपि'**। अतः प्रामादिक अंशों को छोड़कर महत्त्वपूर्ण विषयों का ग्रहण करना विद्वानों का कर्तव्य है।

आभार—प्रस्तुत व्याख्या लिखते समय मेरे सामने श्रीअरुणदत्त, श्रीहेमाद्रि कृत व्याख्याएँ तथा श्रीहरि शास्त्री द्वारा संगृहीत पाठभेद एवं टिप्पणियों से युक्त निर्णयसागरीय अष्टांगहृदय तथा पूज्य गुरुवर्य स्व० लालचन्द्रजी वैद्य की व्याख्यायुक्त अष्टांगहृदय था। इन सबसे मुझे प्रेरणा मिली, तदर्थ उन सबके प्रति मैं नतमस्तक हूँ।

आत्रेयकल्प सम्प्रति दिवंगत पीयूषपाणि गुरुवर्य पण्डितप्रवर **लालचन्द्रजी वैद्य**, प्रधानाचार्य श्रीअर्जुन आयुर्वेद महाविद्यालय, वाराणसी का आभार मैं किन शब्दों द्वारा प्रकट करूँ, जिनकी स्नेह-सुधा से छात्रावस्था में सिंचित मेरा शरीर, ज्ञानामृत से आप्लावित मेरा उत्तमांग तथा अमोघ आशीर्वादों से मेरा भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् संवर्धित एवं परिरक्षित है, उनके प्रति सदैव नतमस्तक रहना ही मेरी शोभा है।

व्याकरण में पतञ्जलि, न्याय में गौतम, वैशेषिकदर्शन में कणाद, सांख्य में कपिल, मीमांसा में जैमिनि, छन्दःशास्त्र में पिंगलमुनि, साहित्य में भास एवं कालिदास के प्रतिस्पर्धी, पाश्चात्य साहित्य के विशेषज्ञ महाकवि पण्डितप्रवर **वसन्त त्र्यम्बक शेवडे** का भी मैं अधमर्ण हूँ। जिन्होंने विविध शास्त्रों के उद्भट विद्वान् वाग्भट की प्रस्तुत कृति में स्थान-स्थान पर आये हुए व्याकरण सम्बन्धी पदों को स्पष्ट कर मेरा पथ प्रशस्त किया।

इस अवसर पर कृशकाय किन्तु अदम्य उत्साह-सम्पन्न अपनी सहधर्मिणी के स्वास्थ्य सम्पन्न दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ। जिनके सहयोग से मैं आज तक का साहित्य सृजन कर सका और भविष्य में भी कुछ कर सकूँ, यही साम्बसदाशिव से मेरी करबद्ध प्रार्थना है।

अन्त में प्रस्तुत अष्टांगहृदय के साज-सज्जा पूर्ण प्रकाशन में होने वाले व्ययभार आदि की चिन्ता न करके इसे यथासम्भव शुद्ध छापने में दत्तावधान चौखम्बा सुरभारती परिवार, वाराणसी ने जो तत्परता दिखलायी है, तदर्थ उन्हें अनेकानेक साधुवाद देते हुए उनकी श्रीवृद्धि एवं यशोवृद्धि की कामना करता हूँ। इस ग्रन्थ के प्रूफ-संशोधन में श्री योगेशकुमार पण्ड्या ने मनोयोगपूर्वक कार्य किया है, एतदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं।

विदुषां विधेयः
डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

विषयानुक्रमणिका

सूत्रस्थानम्

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्वाग्भटविरचितम्

अष्टाङ्गहृदयम्

'निर्मला'भिधया हिन्दीव्याख्यया विशेषवक्तव्यादिभिश्च विभूषितम्

सूत्रस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

मङ्गलाचरणम्

रागादिरोगान् सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान्।
औत्सुक्यमोहारतिदाञ्जघान योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै॥ १॥

व्याख्याकर्तुर्मङ्गलाचरणम्

धन्वन्तरिं पशुपतिं गिरिजां गणेशं नत्वाऽधुना चरकसुश्रुतवाग्भटादीन्।
स्मृत्वा भिषग्गुरुवरान् यशसा समृद्धान् श्रीलालचन्द्रचरणान् प्रणतोऽस्मि शश्वत्॥ १॥
युगानुरूपसन्दर्भसंज्ञया सफलीकृतम्। अष्टाङ्गहृदयं येन वाग्भटं तं स्मराम्यहम्॥ २॥
कृपाकटाक्षतो येषां प्रवृत्तोऽस्म्यल्पधीरपि। टीकायां वाग्भटस्यास्य वन्दे तान् गुरुपुङ्गवान्॥ ३॥
अष्टाङ्गहृदये टीकाः प्राप्यन्ते पूर्वसूरिणाम्। तथाप्यभिनवां कुर्वे **'निर्मलां'** विशदार्थदाम्॥ ४॥
तारादत्ततनूजस्य ब्रह्मानन्दत्रिपाठिनः। अनया टीकया भूयात् सन्तोषो विदुषां सताम्॥ ५॥
यदि कथमपि किञ्चिद् बुद्धिदोषात् प्रमादान्मनुजसुलभभावाट्टीकने वाग्भटस्य।
स्खलनमिह भवेच्चेन्मत्कृतं तत्क्षमन्तां प्रसृतयुगकराब्जो याचतेऽयं त्रिपाठी॥ ६॥

जो राग आदि रोग सदा मानव मात्र के पीछे लगे रहते हैं, जो सम्पूर्ण शरीर में फैले रहते हैं और जो उत्सुकता, मोह तथा अरति (बेचैनी) को उत्पन्न करते रहते हैं, उन सबको जिसने नष्ट किया उस अपूर्व वैद्य को हमारा (ग्रन्थकार का) नमस्कार हो॥ १॥

वक्तव्य—रागादिरोगान्—राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, ईर्ष्या आदि को मानसिक रोग कहा गया है। इन मानसिक रोगों में मन आदि का आधार देह है, अतः ये रोग आधाराधेयभाव से मन के साथ-ही-साथ देह को भी पीड़ित करते हैं। जैसे तपा हुआ लोहे का गोला जिस कड़ाही आदि पात्र में रखा रहेगा उसे भी तपाता है, ठीक उसी प्रकार राग आदि मानसिक रोग मन के साथ देह को भी पीड़ित करते हैं। शुद्ध चित्त वाले पुरुष को ये रागादि रोग नहीं होते।

अशेषकायप्रसृतान्—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि रागादि दोषों का प्रभाव मन तथा शरीर दोनों पर पड़ता है, अतएव ये उत्सुकता (इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने की प्रबल अभिलाषा), मोह (यह कार्य करना चाहिए या नहीं— इसका ज्ञान न होना) तथा अरति (किसी एक स्थान पर खड़ा होना या बैठने की इच्छा का न होना अर्थात् बेचैनी)— इन कारणों से मानव की मानसिक एवं शारीरिक स्थिति विषम हो जाती है, क्योंकि ये रोग सम्पूर्ण शरीर में फैले रहते हैं, इस वाक्य से समस्त शरीरधारियों के सभी रोगों का ग्रहण किया गया है।

'औत्सुक्य' शब्द की ऊपर व्याख्या की गयी है, तदनुसार श्रीकृष्ण द्वारा गीता में दिया सन्देश भी यहाँ स्मरणीय है—'ध्यायतो विषयान् पुंसः····बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'॥ (गीता २।६२-६३) अर्थात् इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों को प्राप्त करने की जब मानव चिन्ता करता है तो सर्वप्रथम उसके वास्तविक मार्ग में रुकावट आती है अर्थात् राग (रजोगुण) का उदय होता है, इससे कामवासना का जन्म होता है, असफलता मिलने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है. क्रोध के बाद सम्मोह (चित्त में अनेक विकारों का उदय) होता है, सम्मोह से स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रम से बुद्धि (विवेकशक्ति) का नाश हो जाता है और बुद्धिनाश से मानव के इस लोक तथा परलोक सभी का नाश हो जाता है। यही विनाशक्रम है 'रागादि रोगों' का।

अपूर्ववैद्याय—श्री अरुणदत्त कहते हैं—'पूर्वेभ्यः प्रथमः' अर्थात् सर्वप्रथम या सर्वश्रेष्ठ वैद्य, जिसने अपने राग आदि दोषों को नष्ट करके फिर प्राणिमात्र को रोगों से मुक्त होने के उपायों का सदुपदेश दिया, उसे श्रीवाग्भट ग्रन्थारम्भ में प्रणाम करते हैं।

वाग्भट नाम से 'अष्टांगसंग्रह' तथा 'अष्टांगहृदय' दोनों ग्रन्थ जुड़े हैं। इस दृष्टि से जब हम अष्टाङ्ग-संग्रह-सूत्रस्थान के प्रथम मंगलाचरण पद्य 'तृष्णादैर्घ्य····बुद्धाय तस्मै नमः' का अवलोकन करते हैं, तो हमें 'धम्मपद' यमक वर्ग के एक पद्य का स्मरण हो आता है, जो इस प्रकार है—

'अल्पामपि संहितां भाषमाणो धर्मस्य भवत्यनुधर्मचारी।
रागद्वेषं प्रहाय मोहं सम्यक् प्रजानन् सुविमुक्तचित्तः॥
अनुपाददिह वाऽमुत्र वा स भगवान् श्रामण्यस्य भवति'।

अर्थात् जो मनुष्य थोड़ी-सी भी धर्मसंहिता को पढ़कर उसके अनुसार स्वयं धर्म का आचरण करने लगता है और जो राग-द्वेष आदि मानसिक विकारों का परित्याग करके सांसारिक कर्मों को भलीभाँति जानता हुआ भी उनका ग्रहण न करता हुआ विमुक्त (उन कर्मों के प्रति अनासक्तभाव से) रहता है, वह इस लोक तथा परलोक में श्रमणता का अधिकारी बनकर बन्धनों (रागादि रोगों) से मुक्त रहता है। इसी के आगे अष्टांगसंग्रह का दूसरा पद्य भी प्रायः इसी आशय का है—**रागादिरोगाः····पितामहादीन्।** पद्य का आशय इस प्रकार है—जिसने अपने तथा संसार के प्राणियों के स्वाभाविक राग आदि सब रोगों को जड़ से उखाड़ कर दूर फेंक दिया, उस एक मात्र वैद्य को तथा आयुर्वेदशास्त्र को जानने वाले अथवा उसके प्रवर्तक ब्रह्मा आदि को मैं प्रणाम करता हूँ। यहाँ भी पितामह आदि के पूर्वकथित 'तमेकवैद्यं' शब्द 'अपूर्ववैद्य' का स्मारक है, अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि उक्त अष्टांगसंग्रहोक्त पद्य की भाषा को बदल कर ही अष्टांगहृदय यह पद्य कहा गया है।

अथात आयुष्कामीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।

अब हम यहाँ से आयुष्कामीय (आयु की कामना करने वालों के लिए जो हितकर है, उस) अध्याय की व्याख्या करेंगे।

वक्तव्य—'अथातः' पद में प्रयुक्त 'अथ' मंगलवाचक शब्द है। ग्रन्थारम्भ में मंगल(कल्याण)वाचक शब्दों के प्रयोग का उद्देश्य यह होता है कि उस शास्त्र की पूर्ति तथा उसके अध्ययनकर्ताओं की अभीष्ट

सिद्धि निर्विघ्न हो जाती है। जैसा कि कहा गया है—'ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेनेमौ मङ्गलौ स्मृतौ'॥

आयुष्कामीयम्—आयुः (दीर्घायुः पूर्णायुः च) कामयन्ते ये ते आयुष्कामाः, तेभ्यो हितः अध्यायः आयुष्कामीयः'। अर्थात् दीर्घायु अथवा पूर्णायु की कामना करने वालों के लिए जो हितकर अध्याय है, उसे 'आयुष्कामीय' अध्याय कहा जाता है। यहाँ प्रयुक्त 'आयुः' शब्द की व्याख्या महर्षि आत्रेय के अनुसार इस प्रकार है—'शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते'॥ (च.सू. १।४१)

अध्यायम्—पदसमुदाय का नाम 'वाक्य' है। यथा—'सुप्तिङन्तचयो वाक्यम्'। वाक्यों के समूह का नाम 'प्रकरण' है, प्रकरण-समुदाय को ही 'अध्याय' कहते हैं, अध्याय-समूह को 'स्थान' कहते हैं। सूत्रस्थान आदि अन्य स्थानों के समूह को 'तन्त्र' कहते हैं। जैसे—चरकतन्त्र, सुश्रुततन्त्र आदि। काव्यालंकार में इस प्रकार की वाक्यरचना को **उत्तरालंकार** कहते हैं। यथा—'उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्। क्रियते तदुत्तरं स्यादिति'। चरक ने अपनी संहिता में इस प्रकार के आशय से सम्पन्न अध्याय का नाम 'दीर्घञ्जीवितीय' रखा है।

व्याख्यास्यामः—यद्यपि 'अष्टांगहृदय' नामक तन्त्र का तन्त्रकार एक (वाग्भट) ही है, फिर यहाँ बहुवचन के प्रयोग की क्या आवश्यकता है? इसका व्याकरणसम्मत समाधान इस प्रकार है—'अस्मदो द्वयोश्च (१।२।५९)—एकत्वे द्वित्वे च विवक्षितेऽस्मदो बहुवचनं वा स्यात्'। जैसे—हम जा रहे हैं अथवा मैं जा रहा हूँ।

इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

इस विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने इस प्रकार कहा था।

वक्तव्य—महर्षि वाग्भट का कथन है कि प्रस्तुत तन्त्र में जो कुछ भी कहा गया है, वह महर्षि आत्रेय तथा धन्वन्तरि आदि महर्षियों के वचनों के अनुसार ही कहा गया है। ये आप्त पुरुष थे, क्योंकि प्रामाणिकता आप्तपुरुषों के वचनों में ही होती है। इसीलिए हमने उक्त महर्षियों के वचनों का अनुसरण किया है, अतएव हमारे इस तन्त्र में भी कोई अप्रामाणिक विषय नहीं आया है, इसलिए हम (वाग्भट) भी आप्त (प्रामाणिक) हैं। इसीलिए अष्टांगसंग्रह में वाग्भट ने कहा है—'न मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम्'। (अ.सं. १।२२) अर्थात् इस ग्रन्थ में मात्रा (अ, आ, बिन्दु, विसर्ग) आदि भी आगम (शास्त्र) से अतिरिक्त नहीं है अर्थात् जो भी कहा या लिखा गया है, वह सब शास्त्रानुकूल ही है। इस कथन के द्वारा महर्षि ने अपने को तथा अपने ग्रन्थ को प्रामाणिक सिद्ध किया है।

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्। आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥ २॥

आयुर्वेद का प्रयोजन—धर्म, अर्थ, सुख (काम) नामक इन तीन पुरुषार्थों का साधन (प्राप्ति का उपाय) आयु है, अतः आयु (सुखायु) की कामना करने वाले पुरुष को आयुर्वेदशास्त्रों में निर्दिष्ट उपदेशों में परम (विशेष) आदर करना चाहिए॥ २॥

वक्तव्य—शास्त्रों में उपदेश दो प्रकार के मिलते हैं—एक विधानात्मक (इन्हें करना चाहिए) और दूसरे निषेधात्मक (इन्हें नहीं करना चाहिए)। इस प्रकार के उपदेशों के प्रति समाज का आदर भाव होना चाहिए अर्थात् इस प्रकार आप्त (विश्वसनीय अतएव प्रामाणिक महर्षि) वचनों की उपेक्षा करने से सुखायु की प्राप्ति नहीं हो पाती है। हमें तो हितायु, सुखायु तथा दीर्घायु की कामना करनी है, अतः महर्षियों के त्रिकालसत्य उपदेशात्मक वचनों के प्रति परम आदर करना ही चाहिए।

महर्षि चरक ने 'आयुर्वेद' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—'हिताऽहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताऽहितम्। मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते'॥ (च.सू. १।४१) जिस शास्त्र में आयु, अहित आयु, सुख आयु तथा दुःख आयु का वर्णन हो एवं आयु के हित-अहित के लिए आहार-विहार तथा औषधों का वर्णन हो और आयु के मान (प्रमाण) का निर्देश किया गया हो; साथ ही आयु का भी वर्णन हो, उसे 'आयुर्वेद' कहते हैं। हित, अहित, सुख तथा दुःख आयु का वर्णन च.सू. ३०।२०-२५ में विस्तार से देखें।

धर्मार्थसुखसाधनम्—'**धर्म**'—आजकल धर्माचार्य इस शब्द की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं, किन्तु आयुर्वेदशास्त्रसम्मत व्याख्या इस प्रकार है—'ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः'। जिससे लोक का धारण-पोषण होता है। '**अर्थ**'—'अर्थ्यते याच्यते इति अर्थः' अर्थात् जिसे समाज प्राप्त करना चाहता है। यथा—धन-सम्पत्ति तथा जीवनोपयोगी समस्त साधन। **सुख**—यह दो प्रकार का होता है, एक सुख वह है जिससे तत्काल सुख की प्रतीति होती है और दूसरा सुख वह होता है जिसे 'आत्यन्तिक' कहते हैं, वह सुख है—मोक्षप्राप्ति। अथवा इस सुख को ऐहिक (इस लोक से सम्बन्धित) तथा पारलौकिक (परलोक से सम्बन्धित) रूप से समझा जा सकता है। तत्काल मिलने वाले सुख की महर्षि चरक ने निन्दा की है। देखें—च.सू. २८।४०। गीता में भी कहा गया है—'ये तु संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'॥ (५।२२)

आयुर्वेदोपदेशेषु—प्राचीन काल से ही आयुर्वेदशास्त्र सम्बन्धी अनेक संहिताएँ विद्यमान हैं, उनमें विविध प्रकार के उपदेश मिलते हैं, उन सभी के प्रति व्यावहारिक आदरभाव रखना चाहिए। यही यहाँ उक्त वाक्य में प्रयुक्त बहुवचन की सार्थकता है।

ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत्। सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन्॥
तेऽग्निवेशादिकांस्ते तु पृथक् तन्त्राणि तेनिरे।

आयुर्वेदावतरण—ब्रह्माजी ने सबसे पहले आयुर्वेदशास्त्र का स्मरण (ध्यान) करके उसे दक्षप्रजापति को ग्रहण कराया अर्थात् पढ़ाया था। दक्षप्रजापति ने अश्विनीकुमारों को पढ़ाया था, अश्विनीकुमारों ने देवराज इन्द्र को पढ़ाया था, उन्होंने अत्रिपुत्र (पुनर्वसु आत्रेय) आदि महर्षियों को पढ़ाया था; आत्रेय आदि ने अग्निवेश, भेड़, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि आदि को पढ़ाया था और फिर अग्निवेश आदि महर्षियों ने अलग-अलग तन्त्रों (आयुर्वेदशास्त्रों) की विस्तार के साथ रचना की॥ ३॥

वक्तव्य—यह वाग्भटोक्त आयुर्वेद की अवतरणिका है। आयुर्वेदशास्त्र में ये अवतरणिकाएँ भिन्न-भिन्न रूपों में उपलब्ध होती हैं। पुराणों में भी ये स्वतन्त्र रूप से देखने को मिलती हैं। चरक-चिकित्सास्थान अ० १ पाद ४।३ में कहा है कि एक बार देवराज इन्द्र के पास आयुर्वेद सम्बन्धी उपदेश सुनने के लिए भृगु, अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम आदि अनेक महर्षि गये थे। सुश्रुत-सूत्रस्थान १।३ में देवराज इन्द्र से धन्वन्तरि आदि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था। उस काल में श्रुति (श्रवण करना) तथा स्मृति (स्मरण करना) ये ही विद्याप्राप्ति तथा संग्रह के उपाय थे।

आयुषो वेदं—'आयुषः सम्बन्धी वेदः आयुर्वेदः', यहाँ सम्बन्ध का अर्थ है—पाल्य-पालक भाव। जैसा कि आचार्य ने अष्टांगसंग्रह में कहा है—'आयुषः पालकं वेदमुपवेदमथर्वणः'। (अ.सं.सू. १।१०) अर्थात् अथर्ववेद का ही उपवेद यह आयुर्वेद है, जो आयु की रक्षा के उपदेशों का उपदेष्टा है।

तेभ्योऽतिविप्रकीर्णेभ्यः प्रायः सारतरोच्चयः॥ ४॥
क्रियतेऽष्टाङ्गहृदयं नातिसङ्क्षेपविस्तरम्।

अष्टांगहृदय का स्वरूप—महर्षि वाग्भट का कथन है कि इधर-उधर बिखरे हुए उन प्राचीन तन्त्रों में से उत्तम-से-उत्तम (सार) भाग को लेकर यह उच्चय (संग्रह) किया गया है। प्रस्तुत संग्रह-ग्रन्थ का नाम है—'अष्टांगहृदय'। इसमें प्राचीन तन्त्रों में वर्णित विषय न अत्यन्त संक्षेप से और न अत्यन्त विस्तार से ही कहे गये हैं॥ ४॥

वक्तव्य—अन्य (इसके पहले लिखी गयी) संहिताएँ या तो अत्यन्त संक्षिप्त रही हैं; जैसे—रविगुप्त विरचित 'सिद्धसारतन्त्र', यह आज तक प्रकाशित नहीं हो पाया तथा अत्यन्त विस्तृत, जैसे—अष्टांगसंग्रह आदि। उसके बाद लिखा गया यह 'अष्टांगहृदय' ग्रन्थ ऐसा है जैसा मानव-शरीर में 'हृदय' होता है, ऐसा स्वयं ग्रन्थकार ने इसी ग्रन्थ के उत्तरस्थान (४०।८९) में कहा है—'हृदयमिव हृदयमेतत्'। अतिविस्तृत ग्रन्थ सरलता से सबके समझ में नहीं आता है, अतएव यह ग्रन्थ सर्वसामान्य के लिए बुद्धिगम्य होगा, सोचकर ही इसकी रचना की गयी है। अन्य प्राचीन संहिताओं की तुलना में 'अष्टांगहृदय' का प्रचार-प्रसार भी अधिक है।

कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषान् ॥५॥
अष्टावङ्गानि तस्याहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता।

आयुर्वेद के आठ अंग—१. कायचिकित्सा, २. बालतन्त्र (कौमारभृत्य), ३. ग्रहचिकित्सा (भूतविद्या), ४. ऊर्ध्वांगचिकित्सा (शालाक्यतन्त्र), ५. शल्यचिकित्सा (शल्यतन्त्र), ६. दंष्ट्राविषचिकित्सा (अगदतन्त्र), ७. जराचिकित्सा (रसायनतन्त्र) तथा ८. वृषचिकित्सा (वाजीकरण-तन्त्र)—ये आठ अंग कहे गये हैं। इन्हीं अंगों में सम्पूर्ण चिकित्सा आश्रित है॥ ५॥

वक्तव्य—वाग्भट का यह पद्य अतिसंक्षेप का उदाहरण कहा जा सकता है, यद्यपि अन्य अंगों का अर्थ भले ही हम खींच-तान कर लगा लें, किन्तु 'दंष्ट्रा' शब्द से प्राणिज विष के बाद स्थावर विष तथा गरविष का अर्थ निकालना अत्यन्त दुष्कर कर्म है। आचार्य अरुणदत्त 'दंष्ट्रा' का अर्थ 'पीडाकरणसामान्य' करते हैं। यह किसी भी विष से सम्भव है। यदि 'दंष्ट्रा' शब्द को विष मात्र का उपलक्षण स्वीकार कर लिया जाय तो कुछ काम चल सकता है। आठों अंगों की गणना ऊपर कर दी गयी है, अब यहाँ उन अंगों का परिचय प्रस्तुत है।

(१) **कायचिकित्सा**—'चिञ् चयने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय तथा 'च' के स्थान पर 'क' करने से इसकी निष्पत्ति होती है। 'चीयते अन्नादिभिः इति कायः' अथवा 'चीयते प्रशस्तदोषधातुमलैः इति कायः' दोनों ही व्युत्पत्तियाँ यहाँ अपेक्षित हैं। इसी में सम्पूर्ण शरीर को पीड़ित करने वाले आमाशय तथा पक्वाशय से उत्पन्न होने वाले ज्वर आदि समस्त रोगों की शान्ति का उपाय किया जाता है। अतः इसे कायचिकित्सा नामक प्रथम अंग कहते हैं। यह 'काय' यौवन आदि अवस्थाओं वाला है। इस अंग के प्रधान तन्त्र 'अग्निवेशतन्त्र' (चरकसंहिता), भेलसंहिता तथा हारीतसंहिता आदि हैं।

(२) **बालतन्त्र या कौमारभृत्य**—बालकों के शरीर में परिपूर्ण बल तथा धातुओं आदि का अभाव होने के कारण इस अंग का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। क्योंकि इनकी सभी प्रकार की औषधियाँ भिन्न प्रकार की होती हैं। दूध भी इन्हें माता या धात्री (धाय = उपमाता) का देने की प्राचीन काल से व्यवस्था है, जिसका वर्णन साहित्यिक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। यहाँ एक शंका होती है कि बालकों की भाँति वृद्धों की चिकित्सा का भी स्वतन्त्र उपदेश आचार्यों ने क्यों नहीं किया ? इसका समाधान इस प्रकार है—वृद्धावस्था पूर्ण युवावस्था के बाद में आती है, अतः इसकी चिकित्सा का अधिकांश अंग कायचिकित्सा में ही समाविष्ट हो जाता है और जो कुछ अंश शेष रह जाता है, उसके निराकरण के लिए ७वें रसायनतन्त्र की व्यवस्था की गयी है। इस विषय का प्राचीन ग्रन्थ केवल 'काश्यपसंहिता' है, जो सम्प्रति खण्डित उपलब्ध

होती है। इसके अतिरिक्त चरक-शारीर अध्याय ८ तथा चरक-चिकित्सास्थान अध्याय ३०, सुश्रुत-शारीरस्थान अध्याय १० एवं सुश्रुत-उ.तं.अ. २७ से ३७ तक देखें।

(३) ग्रहचिकित्सा (भूतविद्या)—इसमें देव, असुर, पूतना आदि ग्रहों से गृहीत (आविष्ट) प्राणियों के लिए शान्तिकर्म की व्यवस्था की जाती है। इनमें बालग्रह तथा स्कन्दग्रहों का भी समावेश है, साथ ही इनकी शान्ति के उपायों की भी चर्चा की गयी है। इस विषय का आज कोई प्राचीन स्वतन्त्र तन्त्र उपलब्ध नहीं है। केवल चरकसंहिता-निदानस्थान ७।१०-१६, चरक-चि. ९।१६-२१ और सुश्रुतसंहिता-उत्तरतन्त्र अध्याय २७ से ३७ तक तथा अध्याय ६० में भूतविद्या का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान अध्याय ५।१७-३३ तक शस्त्रकर्म करने के बाद रक्षोघ्न मन्त्रों द्वारा रोगी की रक्षा का विधान कहा गया है। खेद है कि युगों से गुरु-परम्परा से चली आने वाली यह विद्या आज शोचनीय दशा को पहुँच गयी है, आज भी इसकी सुरक्षा के उपाय नहीं किये जा रहे हैं।

(४) ऊर्ध्वाङ्गचिकित्सा (शालाक्यतन्त्र)—ऊर्ध्वजत्रुगत आँख, मुख, कान, नासिका आदि में आधारित रोगों की शलाका आदि द्वारा की जाने वाली चिकित्सा ही इस अंग का प्रधान क्षेत्र है। शालाक्यतन्त्र के नाम से आज कोई ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से नहीं मिलता। सुश्रुतसंहिता के उत्तरतन्त्र के अध्याय १ से १९ तक में उत्तमांग (शिरःप्रदेश) में स्थित नेत्ररोगों का, २० तथा २१वें अध्यायों में कर्णरोगों का, २२ से २४ तक नासारोगों का और २५ एवं २६वें अध्यायों में शिरोरोगों का वर्णन किया है। सुश्रुत-निदानस्थान में मुखरोगों का वर्णन तथा सुश्रुत-चिकित्सास्थान अध्याय २२ में मुखरोगों की चिकित्सा का उल्लेख किया है। चरक-चिकित्सास्थान अध्याय २६ में श्लोक १०४ से ११७ तक नासारोगनिदान, ११८ में शिरोरोगनिदान, ११९ से १२३ तक मुखरोगनिदान, १२७-१२८ में कर्णरोगनिदान तथा १२९ से १३१ तक नेत्ररोगनिदान का वर्णन मिलता है। वैसे भी शालाक्यतन्त्र पर अधिकारपूर्वक कुछ कहना यह चरक की प्रतिज्ञा के विरुद्ध विषय था। जैसा कि उन्होंने कहा है—'पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनाऽयत्र न नः प्रयासः'। अतएव वे इसके विस्तार में नहीं गये।

(५) शल्यतन्त्र— उक्त आयुर्वेद के आठ अंगों में यही अंग सबसे प्रधान है। क्योंकि प्रथम देवासुर-संग्राम में युद्ध में हुए घावों की सद्यःपूर्ति के लिए इसी की आवश्यकता पड़ी थी। उस समय देववैद्य अश्विनी-कुमारों ने इस तन्त्र का समुचित प्रयोग कर दिखाया था। आज भी शल्यचिकित्सा-कुशल चिकित्सक उनका प्रतिनिधित्व करते ही हैं। देखें–सु.सू. १।१७ तथा १८। भगवान् धन्वन्तरि का अवतार शल्य आदि अंगों की पुनः प्रतिष्ठा के लिए ही हुआ था। देखें–सु.सू. १।२१। कायचिकित्सा-प्रधान चरकसंहिता में भी अर्श, उदर तथा गुल्म आदि रोगों में शल्यकर्मविशेषज्ञ से सहायता लेने का संकेत है। मूलतः शल्यतन्त्र में यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि के प्रयोगों का निर्देश मिलता है।

(६) दंष्ट्राविषचिकित्सा (अगदतन्त्र)—महर्षि वाग्भट द्वारा रचित दोनों संहिताओं (संग्रह तथा हृदय) में अष्टाग रूपी आयुर्वेद का विभाजक सूत्र अविकल रूप से प्राप्त होता है। इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि इन्होंने सुश्रुतसंहिता को आदर्श मानकर **'सर्पकीटलूता'** आदि में प्रथम परिगणित **'सर्प'** शब्द को प्रमुख मानकर **'दंष्ट्रा'** शब्द का प्रयोग किया होगा, क्योंकि **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'** यह सूत्र सर्वत्र अपनाया जाता है और सभी प्रकार के विषों में 'पीड़ाकरणसामान्य' गुण तो होता ही है।

अगदतन्त्र उसे कहते हैं जिसमें सर्प आदि जंगम तथा वत्सनाभ आदि स्थावर विषों के लक्षणों का एवं विविध प्रकार के मिश्रित विषों (गरविषों) का वर्णन तथा उन-उनके शान्ति (शमन) के उपायों का वर्णन हो।

सामान्य रूप से **'अगद'** शब्द औषध का पर्याय है। इसकी व्याख्या इस प्रकार मिलती है—'न गदः अस्मात्' अथवा 'गदविरुद्धम्'। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ भी 'अगद' शब्द का अर्थ रोग को दूर करना ही रहा होगा। अस्तु।

सुश्रुत का सम्पूर्ण कल्पस्थान अगदतन्त्र है, जैसा कि सुश्रुत-सूत्रस्थान (३।२८) में कहा गया है—'अष्टौ कल्पाः समाख्याता विषभेषजकल्पनात्'॥ इति। चूँकि इस कल्पस्थान में विषचिकित्सा की ही कल्पना की गयी है, अतः इसका नाम कल्पस्थान है। इस सन्दर्भ में चरक-चिकित्सास्थान का 'विषचिकित्सित' नामक २३वाँ अध्याय भी अवलोकनीय है।

(७) जराचिकित्सा (रसायनतन्त्र)—उक्त अगदतन्त्र के बाद रसायनतन्त्र के प्रस्तुतीकरण का औचित्य प्रतिपादित करते हुए श्री अरुणदत्त कहते हैं कि रसायनों के प्रयोग से विष का भी प्रभाव दूर हो जाता है। रसायन शब्द का विशेष परिचय देखें—च.चि. १।७-८।

रसायनतन्त्र उसे कहा गया है जो वयःस्थापन (कुछ समय के लिए पुनः यौवन को स्थिर करने में सहायक) होता है, आयु को बढ़ाता है, मेधा (धारणाशक्तियुक्ता धीः) अर्थात् जो धारणाशक्ति तथा सभी प्रकार के बल को बढ़ाने एवं रोगों का विनाश करने में समर्थ हो। इस प्रकार का भी कोई प्राचीन स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। इसकी पूर्ति के लिए देखें—चरक-चिकित्सास्थान अध्याय १ के चारों पाद तथा सु.चि.अ. २७ से ३०।

(८) वृषचिकित्सा (वाजीकरणतन्त्र)—'अवाजी वाजीव अत्यर्थं मैथुने शक्तः क्रियते येन तद् वाजीकरणम्'। वाजीकरणतन्त्र उसे कहते हैं जो अल्प मात्रा वाले शुक्र का सन्तर्पण करता है, दूषित शुक्र को शुद्ध करता है, क्षीण शुक्र को बढ़ाता है और सूखे हुए शुक्र के उत्पादन के उपायों का निर्देश करता है। लिंग में प्रहर्षता को उत्पन्न कर नर-नारी में सन्तानोत्पादनशक्ति को पैदा करता है। **'वर्षति इति वृषः'** इस अभिप्राय से भले ही इस तन्त्र को 'वृषचिकित्सा' कहा जाय, अन्यथा वृष (साँड़) जिन चेष्टाओं के बाद सोच-सोचकर मैथुन में प्रवृत्त होता है, उसे सुश्रुत ने **सौगन्धिक** नामक नपुंसक कहा है। देखें—सु.शा. २।३९, जैसे—साँड़ तथा कुत्ता।

इस विषय से सम्बन्धित भी कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। इसके लिए केवल च.चि. २ तथा च.चि. ३०।१२६ से २०३ तक के पद्य एवं सु.शा. २ तथा सु.चि. २६ सम्पूर्ण का अवलोकन करें। वाजीकरण के लिए **'वृष'** एवं **'वाजी'** शब्दों का प्रयोग हुआ है। वृष का अर्थ है—'वर्षतीति वृषः' अर्थात् जो योनि में वीर्य की वर्षा करें। किन्तु वह वृष (साँड़) वाजी (घोड़े) के समान वेग वाला नहीं होता, अतः अधिकांश क्षेत्रों में 'वाजीकरण' शब्द ही प्रसिद्ध है।

सावधान—रसायन एवं वाजीकरण प्रयोगों का उपयोग केवल स्वास्थ्यवर्धन एवं प्रजोत्पादन के लिए ही होना चाहिए, दुराचार या दुष्प्रवृत्ति के लिए कभी भी इनका प्रयोग न करें; ऐसा करने से हानि भी हो सकती है। साथ ही इनका प्रयोग योग्य चिकित्सक की देख-रेख में ही करें। इनके सेवनकाल में जितेन्द्रिय होना अति आवश्यक है, तभी पूरा लाभ मिलता है।

चिकित्सा येषु संश्रिता—ऊपर दिये गये आठ अंगों के साथ चिकित्सा शब्द का सम्बन्ध है। चरकसंहिता में चिकित्सा शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—'चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते। प्रवृत्तिः धातुसात्म्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते'॥ (च.सू. ९।५)

रोग या रोगों की शान्ति के लिए चिकित्सक द्वारा जो-जो उपाय किये जाते हैं उन सबका सम्मिलित नाम 'चिकित्सा' है। इसमें जो 'चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां' पद्यांश दिया गया है, इसके

अनुसार वैद्य, औषधोपयोगी द्रव्य, उपस्थाता (परिचारक) तथा रोगी— ये सब अपने-अपने प्रशस्त गुणों से युक्त हों तभी उचित चिकित्सा हो सकती है। सुश्रुत के अनुसार—'वत्स सुश्रुत! इह खलु आयुर्वेद-प्रयोजनम्—व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं च'। (सु.सू. १।१४) अर्थात् आयुर्वेद के दो प्रयोजन हैं—रोगियों को रोग से मुक्ति दिलाना और स्वस्थ की स्वास्थ्य रक्षा। महर्षि वाग्भट ने स्वस्थवृत्त का वर्णन अ. २ से ७ तक और रोगशान्ति का वर्णन सम्पूर्ण ग्रन्थ में किया है।

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ॥ ६॥

दोषों का वर्णन—आयुर्वेदशास्त्र में संक्षेपतः तीन ही दोष माने जाते हैं; यथा— १. वात, २. पित्त तथा कफ॥ ६॥

वक्तव्य—इन वात आदि दोषों का विशेष परिचय अष्टांगहृदय-सूत्रस्थान के ग्यारहवें 'दोषादिविज्ञान' नामक अध्याय में देखें। सुश्रुत-सूत्रस्थान (१।२२) में कहा गया गया है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन पाँच महाभूतों के संयोग का नाम पुरुष है और चरक-शारीरस्थान (१।१६) में 'खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः'। अर्थात् उक्त पञ्चमहाभूत और चेतना धातु (चेतना का आधार मन सहित आत्मा) कहा गया है। यही आशय सुश्रुत का भी है। (मोक्ष-विषयक शास्त्र में २५ तत्त्वों के संयोग को पुरुष संज्ञा दी गयी है, अस्तु।) यही चिकित्स्य पुरुष है।

पञ्चमहाभूतों में आकाशतत्त्व अवकाश (खाली स्थान) के रूप में शरीर में रहता है और पृथिवीतत्त्व आधारस्वरूप है, अतएव ये दोनों निष्क्रिय (निश्चेष्ट) हैं, अर्थात् इन दोनों में किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती है। शेष तत्त्वों का विवरण इस प्रकार है—जलतत्त्व 'कफ' है, अग्नितत्त्व 'पित्त' है और वायुतत्त्व ही 'वात' है। अब आगे इनके विकृत तथा अविकृत रूपों की चर्चा की जायेगी।

आयुर्वेदशास्त्र में प्राणिमात्र का नाम 'पुरुष' है। यह वनस्पति (पुष्परहित फल वाले वृक्ष), वानस्पत्य (फूल-फल वाले वृक्ष), वीरुध् (शाखा-प्रशाखा युक्त लता) तथा औषधियों का; हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदि पशु एवं पक्षियों का भी उपदेश देता है, परन्तु इन सबमें पुरुष (मानव) प्रधान है। जैसा कि मनु ने कहा है—'भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः·····'॥ (मनु. १।९६)

त्रयो दोषाः समासतः—वाग्भट ने सुश्रुत द्वारा स्वीकृत 'रक्त' भी दोष है, इसका यहाँ खण्डन किया है, अपितु ये 'आम' को दोष स्वीकार करते हैं। ध्यान दें—'दोषेण भस्मनेवाग्नौ छन्नेऽन्नं न विपच्यते। तस्मादादोषपचनाज्ज्वरितानुपवासयेत्'॥ (अ.हृ.चि. १।१०) यहाँ 'दोषेण' पद के स्थान पर अनेक संस्करणों में 'आमेन' पाठ मिलता है। वास्तव में यहाँ चर्चा 'आमदोष' की है। इस प्रकार के सयुक्तिक विचारों या प्रसंगोचित परिवर्तनों को चरक ने उस-उस आचार्य का 'बुद्धेर्विशेषः' कहा है।

विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च।

विकृत-अविकृत दोष—ये तीनों वात आदि दोष विकृत (असम अर्थात् बढ़े हुए अथवा क्षीण हुए) शरीर का विनाश कर देते हैं और अविकृत (समभाव में स्थित) जीवनदान करते हैं अथवा स्वास्थ्य-सम्पादन करने में सहायक होते हैं।

वक्तव्य—प्राचीन टीकाकारों ने 'विकृताः' का अर्थ 'स्वभावप्रच्युताः' किया है, जो उचित है। तथापि दोषों का अपना स्वभाव क्या है, यह कहना थोड़ा कठिन है, क्योंकि ये मनुष्यों के आहार-विहार पर निर्भर रहते हैं और ऋतु-परिवर्तन आदि पर भी। आप ध्यान दें—वात-पित्त-कफ का नाम केवल दोष ही नहीं है, अपितु इन्हें 'धातु' तथा 'मल' भी कहा गया है। देखें—'शरीरदूषणाद् दोषा धातवो देहधारणात्। वातपित्तकफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः'॥ हमारे शरीर में इन वात आदि की स्थिति इस प्रकार है—जब

ये शरीर को रुग्ण, विकृत या दूषित करते हैं तब ये 'दोष' कहे जाते हैं, जब ये मानव को स्वस्थ रखते हैं तब 'धातु' और जब ये शरीर को मलिन करते हैं तब इन्हें 'मल' कहा जांता है। विशेष द्रष्टव्य—च.वि. १।५; च.सू. १ तथा च.सू. १।५७। कुछ संस्करणों में इसके आगे एक पद्य इस प्रकार का प्राप्त होता है—'प्रत्येकं ते त्रिधा वृद्धिक्षयसाम्यविभेदतः। उत्कृष्टमध्याल्पतया त्रिधा वृद्धिक्षयावपि'॥

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः॥७॥

दोषों के स्थान तथा प्रकोपकाल—ये तीनों वात आदि दोष सदा समस्त शरीर में व्याप्त रहते हैं। फिर भी नाभि से निचले भाग में वायु का, नाभि तथा हृदय के मध्य भाग में पित्त का और हृदय के ऊपरी भाग में कफ का आश्रयस्थान है॥७॥

वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्।

वय आदि के अनुसार काल—यद्यपि ये दोष सदा गति(क्रिया)शील रहते हैं, तथापि वयस् के अन्तकाल (वृद्धावस्था) में, वयस् के मध्य (यौवन) काल में तथा वयस् के आदि (बाल्य) काल में और दिन-रात तथा भुक्त (भोजन कर चुकने) के अन्त, मध्य एवं आदि काल में विशेष रूप से गतिशील होते हैं।

वक्तव्य—उक्त विषय को आप इस प्रकार समझें—यद्यपि वात-पित्त-कफ ये सभी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहते हैं, तथापि ये क्रम से विशेष कर के किस प्रकार रहते हैं, इसे बतलाया जा रहा है—अवस्था का अन्तिम भाग वृद्धावस्था, दिन का अन्तिम भाग २ से ६ बजे तक, रात्रि का अन्तिम भाग २ से ६ बजे तक, भुक्त (अन्न के पचने) का अन्तिम काल वायु के प्रकोप होने का है। अवस्था का मध्य भाग (युवावस्था), दिन का मध्य भाग १० से २ बजे तक, रात्रि का मध्य भाग १० से २ बजे तक, भुक्त (अन्न के पचने) का मध्यकाल पित्त के प्रकोप होने का है। अवस्था का आदि भाग (बाल्यावस्था), दिन का प्रथम भाग ६ से १० बजे तक, रात्रि का प्रथम भाग ६ से १० बजे तक, भुक्त (अन्न के पचने) का आदिकाल कफ के प्रकोप का काल है।

तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्निः समैः समः॥८॥

दोषों का अग्नि पर प्रभाव—उक्त वात आदि दोषों के प्रभाव (वृद्धि) से अग्नि (जठराग्नि) भी दोषों के क्रम (वातदोष) से विषम, (पित्तदोष सें) तीक्ष्ण और (कफदोष से) मन्द हो जाता है तथा इन तीनों के सम मात्रा में रहने पर अग्नि भी सम प्रमाण में रहता है॥८॥

वक्तव्य—अग्नि तथा पित्त के गुण-धर्म समान होते हैं, अतएव पित्तदोष की वृद्धि से अग्नि का तीक्ष्ण होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि महर्षि चरक ने कहा है—**'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'।** (च.सू. १।४४) आशय स्पष्ट है। अग्नि का विशेष वर्णन अ.हृ.शा. ३।७४, अ.सं.सू. ११ तथा सू. २१ में देखें।

कोष्ठः क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्यः स्यात्तैः समैरपि।

दोषों का कोष्ठ पर प्रभाव—जठराग्नि की भाँति कोष्ठ भी वातदोष से क्रूर, पित्तदोष से मृदु एवं कफदोष से मध्यम रहता है और तीनों दोषों के सम रहने पर भी मध्यम रहता है।

वक्तव्य—कोष्ठ की क्रूरता आदि का वर्णन तथा उसके अनुरूप चिकित्सा का विधान अ.हृ.सू.अ. १८।३४ में देखें। **कोष्ठ-परिचय**—'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते'॥ (च.शा. ७।१२ तथा सु.चि. २।१२) अर्थात् आमाशय, पक्वाशय, अग्न्याशय, मूत्राशय, रक्ताशय, हृदय, उण्डुक तथा फुफ्फुस इन अवयवों की परिधि को आयुर्वेदशास्त्र में 'कोष्ठ' नाम से परिभाषित किया है। इस दृष्टि से मृदुकोष्ठ, क्रूरकोष्ठ तथा मध्यकोष्ठ नामक पुरुषों के भेदों का वर्णन भी मिलता है। यथा—'श्लेष्मोत्तरश्छर्दयति ह्यदुःखं विरिच्यते मन्दकफस्तु सम्यक्'॥ (च.सि. १।९) अर्थ स्पष्ट है।

शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ　विषेणेव　विषक्रिमेः ॥ ९ ॥

तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्। समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा, निन्द्या द्विदोषजाः ॥

दोषों से गर्भ-प्रकृति का वर्णन—गर्भाधान काल में माता-पिता के आर्तव तथा शुक्र में अधिकता से उपस्थित या वर्तमान उक्त तीनों (वात आदि) दोषों के अनुसार क्रमशः गर्भ की तीन प्रकृतियाँ बनती हैं। १. वातदोष की अधिकता से हीनप्रकृति, २. पित्तदोष की अधिकता से मध्यप्रकृति तथा ३. कफदोष की अधिकता से उत्तमप्रकृति बनती है; यही सबमें श्रेष्ठ मानी गयी है। जो प्रकृतियाँ दो-दो दोषों के मिश्रण से बनती हैं, वे निन्दनीय मानी जाती हैं और समधातुज प्रकृति सबमें श्रेष्ठ होती है।

शुक्र एवं आर्तव किंवा रजस् तथा वीर्य के मिश्रण से उत्पन्न गर्भ में वात आदि दोषों के गुण वैसे ही आ जाते हैं। जैसे विषक्रिमि में विष के गुण आ जाते हैं॥ ९-१० ॥

वक्तव्य—सात प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन— १. वातप्रकृति हीन, २. पित्तप्रकृति मध्य, ३. कफप्रकृति उत्तम, ४. समधातुप्रकृति सबमें उत्तम। द्विदोषज प्रकृतियाँ—५. वातपित्तप्रकृति, ६. वातकफप्रकृति तथा ७. पित्तकफप्रकृति ये तीन निन्दित होती हैं। मनुष्यों की ही भाँति अन्य प्राणियों की प्रकृति माता-पिता के अनुरूप ही होती है। जैसे–-जहरीले सर्प की सन्तान अपने माता-पिता के समान ही जहरीली होती है, यह मात्र एक उदाहरण है। चरक-विमानस्थान अध्याय ६ में इन प्रकृतियों का विस्तार से वर्णन है।

भगवान् धन्वन्तरि ने प्रकृति-वर्णन के सम्बन्ध में सुश्रुत को जो उपदेश दिया था, वह इस प्रकार है—'शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद् दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन···' ॥ (सु.शा. ४।६३) यह पद्यात्मक वाक्य श्रीवाग्भट द्वारा उक्त विषय का पूर्ण रूप से समर्थन कर रहा है। इसी के आगे श्लोक ८० तक वात आदि प्रकृति वाले पुरुषों के स्वभाव आदि का वर्णन करने के बाद आगे सात्त्विक, राजस तथा तामस प्रकृतियों का भी वर्णन किया है। दोनों प्रकृतियों के वर्णन में मात्र इतना अन्तर है कि वातादि प्रकृतियाँ शारीरिक होती हैं और सात्त्विक आदि प्रकृतियाँ मानसिक होती हैं। इनका वर्णन सु.शा. ४।८१ से ९९ तक में है। जहाँ एक ही माता-पित्ता की चार सन्तानें भिन्न-भिन्न प्रकृति की देखी जाती हैं, वहाँ गर्भाधान काल में दोषों का तर-तम भाव ही कारण होता है। कुछ कारण और भी होते हैं, जैसे—माता के दोहद का प्रभाव। देखें—सु.शा. ३।१९ से २८ तक।

तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।

वातदोष के गुण—यह रूक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म तथा चल (सदा गतिशील) होता है।

वक्तव्य—यहाँ जो वात का गुण 'शीत' कहा गया है, इसका विवेचन प्रस्तुत है। शरीर स्थित वातदोष अथवा प्रतिक्षण बहने वाला वायु जाड़ा में शीतल और गर्मियों में गरम प्रतीत होता है, अतः यह जैसे मौसम में होता है वैसा ही इसका स्पर्श होता है। वास्तव में यह वायु 'अनुष्णाशीत' है अर्थात् न यह गरम है और न शीतल है। शास्त्र में इसे **'योगवाही'** कहा गया है। ऐसे कुछ पुरुष भी होते हैं जिनका कोई अपना अस्तित्व नहीं होता। जैसे—'गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास', अस्तु। 'योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात्' ॥ (च.चि. ३।३८) तथा 'पवने योगवाहित्वाच्छीतं श्लेष्मयुते भवेत्। दाहः पित्तयुते'। इति। (अ.हृ.नि. २।४८)

पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्॥ ११॥

पित्तदोष के गुण—यह कुछ स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, विस्र (आम गन्ध वाला), सर तथा द्रव होता है॥ ११ ॥

वक्तव्य—जब वमन के साथ पित्तदोष हरा-पीला रंग का निकलता है तब उसे सूँघने पर इसकी 'विस्र' गन्ध का ज्ञान होता है। यह एक प्रकार की अप्रिय गन्ध होती है। यहाँ 'सस्नेह' का अर्थ है—थोड़ा 'स्नेहयुक्त होना। देखें—'सस्नेहा गुडशर्करा'। (च.सू. २७।२४१)

स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः।

कफदोष के गुण—स्निग्ध, शीत, गुरु, मन्द, श्लक्ष्ण, मृत्स्न तथा स्थिर होता है।

वक्तव्य—'मृत्स्न' शब्द से यहाँ जो टीकाकारों ने 'पिच्छिला' अर्थ लिया है, उसका कारण यह है—वास्तव में 'मृत्स्न' का अर्थ मिट्टी होता है और मिट्टी दो प्रकार की होती है—१. चिकनी, जिससे लिपायी-पोतायी होती है अथवा जिससे घड़े आदि पात्र बनते हैं और २. बलुही मिट्टी होती है। इस प्रकार यहाँ तक वात आदि दोषों में रहने वाले गुणों का वर्णन कर दिया गया है, क्योंकि गुण गुणी (अपने आधार) में रहते हैं। अतएव वात आदि दोषों का ग्रहण चिकित्सा आदि अवसरों पर उनके गुणों को देखकर किया जा सकता है।

संसर्गः सन्निपातश्च तद्द्वित्रिक्षयकोपतः ॥ १२ ॥

संसर्ग तथा सन्निपात की परिभाषा—आयुर्वेदीय परिभाषा के अनुसार किन्हीं दो-दो दोषों के एक साथ क्षय या वृद्धि होने का नाम 'संसर्ग' है और तीनों दोषों का एक साथ क्षय अथवा वृद्धि होने का नाम सन्निपात है॥ १२॥

वक्तव्य—इस विषय का विस्तृत वर्णन अष्टांगहृदय-सूत्रस्थान के 'दोषभेदीय' नामक १२वें अध्याय में किया गया है। चरकसंहिता-सूत्रस्थान के १२वें अध्याय में इन वातादि दोषों के रहस्य को जानने के लिए विभिन्न प्रदेशों से आये हुए तत्कालीन महर्षियों (विद्वानों) की एक **सम्भाषापरिषद्** हुई थी, जिसमें इनके गुण-धर्मों के सम्बन्ध में विचार हुआ था। उसमें यह भी विचार किया गया था कि इन तीनों दोषों में वातदोष प्रधान है, शेष दो दोष पंगु हैं। आप भी इसका परिशीलन करें। यहाँ जो दोषों की क्षय-वृद्धि का वर्णन किया है, इससे चिकित्साकाल में चिकित्सक क्षीण दोषों को बढ़ाने का और बढ़े हुए दोषों को सम करने का प्रयास करता है; यही चिकित्सा है, क्योंकि दोषों का सम होना ही उत्तम स्वास्थ्य का लक्षण है।

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः। सप्त दूष्याः—

धातुओं का वर्णन—आयुर्वेदशास्त्र में रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र ये सात 'धातु' कहे जाते हैं और जब ये वात आदि दोषों द्वारा दूषित किये जाते हैं, तो इन्हें 'दूष्य' कहते हैं।

—मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च॥ १३॥

मलों का वर्णन—मूत्र, पुरीष तथा स्वेद (पसीना) आदि मल कहे जाते हैं॥ १३॥

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि की मान्यता है—'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्'। (सु.सू. १५।३) अर्थात् वात आदि तीनों दोष, रस-रक्त आदि सातों धातु तथा मूत्र आदि शरीर के मल ही शरीर के मूल हैं अथवा यों समझिये कि यह शरीर दोष, धातु, मल मय है; ये ही इसके तत्त्व हैं। आगे वे पुनः इसी सम्बन्ध में कहते हैं—'त एते शरीरधारणाद् धातव इत्युच्यन्ते'। (सु.सू. १४।२०) अर्थात् ये रस, रक्त आदि शरीर को धारण करने से धातु कहे जाते हैं। 'धातु' शब्द 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—जो द्रव्य शरीर का धारण एवं पोषण करते हैं, उन्हें 'धातु' कहते हैं। यही कारण है कि सम अवस्था में स्थित 'वात' आदि दोषों को भी धातु कहा जाता है। जो शरीर को दूषित करते हैं, उन्हें 'दोष' कहा जाता है। शास्त्रकार दोष शब्द की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—'दूषयन्ति दूष्यन्ति वा दोषाः'। जो दूसरों को दूषित करते हैं अथवा स्वयं दूषित होते हैं, वे **दोष** कहे जाते हैं और जो दूषित होते हैं, वे **दूष्य** कहे जाते हैं। महर्षि पुनर्वसु के अनुसार वात आदि दोष ही रस-रक्त आदि धातुओं को दूषित करते हैं। यथा—'तत्र त्रयः शरीरदोषा वातपित्तश्लेष्माणः, ते शरीरं दूषयन्ति'। (च.शा. ४।३४) वात आदि दोष भी शास्त्रनिर्देश-विरुद्ध आहार-विहार के सेवन करने से ही दूषित होते हैं।

मल—मूत्र आदि जो मल कहे गये हैं, वे भी दूष्य कहे जाते हैं। आगे चलकर वाग्भट ने अ.हृ.शा. ३।६३ में रस आदि धातुओं के मलों का इस प्रकार वर्णन किया है। यथा— १. रस का मल– कफ, २. रक्त का– पित्त, ३. कान, नाक आदि छिद्रों में जो मल होता है, वह मांस का मल है। ४. मेदस् का– स्वेद (पसीना), क्योंकि मेदस्वी पुरुष के पसीने से मेदस् की जैसी दुर्गन्ध आती है। ५. अस्थियों के मल– नख तथा रोम, क्योंकि अस्थिसार पुरुष के शरीर में रोम-केश खूब होते हैं। ६. मज्जा का मल त्वचागत स्नेह तथा नेत्र एवं मल का स्नेह है। मज्जासार पुरुष का शरीर चिकना रहता है और जिसके शरीर में मज्जा की कमी रहती है, उसकी त्वचा रूखी होती है तथा ७. शुक्र का मल है—ओजस्।

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः।

दोष-धातु-मलों की वृद्धि एवं क्षय—शरीर से सम्बन्धित उक्त वात आदि दोषों, रस आदि धातुओं तथा मलों के समान गुण-धर्म वाले पदार्थों का सेवन करने से उन-उन की वृद्धि होती है और उन-उन के विपरीत गुण वाले पदार्थों का सेवन करने से उनका क्षय होता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य अ.सं.सू. १।३२ में अविकल रूप से प्राप्त है। भगवान् पुनर्वसु ने इस आशय को पुष्ट करने वाला गद्य इस प्रकार दिया है—'धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारैरभ्यस्यमानैः'। (च.शा. ६।९) अर्थात् शरीरस्थित धातु (दोष, धातु एवं मल) समान गुण वाले या अधिकांश समान गुणों वाले आहार के निमित्त बने विविध प्रकार के पदार्थों के सेवन से बढ़ने लगते हैं और उनके विपरीत गुण वाले या अधिकांश विपरीत गुण वाले पदार्थों के सेवन करते रहने से क्षीण होने लगते हैं। इसी बात को महर्षि पुनर्वसु ने—'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च'। (च.सू. १।४४) में भी कहा है। दूसरे आचार्यों ने भी इस प्रत्यक्ष सत्य को स्वीकारा है।

दोष, धातु, मलों का उचित प्रकार का बढ़ना तथा क्षीण होना स्वास्थ्य-वृद्धि में कारण होता है। अनुचित प्रकार से होने वाला वृद्धि-क्षय रोगोत्पत्ति का कारण हो जाता है। महर्षि सुश्रुत ने सूत्रस्थान के १५वें अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन किया है। सारांश यह है कि समान गुण-कर्म वाले पदार्थों से सभी समान भावों (दोष-धातु-मलों) की वृद्धि होती है और असमान गुण-कर्म वाले पदार्थों से उन-उन भावों का क्षय हो जाता है। यही क्रम इनकी चिकित्सा का भी है—बढ़े हुए दोष-धातु-मलों को घटाकर सम करना और घटे हुए को बढ़ाकर सम अवस्था में ले आना।

रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः ॥ १४ ॥
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः।

रसों का वर्णन—आयुर्वेदशास्त्र में रसों की संख्या छः है— १. स्वादु (मीठा), २. अम्ल (खट्टा), ३. लवण (नमकीन), ४. तिक्त (नीम तथा चिरायता आदि), ५. ऊषण (कटु– कालीमिर्च आदि) तथा ६. कषाय (कसैला– हरीतकी आदि)। ये सभी रस भिन्न-भिन्न द्रव्यों में पाये जाते हैं। ये रस अन्त की ओर से आगे की ओर को बलवर्धक होते हैं अर्थात् मधुर रस सबसे अधिक बलवर्धक होता है और इसके बाद सभी रस उत्तरोत्तर बलनाशक होते हैं॥ १४॥

वक्तव्य—रसना (जीभ) के द्वारा जिसका रसास्वादन किया जाता है अथवा जो रसना का विषय है, उसे 'रस' कहते हैं। अतएव चरक ने कहा है—'रसनाऽर्थो रसः' (च.सू. १।६४) तथा 'रसो निपाते द्रव्याणाम्'। (च.सू. २६।६६) अर्थात् किसी द्रव्य का जब जीभ से सम्बन्ध होता है तब उसके रस की प्रतीति होती है कि यह मीठा, खट्टा आदि कैसा रस है? रसों के विशेष परिचय के लिए देखें—अ.हृ.सू. अध्याय १० सम्पूर्ण।

तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्॥ १५॥
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते।

रसों का वात आदि पर प्रभाव—उनमें प्रथम तीन (मधुर, अम्ल, लवण) रस वातदोष को नष्ट करते हैं, तिक्त, कटु, कषाय कफदोष को नष्ट करते हैं और कषाय, तिक्त, मधुर रस पित्त को नष्ट करते हैं। इससे विपरीत रस वात, पित्त, कफ दोषों को बढ़ाते हैं॥ १५॥

वक्तव्य—रसों का वात आदि पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इसकी चर्चा भगवान् पुनर्वसु ने इस प्रकार की है—'तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा—कटुतिक्त-कषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं' शमयन्ति; कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्त-कषायास्त्वेनच्छमयन्ति; मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति'॥ (च.वि. १।६) अर्थात् तीन-तीन रस एक-एक दोष को पैदा करते हैं और तीन-तीन ही रस एक-एक दोष को शान्त करते हैं। यथा—कटु, तिक्त, कषाय रस वातदोष को उत्पन्न करते हैं; मधुर, अम्ल, लवण रस इसे शान्त करते हैं। कटु, अम्ल, लवण रस पित्तदोष को उत्पन्न करते हैं; मधुर, तिक्त, कषाय रस इसे शान्त करते हैं। कटु, अम्ल, लवण रस कफ को उत्पन्न करते हैं और कटु, तिक्त, कषाय रस इसे शान्त करते हैं। यही अभिप्राय महर्षि वाग्भट का भी है।

शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा॥ १६॥

द्रव्य का वर्णन—विधिभेद से द्रव्य तीन प्रकार का होता है—१. शमन (वात आदि दोषों का शमन करने वाला), २. कोपन (वात आदि दोष को कुपित करने वाला) तथा ३. स्वस्थहित (स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य को बनाये रखने वाला)॥ १६॥

वक्तव्य—ये द्रव्य परस्पर विपरीत गुणवाले होते हैं। जैसे—जो द्रव्य शमन (शान्तिकारक) होता है, वह उस दोष को प्रकुपित करने वाला नहीं होता है। इसी प्रकार जो द्रव्य 'कोपन' होगा, वह शमन नहीं हो सकता है। इन गुणों की विपरीतता को आप इस प्रकार समझें—जैसे गुरु गुण से लघु गुण एवं शीत से उष्ण सदा विपरीत रहता है। यहाँ 'इति' शब्द भेदवाचक है। यही द्रव्य अन्य प्रकारों से दो प्रकार का या अनेक प्रकार का होता है।

शमन द्रव्य—जैसे—तैल, घृत, मधु। **तैल**—स्निग्ध, उष्ण, गुरु गुण वाला होने के कारण वातदोष का शमन कर देता है, क्योंकि तैल वातदोष के विपरीत गुण वाला होता है। **घृत**—मधुर, शीत, मन्द गुण वाला होने के कारण अपने से विपरीत गुण वाले पित्तदोष का शमन कर देता है। **मधु**—रूक्ष, तीक्ष्ण, कषाय गुण वाला होने के कारण अपने से विपरीत गुण वाले कफदोष का शमन कर देता है।

कोपन—जो द्रव्य वात आदि दोषों, रस आदि धातुओं तथा मूत्र आदि मलों को कुपित करता है, उसे कोपन कहतें हैं। जैसे—यवक। (शूकधान्य-विशेष में पठित द्रव्य; देखें—च.सू. ५।११), पाटल (पाटल व्रीहि—त्रिकाण्डशेष), माष (उड़द), मछली, आममूलक, सरसों का तेल, मन्दक, दधि, किलाट आदि। **विरुद्ध पदार्थ**—जैसे—दूध तथा मछली का एक साथ सेवन करना आदि।

स्वस्थहितम्—'ऋतुचर्या' नामक अध्याय में जिन-जिनका सेवन करने को और जिनका सेवन न करने को कहा गया है, उन सबको यथाविधि, विधि-निषेध के अनुसार स्वीकार करना ही स्वस्थ (हितकर) चर्या है। इसका विशेष विवरण अ.हृ.सू. के मात्राशितीय नामक ८वें अध्याय में विस्तार से देखें।

भगवान् पुनर्वसु ने त्रिविध द्रव्य का वर्णन करते हुए कहा है—'किञ्चिद् दोषप्रशमनं किञ्चिद् धातु-प्रदूषणम्। स्वस्थवृत्तौ मतं किञ्चित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते'॥ (च.सू. १।६७) अर्थात् कोई द्रव्य प्रकुपित वात

आदि दोष का प्रशमन करता है, कोई द्रव्य प्रकृतिस्थ धातु को बढ़ा या घटा देता है और कोई द्रव्य स्वस्थवृत्त के लिए उपयोगी माना जाता है।

शार्ङ्गधराचार्य ने **शमनद्रव्य** का वर्णन इस प्रकार किया है—'न शोधयति न द्वेष्टि समान् दोषांस्त-थोद्धतान्। समीकरोति विषमान् शमनं तद्यथाऽमृता'॥ (शा.प्र.अ. ४।२) अर्थात् जो द्रव्य वमन या विरेचन द्वारा वात आदि दोषों का शोधन भी नहीं करता, सम दोषों को विकृत भी नहीं करता, किन्तु कुपित या विषम (बढ़े अथवा क्षीण) दोषों को जो सम करता है, वह 'शमन' द्रव्य कहा जाता है। यथा—अमृता (गिलोय)।

उष्णशीतगुणोत्कर्षात्तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम्।

वीर्य का वर्णन—द्रव्यों में शीतगुण तथा उष्णगुण की अधिकता से दो प्रकार का 'वीर्य' माना जाता है।

वक्तव्य—महर्षि चरक अपनी संहिता में किन्हीं दो आचार्यों के मतों का उल्लेख करने के बाद वे अपनी बात को प्रसंगवश अन्त में कह रहे हैं। एक आचार्य का मत—वीर्य आठ प्रकार का होता है— १. मृदु, २. तीक्ष्ण, ३. गुरु, ४. लघु, ५. स्निग्ध, ६. रूक्ष, ७. उष्ण और ८. शीत। दूसरे आचार्य का मत— १. शीत तथा २. उष्ण दो प्रकार का वीर्य होता है। **चरक का मत**—'वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया। नावीर्यं कुरुते किञ्चित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया'॥ (च.सू. २६।६४-६५) इन्होंने द्रव्य की कर्मशक्ति को ही 'वीर्य' संज्ञा दी है। सुश्रुत का विचार भी इन्हीं के अनुरूप है। देखें—'येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्'। (सु.सू. ४१।५) इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि उक्त दोनों संहिताकारों में इस विषय में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। द्विविध तथा अष्टविध वीर्य को सुश्रुत ने भी स्वीकार कर अपनी संहिता में स्थान दिया है। देखें—सु.सू. ४०।५। चरक की मान्यता का ऊपर उल्लेख कर ही दिया गया है।

आप ध्यान दें—संसार में सभी पदार्थ या तो उष्ण हैं अथवा शीत हैं, अतः दो प्रकार का वीर्य होना स्वाभाविक ही है; किन्तु वायु द्रव्य ऐसा है जो 'अनुष्णाशीतस्पर्श' वाला है, अतः यहाँ उक्त समाधान वायु को 'योगवाही' मान लेने से हो जायेगा।

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः ॥ १७ ॥

विपाक का वर्णन—भले ही कोई द्रव्य किसी रस से युक्त क्यों न हो, उसका विपाक तीन प्रकार का होता है— १. मधुर, २. अम्ल तथा ३. कटु ॥ १७ ॥

वक्तव्य—प्रायः सभी प्रकार के रस वाले द्रव्यों का भोजन के पाचनकाल के बाद कार्यरूप में जिसका अनुमान द्वारा निर्णय किया जा सकता है, वह रस जठराग्नि द्वारा पाक हो जाने पर उपर्युक्त तीन प्रकार का पाया जाता है। यथा—मधुर तथा लवण रस वाले द्रव्यों का मधुर, अम्ल रस वाले द्रव्यों का अम्ल और तिक्त, कटु, कषाय रस वाले द्रव्यों का कटु विपाक होता है। इसी विषय को महर्षि वाग्भट आगे अ.हृ.सू. ९।२० में कहेंगे। चरक ने उक्त विषय को अपनी संहिता में इस प्रकार से दिया है—'रसो····च्चोपलभ्यते' ॥ (च.सू. २६।६६) अर्थात् रसों का भिन्न-भिन्न ज्ञान जीभ के साथ स्पर्श होने पर होता है और विपाक का ज्ञान कर्म की समाप्ति होने पर होता है। आशय यह है कि विपाक का ज्ञान आहार के पचने पर दोषों एवं धातुओं की वृद्धि अथवा क्षीणता रूपी लक्षणों से जाना जाता है और वीर्य का ज्ञान जीभ के स्पर्श से लेकर शरीर में रहने तक होता रहता है।

निष्कर्ष— रस का ज्ञान जीभ के स्पर्श से, विपाक का ज्ञान उसके कार्य को देखकर और वीर्य का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों से होता है। इसके आगे च.सू. २६।६७-६८ इन दो श्लोकों का भी परिशीलन इस प्रसंग में कर लेना चाहिए, जो विषय को स्पष्ट करने में उपकारक हैं। इस विषय के विशेष विवेचन के लिए सु.सू. ४० का अध्ययन करें।

शार्ङ्गधराचार्य ने विपाक का परिचय इस प्रकार दिया है—'जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः'॥ (शा.पू.खं.द्वि. ३३) अर्थात् मधुर आदि रसों का शरीर पर तात्कालिक प्रभाव पड़ जाने के बाद जठराग्नि के साथ संयोग होने के अनन्तर जो दूसरे रस की उत्पत्ति होती है, वह 'विपाक' कहा जाता है। आयुर्वेदशास्त्र में रस-गुण-वीर्य-विपाक का विपुल साहित्य है, फिर भी आप देखें—यह 'सम्यक् विपाक' हुआ है या 'मिथ्या विपाक', तभी आप ठीक निष्कर्ष पर पहुँच पायेंगे। फिर भी आप निम्न सन्दर्भों का अवलोकन अवश्य करें—च.सू. २६।५७-५८। च.सू. २६।६१-६२। सु.सू. ४०।१०-१२। च.चि. १५।९-११। शा.प्र.ख. ६।१-२।

गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः। गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः॥ १८॥

द्रव्य के गुणों का वर्णन—द्रव्यों में परस्पर विपरीत ये २० गुण पाये जाते हैं— १. गुरु, २. लघु, ३. मन्द, ४. तीक्ष्ण, ५. शीत, ६. उष्ण, ७. स्निग्ध, ८. रूक्ष, ९. श्लक्ष्ण, १०. खर, ११. सान्द्र, १२. द्रव, १३. मृदु, १४. कठिन, १५. स्थिर, १६. सर, १७. सूक्ष्म, १८. रु , १९. विशद और २०. पिच्छिल॥ १८॥

वक्तव्य—अ.हृ.नि. ६।१ में मद्य के १० गुण और इनके विपरीत १० ओजस् के जो गुण गिनाये हैं, वे भी ये ही २० गुण हैं। चरक ने दूध के दस गुण गिनाकर यह बतलाया है कि जो गुण दूध के कहे गये हैं वे गुण ओजस् के भी हैं, अतएव दूध को पीने से ओजोगुण की वृद्धि होती है। चरक ने जो दिव्य जल के ६ गुणों का वर्णन च.सू. २७।१९८ में किया है, यदि हम इन्हें मानते हैं तो फिर गुणों की संख्या २० ही कैसे मानी जा सकती है? इसका समाधान इस प्रकार है—ये जो ६ अतिरिक्त गुणों का वर्णन यहाँ किया गया है, इनका अन्तर्भाव उक्त २० गुणों में ही कर लिया जाता है।

ध्यान दें—व्यवायि, विकाशी, आशुकारी ये गुण मद्य में कहे गये हैं और 'प्रसन्न' नामक गुण दूध में। फिर यह भी कहा गया है कि मद्य के गुणों से विपरीत गुण ओजस् में होते हैं। साथ ही फिर यह भी कहा गया है कि जो गुण ओजस् में होते हैं वे ही गुण दूध में होते हैं। इन विषयों का समन्वय इस प्रकार किया गया है—व्यवायी गुण का अन्तर्भाव द्रव गुण में, विकाशी का खर में, आशुकारी का चल में और प्रसन्न का स्थूल में। इनका समर्थन चरक तथा सुश्रुत के वचनों द्वारा प्राप्त है।

उक्त २० गुणों के अर्थ

१. गुरु = भारी	६. उष्ण = गरम	११. सान्द्र = गाढ़ा	१६. सर = चल
२. लघु = हलका	७. स्निग्ध = चिकना	१२. द्रव = पतला	१७. सूक्ष्म = बारीक
३. मन्द = चिरकारी	८. रूक्ष = रूखा	१३. मृदु = कोमल	१८. स्थूल = मोटा
४. तीक्ष्ण = तीखा	९. श्लक्ष्ण = साफ	१४. कठिन = कठोर	१९. विशद = टूटने वाला
५. शीत = शीतल	१०. खर = खुरदरा	१५. स्थिर = अचल	२०. पिच्छिल = लसीला

विशेष— ३. मन्द— जो न शीघ्र हानि करता हो और न लाभ करता हो। ४. तीक्ष्ण— शीघ्र लाभ या हानि करने वाला। १६. सर— फैलने वाला या गतिशील। १७. सूक्ष्म— छोटे-से-छोटे स्रोतों में प्रवेश करने वाला। २०. पिच्छिल— लुआबदार।

कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः। सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम्॥ १९॥

रोग एवं आरोग्य के कारण—काल, अर्थ तथा कर्म के हीनयोग, मिथ्यायोग एवं अतियोग रोग या रोगों की उत्पत्ति में एक मात्र कारण होते हैं तथा काल, अर्थ और कर्म का सम्यक् योग आरोग्य (स्वस्थ रहने) का एक मात्र कारण होता है॥ १९॥

वक्तव्य—काल—आयुर्वेदीय दृष्टि से यह तीन प्रकार का होता है, इसी को मौसम या मौसिम भी कहते हैं। इसका विभाजन इस प्रकार किया गया है— १. शीतकाल, २. उष्णकाल तथा ३. वर्षाकाल। इन कालों के समूह को वर्ष, वत्सर तथा संवत्सर कहते हैं। यहाँ इन्हीं तीन कालों से सम्बन्ध है। इन कालों में क्रमशः शीत, उष्ण, वर्षा का अधिक होना 'अतियोग' है, थोड़ा होना 'हीनयोग' है और अपनी सीमा के विपरीत होना 'मिथ्यायोग' है।

अर्थ—श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिन-जिन विषयों का ग्रहण किया जाता है, उन्हीं को इस प्रकरण में 'अर्थ' कहा गया है। इन अर्थों का अपनी-अपनी इन्द्रियों के साथ अधिक संयोग होना उन-उनका 'अतियोग' है, थोड़ा संयोग होना 'हीनयोग' है और अनिष्टकारक संयोग होने को 'मिथ्यायोग' कहते हैं।

कर्म—वाणी, मन तथा शरीर की प्रवृत्ति या चेष्टा का नाम 'कर्म' है। न्यायशास्त्र के अनुसार 'संयोग-भिन्नत्वे सति संयोगाऽसमवायिकारणत्वं कर्मत्वम्'। (तर्कसंग्रह) यह कर्मत्व भी हमारा उपकारक है। उक्त तीनों के या दो के अथवा एक के कर्म की अधिकता का नाम 'अतियोग' है, कर्म की कमी को 'हीनयोग' तथा अहितकर या हानिकर कर्म के योग को 'मिथ्यायोग' कहते हैं।

इस प्रकार काल, अर्थ तथा कर्म के अतियोग, हीनयोग, मिथ्यायोग किसी-न-किसी रोग को उत्पन्न करने में कारण होता है। उक्त अतियोग आदि शारीरिक एवं मानसिक रोगों की उत्पत्ति में कारण होते ही हैं। शीत, उष्ण एवं वर्षा का अतियोग, हीनयोग, मिथ्यायोग प्राकृतिक रूप से भी देखा जाता है और मानव द्वारा भी किया जाता है किन्तु फल दोनों का रोगोत्पत्ति में कारण होता ही है।

सम्यग्योग—काल, अर्थ एवं कर्म का अतियोग, हीनयोग तथा मिथ्यायोग के अतिरिक्त जो समुचित योग होता है, उसे 'सम्यग्योग' कहते हैं। यह 'आरोग्य' (स्वास्थ्य-वृद्धि) का कारण होता है। इसका विशेष विवरण अ.हृ.सू. के 'रोगानुत्पादनीय' नामक ४थे अध्याय में देखें। यही विषय अष्टांगसंग्रह के पाँचवें अध्याय में देखें। प्रस्तुत पद्य अष्टांगसंग्रह १।४२ में द्रष्टव्य है।

इस विषय को चरक की दृष्टि से देखें—च.सू. ११।३७-४१ तक। इन कर्मों को महर्षि चरक ने 'प्रज्ञापराध' संज्ञा दी है, अन्यथा बुद्धि-प्रधान मानव इन कर्मों की ओर कैसे प्रवृत्त हो सकता है?

रोगस्तु दोषवैषम्यं, दोषसाम्यमरोगता।

रोग-आरोग्य में भेद—वात, पित्त, कफ इन तीन दोषों की विषमता या विषम अवस्था का नाम 'रोग' है। अर्थात् दोषों के विषम (किसी का बढ़ जाना और किसी का घट जाना) हो जाने से किसी-न-किसी प्रकार का रोग हो जाता है और जब उक्त दोष समान स्थिति में रहते हैं तब आरोग्य की प्राप्ति होती है अर्थात् मानव 'सुखी' रहता है।

वक्तव्य—दोष या दोषों की विषमता अर्थात् तीनों में से एक या दो दोषों का बढ़ या घट जाना, इसी की विषमता को सम का विपरीत भाव कहा जाता है। यहाँ दोष शब्द रोग का अन्तरंग (भीतरी) कारण मात्र है। दोषों का सम होना ही 'आरोग्य' है। आगे जो दो श्लोक अ.हृ.सू. में क्रम सं० २०-२१ पर हैं, ये ही दो श्लोक अ.सं.सू. १।४३-४४ में है।

निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृताः॥ २०॥

रोगों के दो भेद—सामान्य रूप से रोग दो प्रकार के होते हैं— १. निज (वात आदि भीतरी दोषों की विषमता से होने वाले) तथा २. आगन्तुज (अभिघात आदि बाहरी कारणों से होने वाले)॥ २०॥

वक्तव्य—महर्षि चरक के शब्दों में रोगों के दो भेद इस प्रकार कहे गये हैं—'तत्र निजः शारीर-दोषसमुत्थः, आगन्तुर्भूतविषवाय्वग्निसम्प्रहारादिसमुत्थः'। (च.सू. ११।४५) अर्थात् शारीरिक वात आदि दोषों से उत्पन्न रोग 'निज' कहा जाता है और 'आगन्तुज' रोग अभिघात, भूतावेश, सर्प आदि के दंश, शीत, उष्ण, आग, तेजाब आदि आग्नेय द्रव्यों के लग जाने से या गदा, लाठी, हाकी, तलवार आदि के लग जाने से होता है।

तेषां कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा।

दो प्रकार के रोगाधिष्ठान—रोगों के अधिष्ठान (आश्रयस्थान) भी दो होते हैं— १. काय (शरीर) तथा २. मन।

वक्तव्य—प्रथम भेद से होने वाले रोगों का अधिष्ठान **'काय'** है। वे रोग ज्वर, रक्तपित्त, कास, श्वास आदि हैं। दूसरे भेद से कहे जाने वाले रोगों का अधिष्ठान है **'मन'**। इससे सम्बन्धित रोग हैं—मद, मूर्च्छा, संन्यास, ग्रहारिष्ट, भूतोन्माद, अपस्मार, राग, द्वेष आदि। **अधिष्ठान**—'अधितिष्ठन्ति रोगाः अस्मिन् इति अधिष्ठानम्'। अर्थात् जिसमें रोग टिकते हैं। इस दृष्टि से भी कायिक एवं मानसिक दो प्रकार के रोग होते हैं। अब यहाँ शंका यह होती है कि शारीरिक रोगों की उत्पत्ति में प्रकुपित वात आदि दोष कारण कहे गये हैं, मानस रोगों की उत्पत्ति में किसे कारण माना जायेगा? उसी के समाधान के लिए कहा जा रहा है।

रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ॥ २१॥

मानसिक दोषों का परिचय—मनस् के दो दोष हैं— १. रजस् (रजोगुण) और २. तमस् (तमोगुण)।

वक्तव्य—गुण तीन हैं— १. सत्त्व, २. रजस् और ३. तमस्। इसी विषय को महर्षि चरक ने 'मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च'। (च.सू. १।५७) भी स्वीकार किया है और मानस रोगों की चिकित्सा के लिए उन्होंने अगले (५८वें) पद्य में कहा है—मानस रोगों की ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति तथा समाधि द्वारा चिकित्सा करें। इस विषय को आप 'नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तमसोः परस्परं, न ह्यरजस्कं तमः प्रवर्तते'। (च.वि. ६।९) अर्थात् काम आदि मानस रोगों तथा ज्वर आदि शरीर सम्बन्धी रोगों का कदाचित् परस्पर अनुबन्ध हो जाता है, परन्तु रजस् और तमस् का परस्पर अनुबन्ध होना निश्चित ही है, क्योंकि तमस् रजस् के बिना प्रवृत्त ही नहीं होता। ये दोनों कभी भी एक-दूसरे का साथ नहीं छोड़ते और सत्त्व गुण सर्वथा निर्विकार है। अतः वह (सत्त्वगुण) मानसिक आरोग्य को देने में कारण है।

अष्टांगसंग्रह में वाग्भट ने सत्त्व, रजस्, तमस् को 'महागुण' कहा है, अतः ये तीनों कारण रजस् तथा शुक्र रूप बीज में भी रहते हैं और कार्य (भ्रूण) में भी रहते हैं। अतएव इनके विषय में भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत से कहा है। देखें—सु.शा. १।३।

सत्त्व-रजस्-तमस् की निरुक्ति—

१. सत्त्वम्—अस्ति इति सत्, सतो भावः सत्त्वम् = अस्तित्व युक्त।

२. रजस्—रञ्जति अनेन इति रजः = रागः, आसक्तिः वा।

३. तमस्—ताम्यति अनेन इति तमः = विनाशकारक प्रधान गुण।

रजोगुण तथा तमोगुण का वर्णन करते हुए महर्षि पुनर्वसु ने कहा है—'सृष्टि के समय पुरुष अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आता है और पुनः प्रलयकाल में व्यक्त अवस्था से अव्यक्त अवस्था में चला जाता है। इस प्रकार बन्धन के कारण रजस् तथा तमस् गुणों से युक्त पुरुष संसार-चक्र के समान घूमता रहता है। (च.शा. १।६८)

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम्।

रोगी की परीक्षा—दर्शन (देखना), स्पर्शन (हाथ आदि से छूकर देखना) तथा रोग सम्बन्धी विविध प्रश्न पूछकर रोगी (रोग से पीड़ित शरीर वाले) की परीक्षा करनी चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत ने 'ततो···प्रश्नेन चेति'। (सु.सू. १०।४) प्रारम्भ में रोगी देखने के सम्बन्ध में दूसरे किसी आचार्य का मत उद्धृत किया है कि 'दूत, लक्षण, शकुन तथा मंगल की अनुकूलता होने पर रोगी के घर जाना चाहिए'। इस मत की सामान्य दृष्टि से उपेक्षा करते हुए वे कहते हैं—रोग जानने के छः उपाय हैं— पाँच श्रोत्र आदि इन्द्रियों से और छठा प्रश्न से।

आचार्य पुनर्वसु 'रसना इन्द्रिय' के परीक्षा का विषय किसी को नहीं मानते। देखें—'रसं तु··· रसाननुमिमीत'। (च.वि. ४।७) अर्थात् रोगी के शरीर का रस यद्यपि रसना इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु उसे अनुमान से ही जान लेना चाहिए। इसका प्रत्यक्ष उपाय से ग्रहण करना उचित नहीं है। अतएव रोगी से पूछकर उसके मुख का स्वाद कैसा है, जान ले; जूँ यदि रोगी के शरीर से हट गयी हो तो रोगी के शरीर को नीरस समझ लें। प्रायः साफ-सुथरे परिवार के रोगियों में यह लक्षण नहीं पाया जाता, तथापि रोगियों के शरीरों में यह लक्षण दिखलायी देता है। मक्खियों के बार-बार शरीर पर बैठने से शरीर की मधुरता समझें। रक्तपित्तरोग में निकलने वाले रक्त की परीक्षा—क्या यह जीवरक्त तो नहीं निकल रहा है, इसके लिए उसे कुत्ते या कौए के सामने डाले, यदि प्राणी खा ले तो उसे जीवरक्त समझें, अन्यथा रक्तपित्त का दूषित रक्त समझें। इस प्रकार अन्य रसों का भी अनुमान कर लेना चाहिए। यह २२वाँ पद्य अ.सं. १।४५ में अविकल द्रष्टव्य है।

रोगी-परीक्षा के आधुनिक उपकरण

१. थर्मामीटर—यह स्पर्श द्वारा शरीर के तापमान को बतलाता है। इसमें वात-पित्त-कफ दोषों को बतलाने की क्षमता नहीं होती है।

२. स्टेथोस्कोप—यह श्रोत्रेन्द्रिय का प्रतिनिधि यन्त्र है। इसकी सहायता से कफ से होने वाली हृदय की आवाज सुनी जा सकती है। ब्लडप्रेशर जाँचने में भी चिकित्सक इसका उपयोग करते हैं।

३. एक्स-रे—यह चक्षुरिन्द्रिय का प्रतिनिधि यन्त्र है। त्वचा तथा मांस से ढकी हुई जिन अस्थियों या अस्थिभंग को हम अपनी इन आँखों से नहीं देख सकते वहाँ यह यन्त्र सहायक होता है।

४. कार्डियोग्राम—हृदय-परीक्षा के लिए इसका उपयोग होता है। जो हृदय क्या कह रहा है, उसे यह टेढ़ी-सीधी रेखाओं द्वारा निर्दिष्ट कर देता है, तदनुसार चिकित्सक उसकी चिकित्सा करते हैं।

५. अल्ट्रासाउण्ड—यह स्थान-विशेष को चित्रित कर देता है, तदनुसार चिकित्सा की जाती है।

६. लिटमस पेपर—इसकी सहायता से हम मूत्र की क्षारता तथा अम्लता का ज्ञान कर लेते हैं।

७. सेक्रोमीटर—इससे मधुमेहरोगी के मूत्र की शर्करा नापी जाती है, इस दृष्टि से यह रसनेन्द्रिय का प्रतिनिधि यन्त्र है।

इस प्रकार के अन्य अनेक उपकरणों का इस क्षेत्र में आविष्कार होता जा रहा है, उन्हें भी देखें।

विशेष—नाड़ीज्ञान के लिए अभी तक जो यन्त्र अत्यधिक प्रयुक्त हुए हैं, वे अधिक श्रद्धेय नहीं हैं।

रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः ॥ २२ ॥

रोग की परीक्षा—निदान, पूर्वरूप, लक्षण, उपशय तथा सम्प्राप्ति नामक रोगज्ञान के उपायों से रोग की परीक्षा करनी चाहिए॥ २२॥

वक्तव्य—यहाँ मात्र इनके नामों का उल्लेख कर दिया गया है। विशेष देखें—अ.हृ.नि.अ. १ में।

भूमिदेहप्रभेदेन देशमाहुरिह द्विधा।

देशभेदों का वर्णन—आयुर्वेदीय दृष्टिकोण के अनुसार देश दो प्रकार का होता है— १. भूमिदेश और २. देहदेश। शरीर के विभिन्न अवयवों को यहाँ देहदेश कहा गया है। भूमिदेश का वर्णन आगे किया जा रहा है।

वक्तव्य—आयुर्वेदशास्त्र में प्रधान महत्त्व निदान एवं चिकित्सा का ही है। यहाँ ग्रन्थकार सूत्र रूप में विषयों का वर्णन कर आगे यथास्थान इन विषयों का विस्तृत विवेचन करेंगे। यह इनकी अपनी शैली है। देह शब्द देश के अर्थ में केवल आयुर्वेद में ही प्रयुक्त हुआ है। देहदेश का क्षेत्र है—सिर, हाथ, पैर आदि।

जाङ्गलं वातभूयिष्ठमनूपं तु कफोल्बणम्॥२३॥
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत्।

भूमिदेश का वर्णन—भूमिदेश तीन प्रकार का कहा गया है—१. जांगल देश; यहाँ हवा अधिक चलती है, २. आनूप देश; इस देश में कफदोष की प्रधानता रहती है और ३. साधारण देश; इस देश में वात आदि तीनों दोष समान अवस्था में रहते हैं॥ २३॥

वक्तव्य—'भूमिदेहप्रभेदेन' से लेकर 'भूदेशमादिशेत्' तक की उक्त तीन पंक्तियाँ संग्रह तथा हृदय में समान हैं। इस प्रकार यहाँ संक्षेप में भूमिदेशों का वर्णन किया गया है। इनका विस्तृत वर्णन च.वि. ३।४७-४८, च.क. १।८ तथा सु.सू. के ३६वें भूमिप्रविभागीय अध्याय में देखें। इन देशों का परिचय औषधसंग्रह, रोगनिर्णय तथा साध्य-असाध्य का विचार करते समय अवश्य कर लेना चाहिए। उक्त तीन प्रकारों के देश-विवेचन से समस्त भूमण्डल का विचार किया जा सकता है।

शार्ङ्गधराचार्य ने तीन प्रकार के देशभेदों की चर्चा इस प्रकार की है—'बहूदकनगोऽनूपः कफमारुत-रोगवान्। जाङ्गलोऽल्पाम्बुशाखी च पित्तासृङ्मारुतोत्तरः॥ संसृष्टलक्षणो यस्तु देशः साधारणो मतः'। (शा.सं.पू.खं. ६४)

१. जाङ्गल देश—रूखा-सूखा मरुस्थल; जैसे—भारत का बीकानेर तथा जैसलमेर क्षेत्र तथा बाहरी प्रदेश अरब, अफ्रीका आदि। प्रायः ये जल तथा वृक्षरहित देश हैं। यहाँ पित्तज, रक्तज एवं वातज रोग अधिक होते हैं।

२. आनूप देश—विपुल जल तथा पर्वतों से युक्त देश; जैसे—आसाम, ब्रह्मा तथा बंगाल की खाड़ी, नदी-नालों से व्याप्त भू-प्रदेश। यहाँ कफज तथा वातज रोग अधिक होते हैं।

३. साधारण देश—इसमें वात आदि सभी दोष सम रहते हैं, अतएव यहाँ अधिकांश रोग नहीं होते; फलतः यहाँ के निवासी अन्य देशवासियों की अपेक्षा स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल शरीर वाले तथा नीरोग रहते हैं; जैसे—उत्तरप्रदेश, पंजाब आदि के निवासी।

क्षणादिर्व्याध्यवस्था च कालो भेषजयोगकृत्॥ २४॥

काल के भेद—आयुर्वेद में काल दो प्रकार का माना जाता है—१. क्षण अर्थात् प्रातःकाल तथा सायंकाल और २. रोग की अवस्था (आमावस्था एवं जीर्णावस्था)। इन दोनों कालों के अनुसार भेषजयोग (चिकित्सा का प्रयोग) किया जाता है॥ २४॥

वक्तव्य—कोष-साहित्य में 'क्षण' शब्द दिन के विभाजन या प्रमाण में प्रयुक्त होता है। दूसरा यह 'काल-विशेष' का भी सूचक है। **क्षणादि**—यहाँ आदि शब्द से लव (३६ निमेष का समय), त्रुटि (दो क्षण या क्षण के चतुर्थांश के बराबर काल), मुहूर्त (१२ क्षण का या ४८ मिनट का समय), याम (पहर या तीन घण्टे का समय), अहोरात्र (२४ घण्टे का समय या १ दिन १ रात), पक्ष (१५ दिन), मास (३० दिन), ऋतु (२ मास का समय), अयन (६ मास का समय) तथा वर्ष से १२ मासों का ग्रहण कर लेना चाहिए। इस कालभेद का प्रयोग शास्त्र में इस प्रकार देखा जाता है। जैसे—प्रातःकाल वमनकारक औषधयोग को देना चाहिए, मध्याह्न में विरेचन कराना चाहिए, फिर कुछ समय रुक कर बस्ति का प्रयोग करना चाहिए आदि। इसके पहले जो देशभेद की व्याख्या की गयी थी, तदनुसार विचार कर अर्थात् यह किस देश का निवासी है, इसका आहार-विहार, रहन-सहन कैसा है, इसे क्या सात्म्य होगा, क्या असात्म्य होगा, यह सब विचार कर तब चिकित्सा करनी चाहिए। अतएव आगे औषध-प्रयोग की चर्चा प्रस्तावित है।

शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा।

औषध के भेद—संक्षिप्त रूप से औषध (चिकित्सा) दो प्रकार की होती है—१. शोधन अर्थात् वमन-विरेचन आदि विधियों से दोषों को निकालना शोधन कहा जाता है और २. शमन अर्थात् उभड़े हुए वात आदि दोषों को शान्त करने का उपचार।

वक्तव्य—शोधन-चिकित्सा से बढ़े हुए दोषों को निकाल दिया जाता है एवं शमन-चिकित्सा द्वारा बढ़े हुए दोषों को शान्त कर दिया जाता है। आयुर्वेदोक्त समस्त औषधों का समावेश शोधन तथा शमन औषधों में हो जाता है। उक्त श्लोक में जो 'औषध' शब्द का प्रयोग हुआ है, यहाँ इसका अर्थ है—'चिकित्सा'। देखें—च.सू. १०।३; च.चि. १।३ तथा अ.हृ.सू. के द्विविधोपक्रमणीय नामक १४वें अध्याय को भी इस प्रसंग में देखें।

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्॥ २५॥
बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु।

शारीरिक दोषों की चिकित्सा—शरीरसम्बन्धी दोषों की उत्तम चिकित्सा क्रमशः इस प्रकार है—वातदोष की चिकित्सा बस्ति-प्रयोग, पित्तदोष की चिकित्सा विरेचन-प्रयोग तथा कफदोष की चिकित्सा वमन-प्रयोग है तथा वातदोष में तैल, पित्तदोष में घृत और कफदोष में मधु का प्रयोग उत्तम शमन-चिकित्सा है॥ २५॥

वक्तव्य—उक्त श्लोक द्वारा शारीरिक दोषों की संक्षिप्त चिकित्सा कही गयी है। इनका विस्तृत विवरण अ.हृ.सू. अध्याय १६ में स्नेहविधि, १८ में वमन एवं विरेचन विधि, १९ में बस्तिविधि को कहा गया है। अष्टांगहृदय का यह सूत्रस्थान है। आर्ष आयुर्वेदीय संहिता-ग्रन्थों का यह प्राचीन विषय-विभागक्रम रहा है। इसमें यथासम्भव आयुर्वेद सम्बन्धी अर्थों की सूचना होती है। इसमें आयुर्वेद के सूत्रों को मणियों की भाँति गुँथा गया है और इन्हीं सूत्रों की अगले अध्यायों या स्थानों में विस्तृत व्याख्यान करने की इसमें प्रतिज्ञा की गयी है; अतः इसे 'सूत्रस्थान' कहा गया है। अतएव उक्त २५वाँ पद्य इसका एक उदाहरण मात्र है।

धीधैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम्॥ २६॥

मानसिक दोषों की चिकित्सा—मानसिक (रजस् तथा तमस्) दोषों की उत्तम चिकित्सा है—बुद्धि तथा धैर्य से व्यवहार करना और आत्मादि विज्ञान (कौन मेरा है, क्या मेरा बल है, यह कौन देश तथा कौन मेरे हितैषी या सहायक हैं) का विचार कर कार्य करना॥ २६॥

वक्तव्य—नीति-उपदेष्टा आचार्य चाणक्य ने कुछ ऐसी ही स्थिति को ध्यान में रखकर यह पद्य कहा होगा—'कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ। कस्याऽहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः'॥ (चाणक्यनीति)। वस्ति, विरेचन, वमन तथा तैल, घृत, मधु के प्रयोगों से क्रमशः वात, पित्त, कफ दोषों का शमन हो जाता है और बुद्धि, धैर्य आदि से रजोगुण एवं तमोगुण जनित राग तथा क्रोध आदि की शान्ति हो जाती है।

भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्। चिकित्सितस्य निर्दिष्टं, प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम्॥ २७॥

चिकित्सा के चार पाद—चिकित्सा-कर्म के चार पाद (चरण या विभाग) माने जाते हैं। जैसे—१. भिषक् (वैद्य या चिकित्सक), २. द्रव्य (मैनफल आदि वमनकारक अर्थात् शोधन द्रव्य, गुरुच आदि शमन द्रव्य तथा बस्ति आदि शोधन उपकरण), ३. उपस्थाता (उप समीपे तिष्ठतीति)—परिचारक (जो रोगी के पास में रहकर उसकी देख-भाल करे; उसे उठाये, बैठाये, खिलाये, पिलाये तथा मल-मूत्र करने में सहायता करे) और ४. रोगी। इन चारों में प्रत्येक में चार-चार गुण होने चाहिए॥ २७॥

दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक्।

वैद्य के चार लक्षण— १. दक्ष (चिकित्साकर्म में कुशल), २. तीर्थ (आचार्य) से शास्त्र (आयुर्वेदशास्त्र) के अर्थ को ग्रहण कर चुका हो। ३. दृष्टकर्मा (चिकित्सा की विधियों को जो अनेक बार देख चुका हो) और ४. जो शुचि (शरीर तथा आचरण से पवित्र) हो।

बहुकल्पं बहुगुणं सम्पन्नं योग्यमौषधम्॥ २८॥

औषध-द्रव्य के चार लक्षण— १. बहुकल्प (जो स्वरस, क्वाथ, फाण्ट, अवलेह, चूर्ण आदि अनेक रूपों में दिया जा सकता) हो, २. बहुगुण (जो औषध के सभी गुणों से सम्पन्न) हो, ३. सम्पन्न (अपने गुणों की सम्पत्ति से जो युक्त) हो और ४. योग्य (जो रोग-रोगी, देश, काल आदि के अनुकूल) हो॥ २८॥

अनुरक्तः शुचिर्दक्षो बुद्धिमान् परिचारकः।

परिचारक (उपस्थाता) के चार लक्षण— १. अनुरक्त (रोगी से स्नेह रखने वाला), २. शुचि (खान-पान, औषधि खिलाने, रखने आदि में साफ-सफाई रखने वाला), ३. दक्ष (कुशल) तथा ४. बुद्धिमान् (समयोचित सूझ-बूझ वाला) होना चाहिए।

आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्त्ववानपि॥ २९॥

रोगी के चार लक्षण— १. आढ्य (धन-जन आदि से सम्पन्न), २. भिषग्वश्य (वैद्य की आज्ञानुसार औषध तथा पथ्य सेवन करने वाला), ३. ज्ञापक (अपने सुख-दुःख कहने में सक्षम) तथा ४. सत्त्ववान् (मानसिक शक्तिसम्पन्न अर्थात् चिकित्साकाल में होने वाले कष्टों से न घबड़ाने वाला) हो॥ २९॥

वक्तव्य—चरक-सूत्रस्थान अध्याय ९ का नाम 'खुड्डाकचतुष्पाद' है। इस सम्पूर्ण अध्याय में वैद्य, द्रव्य, परिचारक तथा रोगी इन्हीं चिकित्सा के चार पादों का वर्णन किया गया है, इसे देखें। इसके अगले दसवें अध्याय में मैत्रेय की शंकाओं का आत्रेय पुनर्वसु द्वारा जो समाधान दिया है, वह भी ध्यान देने योग्य है।

चिकित्सा के चार पादों में वैद्य सब में उत्तम (प्रधान) होता है, क्योंकि यदि वैद्य नहीं है तो अन्य तीन पाद गुणवान् होने पर भी अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से नहीं कर पाते। अतएव चिकित्सक को (च.सू. ९।१० में) विज्ञाता, शासिता, योक्ता तथा प्रधान कहा गया है। इन विशेषणों का तात्पर्य है— १. विज्ञाता अर्थात् औषधियों का जानकार, २. शासिता—परिचारक या परिचारकों से समयोचित कार्य कराने में सक्षम एवं कुशल और ३. योक्ता—रोगी को यह खाओ, यह पीओ आदि व्यवस्था देने में चतुर। इस प्रकार औषध-द्रव्य आदि तीनों वैद्य के अधिकार में रहते हैं। इनमें विज्ञाता विशेष ज्ञानवान् होने के कारण वैद्य प्रधान एवं स्वतन्त्र होता है।

अष्टांगसंग्रह-सूत्रस्थान २।८-९ में सुयोग्य वैद्य के तथा श्लोक १२ में राजवैद्य के लक्षण दिये हैं। इसी प्रसंग में श्लोक १० में कुवैद्य के भी लक्षण सामाजिकों के परिचयार्थ दिये गये हैं, इन्हें देखें। शार्ङ्गधराचार्य ने जो वैद्य के लक्षण दिये हैं, वे मननीय हैं—'तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयं कृती। लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः॥ प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी प्रियंवदः। सत्यधर्मपरो यश्च वैद्य ईदृक् प्रशस्यते'॥ (शा.सं.पू.खं. ३।२३-२४) अर्थ स्पष्ट है।

रोगी के गुणों में एक गुण 'ज्ञापक' है—जिसका अर्थ है—अपनी बात को जो ठीक प्रकार से कह सके। बालक रोगी में यह शक्ति नहीं होती, अतएव चिकित्सक को उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। उसकी विधि वाग्भट ने अ.हृ.उ. २ में बतलायी है, आप ध्यान दें।

चिकित्सा के चार पादों (पैरों) का यहाँ वर्णन किया गया है। इसका आशय है कि वह (चिकित्सा) अपने बल पर खड़ी रह सके, गतिशील हो और सफल हो। यदि कोई पाद कम पड़ जायेगा तो वह डगमगाने लगेगी, अतः चिकित्साकाल में चारों पादों की व्यवस्था सतर्कता से होनी चाहिए।

(साध्योऽसाध्य इति व्याधिर्द्विधा, तौ तु पुनर्द्विधा।
सुसाध्यः कृच्छ्रसाध्यश्च, याप्यो यश्चानुपक्रमः॥)

सर्वौषधक्षमे देहे यूनः पुंसो जितात्मनः। अमर्मगोऽल्पहेत्वग्ररूपरूपोऽनुपद्रवः॥ ३०॥
अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतिः पादसम्पदि। ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोषमार्गो नवः सुखः॥ ३१॥

साध्य-असाध्य के अनुसार व्याधि के भेद— १. साध्य तथा २. असाध्य इस प्रकार रोग के दो भेद होते हैं। इनके भी पुनः दो भेद होते हैं— १. सुखसाध्य एवं २. कृच्छ्र(कष्ट)साध्य। इसके बाद असाध्य के पुनः दो भेद होते हैं— १. याप्य (कुछ दिन चिकित्सा द्वारा चलाने योग्य) और २. अनुपक्रम अर्थात् चिकित्सा के अयोग्य या प्रत्याख्येय (जवाब देकर चिकित्सा करने योग्य)॥ १॥

सुखसाध्य रोग के लक्षण—जिस रोगी का शरीर सभी प्रकार की चिकित्साविधियों को सहन करने में समर्थ (सक्षम) हो, जो युवक (बालक या वृद्ध न) हो, जो जितेन्द्रिय हो, जिसका रोग किसी मर्मस्थल में उत्पन्न न हुआ हो, जिस रोग के उत्पादक हेतु (कारण), पूर्वरूप, रूप आदि थोड़े एवं सामान्य (उग्र न) हों, जिसमें अभी तक कोई उपद्रव पैदा न हुए हों तथा जिसमें दूष्य, देश, ऋतु एवं प्रकृति समान न हों, चिकित्साकाल में उक्त चारों पाद अपने-अपने गुणों से सम्पन्न हों; सूर्य-चन्द्र आदि ग्रह अनुकूल हों, रोग एक दोष से उत्पन्न हों, एकमार्गगामी हो (जैसे रक्तपित्तरोग—'ऊर्ध्वं साध्यम्') और रोग नया हो॥ ३०-३१॥

वक्तव्य—यद्यपि यह कोष्ठांकित पद्य अष्टांगसंग्रह-सूत्रस्थान अध्याय २।२६ का है, फिर भी यह प्रसंगोचित है, अतएव कुछ विद्वान् इसका यहाँ भी संग्रह करते हैं।

रोग के भेदों का वर्णन करने के बाद अब यहाँ साध्य रोगी के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—'सर्वौषधक्षमे देहे' अर्थात् जो तीक्ष्ण, मध्य, मृदु सभी प्रकार की औषधियों को तथा शोधन-शमन चिकित्सा में प्रयुक्त विष-क्षार आदि द्रव्यों के प्रयोगों को सहन कर सके। इसके आगे 'श्रीअरुणदत्त' कहते हैं—'पुंसो न स्त्रियाः'। 'पुंग्रहणं स्त्रीनिवृत्त्यर्थम्'। यह विचार उनका केवल इस अंश में माना जा सकता है कि पुरुष-शरीर से स्त्री-शरीर 'मृदु' होता है, अन्यथा चिकित्सा-क्षेत्र में पुरुष शब्द से प्राणिमात्र का ग्रहण किया जाता है। आप देखें—'खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः'॥ (च.शा. १।१६) और भी—'वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः'॥ (च.शा. १।३६) रोगों की साध्यता एवं असाध्यता का विचार हम स्त्री-शरीर में भी करेंगे। **जितात्मनः**—जिसने अपनी इन्द्रियों के साथ आत्मा को जीत लिया है अर्थात् जिसे विषयों के उपभोग की प्रवृत्ति न हो। **अमर्मगः**—जो रोग मर्मों (प्राणहर मर्मों—सिर, हृदय, बस्ति आदि) में उत्पन्न न हुआ हो। **अनुपद्रवः**—वर्तमान में उत्पन्न रोग के बाद जो दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है, उसे 'उपद्रव' कहते हैं, उससे रहित अर्थात् पूर्व चिकित्सा में जो बाधक हो। **अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतिः**—अतुल्य = जो रोग के समान न हो। जैसे दूष्य—मेदस् तथा मज्जा में उत्पन्न रोग, अनूपदेश में जाड़े में उत्पन्न रोग। रोगी वातप्रकृति का हो और उसका पित्तदोष प्रकुपित हो तो सुखसाध्य होता है। अतुल्यदूष्य—शीतगुण-प्रधान कफ से उष्णगुण-प्रधान रक्त का दूषित होना। अतुल्यदेशज रोग—अनूपदेश में पित्तदोष से उत्पन्न रोग। अतुल्यऋतु—शरद् ऋतु में कफज रोग। अतुल्यप्रकृति—पित्तप्रकृति वाले पुरुष को कफज रोग की उत्पत्ति। ये सुखसाध्य के लक्षण हैं।

कहीं चिकित्सा क्षेत्र में विपरीत स्थिति के भी दर्शन होते हैं। यथा—'ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्य-दूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्'॥ अर्थ स्पष्ट है। पादचतुष्टय की उपलब्धि भी चिकित्सा-सौकर्य में सहायक होती है। ग्रहेष्वनुगुणेषु—आयुर्वेद का ज्योतिषशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतएव अनुकूल ग्रह-नक्षत्र आदि की चर्चा यहाँ की गयी है। एकदोषमार्गः—तीनों में से किसी एक दोष का होना। द्विदोषज, त्रिदोषज रोग उत्तरोत्तर कष्टसाध्य तथा असाध्य होते हैं। मार्ग तीन प्रकार के कहे गये हैं— १. बाह्य, २. अन्तर, ३. मध्य। नवः—प्रायः नये रोग सुखसाध्य होते हैं। वे ही रोग विलम्ब कर देने से कष्टसाध्य हो जाते हैं। अतएव कहा गया है—'सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते'।

शस्त्रादिसाधनः कृच्छ्रः सङ्करे च ततो गदः।

कष्टसाध्य रोग के लक्षण—कृच्छ्र शब्द का अर्थ है—कष्ट। कष्टसाध्य वे रोग होते हैं जिनमें शस्त्र, क्षार, अग्नि (दाह) कर्म तथा विष आदि के प्रयोग किये जाते हैं। जिन रोगों में ऊपर कहे गये सुखसाध्य के लक्षण संकर (मिले-जुले) हों अर्थात् पूर्णरूप से विद्यमान न हों।

शेषत्वादायुषो याप्यः पथ्याभ्यासाद्विपर्यये॥ ३२॥

याप्य रोग के लक्षण—उस रोग को 'याप्य' कहते हैं जिसमें पूर्वोक्त सुखसाध्य के लक्षणों से विपरीत लक्षण हों, किन्तु आयु के शेष (बचे) रहने के कारण तथा पथ्य (हितकर) आहार-विहार तथा औषध (यथायोग्य चिकित्सा) के अभ्यास (लगातार सेवन) करने के कारण रोगी चल-फिर सक रहा हो॥ ३२॥

वक्तव्य—'याप्य' चिकित्सा' की वह स्थिति है जिसे चिकित्सक पूर्ण रूप से स्वस्थ कर देना चाहता है, किन्तु ऐसा कर नहीं सकता और यह चिकित्सा तब तक चल सकती है जब तक रोगी की आयु शेष है। इसके सम्बन्ध में विशेष विवरण देखें—'दत्त्वाऽल्पं···हितैः'। (अ.सं.सू. २।३१-३२) अर्थात् जो रोग उचित चिकित्सा करने तथा पथ्य सेवन करते रहने से कुछ शान्त रहता है, उसे 'याप्य' कहते हैं। व्याकरणशास्त्र में 'याप्य' का अर्थ कुत्सित या निन्दित है। देखें—**याप्ये पाशप् (अ. ५।३।४७)।**

अनुपक्रम एव स्यात्स्थितोऽत्यन्तविपर्यये। औत्सुक्यमोहारतिकृद् दृष्टरिष्टोऽक्षनाशनः॥ ३३॥

प्रत्याख्येय रोग के लक्षण—उस रोग को 'अनुपक्रम' भी कहते हैं जो सुखसाध्य लक्षणों से अत्यन्त विपरीत हो और जो औत्सुक्य, मोह तथा अरति (बेचैनी) लक्षणों वाला हो, जिसमें अरिष्ट लक्षण दिखलायी दे रहे हों एवं जिसमें ज्ञानेन्द्रियों का नाश हो गया हो॥ ३३॥

वक्तव्य—उक्त ३३वें श्लोक में कहे गये सभी लक्षण असाध्य रोग के हैं। आप भी लक्षणों पर ध्यान दें। 'औत्सुक्य' भाव को आप रोगी में इस प्रकार देखेंगे—अधिक प्रसन्न होना या उठ-उठ कर दौड़ना आदि या मोह, बेहोशी, प्रलाप (अंट-संट बकना) आदि। 'अरति' (बेचैनी), हाथ-पाँव का पटकना या सिर को घुमाते रहना। 'दृष्टरिष्टः'—जिसमें अरिष्ट (मृत्युकारक) लक्षण दिखलायी दे रहे हों। आयुर्वेद में 'रिष्ट' तथा अरिष्ट' दोनों शब्द समानार्थक हैं। 'अक्षनाशनः'—अक्ष का अर्थ है ज्ञानेन्द्रियाँ, इनकी क्रियाशक्ति का जिस रोगी में नाश हो गया हो अर्थात् जो संज्ञाशून्य हो गया हो। उत्तम चिकित्सक घर के लोगों से उसके रोग की विषम (असाध्य) स्थिति को बतला कर उसकी चिकित्सा न करे। देखें—च.सू. १०।८। इस अध्याय में श्लोक ९ से २२ तक का अवश्य अवलोकन करें। देखें—इस विषय में महर्षि चरक ने अपने शब्दों में किस प्रकार कहा है?

त्यजेदार्तं भिषग्भूपैर्द्विष्टं तेषां द्विषं द्विषम्। हीनोपकरणं व्यग्रमविधेयं गतायुषम्॥ ३४॥
चण्डं शोकातुरं भीरुं कृतघ्नं वैद्यमानिनम्।

त्याज्य रोगी—चिकित्सक को चाहिए कि निम्नलिखित प्रकार के रोगियों की चिकित्सा न करे—१. जिससे राजा या महाजन द्वेष करता हो और जो स्वयं अपना द्वेषी हो, २. जो राजाओं (श्रीमानों) से द्वेष करता हो, ३. वैद्य से द्वेष करता हो, ४. जिसके पास चिकित्सा के उपयोगी साधन न हों, ५. जो व्यग्र हो अर्थात् जो चिकित्सा कराने में सक्रिय न हो, इधर-उधर भटकता रहता हो, ६. जो रोगी चिकित्सक की आज्ञा के अनुसार चलना स्वीकार न करता हो, ७. जो गतायु हो (इसका ज्ञान ज्योतिषी आदि से किया जा सकता है) अर्थात् जो अब अधिक समय तक जीवित नहीं रहेगा, ८. जो अत्यन्त क्रोधी हो; ९. शोकातुर अर्थात् जो पुत्र-स्त्री-धन आदि के नाश से दुःखी हो, १०. जो भीरु (डरपोक) हो अर्थात् जो पञ्चकर्म आदि क्रियाओं से डरता हो, ११. कृतघ्न अर्थात् जो दूसरों द्वारा किये गये उपकार को न मानता हो और १२. जो वैद्यमानी हो अर्थात् जिसमें वैद्य का ज्ञान न हो, फिर भी अपने को वैद्य समझता हो॥ ३४॥

वक्तव्य—इन त्याज्य रोगियों के लिए सरकारी अस्पताल बने हैं, अतः व्यक्तिगत चिकित्सक इन झंझटों में न पड़ें; यह शास्त्रीय उद्‌बोधन है। इनसे अपयश तो मिल सकता है किन्तु धर्म, अर्थ, यश की प्राप्ति नहीं हो सकती। महर्षि चरक ने भी प्रकारान्तर से इनकी चिकित्सा करने का निषेध किया है। देखें—च.सि. २।४-६। इसी के आगे ७वें पद्य में कहा है—'एभ्योऽन्ये समुपक्रम्या नराः सर्वैरुपक्रमैः'। वाग्भट ने अ.सं.सू. २।३४ में कहा है—पहले रोग की परीक्षा कर ले, तभी चिकित्सा करना प्रारम्भ करे।

तन्त्रस्यास्य परं चातो वक्ष्यतेऽध्यायसङ्ग्रहः ॥ ३५ ॥

अध्यायसंग्रह-वर्णन—अब यहाँ से सम्पूर्ण अष्टांगहृदयतन्त्र के अध्यायों के संग्रह का वर्णन किया जा रहा है॥ ३५॥

वक्तव्य—यह क्रम संहिता के रचयिताओं का अथवा तन्त्रकारों का अन्यत्र भी देखा जाता है। 'अतः परं' = इसके बाद तथा 'अस्मात् ऊर्ध्वं' = इसके आगे। इस प्रकार का संकेत तन्त्रकार अपने ग्रन्थ, संहिता या तन्त्र में किया करते हैं।

आयुष्कामदिनर्त्वीहारोगानुत्पादनद्रवाः। अन्नज्ञानान्नसंरक्षामात्राद्रव्यरसाश्रयाः॥ ३६॥
दोषादिज्ञानतद्भेदतच्चिकित्साद्व्युपक्रमाः। शुद्ध्यादिस्नेहनस्वेदरेकास्थापननावनम्॥ ३७॥
धूमगण्डूषदृक्सेकतृप्तियन्त्रकशस्त्रकम्। शिराविधिः शल्यविधिः शस्त्रक्षाराग्निकर्मिकौ॥ ३८॥
सूत्रस्थानमिमेऽध्यायास्त्रिंशत्—

सूत्रस्थान के अध्याय—सूत्रस्थान के अध्यायों की गणना की जा रही है— १. आयुष्कामीय, २. दिनचर्या, ३. ऋतुचर्या, ४. रोगानुत्पादनीय, ५. द्रवद्रव्यविज्ञानीय, ६. अन्नस्वरूपविज्ञानीय, ७. अन्नरक्षाध्याय, ८. मात्राशितीय, ९. द्रव्यादिविज्ञानीय, १०. रसभेदीय, ११. दोषादिविज्ञानीय, १२. दोषभेदीय, १३. दोषोपक्रमणीय, १४. द्विविधोपक्रमणीय, १५. शोधनादिगणसंग्रह, १६. स्नेहविधि, १७. स्वेदविधि, १८. वमन-विरेचनविधि, १९. बस्तिविधि, २०. नस्यविधि, २१. धूम्रपानविधि, २२. गण्डूषादि विधि, २३. आश्चोतनाञ्जनविधि, २४. तर्पण-पुटपाकविधि, २५. यन्त्रविधि, २६. शस्त्रविधि, २७. सिराव्यधविधि, २८. शल्याहरणविधि, २९. शस्त्रकर्मविधि तथा ३०. क्षाराग्निकर्मविधि। ये अध्याय सूत्रस्थान में हैं॥ ३६-३८॥

—शारीरमुच्यते। गर्भावक्रान्तितद्व्यापदङ्गमर्मविभागिकम्॥ ३९॥
विकृतिर्दूतजं षष्ठं—

शारीरस्थान के अध्याय—शारीरस्थान के अध्यायों की गणना की जा रही है— १. गर्भावक्रान्ति, २. गर्भव्यापद्, ३. अङ्गविभाग, ४. मर्मविभागीय, ५. विकृतिविज्ञानीय तथा ६. दूतादिविज्ञानीय। ये अध्याय शारीरस्थान में हैं॥ ३९॥

—निदानं सार्वरोगिकम्। ज्वरासृक्श्वासयक्ष्मादिमदाद्यर्शोऽतिसारिणाम्॥ ४०॥
मूत्राघातप्रमेहाणां विद्रध्याद्युदरस्य च। पाण्डुकुष्ठानिलार्तानां वातास्रस्य च षोडश॥ ४१॥

निदानस्थान के अध्याय—निदानस्थान के अध्यायों की गणना की जा रही है— १. सर्वरोगनिदान, २. ज्वरनिदान, ३. रक्तपित्तकासनिदान, ४. श्वासहिक्कानिदान, ५. राजयक्ष्मानिदान, ६. मदात्ययनिदान, ७. अर्शोनिदान, ८. अतिसारग्रहणीरोगनिदान, ९. मूत्राघातनिदान, १०. प्रमेहनिदान, ११. विद्रधिवृद्धि-गुल्मनिदान, १२. उदररोगनिदान, १३. पाण्डुरोगशोफविसर्पनिदान, १४. कुष्ठश्वित्रक्रिमिनिदान, १५. वातव्याधिनिदान तथा १६. वातशोणितनिदान। ये अध्याय निदानस्थान में हैं॥ ४०-४१॥

चिकित्सितं ज्वरे रक्ते कासे श्वासे च यक्ष्मणि। वमौ मदात्ययेऽर्शःसु, विशि द्वौ, द्वौ च मूत्रिते॥
विद्रधौ गुल्मजठरपाण्डुशोफविसर्पिषु। कुष्ठश्वित्रानिलव्याधिवातास्रेषु चिकित्सितम्॥ ४३॥
द्वाविंशतिरिमेऽध्यायाः—

चिकित्सितस्थान के अध्याय—चिकित्सितस्थान के अध्यायों की गणना की जा रही है—१. ज्वर, २. रक्तपित्त, ३. कास, ४. श्वासहिक्का, ५. राजयक्ष्मादि, ६. छर्दिहृद्रोगतृष्णा, ७. मदात्ययादि, ८. अर्शसां चिकित्सित, ९. अतिसार, १०. ग्रहणीरोग, ११. मूत्राघात, १२. प्रमेह, १३. विद्रधिवृद्धि, १४. गुल्म, १५. उदर, १६. पाण्डुरोग, १७. श्वयथु, १८. विसर्प, १९. कुष्ठ, २०. श्वित्रक्रिमि, २१. वातव्याधि तथा २२. वातशोणित। ये अध्याय चिकित्सितस्थान में हैं॥ ४२-४३॥

—कल्पसिद्धिरतः परम्। कल्पो वमेर्विरेकस्य तत्सिद्धिर्बस्तिकल्पना॥ ४४॥
सिद्धिर्बस्त्यापदां षष्ठो द्रव्यकल्पः—

कल्प-सिद्धिस्थान के अध्याय—कल्प-सिद्धिस्थान के अध्यायों की गणना की जा रही है—१. वमनकल्प, २. विरेचनकल्प, ३. वमनविरेचनसिद्धि, ४. बस्तिकल्प, ५. बस्तिव्यापत्सिद्धि तथा ६. भेषजकल्प। ये अध्याय कल्प-सिद्धिस्थान में हैं॥ ४४॥

—अत उत्तरम्। बालोपचारे तद्व्याधौ तद्ग्रहे, द्वौ च भूतगे॥ ४५॥
उन्मादेऽथ स्मृतिभ्रंशे, द्वौ द्वौ वर्त्मसु सन्धिषु। दृक्तमोलिङ्गनाशेषु त्रयो, द्वौ द्वौ च सर्वगे॥ ४६॥
कर्णनासामुखशिरोव्रणे, भङ्गे भगन्दरे। ग्रन्थ्यादौ क्षुद्ररोगेषु गुह्यरोगे पृथग्द्वयम्॥ ४७॥
विषे भुजङ्गे कीटेषु मूषकेषु रसायने। चत्वारिंशोऽनपत्यानामध्यायो बीजपोषणः॥ ४८॥

उत्तरस्थान के अध्याय—उत्तरस्थान के अध्यायों की गणना की जा रही है—१. बालोपचरणीय, २. बालामयप्रतिषेध, ३. बालग्रहप्रतिषेध, ४. भूतविज्ञानीय, ५. भूतप्रतिषेध, ६. उन्मादप्रतिषेध, ७. अपस्मार-(स्मृतिभ्रंश)प्रतिषेध, ८. वर्त्मरोगविज्ञानीय, ९. वर्त्मरोगप्रतिषेध, १०. सन्धिसितासितरोगविज्ञानीय, ११. सन्धिसितासितरोगप्रतिषेध, १२. दृष्टिरोगविज्ञानीय, १३. तिमिरप्रतिषेध, १४. लिङ्गनाशप्रतिषेध, १५. सर्वाक्षिरोगविज्ञानीय, १६. सर्वाक्षिरोगप्रतिषेध, १७. कर्णरोगविज्ञानीय, १८. कर्णरोगप्रतिषेध, १९. नासा-रोगविज्ञानीय, २०. नासारोगप्रतिषेध, २१. मुखरोगविज्ञानीय, २२. मुखरोगप्रतिषेध, २३. शिरोरोगविज्ञानीय, २४. शिरोरोगप्रतिषेध, २५. व्रणविज्ञानीय, २६. सद्योव्रणप्रतिषेध, २७. भङ्गप्रतिषेध, २८. भगन्दरप्रतिषेध, २९. ग्रन्थि-अर्बुद-श्लीपद-अपची-नाड़ीविज्ञानीय, ३०. ग्रन्थि-अर्बुद-श्लीपद-अपची-नाड़ी-प्रतिषेध, ३१. क्षुद्ररोगविज्ञानीय, ३२. क्षुद्ररोगप्रतिषेध, ३३. गुह्यरोगविज्ञानीय, ३४. गुह्यरोगप्रतिषेध, ३५. विषप्रतिषेध, ३६. सर्पविषप्रतिषेध, ३७. कीटलूतादिप्रतिषेध, ३८. मूषिकलार्कविषप्रतिषेध, ३९. रसायनाध्याय तथा ४०. वाजीकरणाध्याय। ये अध्याय उत्तरस्थान में हैं॥ ४५-४८॥

इत्यध्यायशतं विंशं षड्भिः स्थानैरुदीरितम्॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने आयुष्कामीयो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अष्टांगहृदय के छः स्थान—इस प्रकार सम्पूर्ण अष्टांगहृदय के १२० अध्यायों की नाम-गणना उक्त (१. सूत्र, २. शारीर, ३. निदान, ४. चिकित्सित, ५. कल्प-सिद्धि तथा ६. उत्तर नामक) छः स्थानों में कर दी गयी है॥ ४८॥

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **'निर्मला'** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टांगहृदय-सूत्रस्थान में आयुष्कामीय नामक पहला अध्याय समाप्त॥ १॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातो दिनचर्याध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से दिनचर्या नामक अध्याय का वर्णन करेंगे, इस विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने इस प्रकार कहा था॥ १॥

उपक्रम—दिनचर्या शब्द से रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि का भी ग्रहण कर लिया जाता है। दिनचर्या शब्द में इतने अर्थ छिपे हैं—'दिने-दिने चर्या, दिनस्य चर्या किं वा दिनानां चर्या = दिनचर्या'। इस प्रकार परिभाषित करने पर उक्त सभी अर्थों का इसमें समावेश हो जाता है। इस अध्याय में उन आचरणों की चर्चा की जायेगी जो नर-नारी के लिए दोनों लोकों में हितकर होती है। हमारा यह आयुर्वेद इस लोक और परलोक को मानता है। आपको इसके अनेक प्रमाण मिलेंगे, अस्तु। विशेष देखें—इसी अध्याय के ४८वें पद्य को।

निरुक्ति—गति तथा भक्षण अर्थ में प्रयुक्त चर् धातु से यत् + टाप् प्रत्यय करने पर चर्या शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—आहार-विहार तथा आचरण विधि।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. ५, ७, ८; सु.चि. २४ तथा अ.सं.सू. ३ में देखें।

ब्राह्मे मूहूर्त उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।

ब्राह्ममुहूर्त में जागना—स्वस्थ (नीरोग) स्त्री-पुरुष को अपनी आयु (सुखायु-हितायु) की रक्षा करने के लिए प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठना चाहिए।

वक्तव्य—ब्राह्ममुहूर्त—रात के पिछले पहर की दो घड़ी या दो दण्ड। श्रीअरुणदत्त ब्राह्ममुहूर्त की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'रात्रेश्चतुर्दशो मुहूर्तो ब्राह्मो मुहूर्तः', किन्तु 'मुहूर्तचिन्तामणि' के विवाह-प्रकरण में दिये गये ५३वें पद्य में दिया गया रात्रि का १४वाँ मुहूर्त 'त्वाष्ट्र' है, जिसका स्वामी **चित्रा** नामक नक्षत्र है। हाँ, आठवें मुहूर्त का नाम 'ब्रह्मा' है, जो प्रसंगोचित नहीं है। इसके आगे वे कहते हैं—'ब्रह्म—ज्ञानं तदर्थमध्ययनाद्यपि ब्रह्म, तस्य योग्यो मुहूर्तो ब्राह्मः'। यह व्याख्या युक्तियुक्त प्रतीत होती है। अन्यत्र कहा गया है—'रात्रेस्तु पश्चिमो यामो मुहूर्तो ब्राह्म उच्यते'। यह नियम केवल स्वस्थ पुरुष के लिए है। सूर्योदय से पहले रात्रि के अन्तिम प्रहर की चार घड़ियों को 'ब्राह्ममुहूर्त' माना गया है। सुश्रुत ने केवल 'उत्थायोत्थाय सततं' (सु.चि. २४।३) में प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर, इतना ही कहा है।

शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः॥ १॥
अर्कन्यग्रोधखदिरकरञ्जककुभादिजम् । प्रातर्भुक्त्वा च मृद्वग्रं कषायकटुतिक्तकम्॥ २॥
कनीन्यग्रसमस्थौल्यं प्रगुणं द्वादशाङ्गुलम्। भक्षयेद्दन्तपवनं दन्तमांसान्यबाधयन्॥ ३॥

दतवन का विधान—उठते ही शरीर की चिन्ता से निवृत्त होकर अर्थात् मैं उठने योग्य हूँ या नहीं—ऐसा विचार करके यदि वह अपने को दिनचर्या करने योग्य समझे तब वह शौचविधि (मल-मूत्र त्याग कर मल-मूत्र स्थानों को मिट्टी, जल आदि से शुद्ध करने के बाद अर्क, बरगद, खैर या बबूल, करञ्ज (डिठौरी),ककुभ (अर्जुन) आदि वृक्षों में से किसी की पतली शाखा को लेकर दतवन (दातौन) करे।

दतवन करने के दो समय होते हैं—१. प्रातःकाल और २. भोजन कर लेने के बाद। इससे मुख की मलिनता दूर होती है और भोजन करने के बाद दाँतों या मसूड़ों में फँसे हुए अन्नकण आदि निकल जाते हैं।

दतवन करने की विधि—दतवन के अगले भाग को दाँतों से चबाकर अथवा कूटकर मुलायम कर लेना चाहिए, नहीं तो उसकी रगड़ मसूड़ों में लग सकती है। इस (दतवन) का रस कसैला (खैर या बबूल का जैसा) या कटु (तेजबल या तिमूर का जैसा) अथवा तिक्त (नीम का जैसा) होना चाहिए। इसकी मोटाई कनीनिका (सबसे छोटी पाँचवीं अंगुली) के समान तथा लम्बाई बारह अँगुल होनी चाहिए। इस प्रकार की दतवन को लेकर दाँतों पर इस प्रकार घिसें जिससे मसूड़ों पर खरोश न लगे और दाँत स्वच्छ हो जायें॥ १-३॥

वक्तव्य—वाग्भट ने 'अर्क' (मदार) की दतवन करने का विधान किया है, तथापि दूध सहित इसकी शाखा को मुख में न डाले, अन्यथा मुख पक जायेगा, घाव हो जायेंगे। अतः इसकी बाहरी त्वचा को छीलकर तथा पानी से धोकर ही इसका दतवन के लिए प्रयोग करें। आजकल अनेक चूर्णों तथा मञ्जनों का दाँत साफ करने के लिए प्रयोग होने लगा है। इसका प्रयोग उँगली या ब्रश से किया जाता है, अतः ब्रश का मुलायम होना अति आवश्यक है। दूसरी ओर 'कोलगेट' आदि टूथपेस्टों का प्रयोग चल पड़ा है। जहाँ उचित गुण वाली दतवन सुलभ नहीं है वहाँ सुलभ विकल्पों का प्रयोग कर लेना चाहिए। ध्यान रहे—दाँत जिससे साफ हों, मसूड़ों को हानि न पहुँचे उसका उपयोग करें। इसका प्रयोग करने से मुखरोग नहीं होते और मुख साफ बना रहता है।

सुश्रुत ने चि.२४।४-१२ में जो मधुर रस वाली दतवन का विधान किया है, उसका तात्पर्य है—मुखपाक (सर्वसर) या मुखदाह आदि पित्तज विकारों में इसका प्रयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त ऐसे अवसरों पर फिटकरी का चूर्ण डालकर तैलगण्डूष भी अत्यन्त हितकर होता है।

जिह्वानिर्लेखन—इस प्रसंग में दतवन कर लेने के बाद जीभी का प्रयोग भी कर लेना चाहिए। इसका वर्णन चरक, सुश्रुत, वाग्भट (अष्टांगसंग्रह) ने किया है, किन्तु अष्टांगहृदय में नहीं हुआ है। इसकी हम सुश्रुतोक्त विधि कह रहे हैं—जीभ को साफ करने (उसमें जमे हुए मैल को खुरचने) के लिए सोने, चाँदी या लकड़ी की जीभी बनवा लेनी चाहिए। आजकल बाजार में ताँबा या स्टील की भी जीभी मिलती है। दतवन करने वाले उसी को दाँतों से चीर कर जीभी बना लेते हैं। वास्तव में यह जीभी 'वार्क्ष' (वृक्ष से सम्बन्धित) है। इस विषय को च.सू. ५।७४-७५ में देखें।

नाद्यादजीर्णवमथुश्वासकासज्वरार्दिती। तृष्णास्यपाकहृन्नेत्रशिरःकर्णामयी च तत्॥ ४॥

दतवन का निषेध—अजीर्ण होने पर, छर्दिरोग में, श्वासरोग में, कासरोग में, ज्वररोग में, अर्दित (मुख का लकवा) रोग में, तृषारोग में, मुखपाकरोग में, हृदयरोग में, नेत्ररोग में, शिरोरोग में तथा कर्णरोग में दतवन न करें॥ ४॥

वक्तव्य—दतवन करने की क्रिया को आयुर्वेदशास्त्र में दो नामों से कहा गया है—१. दन्तपवन और २. दन्तधवन। इनमें 'पवन' का अर्थ है—पवित्र करना और 'धवन' का अर्थ है—धोना या साफ करना। अष्टांगसंग्रह-सू. ३।२०-२२ में निषिद्ध दतवनों का परिगणन इस प्रकार विस्तार से किया है—१. लिसोड़ा, २. रीठा, ३. बहेड़ा, ४. धव, ५. करीर, ६. बबूल, ७. सम्भालू, ८. सहजन, ९. लोध, १०. तेन्दू, ११. कचनार, १२. शमी, १३. पीलू, १४. पीपल, १५. इंगुदी (हिंगोट), १६. गूगल, १७. फरहद, १८. इमली, १९. मोच, २०. सफेद शाल्मली, २१. सेमल तथा २२. शष (सनई) की दतवन न करे। इनके अतिरिक्त जिन वृक्षों का रस मीठा, खट्टा अथवा नमकीन हो उनकी भी दतवन न करे। जो दतवन सूखी, खोखली, दुर्गन्धयुक्त तथा लसीली हो उसका भी निषेध किया है और पलाश तथा विजयसार की दतवन एवं खड़ाऊँ का परित्याग करे।

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोस्ततो भजेत्।

अञ्जन-प्रयोग—मुखशुद्धि करने के बाद प्रतिदिन सौवीर अञ्जन को आँखों में लगाना चाहिए। यह आँखों के लिए हितकर होता है।

वक्तव्य—सुवीर (सिन्धु) देश में प्राप्त होने वाला यह अञ्जन (काला सुरमा) आँखों के लिए हितकर होता है। इसका विशेष विवेचन देखें—अ.सं.सू. ३२।७-८। स्वस्थ आँखों में प्रतिदिन लगाने वाले अञ्जन को प्रत्यञ्जन कहते हैं। श्रीभावमिश्र ने इस सौवीराञ्जन को 'सफेद सुरमा' स्वीकार किया है। यह काला सुरमा से अधिक सौम्य होता है। इन दोनों सुरमों का प्रयोग नेत्रप्रसादन के लिए किया जाता है। सुश्रुत ने भी इस अञ्जन की प्रशंसा की है। देखें—सु.चि. २४।१८-१९।

चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषात् श्लेष्मतो भयम्॥ ५॥
योजयेत्सप्तरात्रेऽस्मात् स्रावणार्थं रसाञ्जनम्।

रसाञ्जन-प्रयोगविधि—स्रावण अञ्जन का प्रयोग चक्षु (आँख) तेजोमय अर्थात् अग्निगुण-प्रधान अवयव है। उसे (चक्षु को) विशेष करके शीतगुण-प्रधान कफ का भय रहता है। अतएव आँख से कफदोष को निकालने के लिए सप्ताह में एक बार रसाञ्जन का प्रयोग अवश्य करना चाहिए॥ ५॥

वक्तव्य—उक्त रसाञ्जन के साप्ताहिक प्रयोग से आँखों में से संचित कफदोष निकल जाता है, अतः कफदोषजनित कोई भी नेत्ररोग नहीं हो पाता। विशेष करके काच (मोतियाबिन्द) रोग का भय नहीं रहता है। सुश्रुत ने 'काच' रोग को 'नीलिका' तथा 'लिंगनाश' भी कहा है। देखें—सु.उ. ७।१८। 'काच' को सफेद मोतिया और 'नीलिका' को नीला या काला मोतिया भी कहते हैं। यह कफदोष आँख में संचित होते-होते मोती जैसा दिखलायी देता है, तब इसे मोतियाबिन्द कहते हैं। आपरेशन करके निकालने के बाद यह आकार में मसूर की दाल जैसा होता है। चरक ने उक्त स्रावणांजन का प्रयोग प्रतिदिन या पाँचवें अथवा आठवें दिन करने की सलाह दी है। चरक ने अंजन-प्रयोग का समय रात्रि में बतलाया है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जब प्रतिदिन लगाये जाने वाले अंजन को छोड़कर प्रातःकाल रसाञ्जन का प्रयोग किया जायेगा तब प्रतिदिन लगाये जाने वाले अंजन को रात में लगाना चाहिए, यह चरक के वचन का अभिप्राय है। इसी प्रसंग में मनु ने कहा है—'मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्। पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानाञ्च पूजनम्'॥ (मनु० ४।१५२) यहाँ 'मैत्रं' का अर्थ है—सूर्य की आराधना, उपासना या पूजा। इसलिए रसवत अथवा किसी स्रावण अंजन का प्रयोग सदा करता रहे।

ततो नावनगण्डूषधूमताम्बूलभाग्भवेत्॥ ६॥

नस्य आदि सेवन-निर्देश—अंजनप्रयोग करने के बाद नस्य (सुंघनी), गण्डूष (कुल्ली, देखें—बृहत् हिन्दी-कोश), धूम्रपान तथा ताम्बूल का सेवन करे॥ ६॥

वक्तव्य—उक्त नस्य आदि की विस्तृत सेवनविधियाँ क्रमशः इस प्रकार अष्टांगहृदय में दी गयी हैं। देखें—१. नस्यसेवनविधि अ.हृ.सू. २०।१-२। धूमपानविधि वहीं २१ तथा ३. गण्डूषादि विधि वहीं २२। ताम्बूलभक्षण की विस्तृत विधि अ.सं.सू. ३।३६-३८ देखें।

ताम्बूल-सेवनविधि—भोजन के प्रति इच्छा अधिक हो, मुख स्वच्छ एवं सुगन्धित रहे, ऐसी इच्छा रखने वाले को घुला-घुलाकर पान खाना चाहिए। इसे भोजन की भाँति मुख में रखकर तत्काल निगलना नहीं चाहिए। **पान के मसाले**—जावित्री, जायफल, लौंग, कपूर, पिपरमेण्ट, कंकोल (शीतल चीनी), कटुक (लताकस्तूरी के बीज) तथा इसमें सुपारी के भिगाये हुए टुकड़े भी रखें। इस प्रकार सेवन करने से पान हृदय को प्रिय लगता है और यह शक्तिवर्धक होता है। इसका सेवन सोकर उठने के बाद स्नान एवं भोजन करने के बाद तथा वमन करने के पश्चात् करना चाहिए। एक बार में अधिक-से-अधिक दो बीड़ा पान लें, जिसमें चूना, कत्था लगा हो और सुपारी के टुकड़े पड़े हों।

विशिष्ट अवसर—राजसम्मान, विद्वत्सम्मान, रतिकाल, युद्ध आदि में जाते समय इसके सेवन का विशेष महत्त्व है। अन्य अवसर भी अनेक हैं, उन्हें लोकव्यवहार से समझें।

सेवनविधि—पान के जड़ की डण्डी और आगे का भाग काट देना चाहिए, तभी उसमें चूना-कत्था लगाकर सुपारी आदि मसाले डालकर मुख में लें। इसकी पहली पीक को थूककर फिर इसका रसपान करते रहें। सुर्ती आदि आधुनिक मसाले हानिकर होते हैं, इनसे दाँत कमजोर हो जाते हैं और इनसे मुख का अल्सर होता देखा गया है। देखिए 'भावप्रकाश'—दिनचर्या-प्रकरण'।

ताम्बूलं क्षतपित्तास्रुरूक्षोत्कुपितचक्षुषाम्। विषमूर्च्छामदार्तानामपथ्यं शोषिणामपि॥ ७॥

ताम्बूलसेवन-निषेध—ऊपर छठे पद्य में ताम्बूल का सेवन सभी को करना चाहिए, ऐसा निर्देश करने के बाद अब यहाँ इसका सेवन किनको नहीं करना चाहिए, इस विषय का निर्देश किया जा रहा है—क्षत तथा उरःक्षत से पीड़ित, पित्तविकार, रक्तविकार (रक्तपित्त) से पीड़ित, रूक्ष शरीर वाले, नेत्ररोगी, विषविकार से पीड़ित, मूर्च्छा एवं मदात्यय आदि रोगों से पीड़ित तथा शोषरोगी को ताम्बूल का सेवन नहीं करना चाहिए॥ ७॥

वक्तव्य—ताम्बूलसेवन का निषेध जिन रोगियों के लिए किया गया है, उसमें कारण हैं—ताम्बूलपत्र के ये गुण-धर्म होते हैं—तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रुचिकारक, कषाय, सर, तिक्त, क्षारीय गुणयुक्त, चरपरा तथा लघु। यह कामवासना, रक्तधातु तथा पित्तधातु को बढ़ाता है। इसका अधिक सेवन करना एक प्रकार का दुर्व्यसन है। इसे भूखे पेट में तथा शौच के अन्त में कदापि सेवन न करें।

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं, स जराश्रमवातहा। दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्॥ ८॥

अभ्यङ्गसेवन-विधान—प्रतिदिन अभ्यंग (मालिश) करना या कराना चाहिए, क्योंकि वह जरा (बुढ़ापा), श्रम (थकावट) तथा वातज विकारों को नष्ट करता है, दृष्टि को स्वच्छ करता है, शरीर को पुष्ट करता है, आयु को बढ़ाता है, गहरी नींद लाता है, त्वचा के सौन्दर्य को स्थिर बनाये रखता है और मांसपेशियों को दृढ़ एवं सुडौल (गठीली) बनाता है॥ ८॥

वक्तव्य—अभ्यंग = मालिश, उबटन, फोहा रखना, कान में तेल डालना तथा लेप लगाना, इसे अलंकरण भी कहा गया है। इसका विस्तृत क्षेत्र इस प्रकार है—दाँतों या आँखों पर तेल लगाना, स्नेहमिश्रित काजल लगाना, स्नेहमय लेप या मलहम लगाना आदि। उक्त विषय के लिए देखें—सु.सू. २१।१० तथा सु.चि. २४।३०-३७। साथ ही उक्त श्लोकों पर आचार्य डल्हण द्वारा लिखी गयी टीका को भी देखें। अभ्यंग के लिए घी से आठ गुना अधिक तेल लाभदायक होता है, अवसर-विशेष पर घी आदि अन्य स्नेहों द्वारा भी मालिश की जाती है।

सुश्रुत-चि. २४।३० श्लोक पर की गयी आचार्य डल्हण की टीका में अभ्यंग के सम्बन्ध में ये तीन पद्य मिलते हैं—'रोमान्तेष्वनुदेहस्य स्थित्वा मात्राशतत्रयम्। ततः प्रविशति स्नेहश्चतुर्भिर्गच्छति त्वचाम्॥ रक्तं गच्छति मात्राणां शतैः पञ्चभिरेव तु। षड्भिर्मांसं प्रपद्येत मेदः सप्तभिरेव च॥ शतैरष्टाभिरस्थीनि मज्जानं नवभिर्व्रजेत्। तत्रास्थाञ् शमयेद्रोगान् वातपित्तकफात्मकान्'॥ अर्थात् प्राचीन विद्वानों का अनुमान है और अभ्यंगप्रिय पहलवानों का अनुभव है कि अभ्यंग द्वारा प्रयोग किया गया तेल ३०० मात्रा समय तक वह रोमकूपों में रहता है; फिर ४०० मात्रा समय तक त्वचा में, फिर ५०० मात्रा समय तक रक्त में, फिर ६०० मात्रा समय तक मांस में, ७०० मात्रा समय तक मेदस् में, ८०० मात्रा समय तक अस्थि में और ९०० मात्रा समय तक मज्जा में व्याप्त होकर उन-उन धातुओं में उत्पन्न वातज, पित्तज तथा कफज रोगों को शान्त कर देता है। उक्त डल्हण कृत टीका से मालिश के सम्बन्ध में उद्धृत श्लोकों में व्याकरण की दृष्टि ये प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं। देखें—त्वचाम्, रक्तं, मांसं, मेदः, अस्थीनि तथा मज्जानं। आप ध्यान दें—'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया' (अ. २।३।५) सूत्र के नियमानुसार 'त्वचाम्' आदि प्रयोग बतला

रहे हैं कि मालिश ऐसी होनी चाहिए कि मसलते-मसलते उस तेल का अत्यन्त संयोग उन-उन धातुओं तक हो जाय, तभी मालिश का पूरा-पूरा लाभ मिलता है।

यहाँ जो ३०० तथा ५०० आदि मात्रा शब्द का प्रयोग किया है, इस मात्रा नामक काल की अवधि का प्रमाण है—ह्रस्व स्वर अ, इ या उ आदि किसी एक को उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने मात्र समय को कालविभागज्ञों ने **'मात्रा'** कहा है। ध्यान दें—मात्रा ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत भेद से तीन प्रकार की होती है। यहाँ केवल ह्रस्व स्वर वाली मात्रा से तात्पर्य है। अभ्यंग का रहस्य पहलवान लोग जानते हैं, वे बड़े चाव से मालिश करते तथा कराते हैं और उसका लाभ भी उठाते हैं। अभ्यंग कराने वाले को चर्मरोग कभी नहीं होते हैं।

शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्।

अभ्यंग के प्रमुख स्थान—अभ्यंग सम्पूर्ण शरीर में करना चाहिए, यह आठवें पद्य में कह दिया है। अब अभ्यंग के विशेष स्थलों का निर्देश किया जा रहा है। यथा—सिर, कानों तथा पैरों के तलुओं में विशष रूप से अभ्यंग करना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ 'शीलयेत्' क्रिया का अर्थ है—'अभ्यसेत्' अर्थात् बार-बार इसका अभ्यास करे। इस निर्देश की गुणवत्ता वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह-सू. ३।५९-६० में इस प्रकार बतलाई है—'सिर पर तेलमालिश करते रहने से वह केशों का हित करता है अर्थात् उन्हें बढ़ाता है, मुलायम तथा चिकना बनाये रखता है। इससे शिरः कपालास्थियों और इन्द्रियों (आँख, कान, नाक) का तर्पण होता रहता है। कान के छेद में गुनगुना तेल डालते रहने से हनुसन्धियों (गण्ड, कर्ण, शंख, वर्त्म, नेत्र तथा हनु से सम्बन्धित १२ अस्थियों) का, मन्याओं (गरदन के अलग-बगल में दिखलायी देने वाली दोनों ओर की धमनियों) का, सिर तथा कानों का शूल शान्त हो जाता है। पैरों पर अभ्यंग करते रहने से पाँवों में स्थिरता आती है, निद्रा आती है और दृष्टि प्रसन्न रहती है। पैरों का सुन पड़ जाना, श्रम, स्तम्भ (जकड़न), सिकुड़न, विवाई फटना—ये कष्ट दूर हो जाते हैं।

वर्ज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तकृतसंशुद्ध्यजीर्णिभिः॥ ९॥

अभ्यंग का निषेध—प्रतिश्याय आदि कफज विकारों से पीड़ित रोगी, जिन्होंने शरीरशुद्धि के लिए वमन-विरेचन आदि किया हो तथा जो अजीर्णरोग से ग्रस्त हों, वे अभ्यंग का प्रयोग न करें॥ ९॥

वक्तव्य—शास्त्रीय विचार विधि-निषेधमय होते हैं, क्योंकि उनके निर्देश सभी अवस्थाओं के लिए दिये जाते हैं, अतएव वे सर्वांगीण होते हैं। इस प्रकरण में सबसे पहले प्रतिदिन अभ्यंग करने का सामान्य निर्देश दिया था, यह निषेधात्मक निर्देश विशेष परिस्थिति के लिए है। सुश्रुत का अनुसरण करने वाले आचार्य हेमाद्रि ने कहा है—'कृतसंशुद्धेस्तदहरेव निषिद्धः'। अर्थात् जिसने वमन आदि का जिस दिन प्रयोग किया हो उस दिन अभ्यंग न करे। इसी विषय को स्पष्ट रूप से सुश्रुत ने चिकित्सास्थान २४।३५-३७ में कहा है।

लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः। विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते॥ १०॥

व्यायाम का विधान—व्यायाम करने से कार्य करने की शक्ति बढ़ती है, जठराग्नि या पाचकाग्नि प्रदीप्त होती है, मेदस् (स्थूलता) का क्षय होता है अर्थात् मोटापा घटता है, अंग-प्रत्यंग (मांसपेशियाँ) स्पष्ट दिखलायी देते हैं और वे ठोस हो जाते हैं॥ १०॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—'शरीरायासजनकं कर्म व्यायाम उच्यते'। (अ.सं. ३।६२) अर्थात् जिससे शरीर में थकावट पैदा हो, उसे 'व्यायाम' कहते हैं। इस परिभाषा से सभी शारीरिक परिश्रम व्यायाम कहे जा सकते हैं, किन्तु भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में व्यायाम की परिभाषा इस प्रकार है—'शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्द्धिनी। देहव्यायामसङ्ख्याता मात्रया तां समाचरेत्'॥ (च.सू. ७।३१) अर्थात् जो भी शरीर की चेष्टा (कर्म) अपने मन को अच्छी लगे, जो शरीर को स्थिरता

प्रदान करती हो और बल को बढ़ाती हो, उसे 'व्यायाम' कहते हैं। उसे मात्रा के अनुसार करना चाहिए। यह व्यायाम की परिभाषा सर्वोत्तम है।

संसार में व्यायाम के अनेक प्रकार देखे जाते हैं, वे भी विभिन्न दृष्टियों से व्यायाम ही हैं। यथा—दण्ड, बैठक, शीर्षासन, कुश्ती, तैरना, हाकी, क्रिकेट आदि। इसी प्रसंग में आगे कहा जायेगा कि किनको व्यायाम नहीं करना चाहिए। पहलवान बनने की इच्छा हो तो उत्तम (पौष्टिक) खान-पान की व्यवस्था होनी चाहिए। जो प्रत्येक नर-नारी घरेलू कार्य करते हैं उनसे भी थकावट आती ही है, किन्तु वास्तव में इनकी गणना व्यायाम के रूप में नहीं होती। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए शारीरिक श्रम अति आवश्यक है।

वातपित्तामयी बालो वृद्धोऽजीर्णी च तं त्यजेत्।

व्यायाम का निषेध—वातज तथा पित्तज रोगों से पीड़ित रोगी, बालक, वृद्ध तथा अजीर्णरोग से पीड़ित मनुष्य 'व्यायाम' न करें।

वक्तव्य—यहाँ बालक तथा वृद्ध के लिए व्यायाम करने का निषेध किया है, अतः इनकी आयुसीमा का निर्देश करते हुए वाग्भट के टीकाकार श्री अरुणदत्त कहते हैं—'बालः आषोडशवर्षात्', 'वृद्धः सप्ततेरूर्ध्वम्' अर्थात् सोलह वर्ष तक की अवस्था वाला बालक कहा जाता है और सत्तर वर्ष से ऊपर की अवस्था वाला वृद्ध होता है।

अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु बलिभिः स्निग्धभोजिभिः ॥ ११ ॥
शीतकाले वसन्ते च, मन्दमेव ततोऽन्यदा।

अर्धशक्ति तथा काल-निर्देश—बलवान् तथा स्निग्ध (घी-तेल आदि से बने हुए तथा बादाम, काजू आदि) पदार्थों को खाने वाले मनुष्य शीतकाल (हेमन्त-शिशिर ऋतु) में एवं वसन्त ऋतु में आधी शक्ति भर व्यायाम करें, इससे अन्य ऋतुओं में और भी कम व्यायाम करें॥ ११ ॥

वक्तव्य—अर्धशक्ति का परिचय—व्यायाम करते-करते हृदयस्थान में स्थित वायु जब मुख की ओर आने लगे अर्थात् जब व्यायाम करने वाला हाँफता हुआ मुख से साँस लेने लगे तो यह बलार्ध या अर्धशक्ति का लक्षण है। इस स्थिति में यह सोच लेना चाहिए कि इस समय आधा बल समाप्त हो चुका है। देखें—सु.चि. २४।४७। और लक्षण भी देखें—काँखों में, माथे पर, नासिका के ऊपर, हाथों-पैरों तथा सभी सन्धियों में पसीना आने लगे और मुख सूखने लगे तब समझना चाहिए कि आधी शक्ति समाप्त हो चुकी है। उस समय व्यायाम करना छोड़ दे। स्वयं बैठकर अपने शरीर के अवयवों को मसलें। सर्दी के दिनों में अर्धशक्ति पर्यन्त व्यायाम करने की शास्त्र की आज्ञा है, उसके बाद और भी कम व्यायाम करना चाहिए, यही 'मन्दमेव' शब्द का अभिप्राय है।

तं कृत्वाऽनुसुखं देहं मर्दयेच्च समन्ततः ॥ १२ ॥

शरीरमर्दन-निर्देश—व्यायाम के बाद का कर्म—व्यायाम कर लेने के बाद सम्पूर्ण शरीर का अनुलोम सुखद मर्दन कर्म चारों ओर से करना चाहिए अथवा क्रमशः सभी अंगों को मसलना चाहिए॥ १२ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत के टीकाकार जैज्जट का कथन है कि मर्दन (मसलना) यह क्रिया भी व्यायाम का ही एक अंग है। यह मर्दन कर्म भी ऐसा न हो जो शरीर को कष्टकारक हो, अतएव महर्षि वाग्भट ने इसका एक विशेषण 'अनुसुखं' दिया है अर्थात् जो सुख के अनुकूल हो।

तृष्णा क्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमः क्लमः। अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते॥

अतिव्यायाम से हानि—अधिक व्यायाम करने से प्यास का लगना, क्षय (राजयक्ष्मा), प्रतमक श्वास, रक्तपित्त, श्रम (थकावट), क्लम (मानसिक दुर्बलता या सुस्ती), कास, ज्वर तथा छर्दि (वमन) आदि रोग हो जाते हैं अथवा हो सकते हैं॥ १३ ॥

वक्तव्य—प्रायः देखा गया है कि जो बहुत दिनों तक व्यायाम करते रहे, बाद में जिन्होंने एकाएक व्यायाम करना छोड़ दिया, उन्हें वृद्धावस्था में आमवात, ऊरुस्तम्भ, अर्शरोग (बवासीर) अथवा अण्डवृद्धि (पोता का बढ़ जाना) आदि रोग हो जाते हैं।

व्यायामजागराध्वस्त्रीहास्यभाष्यादि साहसम्। गजं सिंह इवाकर्षन् भजन्नति विनश्यति॥ १४॥

व्यायाम आदि का निषेध—व्यायाम, जागरण, मार्गगमन, मैथुन, हँसना, बोलना (जोर-जोर से चिल्लाना) तथा साहसिक कार्यों का अधिक सेवन करने से शक्ति युक्त मनुष्य का भी उस प्रकार विनाश हो जाता है जैसे सिंह अपने द्वारा मारे हुए हाथी को खींचकर ले जाने का दुःसाहस करता है, तो वह स्वयं मर जाता है॥ १४॥

वक्तव्य—व्यायाम आदि का युक्तियुक्त सेवन सुखद होता है, किन्तु इनका अधिक सेवन न करे, यही ग्रन्थकार का अभिप्राय है। इसीलिए शक्तिमान् सिंह भी यदि अपने द्वारा मारे गये हाथी को खींचकर ले जाना चाहेगा तो वह भी मर जायेगा। यह एक दुःसाहस का उदाहरण है। जागरण (रात में अधिक जागना), अधिक मार्ग चलना, जो कभी नहीं चलता उसके लिए थोड़ा चलना भी बहुत है, इस प्रकार विचार कर लें। ऐसे ही अन्य उदाहरण भी हैं। दुःसाहस का अधिक प्रयोग करने से उरःक्षत हो जाता है।

अधिक व्यायाम करने से 'क्षय' हो जाता है, यह ऊपर कहा गया है। तन्त्रकार की एक अपनी शैली होती है, वह है—सूत्र तथा व्याख्यान शैली। क्षय या राजयक्ष्मा के सम्बन्ध में महर्षि पुनर्वसु के उद्‌गार—'राजयक्ष्मा रोगसमूहानाम्' तथा 'अयथाबलमारम्भः प्राणोपरोधिनाम्'। (च.सू. २५।४०) उक्त १४ वें श्लोक का आधार है—'व्यायाम····मात्रया' (च.सू. ७।३४)।

उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलायनम्। स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम्॥ १५॥

उबटन के गुण—व्यायाम के बाद उबटन करना चाहिए, इससे कफ का नाश होता है। यह मेदोधातु को पिघला कर उसे सुखा देता है, अंगों को स्थिर (मजबूत) करता है और त्वचा को कान्तियुक्त करता है॥ १५॥

वक्तव्य—जौ या चना का आटा अथवा सरसों को पीसकर उसमें तेल तथा हल्दी मिलाकर शरीर पर मसलने को उद्‌वर्तन, उत्सादन या उबटन कहा जाता है। इस विधि से रोमकूपों में जमी हुई मैल भलीभाँति निकल जाती है। इससे त्वचा चिकनी तथा कोमल हो जाती है। इसका प्रयोग छोटे बच्चों के शरीर पर भी किया जाता है। इसके बाद गुनगुने पानी से स्नान करना चाहिए। परन्तु इस वैज्ञानिक युग में ये सात्त्विक सुख कहाँ सुलभ है?

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम्। कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित्॥ १६॥

स्नान के गुण—स्नान करने से जठराग्नि प्रदीप्त होता है, यह वृष्य (वीर्यवर्धक) है, आयु को बढ़ाता है, उत्साहशक्ति तथा बल को बढ़ाता है; कण्डू (खुजली), मल (त्वचा का मैल), थकावट, पसीना, उँघाई, प्यास, दाह (जलन) तथा पाप (रोग) का नाश करता है॥ १६॥

वक्तव्य—स्नान करने से ऊपर जिन लाभों का वर्णन किया है, उनका यहाँ स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जा रहा है। स्नान वृष्य है, देखें—अ.हृ.उ. ४०।३५। स्नान कर लेने से मन प्रसन्न होता है, अतः यह वृष्य है।

उष्णाम्बुनाऽधःकायस्य परिषेको बलावहः। तेनैव तूत्तमाङ्गस्य बलहृत्केशचक्षुषाम्॥ १७॥

उष्ण-शीत जलप्रयोग—उष्ण (गरम) जल से अधःकाय (गरदन से नीचे के शरीर) का परिषेक (स्नान) बल को बढाता है। यदि उसी (गरम जल) से सिर को धोया जाय अर्थात् गरम पानी से शिरःस्नान किया जाय तो इससे बालों तथा आँखों की शक्ति घटती है॥ १७॥

स्नानमर्दितनेत्रास्यकर्णरोगातिसारिषु। आध्मानपीनसाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम्॥ १८॥

स्नान का निषेध—अर्दित (मुखप्रदेश का लकवा), नेत्ररोग, मुखरोग, कर्णरोग, अतिसार, आध्मान (अफरा), पीनस, अजीर्ण रोगों में तथा भोजन करने के तत्काल बाद स्नान करना हानिकारक होता है॥ १८॥

वक्तव्य—स्नान करने के बाद बालों को सूखे अंगोछा से पोंछकर उनमें तेल लगाकर कंघी कर लें और स्वच्छ वस्त्रों को धारण करें। दिनचर्या के अनेक कृत्यों का उल्लेख इसमें नहीं हो पाया है, उन्हें आप चरक-सुश्रुत से संग्रह कर लें। अ.सं.अ. ३ में दिनचर्या से सम्बन्धित अन्य अनेक विषय दिये गये हैं, आप उन्हें भी देखें।

जीर्णे हितं मितं चाद्यान्न वेगानीरयेद्बलात्। न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्नाजित्वा साध्यमामयम्॥

भोजन आदि कर्तव्य—स्नान कर लेने के बाद तथा पहले किये हुए भोजन के पच जाने के पश्चात् जो हितकर भोजन हो उसे मात्रा के अनुसार खाये; मूत्र, पुरीष के वेगों को बलपूर्वक न उभाड़ें। यदि मल-मूत्र का वेग मालूम पड़े तो उन्हें दबाकर अन्य कर्मों में न लग जाय। साथ ही यदि किसी प्रकार का साध्यरोग हो तो उसकी चिकित्सा किये बिना भी किसी दूसरे कार्य में नहीं लग जाना चाहिए॥ १९॥

वक्तव्य—स्मृतियों में कथित दिनचर्या से आयुर्वेदीय दिनचर्या सर्वथा भिन्न है और होनी भी चाहिए, क्योंकि दोनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। स्मृतिनिर्दिष्ट चर्या मनु. ४।९२-९३ में आप ही देखिए—कहाँ स्नान के बाद सन्ध्या और कहाँ सीधे भोजन, वह भी जब पहले का पच गया हो। **हितं मितं**—हितकारक वह भोजन है जिसमें धारण तथा पोषण करने की शक्ति हो। देखें—'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से क्त प्रत्यय जोड़कर बना हुआ शब्द—धा + क्त + हित। इसके बाद ऋतु, देश, काल का विचार करके जो सात्म्य हो, उसे हित कहते हैं। मितं—नपा-तुला, परिमित या थोड़ा। 'न वेगितोऽन्यकार्यः स्यात्'—इस विषय का विशेष व्याख्यान आप चरकसंहिता सू.अ. ७ में विस्तारपूर्वक देखें। अथवा अ.हृ.सू. अध्याय ४ का अवलोकन करें। 'नाजित्वा साध्यमामयम्'—यह वाग्भट का उपदेश विशेष करके आशुकारी रोगों के लिए है। अन्यथा प्रमेह तथा अर्श (बवासीर) आदि अनेक रोग ऐसे हैं, जिनमें रोगी चिकित्सा के साथ अन्य कार्यों को भी करता ही रहता है। यदि साध्य एवं आशुकारी रोगों की उपेक्षा कर रोगी अन्य कार्य करने लगता है, तो वह रोग असाध्य हो सकता है। भोजनविधि का वर्णन अ.सं.सू. ३।७६-८० तक को भी देख लें। यह भोजनविधि का आर्ष स्वरूप है।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः। सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत्॥ २०॥

सुख का साधन धर्म—सभी प्राणी चाहते हैं कि हमें सुख मिलें, अतएव उनकी प्रवृत्तियाँ (कार्य करने की लगन) सुख पाने के लिए होती है और सुख की प्राप्ति धर्म के बिना नहीं होती। अतः सभी को धर्म-कार्य करने में तत्पर रहना चाहिए॥ २०॥

वक्तव्य—धर्म शब्द को लेकर धार्मिक नेताओं तथा राजनीतिक नेताओं ने बड़ा हंगामा चलाया है, अस्तु। वास्तव में प्राणिमात्र का यह धर्म है कि वह अपनी तथा अपने उपकारक पदार्थों की रक्षा करे। इसमें किसी को किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। इसी प्रकार की व्युत्पत्ति हमारे शास्त्रचिन्तकों ने धर्म शब्द की की है। देखें—'ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः' अथवा 'धरति लोकम् असौ इति धर्मः'। आज वास्तविक धर्म का आचरण न करने के कारण देश में जो दुरवस्था फैली है, इसको कोई नहीं देख रहा है। मनु आदि धर्माचार्यों ने धर्म का आचरण करने की सभी को आज्ञा दी है तथा सभी के अलग-अलग धर्मों का उपदेश दिया है। संक्षेप में इन स्थलों का अवलोकन करें। मनु. २।१२, २।११२, ४।२३८, २४१, २४२; ६।९२, ८।१५ तथा १७। उक्त उद्धरणों के अतिरिक्त महामानव मनु ने 'धर्म' शब्द की एक परिभाषा और भी दी है—'यस्तर्केणाऽनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः'। (मनु. १२।१०६) अर्थात् जो तर्कबुद्धि से अनुसन्धान (विचार) करता है, वही धर्म को समझता है, यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह भी है—'अतर्क्यो वै

धर्मः' अर्थात् धर्म के विषय में तर्क न करे। क्योंकि शास्त्र तीन प्रकार के होते हैं— १. प्रभुसम्मित, २. सुहृत्सम्मित तथा ३. कान्तासम्मित। ये वेद आदि धर्मशास्त्र 'प्रभुसम्मित शास्त्र' के अन्तर्गत आते हैं, अतः ये अतर्क्य हैं; राजशासन के समान कठोर होते हैं।

सारांश—जो सत्कर्म अपनों तथा दूसरों को धारण करता है, उसका नाम 'धर्म' है। उसी को कोषकारों ने पुण्य, श्रेयस्, सुकृत तथा वृष पर्यायों से कहा है। शुभ कर्म को 'धर्म' और अशुभ कर्म को 'अधर्म' या पाप कहा है। ऐसे कर्म या कर्मों से स्वास्थ्य-लाभ होता है और मनःसन्तोष प्राप्त होता है। यही कारण है कि आयुर्वेद में विधि-निषेधक्रम से धर्म की शिक्षा दी जाती है। आयुर्वेद में कहा गया सम्पूर्ण सद्वृत्त धर्म का आकर है। इसी को सदाचार कहा गया है और सत् आचार को ही चरक ने 'आचाररसायन' कहा है। अन्य आयुर्वेदीय रसायन व्ययसाध्य हैं, किन्तु 'आचाररसायन' संयमसाध्य है।

भक्त्या कल्याणमित्राणि सेवेतेतरदूरगः।

मित्र-अमित्र सेवन-विचार—अच्छे मित्रों (शुभचिन्तक, अच्छी सलाह देने वालों) का श्रद्धा-भक्ति से सेवन करे। इनसे विपरीत चरित्र वालों से दूर रहे अर्थात् सावधान रहे, क्योंकि इनका सेवन करने से हानि हो सकती है।

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते॥ २१॥
सम्भिन्नालापं व्यापादमभिध्यां दृग्विपर्ययम्। पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्॥ २२॥

पापकर्मों का त्याग—नीचे लिखे गये दस प्रकार के पापकर्मों का मन, वचन तथा कर्म से सदैव परित्याग करे— १. हिंसा (मार-पीट या किसी के मन को दुःखाना आदि), २. स्तेय (चोरी, लूट), ३. अन्यथाकाम (अनुचित ढंग से सुखभोग करना; जैसे—अगम्यागमन आदि)—इन शारीरिक दुष्कर्मों का शरीर से परित्याग करे। ४. पिशुनता (चुगुलखोरी), ५. परुषवाक्य (कठोर या अप्रियवचन), ६. अनृत (झूठी बात) तथा ७. सम्भिन्न आलाप (कभी कुछ और कभी कुछ कहना, जिसे दोगलापन कहते हैं)—वाणी सम्बन्धी इन पापकर्मों का वाणी द्वारा परित्याग करे अर्थात् ऐसी बातें न कहें। ८. व्यापादं (किसी को मार डालने या मरवा डालने की योजना), ९. अभिध्या (दूसरे की सम्पत्ति को हड़प जाने की इच्छा करना) तथा १०. दृग्विपर्यय (शास्त्र के निर्देशों के विपरीत सोचना, नास्तिकता, आप्त वाक्यों के विरुद्ध सोचना आदि)—इन मानसिक पापों का मन से परित्याग करे॥ २१-२२॥

अवृत्तिव्याधिशोकार्ताननुवर्तेत शक्तितः।

अनुकूल व्यवहार-निर्देश—जिनकी कोई आजीविका नहीं है, जो रोग तथा शोक से पीड़ित हैं, उनके साथ अपनी शारीरिक तथा आर्थिक शक्ति के अनुरूप उचित व्यवहार करे अर्थात् आजीविकाहीनों को आर्थिक सहायता, रोगियों को चिकित्सा आदि की सहायता तथा शोकपीड़ितों को उचित आश्वासन देकर उनके अनुकूल व्यवहार करे।

आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम्॥ २३॥

समदृष्टिता का निर्देश—सभी प्राणियों को अपने समान समझें, भले ही कीड़े-मकोड़े, चींटियाँ ही क्यों न हों अर्थात् किसी को क्षुद्र (छोटा या नीच) न समझें। उन्हें कष्ट न पहुँचायें, उन पर दया करें॥ २३॥

अर्चयेद्देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन् ।

सम्मान करने का निर्देश—देवता, गाय, ब्राह्मण, वृद्ध, वैद्य, नृप तथा अतिथि—इनकी पूजा करे अर्थात् इन्हें उचित सम्मान दें तथा इनका सत्कार करे।

वक्तव्य—यहाँ वृद्ध शब्द से माता-पिता तथा गुरुजनों का समावेश भी कर लेना चाहिए।

विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत्॥ २४॥

याचकों की सम्मान-विधि—अर्थियों (याचकों) को अपनी शक्ति के अनुसार कुछ देना चाहिए। उन्हें निराश नहीं लौटाना चाहिए, उनका अपमान न करे और न उन्हें झिड़कना ही चाहिए॥ २४॥

उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ।

उपकार का निर्देश—सदा सबका उपकार करना चाहिए, भले ही अपकार करने के लिए तैयार शत्रु ही सामने क्यों न हो, उसके प्रति भी उपकार करना चाहिए।

वक्तव्य—सामान्य दृष्टिकोण है कि शत्रु के साथ अपकार ही करना चाहिए, किन्तु यहाँ तन्त्रकार का कथन उसके विपरीत है। उसका समर्थन इस प्रकार किया जा रहा है—जैसे वात आदि दोष रोगकारक होते हैं और जब वे सम अवस्था में होते हैं तो वे 'शरीरधारणात् धातवः' कहे जाते हैं, अतएव वे दोष भी हितकारक कहे जाते हैं।

सम्पद्विपत्स्वेकमना, हेतावीर्ष्येत्फले न तु॥ २५॥

समभाव का निर्देश—सम्पत्ति (सुख) में तथा विपत्ति (दुःख) में समान भाव से रहे। किस कारण से सम्पत्ति मिली है और किस कारण से विपत्ति मिली है, इसका पता करे। जिस कारण से विपत्ति मिली है उस कारण से द्वेष करना चाहिए, न कि विपत्ति से द्वेष करे॥ २५॥

वक्तव्य—यह सम्पत्ति एवं विपत्ति अपने-पराये सब पर आती है। दूसरे की सम्पत्ति को देखकर जलना नहीं चाहिए और दूसरे की विपत्ति को देखकर प्रसन्न नहीं होना चाहिए; अपितु यदि आप सम्पन्न होना चाहते हैं, तो उस कारण का पता लगाइए और वैसा प्रयत्न कीजिए, जिससे आप भी सम्पन्न हो सकें, जलते रहने से कोई लाभ नहीं होता।

काले हितं मितं ब्रूयादविसंवादि पेशलम्।

मधुरभाषण-निर्देश—समय पर बोलें, हितकर बात कहें, थोड़ा (युक्तियुक्त) बोलें, ऐसी बात कहें जो अविसंवादि (जिसका कोई विरोध न करे अर्थात् सत्य) हो तथा पेशल (मीठा वचन) कहें।

पूर्वाभिभाषी, सुमुखः सुशीलः करुणामृदुः॥ २६॥
नैकः सुखी, न सर्वत्र विश्रब्धो, न च शङ्कितः।

भाषण-विधि—पहले बोले (यह प्रतीक्षा न करे कि जब वह बोलेगा तब मैं बोलूँगा) अर्थात् मित्र के मिलते ही उसके बोलने से पहले मैं बोलूँगा, यह भाव मन में होना चाहिए और कुशल प्रश्न करने लगे। प्रसन्नचित्त, सभ्य व्यवहार करने वाला, दयालु, सरल स्वाभाव वाला, अकेला सुखी न रहे अर्थात् अपने बन्धु-बान्धव-इष्टमित्रों सहित सुखों का उपभोग करे। सबके साथ विश्वास न करे और सबके साथ अविश्वास भी न करे॥ २६॥

न कञ्चिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम्॥ २७॥
प्रकाशयेन्नापमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः।

विचारों को गुप्त रखें—न अपने को किसी का शत्रु और न दूसरे को अपना शत्रु बतलाये। किसी ने अपना अपमान किया हो, उसका तथा अपने स्वामी, राजा आदि की अपने प्रति स्नेहहीनता का ही वर्णन किसी से न करे॥ २७॥

जनस्याशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति॥ २८॥
तं तथैवानुवर्तेत पराराधनपण्डितः।

परच्छन्दानुवर्तन—दूसरे के मन का अभिप्राय समझकर जो व्यक्ति जिस प्रकार सन्तुष्ट होता हो, उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, उसे 'पराराधनपण्डित' कहते हैं॥ २८॥

वक्तव्य—पञ्चतन्त्र में इसी आशय का एक पद्य इस प्रकार आया है—'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् स्तब्धमञ्जलिकर्मणा। मूर्खं छन्दानुरोधेन यथार्थत्वेन पण्डितः॥' (सूक्ति) अर्थात् लोभी को पैसा देकर, क्रोधी को हाथ जोड़कर, मूर्ख को जैसा वह कहता है वैसा ही मानकर और यथार्थ बात को कहकर पण्डित को प्रसन्न करना चाहिए। यह लोकव्यवहार है।

न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यति लालयेत्॥ २९॥

इन्द्रिय-व्यवहारविधि—आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों को रूप, शब्द आदि अपने-अपने विषयों का उपभोग करने से न रोके, परन्तु उन-उन विषयों में उन्हें अत्यन्त लोलुप भी न होने दें॥ २९॥

त्रिवर्गशून्यं नारम्भं भजेत्तं चाविरोधयन्।

त्रिवर्ग-विरोध का निषेध—ऐसा कोई कार्य न करे जिससे त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) की प्राप्ति न हो अथवा त्रिवर्ग का विरोध होता हो।

अनुयायात्प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम्॥ ३०॥

सभी धर्मों का आचरण—सभी प्रकार के धर्मों में मध्यम मार्ग से चले, किसी धर्म का घोर समर्थक या घोर विरोधी न बने। यहाँ धर्म शब्द से आयुर्वेदोक्त सदाचार मार्ग में मध्यममार्ग पर चलें॥ ३०॥

नीचरोमनखश्मश्रुर्निर्मलाङ्घ्रिमलायनः। स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेषोऽनुल्बणोज्ज्वलः॥ ३१॥

शरीरशुद्धि के प्रकार—रोम (लोम), नख तथा श्मश्रु (दाढ़ी-मोछ) इन्हें अधिक न बढ़ायें, इन्हें काटते या कटवाते रहें। पैरों को स्वच्छ रखें, गुद आदि मलमार्गों को भी साफ रखना चाहिए। प्रतिदिन स्नान करें, सुगन्धित पदार्थों (इत्र आदि) का सेवन करें, सुन्दर वस्त्र धारण करें, उद्धत वेश न बनायें अर्थात् सभ्य पुरुषों के आचरणों का अनुकरण करें॥ ३१॥

धारयेत्सततं रत्नसिद्धमन्त्रमहौषधीः।

रत्न आदि का धारण—रत्न, सिद्ध मन्त्र तथा औषधद्रव्यों को धारण करना चाहिए।

वक्तव्य—रत्न—हीरा, माणिक्य, पुखराज, नीलम आदि। सिद्धमन्त्र—बला, अतिबला, अपराजिता आदि। महौषधि—सहदेवी आदि। इनको वैद्य तथा दैवज्ञ आदि के निर्देशानुसार बाँह तथा गला आदि में धारण करना चाहिए।

सातपत्रपदत्राणो विचरेद्युगमात्रदृक्॥ ३२॥

छाता आदि धारण—छाता लगाकर चलें, जूता पहन कर चलें तथा चार हाथ आगे तक के मार्ग को देखते हुए चलें॥ ३२॥

निशि चात्ययिके कार्ये दण्डी मौली सहायवान्।

दण्ड आदि धारण—रात में यदि कोई आवश्यक कार्य आ जाय तो हाथ में लाठी लेकर चलें, सिर में पगड़ी बाँध लें या टोपी पहन लें और किसी को साथ में सहायता के लिए ले लें।

वक्तव्य—ऐसे उपदेश या तो शास्त्र देते हैं अथवा माता-पिता, शुभचिन्तक। पञ्चतन्त्र में भी एक ऐसी कथा आयी है; यथा—'अपि का पुरुषो मार्गे द्वितीयः क्षेमकारकः'। अर्थात् कैसा भी आदमी हो उसे साथ ले लेना चाहिए, वह कल्याण करता ही है।

चैत्यपूज्यध्वजाशस्तच्छायाभस्मतुषाशुचीन् ॥ ३३॥
नाक्रामेच्छर्करालोष्टबलिस्नानभुवो न च।

गमन-निर्देश—चैत्य (देवता का स्थान, बौद्ध या जैन मन्दिर, समाधि) पर न चढ़े, ध्वजा के डण्डा पर न चढ़े, निन्दित कर्म करने वाले पुरुष की छाया का स्पर्श भी न करे, भस्म (राख) तथा तुष (भूसी) के ढेर पर और अपवित्र स्थान पर न चढ़े और बालू एवं ढेलों के ढेर पर चढ़कर न चले॥ ३३॥

नदीं तरेन्न बाहुभ्यां, नाग्निस्कन्धमभिव्रजेत्॥ ३४॥
सन्दिग्धनावं वृक्षं च नारोहेद्दुष्टयानवत्।

निषिद्ध कार्य—वेगवाली नदी या घहराती हुई नदी को बाँहों से तैरकर पार न करे। अग्निस्कन्ध (आग के ढेर अथवा ज्वालामुखी) के समीप न जाये। दूषित सवारी पर जैसे कोई नहीं चढ़ता उसी प्रकार सन्दिग्ध नौका (जिसके डूब जाने का भय हो) उसमें न चढ़े और जिस वृक्ष का टूट कर गिर जाने का सन्देह हो उस पर भी न चढ़े॥ ३४॥

नासंवृतमुखः कुर्यात्क्षुतिहास्यविजृम्भणम्॥ ३५॥

छींक आदि करने की विधि—मुख को ढके बिना न छींके, न हँसे और न जँभाई ले (यह शिष्टाचार है)॥ ३५॥

नासिकां न विकुष्णीयान्नाकस्माद्विलिखेद्भुवम्। नाङ्गैश्चेष्टेत विगुणं, नासीतोत्कटकश्चिरम्॥

आंगिक चेष्टाओं का निषेध—अकारण नासिका के छिद्रों को अँगुली से न खोदे। अकारण भूमि को अँगुलियों से न खोदे (यह लक्षण विषदाता का कहा गया है)। टाँगों, बाँहों आदि से विकृत चेष्टाएँ न करें; जैसे—मुख बिचकाना, आँखें मटकाना आदि तथा उत्कट आसन से पाँवों के बल न बैठे॥ ३६॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने भी इस प्रकार के भावों का निषेध किया है। देखें—सु.चि. २४।९५।

देहवाक्चेतसां चेष्टाः प्राक् श्रमाद्विनिवर्तयेत्। नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत्—

शारीरिक आदि चेष्टाओं की मात्रा—शरीर, मन तथा वाणी की चेष्टाओं (इनके कार्यों) को थकान होने से पहले ही रोक देना चाहिए (इस विषय को वाग्भट ने सद्वृत्त में दिया है, चरक ने इसे व्यायाम के लक्षणों में कहा है) और चिरकाल तक जाँघों को ऊपर की ओर उठाकर लेटा न रहे।

—नक्तं सेवेत न द्रुमम्॥ ३७॥

तथा चत्वरचैत्यान्तश्चतुष्पथसुरालयान्। सूनाटवीशून्यगृहश्मशानानि दिवाऽपि न॥ ३८॥

अन्य सदाचार—रात्रि में वृक्ष के नीचे न रहे तथा चत्वर (तिमुहानी), चैत्य के समीप या भीतर, चतुष्पथ (चौराहा या चौमुहानी) पर, देवमन्दिर या मद्यशाला में, सूना (कसाईघर अथवा फाँसी देने के) स्थान पर, घोर वन में, सुनसान घर में तथा श्मशान में दिन में भी न रहे॥ ३७-३८॥

वक्तव्य—'रात में पेड़ के नीचे न रहें'—इस वाक्य के समर्थन में श्री अरुणदत्त कहते हैं—'उस वृक्ष के आश्रय में रहने वाले कीड़ों के मल-मूत्र गिरने से रक्षा होगी। आज का विज्ञान कहता है कि रात्रि में वृक्ष 'कार्बन-डाई-आक्साइड' गैस को छोड़ते हैं, अतः उनसे दूर रहना चाहिए। क्योंकि यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है।

उक्त ३८वें श्लोक में **'चत्वर'** तथा **'चतुष्पथ'** दो एकार्थवाचक शब्दों का समावेश हुआ है, अतः इसकी संगति बैठाने के लिए विद्वान् टीकाकारों ने 'चत्वर' का अर्थ 'तिमुहानी' किया है। उसका आधार यह है—'चत्वरं स्यात् पथां श्लेषे' इति **हैमः**। अर्थात् मार्गों का संगम एकाधिक का हो ही सकता है। फिर भी हमारे विचार से यहाँ 'चत्वर' का अर्थ—स्थण्डिल या आँगन तिमुहानी से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसी तथ्य को श्री अरुणदत्त ने भी स्वीकार करते हुए कहा है—'अन्ये त्वाहुः—यत्र प्रदेशे नगरनिवासिनो ग्राम्या वा समेत्य नानाविधाः कथाः कुर्वन्ति, स चत्वर उच्यते'। **सुरालयान्**—'सुर + आलयान्' = देवगृह या मन्दिर। 'सुरा + आलयान्' = मद्यशाला या मधुशाला। ये दो अर्थ उक्त विग्रहों के आधार पर किये गये हैं।

सर्वथेक्षेत नादित्यं, न भारं शिरसा वहेत्। नेक्षेत प्रततं सूक्ष्मं दीप्तामेध्याप्रियाणि च॥ ३९॥

अन्य सदाचार—सूर्य को एकटक होकर देखता न रहे, सिर पर बोझ रखकर न ले जाये; सूक्ष्म, चमकीले, अपवित्र तथा अप्रिय पदार्थों को लगातार देखना न रहे॥ ३९॥

वक्तव्य—सूर्य को कब न देखे, इस सम्बन्ध में मनुस्मृति का वचन देखें—'उदय तथा अस्त होते हुए, ग्रहणकाल में, जल में प्रतिबिम्बित, आकाश के मध्य में स्थित सूर्य को न देखें। (मनु. ४।३७)

मद्यविक्रयसन्धानदानादानानि नाचरेत्।

मद्य-विक्रय आदि का निषेध—मद्य का विक्रय न करे, मद्य का सन्धान (निर्माण) भी न करे और उसका लेन-देन (व्यापार) भी न करे तथा उसे पीना भी नहीं चाहिए; केवल 'औषधार्थे सुरां पिबेत्'।

पुरोवातातपरजस्तुषारपरुषानिलान् ॥ ४० ॥
अनृजुः क्षवथूद्गारकासस्वप्नान्नमैथुनम्। कूलच्छायां नृपद्विष्टं व्यालदंष्ट्रिविषाणिनः ॥ ४१ ॥
हीनानार्यातिनिपुणसेवां विग्रहमुत्तमैः। सन्ध्यास्वभ्यवहारस्त्रीस्वप्नाध्ययनचिन्तनम्॥ ४२ ॥
शत्रुसत्रगणाकीर्णगणिकापणिकाशनम्। गात्रवक्त्रनखैर्वाद्यं हस्तकेशावधूननम्॥ ४३ ॥
तोयाग्निपूज्यमध्येन यानं धूमं शवाश्रयम्। मद्यातिसक्तिं विश्रम्भस्वातन्त्र्ये स्त्रीषु च त्यजेत्॥

अन्य निषिद्ध कर्म—पूर्व दिशा की ओर से बहने वाली वायु का, सामने से आने वाली वायु का, धूप का, धूलि का, तुषार (ओस तथा बर्फ) का तथा झोंके से चलने वाली वायु (आँधी)का सेवन न करे। जब शरीर की स्थिति सीधी न हो ऐसी अवस्था में न छींके, न डकार ले, न खाँसे, न सोये, न खाना खाये और न मैथुन करे। कूल (नदी का किनारा) की छाया में न बैठे, राजा के शत्रु का साथ न करे। सर्प से, दाँतों से काटने वाले कुत्ता आदि प्राणियों से दूर रहे। सींग से मारने वाले साँड़, भैंसा आदि प्राणियों से सदा दूर रहे। नीच, अनार्य (अधम या कमीना), अतिनिपुण (दुष्ट, शैतान) व्यक्तियों की सेवा (नौकरी) न करे। उत्तम (अपने से बलवान् अथवा सदाचार युक्त) पुरुषों से झगड़ा (वैर) न करे।

सन्ध्याकाल में भोजन, स्त्रीसहवास, सोना, अध्ययन आदि किसी विषय का विचार न करे। यह समय भगवद्भजन करने का होता है। शत्रु का, यज्ञ का, गण (समुदाय या समाज) का, आकीर्ण (इधर-उधर बिखरा हुआ), गणिक (वेश्याओं) का तथा पणिक (दुकान, होटल आदि) का भोजन न करे। (च.सू. ८।२० के अनुसार आकीर्ण का अर्थ—बहुजनाकीर्ण है।) गात्र (काँख, ताली आदि) से, मुख से तथा नाखूनों से बाजा बजाने की नकल न करें। हाथों को हिलाना एवं बालों का अवधूनन (कम्पन) न करे। (प्रायः हाथों तथा केशों का कम्पन यह लक्षण उन्मादरोगियों में देखा जाता है। चेतन अवस्था में ये कृत्य शिष्टाचार के विरुद्ध हैं।)

जल, अग्नि तथा पूज्यजनों के बीच में से होकर इधर-उधर नहीं जाना चाहिए। (इस विषय को चाणक्य ने इस प्रकार कहा है—'विप्रयोर्विप्रवह्नयोश्च दम्पत्योः स्वामिभृत्ययोः। अन्तरेण न गन्तव्यं हलस्य वृषभस्य च'॥—चाणक्यनीति) श्मशान में चिता के धुँआ से दूर रहे, मद्य (मादक पदार्थों के सेवन) का अभ्यासी न बने। स्त्रियों का विश्वास न करे और इन्हें स्वतन्त्रता प्रदान न करे, क्योंकि 'प्रायः साहसिकाः स्त्रियः'॥ ४०-४४॥

वक्तव्य—ऊपर कहा गया सद्वृत्त सत्पुरुषों तथा कुलांगनाओं के आचरण का लेखा-जोखा है। प्रतिदिन के आचरण में उक्त उपदेशों का समावेश अवश्य कर लेना चाहिए। सद्वृत्त में कहे गये विषयों के लिए च.सू. ५ तथा ८ को और सु.चि. २४ को देखें। यहाँ कहा गया सम्पूर्ण वृत्त सद्धर्म है। इनका व्यावहारिक प्रयोग मनुष्य को सदाचारी एवं सज्जन बनाता है, जिससे समाज उसका आदर करता है और परलोक में उसे शुभ गति प्राप्त होती है।

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः। अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे परीक्षकः॥ ४५॥

अन्य सदुपदेश—सभी प्रकार के सांसारिक व्यवहारों को सीखने के लिए बुद्धिमान् मानव का सम्पूर्ण संसार ही आचार्य (गुरु) है, फिर भी सांसारिक अर्थ (स्वार्थ तथा परार्थ) की परीक्षा (क्या करने में हित है और क्या करने में अहित है, इस प्रकार का विचार) करने वाला मनुष्य संसार का अनुकरण करे॥ ४५॥

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु ने उक्त विषय में अत्यन्त स्पष्ट निर्देश इस प्रकार दिया है—'कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमताम् आचार्यः, शत्रुश्च अबुद्धिमताम्' (च.वि. ८।१४) अर्थात् समझदार नर-नारियों के लिए सम्पूर्ण संसार आचार्य (गुरु या उपदेशक) है, क्योंकि वे उससे अच्छी बातें सीखते हैं और नासमझ लोग उससे बुरी बातें सीखते हैं, अतः संसार को उनका शत्रु कहा गया है।

आर्द्रसन्तानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः। स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम्॥ ४६॥

सदाचार-सूत्र—सभी प्राणियों पर दयालु होना, दान देना, शरीर, मन तथा वाणी पर नियन्त्रण रखना अर्थात् इन्हें स्वतन्त्र न छोड़ना तथा दूसरों के अर्थों में स्वार्थबुद्धि रखना (उन्हें भी अपने ही जैसा समझना) यह सूत्र रूप में पूर्ण सदाचार माना गया है॥ ४६॥

नक्तंदिनानि मे यान्ति कथम्भूतस्य सम्प्रति। दुःखभाङ्न भवत्येवं नित्यं सन्निहितस्मृतिः॥ ४७॥

विचार-पद्धति—आजकल मेरे रात-दिन कैसे बीत रहे हैं, मैं कैसा होता जा रहा हूँ? इस प्रकार का प्रतिदिन ध्यानपूर्वक विचार करने वाला पुरुष कभी दुःखी नहीं होता है॥ ४७॥

वक्तव्य—महर्षि चाणक्य ने भी इसी प्रकार सोचने के लिए मनुष्य को बाध्य किया है—'कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ। कस्याऽहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः'॥ (चाणक्यनीति) इस प्रकार विचार करने वाला पुरुष अज्ञानवश हुई अपनी भूलों को सुधार सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह कभी दुःखी नहीं होता।

इत्याचारः समासेन, यं प्राप्नोति समाचरन्।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं यशो लोकांश्च शाश्वतान्॥ ४८॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने दिनचर्या नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

सद्वृत्त का उपसंहार—इस प्रकार संक्षेप से आचार (सदाचार अथवा सद्वृत्त = सज्जनों का कर्तव्य) कह दिया गया है। जिसका अपने जीवन में आचरण करता हुआ पुरुष (नर-नारी) दीर्घायु, आरोग्य (उत्तम स्वास्थ्य), ऐश्वर्य (धन-सम्पत्ति), सुयश तथा स्वर्ग आदि सनातन लोकों को प्राप्त करता है॥ ४८॥

वक्तव्य—इस अध्याय में मनुष्यों के हित के लिए सदाचार का संक्षेप से वर्णन किया गया है। यही मनुष्यों का प्रथम अथवा परम धर्म है। इसके सम्बन्ध में मनु ने कहा है। देखें—मनु. १।१०८-११०। इस सदाचार रूपी धर्म से धन-सम्पत्ति की प्राप्ति होती है, इससे सुख मिलता है और इसी से रोगों का नाश होता है। लोक में व्याप्त अन्य धर्मों से सदाचार नामक धर्म सर्वोत्तम हैं। इसका सेवन करने से मानव-जीवन सफल हो जाता है और इसका आचरण न करने से मनुष्य का विनाश हो जाता है। अतः सभी को सदाचार का सेवन करना चाहिए।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
निर्मला हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में
दिनचर्या नामक दूसरा अध्याय समाप्त॥ २॥

तृतीयोऽध्यायः

अथात ऋतुचर्याध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब यहाँ से हम ऋतुचर्या नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे, जैसा कि इसके सम्बन्ध में आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम— चर्या शब्द का व्याख्यान हमने 'दिनचर्या' प्रकरण में कर दिया था। अब यहाँ 'ऋतु' = दो-दो मास के अनुसार सम्पूर्ण वर्ष को छः भागों में जो बाँटा गया है उनमें किस प्रकार का आहार-विहार होना चाहिए, इस अध्याय में उस विषय का वर्णन किया जायेगा।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. ६; च.वि. ८; सु.सू. ६; सु.चि. २४ तथा सु.उ. ६४ एवं अ.सं. ४ में देखें।

मासैर्द्विसङ्ख्यैर्माघाद्यैः क्रमात् षड्तवः स्मृताः। शिशिरोऽथ वसन्तश्च ग्रीष्मो वर्षाःशरद्धिमाः॥
शिशिराद्यास्त्रिभिस्तैस्तु विद्यादयनमुत्तरम्। आदानं च, तदादत्ते नृणां प्रतिदिनं बलम्॥ २॥

छः ऋतुएँ—माघ आदि दो-दो महीनों से क्रमशः छः ऋतुएँ होती हैं। यथा— १. माघ-फाल्गुन : शिशिर ऋतु, २. चैत्र-वैशाख : वसन्त ऋतु, ३. ज्येष्ठ-आषाढ़ : ग्रीष्म ऋतु, ४. श्रावण-भाद्रपद : वर्षा ऋतु, ५. आश्विन-कार्तिक : शरद् ऋतु और ६. मार्गशीर्ष-पौष : हेमन्त ऋतु।

उत्तरायण तथा आदानकाल—शिशिर, वसन्त तथा ग्रीष्म नामक तीन ऋतुओं में होने वाले छः मासों का नाम 'उत्तरायण' है; इसी का दूसरा नाम है—'आदानकाल'। क्योंकि इन दिनों में यह काल अपनी प्रकृति से प्रतिदिन प्राणियों के बल को लेता रहता है अर्थात् उनके बल का अपहरण करता रहता है॥ १-२॥

वक्तव्य—तन्त्रकारों की व्याख्यान-सरणियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, तथापि निष्कर्ष प्रायः समान होते हैं। यहाँ छः ऋतुओं तथा उत्तरायण की चर्चा की गयी है। यह भारत वर्ष भाग्यवान् देश है, यह ऋतु आदि की विविधता यहाँ के निवासियों का ही सौभाग्य है, अन्यत्र ऐसा नहीं है। इसके लिए आप विश्व के भूगोल का अध्ययन करें, अस्तु।

सम्पूर्ण वर्ष में १२ मास, ६ ऋतुएँ और २ अयन होते हैं। यह कालविभाग सौरमासों के अनुसार कहा गया है। ज्यौतिष के अनुसार वर्षभर में चान्द्रमासों की भी सत्ता स्वीकार की गयी है। तदनुसार प्रति तीसरे वर्ष १ मास बढ़ जाता है, क्योंकि चान्द्रमास २७ या २८ दिन का होता है, किन्तु ऋतु-विभाजन सौरमासों के अनुसार ही होता है। उक्त चान्द्रमास को समझने के लिए आप देखें—'तैश्चतुर्भिरहोरात्रिश्च, पञ्चदशाहोरात्राः पक्षः। पक्षद्वयं मासः। स शुक्लान्तः'। (अ.सं.सू. ४।४) अर्थात् ४ पहर का दिन और ४ पहर की रात्रि होती है, जिसे मिलाकर १ दिन होता है। १५ दिनों का एक पक्ष होता है, यह कृष्ण तथा शुक्ल भेद से माना गया है। २ पक्षों का एक मास होता है, शुक्लपक्ष की 'पूर्णिमा' के दिन इस मास की पूर्ति होती है।

सूर्यसिद्धान्त के मध्याधिकार श्लोक १२-१३ के अनुसार मास (महीना) दो प्रकार का होता है— १. चान्द्र (ऐन्दव) मास—इसकी गणना प्रतिपदा से अमावास्या तक १५ दिन का कृष्णपक्ष और पुनः प्रतिपदा से पूर्णिमा तक १५ दिन का शुक्लपक्ष, दोनों को मिलाकर एक मास। २. सौरमास—इसकी गणना मेष (वैशाख),

वृष (ज्येष्ठ) आदि राशियों के अनुसार होती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न राशियों पर सूर्य के संक्रमण को मेषसंक्रान्ति आदि कहते हैं।

सुश्रुत का दृष्टिकोण—'इह तु''''प्रावृडिति'। (सु.सू. ६।१०) अर्थात् यहाँ वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट् ये छः ऋतुएँ वात आदि दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशमन में कारण हैं। उक्त छः ऋतुएँ भाद्रपद आदि दो-दो मासों को लेकर इस प्रकार मानी गयी है— १. वर्षा—भाद्रपद-आश्विन, २. शरद्—कार्तिक-मार्गशीर्ष, ३. हेमन्त—पौष-माघ, ४. वसन्त—फाल्गुन-चैत्र, ५. ग्रीष्म—वैशाख-ज्येष्ठ तथा ६. प्रावृट्—आषाढ-श्रावण। महर्षि सुश्रुत शल्यशास्त्र के आचार्य थे, अतएव उन्होंने वात, पित्त एवं कफ दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशम को दृष्टि में रखकर इस प्रकार ऋतुक्रम को व्यवस्थित किया है। कायचिकित्सा-प्रधान चरकसंहिता में 'प्रावृट्' नामक ऋतु को स्वीकार न करके अपने क्रम से 'शिशिर' ऋतु को माना है। देखें—च.सू. ६।४। फिर भी चरक ने संशोधन-चिकित्सा को ध्यान में रखकर 'प्रावृट्' ऋतु की सत्ता को स्वीकारा है। देखें—च.वि. ८।१२५।

मतभेद का समाधान—हमारे ये तन्त्रकार नीरजस्तम, आप्त, शिष्ट, विबुद्ध थे, अतएव इनके सिद्धान्त तीनों काल में मानने योग्य होते हैं, फिर भी जहाँ मतभेद होता है उसका कारण भी होता है। देखें—जिन देशों (भूखण्डों) में ठण्ड अधिक पड़ती है वहाँ हेमन्त तथा शिशिर नामक दो ऋतुएँ शीतकाल की होती हैं और जहाँ वर्षा अधिक होती है वहाँ प्रावृट् तथा वर्षा नाम की दो ऋतुएँ मानी जाती हैं। हमारे भारतवर्ष में हिमालय के कई भाग ऐसे भी हैं जहाँ वर्षभर सर्दी बनी रहती है। आसाम आदि कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ वर्षा अधिक होती है तथा दक्षिण के कुछ देश ऐसे भी हैं जहाँ अधिक गर्मी पड़ती है; तथापि ऋतुओं का अपना प्रभाव उन-उन स्थानों पर भी अवश्य पड़ता ही है। इसी दृष्टि से प्राचीन महर्षियों ने भौगोलिक सर्वेक्षण कर अधिकाधिक प्रभावकारी भूभागों को उक्त विभाजन की सूक्ष्म दृष्टियों से देखा है, जो चिकित्सा की दृष्टि से उपादेय है।

सुश्रुत ने पहले ऋतुभेद से जिन वात आदि दोषों के चय, प्रकोप, प्रशम का वर्णन वर्षभर की अवधि में दिखलाया था, उसे दिन-रात के रूप में इस प्रकार कहा है—दिन के पूर्वार्ध में वसन्तऋतु (कफप्रकोप) के मध्याह्नकाल में, ग्रीष्मऋतु (वातसंचय) के अपराह्न में प्रावृट् ऋतु (वातप्रकोप) के प्रदोषकाल (रात्रि के पूर्वभाग) में वर्षाऋतु के (पित्तसंचय) के आधीरात में शरद् ऋतु (पित्तप्रकोप) के, रात्रि के अन्तिम भाग (उषःकाल) में हेमन्तऋतु (कफसंचय) के लक्षण होते हैं। इस प्रकार दिन-रात में भी दोषों क संचय, प्रकोप तथा प्रशम होता है। देखें—सु.सू. ६।१४।

तस्मिन् ह्यत्यर्थतीक्ष्णोष्णरूक्षा मार्गस्वभावतः। आदित्यपवनाः सौम्यान् क्षपयन्ति गुणान् भुवः।
तिक्तः कषायः कटुको बलिनोऽत्र रसाः क्रमात्। तस्मादादानमाग्नेयम्—

अग्निगुण-प्रधान आदानकाल—इस उत्तरायण काल में सूर्य के उत्तरमार्ग में चलने के कारण सूर्य की किरणें अत्यन्त तीक्ष्ण तथा उष्ण (गरम) हो जाती हैं। सूर्य की गरमी से तपी हुई हवाएँ भी उष्ण एवं रूक्ष हो जाती हैं अर्थात् लू चलने लगती है। अतएव ये दोनों (सूर्य तथा हवा) पृथ्वी के सौम्य (शीतलत तथा गीलापन आदि) गुणों को क्षीण (नष्ट) कर देते हैं। यही कारण है कि इन दिनों प्राणियों का भी शारीरिक बल क्षीण हो जाता है। इस उत्तरायण काल में क्रमशः शिशिर ऋतु में तिक्तरस, वसन्त ऋतु में कषाय रस और ग्रीष्म ऋतु में कटुरस बलवान् (शक्तिशाली) हो जाते हैं। यही कारण है कि यह आदानकाल आग्नेय (अग्निगुण प्रधान) कहा गया है॥ ३॥

वक्तव्य—'आदित्यपवनाः' अर्थात् सूर्य की उष्णता से युक्त इधर-उधर बहती हुई हवाएँ इस काल में अपनी भयंकरता से युक्त रहती हैं। वास्तव में हवा का स्वभाव ही ऐसा होता है कि गर्मी में वही 'लू' का रूप धारण कर लेती है और जाड़ों में सर्दी का। इस सम्बन्ध में चरक ने कहा है—'वायु को

योगवाही कहा गया है—जैसा उसे संयोग मिलता है, वैसा उसका स्वभाव हो जाता है'। देखें—च.चि. ३।३८। अग्निगुण-प्रधान आदानकाल का वर्णन चरक ने भी प्रायः इसी प्रकार किया है। देखें—च.सू. ६।६।

—ऋतवो दक्षिणायनम्॥ ४॥

वर्षादयो विसर्गश्च—

विसर्गकाल-दक्षिणायन—वर्षा, शरद् तथा हेमन्त नामक इन तीन ऋतुओं का नाम दक्षिणायन है, इसी का दूसरा नाम है 'विसर्ग काल'। क्योंकि 'विसृजति ददाति बलम् इति विसर्गः कालः'॥ ४॥

—यद्बलं विसृजत्ययम्। सौम्यत्वादत्र सोमो हि बलवान् हीयते रविः॥ ५॥
मेघवृष्ट्यनिलैः शीतैः शान्ततापे महीतले। स्निग्धाश्चेहाम्ललवणमधुरा बलिनो रसाः॥ ६॥

विसर्गकाल-परिचय—यह काल सौम्य होने के कारण प्राणिमात्र को बल देता है। इस काल में सौम्यगुणों वाला सोम (चन्द्रमा) बलवान् रहता है और सूर्य का बल क्षीण हो जाता है। इस काल में मेघों (बादलों) के छाये रहने के कारण, वर्षा के होते रहने से इन दोनों के कारण शीतल हवा के बहने से भूतल का सन्ताप शान्त हो जाता है। अतः वर्षा ऋतु में स्निग्ध गुण वाला अम्ल रस, शरद् ऋतु में लवण रस तथा हेमन्त ऋतु में मधुररस बलवान् हो जाते हैं। फलतः इस विसर्गकाल (दक्षिणायन) में प्राणियों के देह तथा उसका बल बढ़ जाता है, अतएव इसे 'विसर्गकाल' कहते हैं॥ ५-६॥

वक्तव्य—'वि + सृज् + घञ् = विसर्गः' अर्थात् दान। यह काल प्राणियों को बल का विसर्जन करता है। चरक-सुश्रुत ने भी इस काल की प्रशंसा की है।

शीतेऽग्र्यं वृष्टिघर्मेऽल्पं बलं मध्यं तु शेषयोः।

बल का चयापचय—शीत ऋतुओं (हेमन्त तथा शिशिर) में प्राणियों में बल की स्थिति उत्तम रहती है, शेष दो शरद् तथा वसन्त ऋतुओं में शारीरिक बल की स्थिति मध्यम कोटि की तथा वर्षा और ग्रीष्म ऋतुओं में बल की मात्रा अति अल्प हो जाती है।

वक्तव्य—विसर्गकाल में क्रमशः बढ़ा हुआ शारीरिक बल आदानकाल में क्रमशः उस प्रकार घटता जाता है, जैसे शुक्लपक्ष में क्रमशः बढ़ा हुआ चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्रमशः घटता जाता है। अतएव शारीरिक बल के ह्रास-वृद्धि क्रम को हीन, मध्य, उत्तम भेद से तीन भागों में विभाजित किया गया है।

बलिनः शीतसंरोधाद्धेमन्ते प्रबलोऽनलः॥ ७॥
भवत्यल्पेन्धनो धातून् स पचेद्वायुनेरितः। अतो हिमेऽस्मिन्सेवेत स्वाद्वम्ललवणान्रसान्॥ ८॥

हेमन्तऋतुचर्या—हेमन्त ऋतु में कालस्वभाव के कारण पुरुष अधिक बलवान् रहता है। क्योंकि शीत के कारण भीतर रुका होने के कारण (अर्थात् रोमकूपों के शीत से अवरुद्ध होने के कारण) जठराग्नि (पाचकाग्नि) अधिक बलवान् हो जाती है। यदि उसे आहार रूपी ईंधन (जिसे वह जठराग्नि पका या जला सके।) कम मिल पाता है, तो वह अग्नि वायु द्वारा प्रेरित होकर (सुलगकर) रस आदि शरीरस्थ धातुओं को पचाने लगती है। इसलिए हेमन्त ऋतु में वातनाशक मधुर, अम्ल तथा लवण रसयुक्त पदार्थों का पर्याप्त सेवन करना चाहिए॥ ७-८॥

वक्तव्य—यह हेमन्तऋतुचर्या है, कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि गर्मी में गर्मी नहीं पड़ती, वर्षा ऋतु में वर्षा नहीं होती और सर्दियों में जाड़ा नहीं पड़ता; इसे **ऋतुविपर्यय** कहते हैं। ये लक्षण शनि आदि ग्रहों के अतिचार से भी देखे जाते हैं। आजकल राकेट आदि अन्तरिक्ष में छोड़े जा रहे हैं, इनके प्रकोप से भी ये परिवर्तन दिखलायी दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में कुशल चिकित्सक देश-काल की सामयिक स्थिति के अनुसार ऋतुचर्या का निर्देश करे।

सुश्रुत के अनुसार हेमन्तचर्या—'हेमन्ते लवणक्षारतिक्ताम्लकटुकोत्कटम्। सर्पिस्तैलमहिममशनं हितमुच्यते'॥ (सु.उ. ६४।२३) अर्थात् हेमन्त ऋतु में नमकीन, तिक्त, क्षार, अम्ल, कटु रसों का एवं पर्याप्त घी-तैल का तथा इनसे बने हुए भोज्य पदार्थों का सेवन हितकर होता है। इस काल में वातकारक पदार्थों का सेवन न करे। ऊपर कहे गये तिक्त, कटु आदि रस-प्रधान पदार्थ कफदोष के विनाशक होते हैं, क्योंकि इस काल में कफ की वृद्धि स्वभावतः होती है।

दैर्घ्यान्निशानामेतर्हि प्रातरेव बुभुक्षितः। अवश्यकार्यं सम्भाव्य यथोक्तं शीलयेदनु॥ ९ ॥
वातघ्नतैलैरभ्यङ्गं मूर्ध्नि तैलं विमर्दनम्। नियुद्धं कुशलैः सार्धं पादाघातं च युक्तितः॥ १० ॥

प्रातःकाल के कर्तव्य—हेमन्त ऋतु में रातें लम्बी होने लगती हैं, अतः प्रातःकाल उठते ही भूख लग जाती है। इसलिए प्रातःकाल समय पर उठकर मल-मूत्र करने के बाद शौच आदि क्रिया से निवृत्त होकर दतवन आदि करके उसके बाद यथोक्त (आठवें पद्य में ऊपर जो कहा है—'सेवेत स्वाद्वम्ललवणान् रसान्') का सेवन करे अर्थात् मधुर, लवण तथा अम्ल रसयुक्त पदार्थों (मिठाई, नमकीन आदि) को खाये अथवा जलपान करे। इस ऋतु में प्रतिदिन वातनाशक तैलों का मालिश करे या कराये। मल्लविद्याकुशल पहलवानों के साथ कुश्ती करे, यदि सम्भव हो तो पादाघात (लंगड़ी लगाना) आदि को विधिपूर्वक सीखे, अन्यथा कुछ व्यायाम अवश्य करे॥ ९-१०॥

वक्तव्य—'अवश्यकार्य' की व्याख्या हमने ऊपर कर दी है। 'बुभुक्षितः'—यद्यपि ऊपर कहा गया है कि भूख लगे हुए पुरुष को आवश्यक कार्य करने के बाद खाना चाहिए। इस प्रसंग में च.चि. १५।११७ से २२० तक पद्यों का अनुशीलन करें। इन सबका तात्पर्य यह है कि उसे तत्काल भोजन दें, अन्यथा उपेक्षा करने से उसकी मृत्यु भी हो सकती है। और भी देखें—'आहारकाले सम्प्राप्ते यो न भुङ्क्ते बुभुक्षितः। तस्य सीदति कायाग्निर्निरिन्धन इवानलः'॥ इन उद्धरणों से बुभुक्षित को भोजन करना ही चाहिए, ऐसा समझें। यहाँ व्यक्ति की स्वास्थ्य-सम्पत्ति का विचार करके चिकित्सक निर्देश दे कि तत्काल भोजन देना आवश्यक है या शौच आदि करने के बाद।

कषायापहृतस्नेहस्ततः स्नातो यथाविधि। कुङ्कुमेन सदर्पेण प्रदिग्धोऽगुरुधूपितः॥ ११॥
रसान् स्निग्धान् पलं पुष्टं गौडमच्छसुरां सुराम्। गोधूमपिष्टमाषेक्षुक्षीरोत्थविकृतीः शुभाः॥
नवमन्नं वसां तैलं, शौचकार्ये सुखोदकम्। प्रावाराजिनकौशेयप्रवेणीकौचवास्तृतम्॥ १३॥
उष्णस्वभावैर्लघुभिः प्रावृतः शयनं भजेत्। युक्त्याऽर्ककिरणान् स्वेदं पादत्राणं च सर्वदा॥ १४॥

स्नान आदि विधि—उसके बाद आँवला आदि कसैले द्रव्यों के कल्क (चटनी के समान पिसे हुए द्रव्यों) से पहले किये गये अभ्यंग (मालिश) की चिकनाहट को दूर करे, फिर विधिपूर्वक स्नान करे। उसके बाद शरीर को मोटे तौलिया से पोंछकर कुंकुम, कस्तूरी आदि उष्णगुण-प्रधान द्रव्यों का लेप (तिलक) लगाये और अगुरु की धूप की सुवास का सेवन कर तदनन्तर भोजन करे।

भोजन में घी-तेल में भुना गया मांसरस स्वस्थ प्राणियों के मांस का होना चाहिए। गुड़ से बने पदार्थ, स्वच्छ (उत्तम) मद्य या सामान्य मद्य, गेहूँ का आटा, उड़द की दाल, इक्षुरस, दूध द्वारा निर्मित पदार्थ (दही, मठा, मलाई, रबड़ी, खुरचन आदि), नये चावलों का भात, वसा, तैल का सेवन करे। हाथ धोने आदि के लिए गुनगुना गरम जल का प्रयोग करे।

इन दिनों प्रावार (ऊनी कम्बल आदि), मृगचर्म, रेशमी बिछौना, टाट या कुथक (रंग-बिरंगा कम्बल या गलीचा या गद्दा) बिछाकर रखें। ऊनी हलके चादर को ओढ़कर सोयें। प्रातःकाल युक्तिपूर्वक सूर्य की किरणों का सेवन करे। स्वेदन कर्म करे तथा जूता-जुराब (मोजे) को सदैव धारण करे॥ ११-१४॥

वक्तव्य—कोश-साहित्य में 'नियुद्ध' शब्द का अर्थ है—बाहुयुद्ध। 'पादाघातं च युक्तितः'—यहाँ पादाघात रूपी व्यायाम को थकावट आने से पहले छोड़ दें, यही युक्ति है! 'कषायापहृतः स्नेहः'—मालिश

के समय जो शरीर पर तेल लगा है, उसे कषाय-द्रव्यों से दूर करें, न कि साबुन आदि क्षारयुक्त पदार्थों से। इनके प्रयोग से केशभूमि रूक्ष हो जाती है।

स्नानविधि—इसके लिए शास्त्र में द्रोणी अवगाहन (टब में लेटकर नहाने) का विधान है। इसमें गरम पानी भर दिया जाता है, सिर को डुबाये बिना पूरे शरीर का इस प्रकार सुखद स्नान हो जाता है। केशर-कस्तूरी का लेप करने से शरीर सुवासित हो जाता है और शरीर में उष्णता का संचार भी होता है।

भोजन—खाने वाले की रुचि के अनुसार इसका निर्माण किया तथा कराया जाता है। मांस-भोजन मांसभोजियों के लिए है। शाकाहार सबके लिए है। उड़द के बड़े तथा पकौड़े शाकाहारियों के मांस के प्रतिनिधिस्वरूप आहारद्रव्य हैं। वसा प्राणिज स्नेह है। गौड शब्द से गुड़ से बने भोज्य पदार्थ या मद्य का ग्रहण किया जाता है। **प्रवेणी**—रंगीन ऊनी वस्त्र। **कौचव**—रांकव वस्त्रभेद। पाठभेद के अनुसार कुथक—'कुथ' का अर्थ अमरकोश में 'कुश' दिया है। इसके कुशासन बनते हैं। ये बिछाये जाते हैं। धान के पुआल का गद्दा गरीबों का उत्तम बिस्तर है, किन्तु श्रीचक्रपाणि ने कुथक का अर्थ चित्रकम्बल किया है। इसी अर्थ में माघपण्डित ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। देखें—'कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम्' (शिशुपालवध १।८) इसके अतिरिक्त श्रीअत्रिदेव तथा श्रीछांगाणीजी ने इसका अर्थ रुई का गद्दा किया है। यह अर्थ प्रसंगोचित होने पर भी विचारणीय है। मूल में 'कौचव' शब्द होने पर भी श्रीहेमाद्रि 'कुथक' का पर्याय कम्बल दे रहे हैं। अस्तु।

पीवरोरुस्तनश्रोण्यः समदाः प्रमदाः प्रियाः। हरन्ति शीतमुष्णाङ्ग्यो धूपकुङ्कुमयौवनैः॥ १५॥

शीतनाशक उपाय—पीन (स्थूल एवं पुष्ट) ऊरु, स्तन तथा श्रोणिवाली यौवन तथा सुरा के मद से मदमाती हुई प्रिया, कुंकुम के लेप, अगुरु की धूप एवं यौवनमद के कारण उष्ण शरीर वाली नारियाँ (भोग्या स्त्रियाँ) शीत को हर लेती हैं॥ १५॥

अङ्गारतापसन्तप्तगर्भभूवेश्मचारिणः। शीतपारुष्यजनितो न दोषो जातु जायते॥ १६॥

निवास-विधि—जलते हुए अंगारों से तपे हुए मकान के निचले तल में निर्मित कमरे में (जहाँ बाहर बहने वाली शीतल हवा का प्रवेश न हो) अथवा गर्भभूवेश्म (घर के भीतर बनी हुई गुफा) में निवास करने वाले नर-नारियों को शीत के कारण उत्पन्न होने वाली परुषता सम्बन्धी कोई विकार कभी नहीं होता। अतः इन दिनों उक्त प्रकार के घर में निवास करे॥ १६॥

अयमेव विधिः कार्यः शिशिरेऽपि विशेषतः। तदा हि शीतमधिकं रौक्ष्यं चादानकालजम्॥ १७॥

शिशिर ऋतुचर्या—हेमन्त ऋतु में कही गयी सभी विधियों का सेवन विशेष करके शिशिर ऋतु में भी करना चाहिए। विशेषता यह है कि इस ऋतु में हेमन्त ऋतु की अपेक्षा शीत अधिक पड़ने लगता है, क्योंकि इस ऋतु में आदानकाल का प्रारम्भ हो जाता है। अतः इसमें रूक्षता आने लगती है॥ १७॥

वक्तव्य—इसमें आदानकाल के प्रारम्भ होने के कारण जो रूक्षता होने लग जाती है, उसकी शान्ति के लिए अभ्यंग का सेवन तथा स्निग्ध आहारों का सेवन करना चाहिए। संक्षेप में यही 'शिशिर ऋतुचर्या' है। तन्त्रकार का सूत्र रूप में सामान्य-विशेष विधि से वर्णन का प्रकार सर्वत्र दिखलाई देता है।

कफश्चितो हि शिशिरे वसन्तेऽर्कांशुतापितः। हत्वाऽग्निं कुरुते रोगानतस्तं त्वरया जयेत्॥ १८॥
तीक्ष्णैर्वमननस्याद्यैर्लघुरूक्षैश्च भोजनैः। व्यायामोद्वर्तनाघातैर्जित्वा श्लेष्माणमुल्बणम्॥ १९॥
स्नातोऽनुलिप्तः कर्पूरचन्दनागुरुकुङ्कुमैः। पुराणयवगोधूमक्षौद्रजाङ्गलशूल्यभुक्॥ २०॥
सहकाररसोन्मिश्रानास्वाद्य प्रिययाऽर्पितान्। प्रियास्यसङ्गसुरभीन् प्रियानेत्रोत्पलाङ्कितान्॥
सौमनस्यकृतो हृद्यान्वयस्यैः सहितः पिबेत्। निर्गदानासवारिष्टसीधुमार्द्वीकमाधवान्॥ २२॥
शृङ्गबेराम्बु साराम्बु मध्वम्बु जलदाम्बु च।

वसन्त ऋतुचर्या—शिशिर ऋतु में शीत की अधिकता के कारण स्वाभाविक रूप से कफदोष का संचय हो जाता है। वह कफदोष वसन्त ऋतु में सूर्य की किरणों से सन्तप्त होकर पिघलने लगता है, जिसके कारण पाचकाग्नि मन्द पड़ कर अनेक प्रकार के (प्रतिश्याय आदि) रोगों को उत्पन्न कर देता है, अतः इस ऋतु में उस कफदोष को शीघ्र निकालने का प्रयत्न करे। (वमन तथा रूक्ष नस्यों के प्रयोग से इसका निर्हरण करे।) अन्यत्र कहा भी है—'हेमन्ते चीयते श्लेष्मा वसन्ते च प्रकुप्यति'। यहाँ हेमन्त शब्द के साहचर्य से शिशिर ऋतु का भी ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि दोनों की ऋतुचर्या प्रायः समान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हेमन्त-शिशिर ऋतु में संचित कफदोष का प्रकोप वसन्त ऋतु में होता है।) इसलिए कफदोष को निकालने के लिए तीक्ष्ण वमनकारक द्रव्यों द्वारा वमन करायें और तीक्ष्ण एवं रूक्ष औषधों का प्रतिदिन नस्य लें। लघु (शीघ्र पचने वाले) तथा रूक्ष (स्नेहरहित) भोजन करे। व्यायाम, उबटन, आघात (दण्ड-बैठक) का प्रयोग करें और कराये, जिससे बढ़ा हुआ कफदोष शान्त हो जाय (अन्यत्र इस ऋतुचर्या में धूमपान, कवलग्रह का भी विधान है)। उसके बाद स्नान करे; फिर कपूर, अगरु, चन्दन, कुंकुम का शरीर में अनुलेप लगाये (तिलक करे)। भोजन में पुराने जौ, गेहूँ की रोटी आदि बनाकर खाये, मधु का सेवन करे, जांगल देश के प्राणियों के मांस के बड़े बनवाकर खायें, जो लोहे की शलाका में पिरोकर पकाये जाते हैं, अतएव इन्हें 'शूल्य' कहा जाता है।

पान-विधि—पके हुए आम का रस निकाल कर, जिसे पहले प्रियतमा ने चखकर अपने प्रियतम को दिया हो, प्रिया के मुख की गन्ध से सुरभित, जिस पर प्रिया के नयनकमलों की छाया पड़ रही हो, जो मन को प्रिय लगने वाला हो, हृदय को शक्ति देने वाला हो; ऐसे आम के रस का मित्रमण्डली के साथ पान करे। (ध्यान रहे, इन मित्रों के साथ-साथ पत्नी भी अवश्य रहे, नहीं तो 'प्रियानेत्रोत्पलाङ्कितान्' यह विशेषण व्यर्थ हो जायेगा)। दोषरहित आसव, अरिष्ट, सीधु, मुनक्का द्वारा निर्मित सुरा तथा महुआ के आसव का सेवन भी मित्रों के साथ बैठकर उचित मात्रा में करे। अदरख का पानी, विजयसार तथा चन्दन का जल, मधुमिश्रित जल और नागरमोथा का क्वथित जल इनका भी सेवन करे॥ १५-२२॥

वक्तव्य—ऊपर जो विस्तृत खान-पान व्यवस्था बतलायी है, इसका उद्देश्य यह है कि जिसे जो रुचिकर तथा प्रिय हो उसका वह सेवन करे। अदरख का पानी आदि सभी का क्वाथ कर लें, मध्वम्बु को केवल जल में घोलकर लें। यहाँ तक वसन्त ऋतु की प्रातःकालीन चर्या का वर्णन कर दिया गया है।

दक्षिणानिलशीतेषु परितो जलवाहिषु॥ २३॥
अदृष्टनष्टसूर्येषु मणिकुट्टिमकान्तिषु। परपुष्टविघुष्टेषु कामकर्मान्तभूमिषु॥ २४॥
विचित्रपुष्पवृक्षेषु काननेषु सुगन्धिषु। गोष्ठीकथाभिश्चित्राभिर्मध्याह्नं गमयेत्सुखी॥ २५॥

मध्याह्नचर्या—जो घने वन दक्षिण दिशा की वायु अर्थात् मलयज पवन से शीतल तथा सुगन्धित हों, जहाँ चारों ओर जलप्रवाह हो रहा हो, जहाँ सूर्य का प्रकाश थोड़ा पड़ रहा हो या वन के घने होने से न हो रहा हो, जहाँ हीरे-मरकत आदि के फर्श बने हों; इनकी कान्ति से युक्त वनों में, जहाँ कोयलें कूक रही हों, सहवास करने योग्य स्थानों में, जहाँ विविध प्रकार के सुगन्धित फूलों वाले वृक्ष हों, ऐसे वनों (उद्यानों) में सुख चाहने वाला पुरुष मित्रमण्डली की कथा-सुभाषित युक्त सभाओं द्वारा मध्याह्नकाल को बिताये॥ २३-२५॥

गुरुशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत् ।

वसन्त ऋतु में अपथ्य—इस ऋतु में गुरु (देर से पचने वाले भक्ष्य पदार्थ), शीतल पदार्थ, दिन में सोना, स्निग्ध (घी-तेल से बने हुए खाद्य) पदार्थों, अम्ल तथा मधुर रस-प्रधान पदार्थों का सेवन न करें, क्योंकि ये सभी कफवर्धक होते हैं।

तीक्ष्णांशुरतितीक्ष्णांशुर्ग्रीष्मे सङ्क्षिपतीव यत्। २६॥

प्रत्यहं क्षीयते श्लेष्मा तेन वायुश्च वर्धते। अतोऽस्मिन्पटुकट्वम्लव्यायामार्ककरांस्त्यजेत्॥ २७॥

ग्रीष्म ऋतुचर्या—ग्रीष्म ऋतु में तीक्ष्णांशु (सूर्य) अपनी तेज किरणों से संसार के जलीय तत्त्व को सुखा देता है। (यहाँ एक दूसरा पाठभेद इस प्रकार मिलता है—'स्नेहमर्कोऽतितीक्ष्णांशुः'। यह पाठ अधिक स्पष्ट है, इससे भी चरकोक्त यह पाठ अधिक स्पष्ट है—'मयूखैर्जगतः स्नेहं ग्रीष्मे पेपीयते रविः'। (च.सू. ६।२७) जिसके कारण शरीरस्थित जलीय अंश कफधातु का भी क्षय होने लगता है, फलतः वातदोष की वृद्धि होती जाती है। इसलिए इस ऋतु में लवण, कटु तथा अम्ल रस-प्रधान पदार्थों का, व्यायाम एवं धूप (घाम) का सेवन करना छोड़ दें॥ २६-२७॥

भजेन्मधुरमेवान्नं लघु स्निग्धं हिमं द्रवम्।

सेवनीय पदार्थ—इस ऋतु में अधिक मधुर आहारों का सेवन करे तथा लघु (शीघ्र पच जाने वाले), स्निग्ध (घी-तेल से बने हुए) पदार्थों, शीतल एवं पेयों का सेवन करे।

वक्तव्य—घी-तेल से बने पदार्थ गुरु होते हैं, अतः 'गुरूणामर्धसौहित्यम्' अर्थात् गुरु पदार्थों को भरपेट न खाकर आधा ही खाना चाहिए, यह शास्त्र की आज्ञा है; नहीं तो पाठकों को सन्देह होगा कि ऊपर पहले लघु (सुपच) कहा है, फिर आगे स्निग्ध ?

सुशीततोयसिक्ताङ्गो लिह्यात्सक्तून् सशर्करान्॥ २८॥

सत्तू-सेवनविधि—अत्यन्त शीतल जल (यह स्वभावशीतल जल पर्वतीय प्रदेशों में सुलभ होता है, कृत्रिम शीतल जल सर्वत्र मिल सकता है, किन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से वह निकृष्ट होता है। देखें—'हिमवत्प्रभवाः पथ्याः पुण्या देवर्षिसेविताः'। च.सू. २७।२०९) से स्नान करे, चीनी मिलाकर सत्तुओं को चाटे। (चाटने योग्य बनाने के लिए उसमें शीतल जल मिला लें।)॥ २८॥

मद्यं न पेयं, पेयं वा स्वल्पं, सुबहुवारि वा।

मद्य-सेवनविधि—इन दिनों मद्यपान न करे, यदि पीना ही हो तो थोड़ा पीयें अथवा उसमें बहुत-सा जल मिलाकर पीयें। इतना भी वे पीयें जिन्हें यह अनुकूल पड़ता हो।

अन्यथा शोषशैथिल्यदाहमोहान् करोति तत्॥ २९॥

मद्यपान का निषेध—शास्त्रीय आज्ञा के विरुद्ध किया हुआ मद्यपान शोष (क्षय), पाठभेद के अनुसार शोफ = सूजन, शैथिल्य (शिथिलता = अंगों में ढीलापन), दाह (जलन), बेहोशी आदि विकारों को उत्पन्न कर देता है॥ २९॥

कुन्देन्दुधवलं शालिमश्नीयाज्जाङ्गलैः पलैः।

भोजन-विधान—कुन्द (चमेली का एक भेद 'मोतिया') के समान सफेद तथा इन्दु (चन्द्रमा) के समान शीतल (शीतवीर्य) शालिचावलों के भात को तीतर, बटेर आदि जांगलदेशीय प्राणियों के मांसरस के साथ खाये।

पिबेद्रसं नातिघनं रसालां रागखाण्डवौ॥ ३०॥

पानकं पञ्चसारं वा नवमृद्भाजने स्थितम्। मोचचोचदलैर्युक्तं साम्लं मृन्मयशुक्तिभिः॥ ३१॥

पाटलावासितं चाम्भः सकर्पूरं सुशीतलम्।

पेय-विधान—अधिक गाढ़े मांसरस का सेवन न करे। रसाला, राग (रायता), खाण्डव (खट्टे, मधुर, नमकीन रसों के घोल) का पान करे। पञ्चसार का सेवन करे, जो नये मिट्टी के पात्र में बनाया गया हो; इस पात्र की सोंधी गन्ध भी उसमें आ जाती है, उसे शीतल करने के लिए कुछ देर केले अथवा

महुए के पत्तों से ढककर रखे हुए पन्ना या शर्बत को पीयें, जिसमें कुछ खटाई भी मिलायी गयी हो। इसे पीने के लिए मिट्टी का पुरवा या कुल्हड़ या कसोरा होना चाहिए। पीने से पहले इसे पाढ़ल के फूलों तथा कपूर से सुगन्धित कर लेना चाहिए॥ ३०-३१॥

वक्तव्य—इस प्रकरण में आये हुए भक्ष्य, भोज्य, पेय आदि पदार्थों का निर्माण-प्रकार भावप्रकाश के कृतान्नवर्ग में या पूर्ववर्ती संहिताग्रन्थों में देख लेना चाहिए।

पञ्चसार—इसका उल्लेख अ.हृ.चि. २।१३ में इस प्रकार दिया है—मधु, खजूर, मुनक्का, फालसा, मिश्री तथा जल—इन पाँचों को मिलाकर बनाये गये मन्थ का दूसरा नाम 'पञ्चसार' है।

शशाङ्ककिरणान् भक्ष्यान् रजन्यां भक्षयन् पिबेत्॥ ३२॥
ससितं माहिषं क्षीरं चन्द्रनक्षत्रशीतलम्।

रात्रि में दुग्धपान-विधि—शशांककिरण नामक भोजनों का सेवन करते हुए चन्द्रमा तथा तारों द्वारा शीतल किया गया और मिश्री मिले हुए भैंस के दूध को पीये॥ ३२॥

वक्तव्य—शशांककिरण नामक भोजन का परिचय—'तालीसचूर्णबटकाः सकर्पूरसितोपलाः। शशाङ्ककिरणाख्याश्च भक्ष्या रुचिकराः परम्' (अ.हृ.चि. ५।४९)।

अभ्रङ्कषमहाशालतालरुद्धोष्णरश्मिषु ॥ ३३॥
वनेषु माधवीश्लिष्टद्राक्षास्तबकशालिषु।

मध्याह्नचर्या—दोपहर के समय धूप में पीड़ित मानव आकाश को छूने वाले अर्थात् बहुत ऊँचे बड़े-बडे शाल, ताल, तमाल वृक्षों से जहाँ सूर्य की किरणें छिप गयी हों तथा माधवीलताओं से परिवेष्टित, अंगूरों के गुच्छों से युक्त उपवनों में शयन या आराम करें॥ ३३॥

वक्तव्य—यद्यपि इसी प्रकरण के ३६वें पद्य में 'स्वप्यात्' क्रिया का समावेश है, जिसका अध्याहार यहाँ भी कर लिया गया है।

सुगन्धिहिमपानीयसिच्यमानपटालिके ॥ ३४॥
कायमाने चिते चूतप्रवालफललुम्बिभिः।

शयन-विधान—सुगन्धित एवं शीतल जल से बार-बार सींचे गये पटालिकाओं (परदों) वाले आमों के कोमल पत्तों एवं फलों की बन्दनवारों से सुसज्जित, कायमान (जो ऊँचाई तथा चौड़ाई में निवास करने के इच्छुक नर-नारी के शरीर के नापवाले घर में तथा उसमें बिछे हुए विस्तर) में सोयें॥ ३४॥

वक्तव्य—'कायमाने' शब्द की यहाँ जो उपयोगिता है और जो उसका शाब्दिक अर्थ है, वह हमने ऊपर लिखा है। देखें—वी.एस. आप्टे कोश। श्री अरुणदत्त ने 'कायमाने' शब्द का 'वेण्वादिनिष्पादिते गृहविशेषे' यह जो अर्थ किया है, इस अर्थ को अभिव्यक्त करने की इसमें कितनी शक्ति है, इस पर विचार करना होगा। गर्मियों में बाँस के सहारे सरपत, घास-फूँस के घर बनाये जाते हैं, पर उन्हें 'कायमान' संज्ञा कब किसने दी, यह विचारणीय है।

कदलीदलकह्लारमृणालकमलोत्पलैः ॥ ३५॥
कोमलैः कल्पिते तल्पे हसत्कुसुमपल्लवे। मध्यन्दिनेऽर्कतापार्तः स्वप्याद्धारागृहेऽथवा॥ ३६॥
पुस्तस्त्रीस्तनहस्तास्यप्रवृत्तोशीरवारिणि ।

शयन-विधान—केले के पत्तों, सुगन्धित कह्लारों (कमलभेदों), मृणालों (कमलकन्द = बिसों), कमलों, नीलकमलों से निर्मित तथा खिले हुए फूलों एवं मुलायम पत्तों से युक्त कोमल शयन = शय्या पर दोपहर की गर्मी से पीड़ित पुरुष सोए (यही चर्या स्त्रियों के लिए भी है) अथवा धारागृह के समीप शयन

करे। जिस घर में शिल्पियों द्वारा स्त्री की आकृति की पुतलियाँ बनायी हों, उसके स्तनों, हाथों तथा मुख पर रखे गये खस से सुगन्धित जल बह रहा हो, तो ऐसे स्थान पर शयन करे॥ ३५-३६॥

वक्तव्य—श्रीमानों के घरों की साज-सज्जा में 'पुरुष-स्त्री' के जैसे अनेक प्रकार के चित्र किंवा मूर्तियाँ उनके शो़भागृह में अथवा उद्यानों में देखी जाती हैं। यह भी विहार का एक प्राचीन प्रकार रहा है। फूलों तथा किसलयों की शय्या रचाने का प्रकार भी प्राचीन ही है।

निशाकरकराकीर्णे सौधपृष्ठे निशासु च॥ ३७॥

आसना—

रात्रिचर्या—रात के समय चूना पुते हुए महल (सौंध) की छत पर, जहाँ चन्द्रमा की चाँदनी छिटकी हो, वहाँ बैठना या लेटना चाहिए॥ ३७॥

—स्वस्थचित्तस्य चन्दनार्द्रस्य मालिनः। निवृत्तकामतन्त्रस्य सुसूक्ष्मतनुवाससः॥ ३८॥
जलार्द्रास्तालवृन्तानि विस्तृताः पद्मिनीपुटाः। उत्क्षेपाश्च मृदूत्क्षेपा जलवर्षिहिमानिलाः॥
कर्पूरमल्लिकामाला हाराः सहरिचन्दनाः। मनोहरकलालापाः शिशवः सारिकाः शुकाः॥
मृणालवलयाः कान्ताः प्रोत्फुल्लकमलोज्ज्वलाः। जङ्गमा इव पद्मिन्यो हरन्ति दयिताः क्लमम्॥

मनोहर वातावरण—इन दिनों चित्त को स्वस्थ बनाये रखें, चन्दन के लेप से शरीर को गीला करें, फूलों एवं रत्नों की माला को धारण करें, स्त्री-सहवास न करें, पतले एवं हलके वस्त्रों को धारण करें। पानी में भिगोये हुए ताड़ के पंखों की हवा का सेवन करें या कमल के पत्तों की हवा का सेवन करें या मोरपंखों की हवा ले, जो धीरे-धीरे हिलाये जा रहे हों; इन सभी प्रकार के पंखों से शीतल जल की बूँदें गिर रही हों तथा शीतल हवा आ रही हो, कपूर के घोल से सुवासित स्फटिक की मालाओं को धारण करें; इसी को मल्लिकामाला कहा गया है। हरिचन्दन से सुवासित मोतियों की मालाएँ धारण करें। चारों ओर तुतली वाणी बोलने वाले शिशु (बालक-बालिकाएँ) खेल रहे हों, सुग्गे (तोते तथा मैनाएँ कलरव कर रही हों, कमलनाल के कंकण धारण की हुई तथा खिले हुए कमलों के समान उज्ज्वल मुखों वाली चलती-फिरती हुई कमलिनियों के सदृश नारियाँ ग्रीष्मकालजनित सुस्ती को दूर कर देती हैं॥ ३८-४१॥

वक्तव्य—सम्पूर्ण ग्रीष्म ऋतु के वर्णन का सारांश यह है कि इन दिनों सभी प्रकार के आहार-विहार शीतल, सुगन्धित एवं मनोहर होने चाहिए। कालिदास ने इन दिनों को 'परिणामरमणीया दिवसाः' कहा है अर्थात् सायंकाल का समय ही इन दिनों सुहावना लगता है। इस वर्णन को देखकर यह विश्वास होता है कि हमारे पूर्वज बहुत ही सम्पन्न एवं रसिक थे, अन्यथा इस प्रकार चित्रण करना और ऐसे साधन जुटा पाना वाणी से भी अगम ही होते हैं।

आदानग्लानवपुषामग्निः सन्नोऽपि सीदति। वर्षासु दोषैर्दुष्यन्ति तेऽम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बरे॥ ४२॥
सतुषारेण मरुता सहसा शीतलेन च। भूबाष्पेणाम्लपाकेन मलिनेन च वारिणा॥ ४३॥
वह्निनैव च मन्देन, तेष्वित्यन्योऽन्यदूषिषु। भजेत्साधारणं सर्वमूष्मणस्तेजनं च यत्॥ ४४॥

वर्षाऋतुचर्या—आदानकाल (शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म) के प्रभाव से दुर्बल शरीर वाले प्राणियों की पहले से ही मन्द हुई अग्नि (जठराग्नि) इस (प्रावृट् एवं वर्षा) ऋतु में वात आदि दोषों से और भी अधिक मन्द पड़ जाती है, क्योंकि उक्त वे दोष जल के भार से लटकते हुए बादलों द्वारा आकाश में छाये रहने पर तुषार युक्त अतएव शीतल वायु के स्पर्श से, पृथिवी में से निकलने वाली भाप के प्रभाव से, आहार के अम्लविपाक वाले होने से, इस काल में होने वाले मैले जल के प्रयोग से तथा जठराग्नि के मन्द पड़ जाने से (वे दोष) कुपित होकर आपस में एक-दूसरे को दूषित करने लगते हैं। ऐसी स्थिति हो जाने पर साधारण आहार-विहार, जो वात आदि दोषों का शमन करने वाला हो, साथ ही जठराग्निवर्धक हो, उसका सेवन करे॥ ४२-४४॥

आस्थापनं शुद्धतनुर्जीर्णं धान्यं रसान् कृतान्। जाङ्गलं पिशितं यूषान् मध्वरिष्टं चिरन्तनम्॥
मस्तु सौवर्चलाढ्यं वा पञ्चकोलावचूर्णितम्। दिव्यं कौपं शृतं चाम्भो भोजनं त्वतिदुर्दिने॥ ४६॥
व्यक्ताम्ललवणस्नेहं संशुष्कं क्षौद्रवल्लघु।

शरीर-शुद्धि—इस ऋतु के आरम्भ में वमन-विरेचन क्रियाओं द्वारा शरीरगत संचित दोषों का शोधन करके आस्थापन (निरूहण) बस्ति का सेवन करे। **साधारण आहार**—पहले खाये हुए भोजन के भलीभाँति पच जाने पर आगे निम्नोक्त पदार्थों का इन दिनों सेवन करें—पुराने जौ एवं गेहूँ आदि सुपच पदार्थों को खायें, अच्छी प्रकार पकाये गये तथा छौंके हुए मांसरस, हरिण आदि जांगलदेशीय प्राणियों का मांस, मूँग आदि दालों का जूस, पुराना मधु, पुराने आसव, अरिष्ट, मस्तु, सौवर्चल (कालानमक) युक्त अथवा पञ्चकोल (पिप्पली, पीपलामूल, चव्य, चीता, नागरमोथा) के चूर्ण को मिलाकर उक्त मांसों, मांसरसों, जूसों तथा आसवों का सेवन करें।

जल—इन दिनों वर्षा का स्वच्छ जल (जो आकाश से बरसते समय स्वच्छ पात्र में संग्रह किया हो), कुआँ का जल अथवा पकाकर शीतल किये हुए जल का सेवन करें।

दुर्दिन में—जिस दिन आकाश में अत्यन्त बादल छायें हों, उस दिन पर्याप्त मात्रा में खट्टे रस वाले पदार्थों, नमकीन पदार्थों तथा स्निग्ध पदार्थों के साथ सूखा चबैना का सेवन करे। ये पदार्थ लघु होते हैं, अतः शीघ्र पच जाते हैं॥ ४५-४६॥

अपादचारी सुरभिः सततं धूपिताम्बरः॥ ४७॥
हर्म्यपृष्ठे वसेद्बाष्पशीतशीकरवर्जिते।

सेवनीय विहार—इन दिनों नंगे पैरों से गीली भूमि में तथा कीचड़ में नहीं चलना चाहिए। इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग करता रहे, वस्त्रों में अगुरु आदि की धूप देता रहे। छत के ऊपर चारों ओर से खुले कमरे में निवास करे, जहाँ पृथिवी से निकलने वाली भाप न हो, सर्दी न हो तथा वर्षा की बौछारें न पहुँचती हों॥ ४७॥

वक्तव्य—'हर्म्यपृष्ठे'—हर्म्य का अर्थ है राजाओं या श्रीमानों अथवा धनिकों का निवासगृह, उसका 'पृष्ठ' अर्थात् ऊपरी भाग, जिसे संस्कृत में 'अट्ट' एवं हिन्दी में 'अट्टालिका' कहते हैं। यह 'अट्ट' या 'अट्टालिका' हवादार कमरा होता है। श्रीवाग्भट ने इसी को 'हर्म्यपृष्ठे' स्वीकारा है।

नदीजलोदमन्थाहःस्वप्नायासातपांस्त्यजेत् ॥ ४८॥

त्याज्य विहार—इन दिनों नदी या नद के जलों तथा पतला मठा या छाँछ को न पीयें। सत्तू का सेवन न करें, दिन में न सोयें, अधिक परिश्रम न करें और धूप (घाम) का सेवन न करें॥ ४८॥

वक्तव्य—वर्षा ऋतु में नदीजल का सामान्य रूप से निषेध किया गया है। इसकी विशेष जानकारी के लिए आप प्राचीन संहिताओं एवं परवर्ती निघण्टु-ग्रन्थों का अवलोकन कीजिये। भावप्रकाश-निघण्टु वारिवर्ग ३२-३६ के अनन्तर भावमिश्र ने उसी प्रकरण में वृद्धसुश्रुत के वचनों को उद्धृत किया है उन्हें भी देखें—६५-६७। 'वर्षानादेयमुदकानाम्' (च.सू. २५।३९)।

'अनूपोऽहितदेशानाम्' (च.सू. २५।४०)—चरक ने अहितकर देशों में अनूप देश की गणना की है। ध्यान रहे, वर्षा ऋतु में जाङ्गल देश तथा साधारण देश भी अनूपदेश का रूप धारण कर लेते हैं, अतः इन दिनों अत्यन्त सावधानी से रहकर अपने स्वास्थ्य को सुरक्षित रखें। पहले तो कभी भी नंगे पैरों नहीं चलना चाहिए, फिर इन दिनों तो जूता पहनकर चले या सवारी से भ्रमण करें, अन्यथा 'अलस' नामक पादरोग हो सकता है। देखें—सु.नि. १३।३२।

वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः। तप्तानां सञ्चितं वृष्टौ पित्तं शरदि कुप्यति॥ ४९॥
तज्जयाय घृतं तिक्तं विरेको रक्तमोक्षणम्।

शरद्-ऋतुचर्या—वर्षा ऋतु में पानी से भीगे हुए अतएव शीततायुक्त प्राणियों के शरीरों में पित्त का संचय क्रमशः होता रहता है। उसके बाद शरद् ऋतु के आ जाने पर एकाएक सूर्य की तेज किरणों द्वारा तपे हुए प्राणियों के शरीरों में वर्षाकाल में संचित हुआ पित्त इस समय कुपित हो जाता है। उस पर विजय पाने के लिए अर्थात् वह किसी प्रकार के पित्तजनित विकारों को पैदा न कर दें, इसके लिए तिक्तघृत का सेवन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण कराना चाहिए॥ ४९॥

वक्तव्य—अ.हृ.चि. १९ में वर्णित तिक्तघृत अथवा महातिक्तघृत का सेवन करायें। चिकित्सक की अनुमति से विरेचन तथा रक्तमोक्षण भी करायें।

तिक्तं स्वादु कषायं च क्षुधितोऽन्नं भजेल्लघु॥५०॥
शालिमुद्गसिताधात्रीपटोलमधुजाङ्गलम् ।

आहार-विधि—तिक्त, मधुर तथा कसैले रस-प्रधान पदार्थों को आहारकाल में भूख लगने पर थोड़ी मात्रा में खायें। शालि के चावल, मूँग, मिश्री या खाँड़, आँवला, परवल, मधु तथा जांगल प्राणियों के मांस या मांसरस का सेवन करें॥ ५०॥

तप्तं तप्तांशुकिरणैः शीतं शीतांशुरश्मिभिः॥५१॥
समन्तादप्यहोरात्रमगस्त्योदयनिर्विषम्। शुचि हंसोदकं नाम निर्मलं मलजिज्जलम्॥५२॥
नाभिष्यन्दि न वा रूक्षं पानादिष्वमृतोपमम्।

हंसोदकसेवन-निर्देश—दिन में स्वाभाविक रूप से सूर्य की किरणों से तपा हुआ और रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से शीतल अर्थात् सूर्य एवं चन्द्र की किरणों से सुसेवित तथा अगस्त्य तारा के उदय हो जाने से निर्विष (दोषरहित) अतएव पवित्र, निर्मल एवं दोषनाशक जल को 'हंसोदक' कहते हैं। यह जल अभिष्यन्दकारक नहीं होता और न रूक्ष ही होता है। यह अमृत के समान गुणों वाला जल पीने योग्य होता है॥ ५१-५२॥

वक्तव्य—'वर्षासु चीयते पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति'। 'हंसोदक' को ही भावमिश्र ने 'अंशूदक' कहा है। इसका वर्णन भा.प्र.वारिवर्ग ६२-६३ में देखें।

चन्दनोशीरकर्पूरमुक्तास्रग्वसनोज्ज्वलः ॥५३॥
सौधेषु सौधधवलां चन्द्रिकां रजनीमुखे।

विहार-विधि—रजनीमुख (रात्रि होने के बाद एक-दो घण्टा तक आरम्भ) में चन्दन, खस तथा कपूर का लेप लगाकर (इन द्रव्यों का अलग-अलग या एक साथ भी लेप बनाया जा सकता है), मोतियों की माला धारण कर, साफ-सुथरे वस्त्र पहन कर, चूना से पुते हुए भवन की ऊपरी छत पर बैठकर चूना के सदृश उज्ज्वल चाँदनी का सेवन करें॥ ५३॥

वक्तव्य—सायंकाल छत में बैठकर चाँदनी का सेवन करें। यह लाभ पूर्णिमा के आस-पास की कुछ ही रात्रियों में मिल सकता है, शेष दिनों सायंकालीन हवा का सेवन करें। 'रजनीमुखे' शब्द का तात्पर्य है कि रात होते ही एक-दो घण्टा तक छत पर बैठने का सुख लिया जा सकता है, उसके बाद ओस गिरने लगती है। यह हानिकारक होती है, इसका सेवन न करें।

तुषारक्षारसौहित्यदधितैलवसातपान् ॥५४॥
तीक्ष्णमद्यदिवास्वप्नपुरोवातान् परित्यजेत्।

अपथ्य-निषेध—इस ऋतु में निम्नलिखित दस वस्तुओं का सेवन न करें, ये अपथ्य होते हैं—१. ओस, २. क्षार पदार्थ, ३. भरपेट भोजन करना, ४. दही, ५. तेल, ६. वसा (प्राणिज स्नेह के द्वारा पकाये गये पदार्थ), ७. तेजधूप (घाम), ८. तीक्ष्ण मद्य, ९. दिन में सोना तथा १०. पूरब की ओर से बहने वाली वायु॥ ५४॥

शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीन् वसन्तेऽन्त्यान् रसान्भजेत्॥५५॥
स्वादुं निदाघे, शरदि स्वादुतिक्तकषायकान्। शरद्वसन्तयो रूक्षं शीतं घर्मघनान्तयोः॥५६॥
अन्नपानं समासेन विपरीतमतोऽन्यदा।

संक्षिप्त ऋतुचर्या—विस्तार से कही गई ऋतुचर्या का अब यहाँ संक्षेप से वर्णन किया जा रहा है। शीतकाल (हेमन्त तथा शिशिर ऋतु) में और वर्षा ऋतु में आरम्भ के तीन (मधुर, अम्ल, लवण) रसों का सेवन करे। वसन्त ऋतु में अन्तिम तीन (तिक्त, कटु, कषाय) रसों का सेवन करें। ग्रीष्म ऋतु में विशेष करके मधुररस का सेवन करे। शरद् ऋतु में मधुर, तिक्त, कषाय रसों का सेवन करें। शरद् तथा वसन्त ऋतुओं में रूक्ष अन्न (आहार) तथा पेय लें। ग्रीष्म एवं घनान्त (शरद्) ऋतुओं में शीतगुण-प्रधान अन्न-पान का सेवन करें और हेमन्त, शिशिर, वर्षा ऋतुओं में उक्त (रूक्ष, शीत) के विपरीत स्निग्ध एवं उष्ण अन्नपान का सेवन करना चाहिए॥५५-५६॥

वक्तव्य—श्री अरुणदत्त अपनी व्याख्या में 'अन्यदा' का अर्थ 'हेमन्तशिशिरवसन्तवर्षाख्ये काले' करते हैं, श्रीहेमाद्रि यहाँ मौन है। अन्य टीकाकार 'अन्यदा' शब्द से हेमन्त, शिशिर एवं वर्षा ऋतुओं का ग्रहण करते हैं। ध्यान दें—वर्षाकाल में जब वर्षा होती है तो मौसम उतनी देर या उतने दिनों तक शीतल हो जाता है, तब शीतकाल के समान इसके विपरीत जब वर्षा न हो और गर्मी पड़ रही हो तब ग्रीष्म या शरद् ऋतु के समान अन्नों (आहारों) तथा रसों का सेवन करना चाहिए।

ज्योतिष सम्मत ऋतुक्रम

क्रम.	राशि	मास	ऋतु
१.	मीन, मेष	चैत्र, वैशाख	वसन्त
२.	वृष, मिथुन	ज्येष्ठ, आषाढ़	ग्रीष्म
३.	कर्क, सिंह	श्रावण, भाद्रपद	वर्षा
४.	कन्या, तुला	आश्विन, कार्तिक	शरत्
५.	वृश्चिक, धनु	मार्गशीर्ष, पौष	हेमन्त
६.	मकर, कुम्भ	माघ, फाल्गुन	शिशिर

संशोधनोपयोगी ऋतुक्रम

क्रम.	राशि	मास	ऋतु
१.	मेष, वृष	वैशाख, ज्येष्ठ	ग्रीष्म
२.	मिथुन, कर्क	आषाढ़, श्रावण	प्रावृट्
३.	सिंह, कन्या	भाद्रपद, आश्विन	वर्षा
४.	तुला, वृश्चिक	कार्तिक, मार्गशीर्ष	शरत्
५.	धनु, मकर	पौष, माघ	हेमन्त
६.	कुम्भ, मीन	फाल्गुन, चैत्र	वसन्त

वातादि दोषों कीं चय-प्रकोप-प्रशम तालिका

दोष	वात	पित्त	कफ
संचय	ग्रीष्म ऋतु मेष, वृष वैशाख, ज्येष्ठ मध्याह्नकाल	वर्षा ऋतु सिंह, कन्या भाद्रपद, आश्विन दिन का चौथा पहर	हेमन्त ऋतु धनु, मकर पौष, माघ उषःकाल
प्रकोप	प्रावृट् ऋतु मिथुन, कर्क आषाढ़, श्रावण अपराह्नकाल	शरद् ऋतु तुला, वृश्चिक कार्तिक, मार्गशीर्ष अर्धरात्रिकाल	वसन्त ऋतु कुम्भ, मीन फाल्गुन, चैत्र पूर्वाह्नकाल
प्रशम	शरद् ऋतु तुला, वृश्चिक कार्तिक, मार्गशीर्ष अर्धरात्रिकाल	वसन्त ऋतु कुम्भ, मीन फाल्गुन, चैत्र पूर्वाह्नकाल	प्रावृट् ऋतु मिथुन, कर्क आषाढ़, श्रावण अपराह्नकाल

नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ ॥ ५७ ॥

रससेवन-निर्देश—सभी ऋतुओं में प्रतिदिन सभी (छहों) रसों का सेवन करना चाहिए तथा जिस-जिस ऋतु में जिन-जिन रसों के सेवन का विशेष निर्देश दिया गया है, उस-उस ऋतु में उस-उस रस का अधिक सेवन करना चाहिए ॥ ५७ ॥

वक्तव्य—ऊपर जो वाग्भट ने 'नित्यं सर्वरसाभ्यासः' कहा है, इसका समर्थन महर्षि चरक इस प्रकार कर रहे हैं—'सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्' तथा 'एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्'। (च.सू. २५।४०) अर्थात् मधुर आदि छहों रसों का प्रतिदिन सेवन करने से देह तथा इन्द्रियों का बल बढ़ता है, इसके विपरीत आचरण करने से बलहानि होती है। आज की भाषा में ये सभी रस विटामिनों से भरपूर हैं और इनसे शरीर के उन आवश्यक तत्त्वों की पूर्ति होती है, जिनकी प्रतिदिन शरीर को आवश्यकता पड़ती रहती है।

ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः। तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात्॥
असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात्।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने ऋतुचर्या नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ऋतुसन्धि में कर्तव्य—दो ऋतु के जोड़ को ऋतुसन्धि कहते हैं। प्रथम ऋतु का अन्तिम सप्ताह और आने वाली ऋतु का प्रथम सप्ताह अर्थात् यह पन्द्रह दिन का समय ऋतुसन्धि है। इसमें क्रमशः पहले ऋतु की चर्या को छोड़ते हुए अगले ऋतु की चर्या का अभ्यास करना प्रारम्भ कर देना चाहिए। यदि आप पहली ऋतुचर्या को सहसा छोडकर दूसरी ऋतुचर्या को सहसा प्रारम्भ कर देंगे तो इस व्यतिक्रम से असात्म्यजनित रोग हो सकते हैं ॥ ५८ ॥

वक्तव्य—शारीरिक सन्धियों की भाँति ऋतुसन्धियों का भी ध्यान रखना पड़ता है। महाकवि भारवि ने भी कहा है—'सहसा विदधीत न क्रियाम्' (किरात) आप नियमानुसार दो महीनों से जिस ऋतु के अनुसार जिन खान-पानों का सेवन करते आ रहे हैं, यदि एकाएक उसे छोड़कर आप दूसरे खान-पानों का सेवन कर देंगे तो वे खान-पान आपको सात्म्य (अनुकूल) नहीं होंगे। अतः प्रथम ऋतु के अन्तिम सप्ताह में पहले क्रम को छोड़ता हुआ आने वाली ऋतु के प्रथम सप्ताह तक अगली खान-पानविधि को व्यवस्थित कर लेना चाहिए। इसी प्रकार वस्त्रों के परिवर्तन पर भी ऋतुसन्धियों में ध्यान दें।

सात्म्य—'उपशय' अथवा 'सात्म्य' ये परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं। जो आहार-विहार, वेश-भूषा, देश जिस पुरुष को अनुकूल हो, वह उसके लिए सात्म्य कहा जाता है। महर्षि चरक ने सात्म्य का परिचय इस प्रकार दिया है—'सात्म्यं नाम''''सात्म्यम्'। (च.वि. १।२०) अर्थात् सात्म्य वह है जो अपने सर्वथा अनुकूल हो, इसी को 'उपशय' कहते हैं। वह प्रवर, अवर, मध्य भेद से तीन प्रकार का होता है। वह पुनः विधि-भेद से सात प्रकार का होता है। जैसे—मधुर आदि रसों के भेद से छः प्रकार का और सभी रसों के योग से एक प्रकार का। इनमें सब रसों का सेवन 'प्रवरसात्म्य' है। केवल किसी एक रस का सेवन 'अवरसात्म्य' है। प्रवर तथा अवर के बीच वाले रस को 'मध्यसात्म्य' कहते हैं। इन अवर तथा मध्य सात्म्य को छोड़कर क्रमशः प्रवरसात्म्य का सेवन करे।

अन्यत्र चरक ने 'सात्म्य' की परिभाषा इस प्रकार दी है—'सात्म्यं नाम''''भवन्ति'। (च.वि. ८।११८) अर्थात् 'सात्म्य' वह तत्त्व है जिसका लगातार सेवन करने से लाभ प्राप्त होता है। उसमें जो घी, दूध, तैल, मांस तथा मांसरस का सेवन करते हैं और सभी रसों के सेवन करने का जिन्हें अभ्यास है वे बलवान्, कष्टों को सहन करने की शक्ति वाले तथा दीर्घायु होते हैं और जो किसी एक रस का सेवन करते हैं, वे प्रायः थोड़े बलवाले, कष्टों को न सहने वाले, अल्पायु एवं निर्धन होते हैं। चरक ने एक 'ओकसात्म्य' की भी चर्चा की है। देखें—च.सू. ६।४५ में। यहाँ 'ओक' शब्द का अर्थ 'गंगाधर' के अनुसार औचित्य है, शेष इसका अर्थ 'घर रूपी शरीर' करते हैं।

ऊपर जो मास-ऋतु-अयन के रूप में कालविभाजन किया गया है, उस परिधि के अनुसार शीत, उष्ण तथा वर्षाकाल के स्वरूप में अन्तर आ सकता है। अतः चिकित्सा के क्षेत्र में यह अन्तर घातक हो सकता है। इसलिए जब शीत प्रारम्भ हो जाय तब हेमन्त-शिशिर की चर्या करनी चाहिए। इसी प्रकार गर्मी-बरसात के मौसमों के सम्बन्ध में भी समझें। जब सौरमास के अनुसार किसी ऋतु के लक्षण सम्पूर्ण रूप से परिलक्षित नहीं होते अथवा कम-ज्यादा दिखलाई दें, तो ये अशुभ लक्षण कहे जाते हैं। इससे जल, देश एवं काल में विकृति उत्पन्न हो जाती है; जिससे कोई-न-कोई रोग फैलने लगता है, जिसे सुश्रुत के शब्दों में **'मरक'** कहते हैं। देखें—सु.सू. ६।१७ तथा च.वि. ३।१-२३ तक में जनपदोद्ध्वंस का वर्णन।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में ऋतुचर्या नामक तीसरा अध्याय समाप्त॥ ३॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो रोगानुत्पादनीयाध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब यहाँ से रोगानुत्पादनीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। इस विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने इस प्रकार कहा था।

उपक्रम—जिस प्रकार का आचरण (आहार-विहार आदि) करने से रोगों की उत्पत्ति न हो अथवा जिस अध्याय में कहे जाने वाला विषय रोगों की उत्पत्ति को रोकने के लिए हितकारक हो, उसका नाम है—'रोगानुत्पादनीय' अध्याय। चरक में उक्त आशय से कहे गये अध्याय का नाम है—'नवेगान्धारणीय'। (च.सू. ७) इस विषय को श्रीवाग्भट ने इस प्रकार कहा है—'न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्नाजित्वा साध्यमामयम्'। (अ.हृ.सू. २।१९) अर्थात् मल-मूत्र आदि के वेग के उत्पन्न हो जाने पर दूसरा कोई कार्य न करे, सबसे पहले उस उत्पन्न वेग का परित्याग करे आदि। सुश्रुत ने अपानवायु, मल-मूत्र, जृम्भा, अश्रु, छींक, उद्गार (डकार), वमन, इन्द्रिय (शुक्र) के तथा भूख, प्यास, श्वास एवं निद्रा के वेगों को रोकने से उदावर्त (गैस्ट्रिक/Gastric) रोग हो जाता है, ऐसा कहा है। देखें—सु.उ. ५५।४-५।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. ७; च.वि. २६; सु.उ. ५५ तथा अ.सं.सू. ५ में देखें।

वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम्। निद्राकासश्रमश्वासजृम्भाश्रुच्छर्दिरेतसाम्॥ १॥

वेगों को न रोकने का निर्देश—अपानवायु, मल-मूत्र, छींक, प्यास, भूख, निद्रा, कास, श्रमजनित श्वास, जृम्भा (जँभाई), आँसू, छर्दि (वमन) तथा शुक्र के वेगों को नहीं रोकना चाहिए॥ १॥

वक्तव्य—इसी विषय को सुश्रुत ने भी उत्तरतन्त्र ५५।४-५ में कहा है। वास्तव में तेजी से जिसका प्रवाह हो उसे वेग कहते हैं। जैसे नदी के वेग को रोकने पर पानी उछल कर ऊपर की ओर को जाने लगता है, ठीक उसी प्रकार इन वेगों की भी स्थिति होती है; फलतः **'उदावर्त'** रोग की उत्पत्ति हो जाती है। उदावर्त का अर्थ होता है—उलटा घुमाव। जो वेग जिधर से निकलना चाहता है अथवा जो वेग जिस मार्ग से निकलता है, उधर रुकावट कर देने से वह उसके विपरीत किसी अन्य मार्ग से निकल जाता ही है। यदि किसी कारण नहीं निकल सका तो उससे अनेक प्रकार की हानियाँ हो सकती हैं, अतएव कहा गया है—**'वेगान् न धारयेत्'**।

अधोवातस्य रोधेन गुल्मोदावर्तरुक्क्लमाः। वातमूत्रशकृत्सङ्गदृष्ट्यग्निवधहृद्गदाः॥ २॥

अपानवायु के रोकने से हानि—इसके वेग को रोकने से गुल्म, उदावर्त, उदरशूल तथा क्लम (सुस्ती)—ये रोग हो सकते हैं। अपानवायु, मूत्र तथा पुरीष की प्रवृत्ति में रुकावट आ सकती है। नेत्ररोग, अग्निवध (मन्दाग्नि) एवं हृद्रोग (हृदय का जकड़ जाना) हो सकता है॥ २॥

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में उक्त श्लोक के बाद एक पद्य और इस प्रकार का देखा जाता है—'स्नेहस्वेदविधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च। पानानि बस्तयश्चैव शस्तं वातानुलोमनम्'॥ अर्थ स्पष्ट है। यही चिकित्सा-विषय अगले पद्यों में भी प्राप्त है। अतएव ऐसा लगता है कि निर्णयसागरीय इस प्रति में उक्त श्लोक को स्थान नहीं दिया होगा। आगे देखें इसी प्रकरण के श्लोक ६-७।

शकृतः पिण्डिकोद्वेष्टप्रतिश्यायशिरोरुजः। ऊर्ध्ववायुः परीकर्तो हृदयस्योपरोधनम्॥ ३॥
मुखेन विट्प्रवृत्तिश्च पूर्वोक्ताश्चामयाः स्मृताः।

मलवेगरोधज रोग—पुरीष के वेग को रोकने से पिण्डलियों में ऐंठन, प्रतिश्याय, सिर में पीड़ा का होना, उद्गार (डकारों का आना), परिकर्तिका (गुदबलियों में कैंची से काटने की-सी पीड़ा), हृदय की गति में रुकावट का आना तथा मुख से मल का निकलना आदि लक्षण होते हैं और ऊपर श्लोक दो में कहे गये रोग भी हो जाते हैं॥ ३॥

अङ्गभङ्गाश्मरीबस्तिमेढ्रवङ्क्षणवेदनाः ॥४॥
मूत्रस्य रोधात्पूर्वे च प्रायो रोगाः—

मूत्रवेगरोधज रोग—मूत्र के वेग को रोकने से अंग-अंग में टूटने की-सी पीड़ा, अश्मरी (पथरी) रोग का होना, मूत्राशय में, मूत्रमार्ग में, वंक्षणों (कूल्हों) में, मूत्रवह स्रोतस् में, गवीनियों एवं वृक्कों (गुर्दों) में पीड़ा का होना तथा अपानवायु एवं पुरीष के वेग को रोकने से पैदा होने वाले रोगों की भी उत्पत्ति हो सकती है॥ ४॥

—तदौषधम्। वर्त्यभ्यङ्गावगाहाश्च स्वेदनं बस्तिकर्म च॥ ५॥

उक्त रोगों की चिकित्सा—पुरीष के वेग को रोकने के कारण पैदा हुए रोगों में उनकी चिकित्सा का निर्देश किया जा रहा है—गुदमार्ग में मलप्रवर्तिनी वर्ति का प्रयोग करें, ऊदर के ऊपर अभ्यंग (उबटन) करायें, द्रोणी अवगाहन करें या करायें और स्वेदन तथा बस्तिकर्म करायें॥ ५॥

अन्नपानं च विड्भेदि विड्रोधोत्थेषु यक्ष्मसु।

चिकित्सा-भेद—मल के वेग को रोकने से उत्पन्न रोगों में जिनसे मल स्वयं निकले, ऐसे भक्ष्य तथा पेय पदार्थ दें।

मूत्रजेषु तु पाने च प्राग्भक्तं शस्यते घृतम्॥ ६॥
जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजनाद्वयम्। अवपीडकमेतच्च संज्ञितं—

मूत्रवेगरोधज रोग-चिकित्सा—मूत्र के वेग को रोकने से उत्पन्न रोगों मे 'अवपीडक घृत' का सेवन करे अर्थात् भोजन करने के पहले और भोजन के पच जाने पर उत्तम मात्रा में घृतपान करे। इस प्रकार दो बार सेवन किये गये घृतपान को 'अवपीडक' कहते हैं॥ ६॥

—धारणात्पुनः॥ ७॥
उद्गारस्यारुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः। आध्मानकासहिध्माश्च हिध्मावत्तत्र भेषजम्॥ ८॥

उद्गारवेगरोधज रोग-चिकित्सा—उद्गार (डकार) के वेग को रोकने के कारण अरुचि (भोजन के प्रति इच्छा का न होना), शरीर में कँपकपी का होना, हृदय एवं फुफ्फुस की गति में रुकावट, अफरा, कास तथा हिक्का (हिचकी) की उत्पत्ति हो सकती है। इस स्थिति में हिक्कारोग के समान इनकी चिकित्सा करनी चाहिए॥ ७-८॥

वक्तव्य—पाठक ध्यान दें, इस अध्याय के प्रथम श्लोक में 'किन-किन वेगों को नहीं रोकना चाहिए' का जो निर्देश किया है, उसमें 'उद्गार वेग' की चर्चा नहीं की गयी है, किन्तु चिकित्सा में उसका उल्लेख किया है। इसके विपरीत महर्षि पुनर्वसु ने अपनी संहिता में उद्गार के वेग को न रोकने की भी चर्चा की है और आगे चलकर चिकित्सा-निर्देश भी किया है। देखें—च.सू. ७।४ और च.सू. ७।१८। महर्षि वाग्भट ने चिकित्सासूत्र की तो प्रायः भाषा भी वैसी ही प्रयुक्त की है। उपर्युक्त अन्य रोगों की जो चिकित्सा ऊपर कही गयी है, उसके अतिरिक्त भी शास्त्रोक्त तथा समयोचित चिकित्सा पर भी चिकित्सक को ध्यान देना चाहिए।

शिरोऽर्तीन्द्रियदौर्बल्यमन्यास्तम्भार्दितं क्षुतेः।

छींक के वेग को रोकने से हानि—छींक के वेग को रोकने के कारण सिर में पीड़ा, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों में दुर्बलता, मन्यास्तम्भ, अर्दित (मुखप्रदेश का लकवा)—ये विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

तीक्ष्णधूमाञ्जनाघ्राणनावनार्कविलोकनैः ॥ ९ ॥
प्रवर्तयेत्क्षुतिं सक्तां स्नेहस्वेदौ च शीलयेत्।

छिक्कावेगनिरोधज रोग-चिकित्सा—छींक के वेग को रोकने से उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा तीक्ष्ण द्रव्यों के धूमपान से, तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा बनाये गये अंजन से, तीक्ष्ण द्रव्यों की नस्य से, सूर्य की ओर देखने से पुनः छींक के आ जाने से, स्नेहन तथा स्वेदन से करें॥ ९॥

शोषाङ्गसादबाधिर्यसम्मोहभ्रमहृद्गदाः ॥ १० ॥
तृष्णाया निग्रहात्तत्र शीतः सर्वो विधिर्हितः।

तृषावेगनिरोधज रोग-चिकित्सा—तृष्णा (प्यास) के वेग को रोकने से अर्थात् जब प्यास लगे उस समय पानी न पीने से या पानी न मिल पाने से, मुखशोष (मुख का सूखना), शरीर में शिथिलता, बधिरता, मोह (बेहोशी), भ्रम (चक्करों का आना) तथा हृदयरोग की उत्पत्ति हो सकती है।

चिकित्सा—इस स्थिति में सभी प्रकार के आहार-विहार तथा औषध में शीतचिकित्सा करनी चाहिए॥ १०॥

वक्तव्य—'शीतः सर्वो विधिः हितः'—यहाँ यह चिकित्सासूत्र हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट कर रहा है—'स्वयोनिवर्धन' (सु.सू. १५।२९-३०) अर्थात् तृष्णानिरोध से जलधातु की शरीर में कमी हुई और शीतल उपचार करने से उसकी पूर्ति होगी। अतः शीतल जल की कमी से होने वाले रोगों की चिकित्सा 'स्वयोनिवर्धन' ही होगी।

अङ्गभङ्गारुचिग्लानिकार्श्यशूलभ्रमाः क्षुधः ॥ ११ ॥
तत्र योज्यं लघु स्निग्धमुष्णमल्पं च भोजनम्।

क्षुधावेगनिरोधज रोग-चिकित्सा—भूख के वेग को रोकने अर्थात् भूख लगने पर भोजन करने अथवा न मिल पाने से शरीर में टूटने की-सी पीड़ा, अरुचि (फिर खाने की इच्छा का न होना अथवा स्वाद न लगना), ग्लानि (हर्षक्षय), कृशता का अनुभव होना, शूल तथा चक्कर-सा आना—ये लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—इस स्थिति में हलका स्निग्ध (घृतयुक्त या छौंका हुआ आदि), गरम थोड़ा रुचिकर भोजन देना चाहिए॥ ११॥

निद्राया मोहमूर्धाक्षिगौरवालस्यजृम्भिकाः ॥ १२ ॥
अङ्गमर्दश्च, तत्रेष्टः स्वप्नः संवाहनानि च।

निद्रावेगनिरोधज रोग—निद्रा के वेग को रोकने के कारण मोह (बेहोशी), सिर तथा आँखों में भारीपन, आलस्य, जृम्भा (जँभाई) तथा अंगों में मसल देने की-सी पीड़ा होती है।

चिकित्सा—इस प्रकार के रोगी को भरपूर सोने दे और नींद आने के पहले तक उसके हाथ-पैर तथा सिर को दबाना चाहिए, जिसे 'चम्पी' कहते हैं॥ १२॥

वक्तव्य—नींद के वेग को रोकना या भरपूर निद्रा में किसी को जगाना—दोनों ही कार्य अनुचित हैं। इसके पूर्वपक्ष को आयुर्वेदीय दृष्टि से कह दिया है, अब उत्तरपक्ष के बारे में नीतिज्ञ चाणक्य का दृष्टिकोण प्रस्तुत है। यह भी स्वस्थ रहने की दृष्टि से अनुकरणीय है। ये सात यदि सोये भी हों तो इन्हें समय पर अवश्य जगा देना चाहिए—

'विद्यार्थी सेवकः पान्थः क्षुधार्तो भयकातरः।
भाण्डारी प्रतिहारी च सप्त सुप्तान् प्रबोधयेत्'॥ (चा.नीति. ९।६)

इन सातों को सोये में कभी नहीं जगाना चाहिए—

'अहिं नृपञ्च शार्दूलं किटिञ्च बालकं तथा।
परश्वानञ्च मूर्खञ्च सप्त सुप्तान् न बोधयेत्'॥ (चा.नीति. ९।७)

कासस्य रोधात्तद्वृद्धिः श्वासारुचिहृदामयाः॥ १३॥
शोषो हिध्मा च, कार्योऽत्र कासहा सुतरां विधिः।

कासवेगनिरोधज रोग-चिकित्सा—कास के वेग को रोकने से कासरोग की वृद्धि, श्वासरोग, अरुचि, हृद्रोग, शोष (राजयक्ष्मा), हिध्मा (हिक्का) आदि रोगों की उत्पत्ति हो सकती है।

चिकित्सा—इसमें कासरोगनाशक चिकित्सा-विधि का प्रयोग करना चाहिए॥ १३॥

गुल्महृद्रोगसम्मोहाः श्रमश्वासाद्विधारितात्॥ १४॥
हितं विश्रमणं तत्र वातघ्नश्च क्रियाक्रमः।

श्रमश्वासवेगनिरोधज रोग-चिकित्सा—श्रम के कारण उत्पन्न बढ़ी हुई श्वास की गति के वेग को रोकने से गुल्मरोग, हृदय सम्बन्धी रोग तथा मूर्च्छारोग हो जाते हैं।

चिकित्सा—इस कारण से उत्पन्न उक्त रोगों में विश्राम करना चाहिए तथा वातनाशक अभ्यंग आदि उपचार करने चाहिए॥ १४॥

वक्तव्य—श्वास शब्द का प्रयोग श्वास प्रश्वास नामक साधारण दैनिक क्रम वाले श्वासरोग में तथा श्रमज श्वास में प्रयुक्त होता है। श्रमजनित श्वास के वेग को रोकने का यहाँ निषेध किया है। योग के आठ अंगों में से एक 'प्राणायाम' है। इस विधि द्वारा श्वास-प्रश्वास की गति का नियमन करना तो उत्तम कार्य है।

जृम्भायाः क्षववद्रोगाः, सर्वश्चानिलजिद्विधिः॥ १५॥

जृम्भा वेगनिरोधज रोग-चिकित्सा—जँभाई के वेग को रोकने के कारण वे सब रोग हो सकते हैं, जिनका वर्णन इसी अध्याय के नौवें श्लोक के पूर्वार्द्ध में किया गया है। (यथा—सिर में पीड़ा, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों में कमजोरी, मन्यास्तम्भ, अर्दित रोग।)

चिकित्सा—इन सभी रोगों की वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए॥ १५॥

पीनसाक्षिशिरोहृद्रुङ्मन्यास्तम्भारुचिभ्रमाः। सगुल्मा बाष्पतस्तत्र स्वप्नो मद्यं प्रियाः कथाः॥

अश्रुवेगनिरोधज रोग-चिकित्सा—आँसुओं के वेग को रोकने के कारण पीनस (प्रतिश्याय), नेत्ररोग, शिरोरोग, हृदयरोग, मन्यास्तम्भ, अरुचि, चक्करों का आना तथा गुल्मरोग की उत्पत्ति हो जाती है।

चिकित्सा—उक्त रोग या रोगों के हो जाने पर शयन करना, मद्य (आसव, अरिष्ट, सीधु या ब्राण्डी) आदि का सेवन, मनोहर कथाएँ सुनाना तथा समझाने-बुझाने वाली बातें हितकर होती हैं॥ १६॥

वक्तव्य—आँसुओं का वेग मित्र से मिलन या बिछोह के समय अथवा पति-पत्नी, पुत्र आदि की मृत्यु हो जाने पर होता है। ऐसे अवसरों पर अश्रुप्रवाह हो जाना अच्छा होता है, इससे अश्रुनिरोधज रोग नहीं होते। ऐसी स्थिति में मित्रमण्डली के आश्वासनपूर्ण कथा-वार्ता तथा पौराणिक कथाएँ भी सान्त्वना देती हैं।

विसर्पकोठकुष्ठाक्षिकण्डूपाण्ड्वामयज्वराः। सकासश्वासहृल्लासव्यङ्गश्वयथवो वमेः॥ १७॥

छर्दिवेगनिरोधज रोग—छर्दि के वेग को रोकने के कारण विसर्परोग, कोठ (चकत्ते पड़ जाना), कुष्ठरोग, नेत्ररोग, कण्डू (खुजली), पाण्डुरोग, ज्वर, कास, श्वास, जी मिचलाना, व्यंग तथा शोथरोग हो जाते हैं॥ १७॥

गण्डूषधूमानाहारा रूक्षं भुक्त्वा तदुद्वमः। व्यायामः स्रुतिरस्रस्य शस्तं चात्र विरेचनम्॥ १८॥
सक्षारलवणं तैलमभ्यङ्गार्थं च शस्यते।

छर्दिवेगनिरोधज रोग-चिकित्सा—छर्दि के वेग को रोकने के कारण उत्पन्न रोगों की चिकित्सा—गण्डूषधारण, धूमपान, उपवास, रूक्ष अन्नों का सेवन, भोजन करके तत्काल वमन करा देना, व्यायाम करना, विसर्प आदि में रक्तस्रावण करायें, विरेचन करायें तथा क्षार एवं नमक युक्त तेल की मालिश करायें॥ १८॥

शुक्रात्तत्स्रवणं गुह्यवेदनाश्वयथुज्वराः॥ १९॥
हृद्व्यथामूत्रसङ्गाङ्गभङ्गवृद्ध्यश्मषण्ढताः ।

शुक्र के वेग को रोकने के कारण उत्पन्न रोग—मूत्र के साथ शुक्र का निकलना, गुह्य अंग (लिंग, भग आदि) में पीड़ा, शोथ (सूजन हो जाना), ज्वर, हृदय में पीड़ा, मूत्र की प्रवृत्ति में रुकावट, अंगों में टूटने की-सी पीड़ा का होना अथवा अँगड़ाइयों का आना, अण्डवृद्धि, अश्मरी तथा नपुंसकता—ये रोग हो जाते हैं॥ १९॥

वक्तव्य—शुक्रनिरोधज रोगों में 'ज्वर' का भी उल्लेख किया है। आप ध्यान दें—कामज्वर के लक्षणों पर और इस बात को भी न भूलें कि शुक्र नर-नारी दोनों में होता है। देखें—'यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन। मुञ्चतः शुक्रमन्योऽन्यमनस्थिस्तत्र जायते'॥ (सु.शा. २।४७) अतः शुक्रनिरोधज रोग नर-नारी दोनों में होते हैं।

ताम्रचूडसुराशालिबस्त्यभ्यङ्गावगाहनम् ॥ २०॥
बस्तिशुद्धिकरैः सिद्धं भजेत्क्षीरं प्रियाः स्त्रियः।

शुक्र के वेग को रोकने के कारण उत्पन्न रोगों की चिकित्सा—मुर्गा का मांस, सुरा (उत्तम कोटि का मद्य), शालिधान्य, उत्तरबस्ति, अभ्यंग (मालिश), अवगाहन (द्रोणीअवगाहन), बस्तिशोधक अर्थात् मूत्रप्रवर्तक गोखरू आदि से पकाये गये दूध का तथा प्रिय स्त्रियों का सेवन करें॥ २०॥

वक्तव्य—'प्रियाः स्त्रियः' शब्द के प्रयोग से ऐसा लगता है कि शुक्र धातु केवल पुरुषों में होता है, स्त्रियों में नहीं। यदि ऐसा स्वीकार कर लेंगे तो ऊपर के वक्तव्य में कहा गया सुश्रुत का वाक्य अमान्य हो जायेगा। अतः वाग्भट के वाक्य को समर्थन देते हुए कहा जा रहा है—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'। इस दृष्टि से पुरुष को स्त्री की और स्त्री को पुरुष की आवश्यकता होती ही है। क्योंकि 'कामकौतुक' युगल (मिथुन) का धर्म है। अथवा कहिए—मिथुन (जोड़े) का धर्म ही मैथुन है। अतएव महर्षि चरक ने 'प्रियाः स्त्रियः' वाक्य का प्रयोग न करके कहा है—'शस्तं मैथुनमेव च'। (च.सू. ७।११०)

तृट्शूलार्तं त्यजेत् क्षीणं विड्वमं वेगरोधिनम्॥ २१॥

वेगरोधी के असाध्य लक्षण—जो वेगों को रोकने से रोगी हो गया हो, यदि वह प्यास एवं शूल से पीड़ित हो, क्षीण (कृश) हो गया हो तथा पुरीष का वमन कर रहा हो तो उसकी चिकित्सा न करे, वह असाध्य होता है॥ २१॥

रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः।

वायु (अपानवायु), मल-मूत्र आदि के उत्पन्न न हुए वेगों को प्रयत्नपूर्वक उभाड़ देने से और स्वभावतः उत्पन्न इनके वेगों के धारण करने (रोक देने) से (इनसे सम्बन्धित रोग जो इस प्रकरण में श्रीवाग्भट ने कहे हैं तथा इससे पहले के तन्त्रकारों ने कहे हैं) वे सभी रोग हो जाते हैं।

निर्दिष्टं साधनं तत्र भूयिष्ठं ये तु तान् प्रति॥ २२॥

ततश्चानेकधा प्रायः पवनो यत्प्रकुप्यति। अन्नपानौषधं तस्य युञ्जीतातोऽनुलोमनम्॥ २३॥

सामान्य चिकित्सा—वेगों को रोकने के कारण जो रोग होते हैं, उनकी चिकित्सा का वर्णन इसी प्रकरण में ऊपर कर दिया गया है। ऊपर कहे गये कारणों से जो वातदोष का अनेक प्रकार से प्रकोप हो जाता है, उसकी शान्ति के लिए सामान्य रूप से उन-उन वेगों के जो अनुलोमक अन्न (आहार), पान (पेयपदार्थ) तथा औषध हैं, उन-उन का प्रयोग करना चाहिए॥ २२-२३॥

वक्तव्य—इस प्रकरण में वेगों को रोकने के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों की चिकित्सा ही प्रधान रूप से कही गयी है, किन्तु २२वें श्लोक के पूर्वार्ध में 'वेगोदीरण' शब्द का भी प्रयोग हुआ है, जो वेगधारण से भिन्न क्रिया है। इस उदीरण क्रिया में वायु की प्रधानता रहती है, अतः इसमें वायु का अनुलोमन करना ही प्रधान चिकित्सा है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

धारयेत्तु सदा वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च। लोभेर्ष्याद्वेषमात्सर्यरागादीनां जितेन्द्रियः॥ २४॥

धारणीय वेग—इस लोक में तथा परलोक में अपना भला चाहने वाला पुरुष (नर-नारी) लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, मत्सरता तथा राग-द्वेष आदि के वेगों को रोकने का सदा प्रयत्न करता रहे और सदा अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता रहे॥ २४॥

वक्तव्य—**'लोभ'**—इसका मिथ्यायोग हानिकारक होता है, क्योंकि 'लाभात् लोभः प्रवर्तते' अर्थात् जब लाभ होने लगता है तो लोभ की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। **ईर्ष्या**—डाह, जलन, दूसरे की सफलता को देखकर होने वाली एक मनःप्रवृत्ति, इसीलिए कहा गया है—'हेतौ ईर्षुः फले अनीर्षुः'। **'मत्सरता**—दूसरों को दुःखी देखकर प्रसन्न होना। **राग**—विषयों में मन की आसक्ति। **द्वेष**—दूसरों को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करना।

भगवान् पुनर्वसु ने चरक-सूत्रस्थान ७।२६ से ३० तक कुछ धारणीय वेगों की परम उपयोगी चर्चा की है, इस प्रसंग में उनका भी अवलोकन अपेक्षित है। चरकोक्त कतिपय धारणीय वेग—**मन के वेग**—लोभ, शोक, भय, क्रोध, अभिमान, निर्लज्जता, ईर्ष्या, राग, अभिध्या (मन से दूसरे के साथ द्रोह करने की इच्छा करना)। **वाणी के वेग**—कठोर वचन, आवश्यकता से अधिक बोलना, चुगलखोरी करना, झूठ बोलना, असामयिक बातें कहना। **शरीर के वेग**—दूसरों को मारना-पीटना, लूटना, किसी प्रकार का बलात्कार करना, चोरी करना, डाका डालना, लाठी-सोटा चलाना तथा लड़ाई करना। मनुष्य यदि विवेक-बुद्धि से काम ले तो इन कुकर्मों से वह बच सकता है, फलतः समाज में आदर पा सकता है। यही लक्ष्य है धारणीय वेगों को रोकने का। ऐसा करने से मनुष्य धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग का संचय और भोग भी कर सकता है।

यतेत च यथाकालं मलानां शोधनं प्रति। अत्यर्थसञ्चितास्ते हि क्रुद्धाः स्युर्जीवितच्छिदः॥ २५॥

शोधन की आवश्यकता—वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषों तथा पुरीष आदि शारीरिक मलों का उचित समय पर संशोधन करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि जब दोष अत्यधिक संचित हो जाते हैं तो वे कुपित होकर जीवन का विनाश कर सकते हैं॥ २५॥

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः। ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः॥ २६॥

संशोधन-कर्म की प्रशंसा—लंघन एवं पाचन क्रियाओं (उपचारों) से शान्त किये गये दोष समय पाकर कभी पुनः कुपित हो सकते हैं, किन्तु जो वमन, विरेचन आदि संशोधन-प्रकारों से शुद्ध कर दिये जाते हैं, उनका पुनः प्रकोप नहीं होता॥ २६॥

वक्तव्य—वाग्भट का यह उपर्युक्त छब्बीसवाँ पद्य अविकल च.सू. १६।२० से लिया गया है। सचमुच यह पद्य सिद्धान्तों की दृष्टि से छोड़ने योग्य है भी नहीं। आयुर्वेदशास्त्र में शमन तथा संशोधन चिकित्सा की दो विधियाँ हैं। उनमें समय पर किया गया संशोधन-उपचार अधिक उपादेय होता है। अतः संचयकाल

में ही बढ़े हुए दोषों का अपहरण कर देने से पुनः जब उस दोष के प्रकोप का निश्चित समय होता है, उस समय प्रकोप नहीं हो पायेगा। यदि आप उन दोषों का शमन, लंघन, पाचन आदि उपायों से किये रहेंगे तो वे दोष अपने समय पर प्रकुपित हो जायेंगे, यही निष्कर्ष उक्त श्लोक का है।

यथाक्रमं यथायोगमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत्। रसायनानि सिद्धानि वृष्ययोगांश्च कालवित्॥ २७॥

रसायन, वाजीकरण योगों का प्रयोग—कालवित् (ऋतु सम्बन्धी ज्ञान को रखने वाला) चिकित्सक संशोधन कराने के बाद विधिपूर्वक तथा क्रमशः सिद्ध (शास्त्रोक्त) रसायनों एवं वृष्य (वीर्यवर्धक) योगों का भी प्रयोग कराये॥ २७॥

वक्तव्य—रसायन एवं वाजीकरण सम्बन्धी सिद्ध प्रयोगों का सेवन शरीर का संशोधन कराने के बाद ही करें। क्योंकि स्वच्छ एवं साफ वस्त्र पर रंग का प्रभाव जितना अच्छा होता है, उतना मैले वस्त्र पर नहीं होता। अतएव रसायन एवं वृष्य योगों के प्रयोग करने से पहले संशोधन अवश्य करा लें। ऊपर 'कालवित्' चिकित्सक का विशेषण दिया गया है, इसके साथ त्रिविध देश, शारीरिक तथा मानसिक बल, प्रकृति, आहार एवं सात्म्य का भी ध्यान देना आवश्यक है।

रसायन—चरक-चिकित्सास्थान अध्याय १ के प्रथम चार पादों में विविध प्रकार के रसायनों का उल्लेख हुआ है, प्रयोग कराने के पूर्व उन्हें देखें। रसायन-परिभाषा—जिसके विधिवत् सेवन करने से उत्तम रस-रक्त आदि धातुओं की प्राप्ति हो, उस विधि का नाम 'रसायन' है। ये बहुमूल्य होते हैं, इनका सेवन सर्वसाधारण पुरुष नहीं कर सकता। हमारे महर्षि अत्यन्त दयालु थे, अतः उन्होंने सर्वसाधारण के लिए 'आचाररसायन' का उपदेश किया है। देखें—च.चि. १।४।३०-३४। इसका प्रयोग कोई भी मनस्वी पुरुष कर सकता है। यह व्ययसाध्य नहीं है, इसका प्रयोग शिवसंकल्प के साथ ही करना चाहिए।

वृष्य या वाजीकरण—इसका भी वर्णन चरक-चिकित्सास्थान अध्याय २ के चार पादों में किया गया है। इसका प्रयोग वीर्य को बढ़ाकर उसे सुपुष्ट करने के लिए तथा रतिशक्ति को बढ़ाने के लिए किया जाता है। इसका फल है—उत्तम किंवा सर्वगुणसम्पन्न सन्तान की प्राप्ति। इसका सेवन दुराचार में प्रवृत्त होने की इच्छा से कभी न करें। रसायन तथा वाजीकरण की विशेष जानकारी के लिए आप क्रमशः अ.हृ.उ.अ. ३९ तथा ४० का अवलोकन करें।

भेषजक्षपिते पथ्यमाहारैर्बृहणं क्रमात्। शालिषष्टिकगोधूममुद्गमांसघृतादिभिः॥ २८॥
हृद्यदीपनभैषज्यसंयोगाद्रुचिपक्तिदैः। साभ्यङ्गोद्वर्तनस्नाननिरूहस्नेहबस्तिभिः॥ २९॥

शोधनोत्तर चिकित्सा—शोधनकारक चिकित्सा (वमन-विरेचन आदि) से शरीर के कृश तथा दुर्बल हो जाने पर निम्नलिखित आहारों द्वारा क्रमशः उसके शरीर को पुष्ट करने का प्रयत्न करे—शालिधान्यों, साठीधान्यों, गेहूँ, मूँग, मांस, घी आदि द्वारा निर्मित विविध प्रकार के आहार उसे सेवन करने के लिए दें। वे हृदय को प्रिय लगने वाले अर्थात् रुचिकर हों, अग्निवर्धक हों, औषधद्रव्यों (धनियाँ, जीरा आदि) के कारण रुचिकर तथा पाचनशक्ति को बढ़ाने वाले हों। इस प्रकार की आहारविधि के साथ-ही-साथ अभ्यंग (तिल की खली की या तेल की मालिश), उद्वर्तन (विलेपन, घर्षण या मर्दन), स्नान, निरूहण तथा अनुवासन बस्तियों का प्रयोग करे॥ २८-२९॥

तथा स लभते शर्म सर्वपावकपाटवम्। धीवर्णेन्द्रियवैमल्यं वृषतां दैर्घ्यमायुषः॥ ३०॥

चिकित्सा का फल—इस प्रकार का आहार, अभ्यंग, उबटन आदि करने से उस मनुष्य को सुख मिलने लगता है, सर्वपावकपाटव (१. पाचक, २. भ्राजक, ३. रंजक, ४. आलोचक तथा ५. साधक इन सभी) में कुशलता आ जाती है। बुद्धि, वर्ण, इन्द्रियों की निर्मलता, वृषता (रतिशक्ति) तथा दीर्घ आयु की प्राप्ति हो जाती है॥ ३०॥

वक्तव्य—ऊपर के पद्य में 'सर्वपावक' शब्द का प्रयोग है, अतः सुश्रुत-सूत्रस्थान २१।९ में पित्त को ही अग्नि माना है। यथा 'आगमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति'। अर्थात् पित्त के अतिरिक्त शरीर में दूसरा पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसे अग्नि कहा जाय। यह पित्त कार्यभेद से पाँच प्रकार का होता है, अतएव इसके नामों की गणना ऊपर व्याख्या में कर दी है। इसके विशेष विवेचन को आप सु.सू. २१।१० में देख सकते हैं।

ये भूतविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादिसम्भवाः। रागद्वेषभयाद्याश्च ते स्युरागन्तवो गदाः॥ ३१॥

आगन्तुज रोग—भूतावेश, विष (स्थावर, जंगम, गर) प्रयोग, वायु (बाहरी अतिशीत अथवा अतिउष्ण) के स्पर्श, अग्नि द्वारा जलने, क्षत (घाव लगने), भंग (अभिघात, चोट), श्रम आदि कारणों से अथवा काम, क्रोध, भय, शोक आदि के कारण से जो रोग हो जाते हैं, उन्हें आगन्तुज रोग कहते हैं॥ ३१॥

वक्तव्य—यदि इन आगन्तुज कारणों से ज्वर आदि रोगों की भी उत्पत्ति होगी तो उस ज्वर को भी आगन्तुज ही कहा जायेगा। अन्यथा वात आदि दोषों से उत्पन्न ज्वर आदि रोग निज या शारीर कहे जाते हैं। इस पद्य को च.सू. ७।५१ में भी देख लें।

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः। देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्॥ ३२॥
अथर्वविहिता शान्तिः प्रतिकूलग्रहार्चनम्। भूताद्यस्पर्शनोपायो निर्दिष्टश्च पृथक् पृथक्॥ ३३॥
अनुत्पत्त्यै समासेन विधिरेषः प्रदर्शितः। निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नानां च शान्तये॥ ३४॥

निज, आगन्तुज रोगों का निरोध एवं शमन—ऊपर कहे गये निज तथा आगन्तुज रोग उत्पन्न ही न हों और यदि उत्पन्न (पैदा) हो गये हों तो उनकी शान्ति के लिए संक्षेप में ये चिकित्सा सम्बन्धी निर्देश दिये गये हैं—प्रज्ञापराधों के परित्याग, श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपने वश में रखना, मेरे रात-दिन कैसे बीत रहे हैं—इस बात का ध्यान रखना; देश, काल, शरीर एवं मन का ठीक-ठीक ज्ञान रखना तथा सदाचार के अनुसार व्यवहार करना। अथर्ववेद में जो शान्ति कही गयी है, उसका प्रयोग करें। वर्तमान में जो प्रतिकूल ग्रह हों, उनका जप, पूजा-पाठ, होम, बलिदान आदि करें या करायें तथा भूत आदि का स्पर्श न करने का प्रयत्न करें। ये उपाय अलग-अलग कह दिये गये हैं॥ ३२-३४॥

वक्तव्य—'त्यागः·····नुवर्तनम्'॥ (च.सू. ७।५३) अविकल संग्रहीत है। यहाँ 'स्मृतिः' की व्याख्या चक्रपाणि ने इस प्रकार की है—'पुत्रादीनां विनश्वरत्वस्वभावाद्यनुसारणम्'। इसका समर्थन आगे च.शा. १।१४७ में इस प्रकार दिया है—'स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते'। किन्तु इसके विपरीत श्रीहेमाद्रि ने 'नक्तंदिनानि मे यान्तीति'। 'उक्ता स्मृतिः' दोनों ही अर्थ प्रकरणोचित हैं। **प्रज्ञापराध**—इसकी विस्तृत चर्चा चरकोक्त निम्न स्थलों में देखें—च.सू. ७।५३-५४ तथा च.शा. १।१०२-१०९। **देशकालात्मविज्ञान**—त्रिविध देशों में यह कैसा देश है? त्रिविध या षड्विध कालों में से यह कौन-सा काल है? और **आत्मविज्ञान**—अपनी शारीरिक तथा मानसिक शक्ति कैसी है या किस परिस्थिति में हैं? इन सब विषयों का पूर्णरूप से ज्ञान करना चाहिए। इस विषय की अ.हृ.सू. के दूसरे अध्याय में विस्तार से चर्चा हो चुकी है। इस प्रकार जो मानव अपना जीवन-यापन करता है, उसे किसी प्रकार का रोग होता ही नहीं, यदि उत्पन्न हो भी जाय तो उक्त नियमों का पालन करने से वह रोग शान्त हो जाता है।

आचार्य हेमाद्रि अपनी व्याख्या में कहते हैं कि 'अथर्वविहिता शान्तिः' इत्यादि इस एक श्लोक को कुछ विद्वान् यहाँ पढ़ना स्वीकार नहीं करते, तथापि यहाँ दिया गया है। अतः हम यहाँ अथर्ववेद में कही गयी शान्तिविधि का संकेत कर रहे हैं, उसका आप प्रयोग करें। देखें—अथर्ववेद का० १९ प्र० ३५ अनु० २।९,१०,११।

शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु॥ ३५॥

शोधन-योग्य ऋतुएँ—शीत हेमन्त ऋतु में जिस (कफ) दोष का संचय होता है, उसका शोधन वसन्त ऋतु में करना चाहिए। ग्रीष्म में जिस (वात) दोष का संचय होता है, उसका शोधन प्रावृट् ऋतु में करना चाहिए और वर्षा ऋतु में जिस (पित्त) दोष का संचय होता है, उसका संशोधन शरद् ऋतु में करना चाहिए। ऐसा करता हुआ मानव (नर-नारी) कभी भी ऋतुओं के कुप्रभाव से होने वाले रोगों से रोगी नहीं हो पाता॥ ३५॥

वक्तव्य—महर्षि वाग्भट ने दोषप्रकोप तथा उसके संशोधन का जो निर्देश ऊपर दिया है, वह केवल स्वस्थ पुरुष के लिए है अस्वस्थ के लिए नहीं है। संशोधन-विधि का प्रयोग जब भी करना या कराना हो तो वह समशीतोष्ण काल में ही उचित है, उसमें भी चैत्र, श्रावण तथा कार्तिक मासों में अधिक समीचीन होता है। इन विषयों का विस्तृत वर्णन अ.हृ.सू.अ. १३ से २३ तक में किया गया है, जिनकी व्याख्या यथास्थान की जायेगी।

नित्यं हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥ ३६॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने रोगानुत्पादनीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

स्वस्थ रहने के उपाय—सदा हितकर आहार-विहार का सेवन करने वाला मानव (नर-नारी) किसी भी कार्य को भलीभाँति देखकर करने वाला, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों के विषयों में आसक्त न रहने वाला, सदा सत्पात्रों को दान देने वाला, सभी प्राणियों को अपने समान समझनेवाला, सत्यभाषणशील, क्षमा (सहन) करने वाला तथा आप्तजनों की सेवा करने वाला सदा नीरोग रहता है॥ ३६॥

वक्तव्य—उक्त ३५ तथा ३६ दोनों पद्य चरक से लिये गये हैं। देखें—च.शा. २।४५-४६। **'आप्तोपसेवी'**—ये आप्त क्यों कहे जाते हैं और इनकी सेवा करने से क्या लाभ होते हैं, इन विषयों को जानने के लिए आप प्रस्तुत सन्दर्भों को देखें—च.सू. ११।१८-१९ तथा च.वि. ४।४-१३ तक। इस प्रसंग में एक और पद्य संग्रहणीय, मननीय एवं पठनीय है। उसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—'मतिर्वचः कर्मसुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः। ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्तिं तं नानुतपन्ति रोगाः'॥ (च.शा. २।४७) अर्थात् जिसकी बुद्धि, वाणी तथा कर्म ऐसे हों जिनका फल (परिणाम) सुखद हो, जिसका मन अपने वश में हो, जिसके विचार स्वच्छ हों, जो ज्ञानी हो, तपस्वी हो और जिसकी तत्परता योग (कर्मकौशल) में हो उसे शारीरिक, मानसिक एवं आगन्तुज रोग कभी पीड़ित नहीं करते। ऐसा मानव सदा सुखी रहता है।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
'निर्मला' हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में
रोगानुत्पादनीय नामक चौथा अध्याय समाप्त॥ ४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो द्रवद्रव्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब हम इस अध्याय में द्रव (जलीय) द्रव्यों का व्याख्यान करेंगे। इस विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने इस प्रकार कहा था।

निरुक्ति—'द्रवः' शब्द की निष्पत्ति 'द्रु गतौ' भ्वादिगणीय धातु से 'ऋदोरप्' (अ० ३।३।५७) सूत्र से अप् प्रत्यय जोड़कर हुई है। 'द्रवणम्' शब्द की निष्पत्ति उक्त धातु से 'प्रेद्रुस्तुस्रुवः' सूत्र से 'घञ्' प्रत्यय जोड़कर हुई है। इसके प्रद्रवणम्, उद्रवणम्, संद्रवणम्, विद्रवणम् रूप उपसर्ग विशेष के कारण बनते हैं। 'द्रवः प्रदावनर्मणोः। विद्रवे रसगत्योश्च' इति हैमः। ये सभी प्रयोग प्रसंगोचित हैं। 'द्रव' शब्द अनेक अर्थों का वाचक है। जैसे—घोड़े की भाँति दौड़ना, चूना, रिसना, गीला, टपकना आदि।

आधुनिक दृष्टिकोण—आज के विज्ञानविद् जल को तत्त्व न मानकर उसे दो तत्त्वों का मिश्रण मानते हैं। जैसे—'ऑक्सीजन' नामक गैस जो एक निश्चित अनुपात में 'हाइड्रोजन' से मिलकर पानी बनाती है या पानी के रूप में परिणत हो जाती है। हिन्दी में 'ऑक्सीजन' को 'ओषजन' और 'हाइड्रोजन' को 'उदजन' कहते हैं।

इसके विपरीत प्राचीन भारतीय विद्वान् जलतत्त्व के समान सभी पदार्थों को पाञ्चभौतिक मानते हैं और उनका सिद्धान्त है कि अग्नितत्त्व से जलतत्त्व की उत्पत्ति हुई है। इतना ही नहीं, वे जल को 'आप्' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है—सर्वत्र व्याप्त। और भी देखें—भारतीय त्रिकालदर्शी विद्वान् समुद्र में वडवानल नामक अग्नि की सत्ता को स्वीकार करते हैं, जो अग्नि समुद्र को नियमित किये रहती है। देखें—'समुद्रे वाडवो ज्ञेयः'। उनकी उक्त कल्पनाएँ निराधार नहीं होती थीं। वे देखा करते थे कि जल तथा बर्फ से भी सदा भाप (वाष्प) निकलती रहती है, जो यह प्रमाणित करती है कि उस जल या बर्फ में अग्नि की सत्ता विद्यमान है। आज का वैज्ञानिक उसे 'ओषजन' तो कह लेता है, पर अग्नितत्त्व नहीं कहता; कहे भी कैसे, उसे भारतीयता से मानसिक द्वेष है।

एक और उदाहरण—आज का वैज्ञानिक अमीबा की खोज को अपनी सम्पत्ति समझता है, किन्तु यह सत्य नहीं है। इसके लिए आप वाजसनेयि माध्यन्दिनशुक्लयजुर्वेदसंहिता प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र को देखें—'इषे त्वोर्जे त्वा····पशून्पाहि'। इसमें उस जल की इच्छा की गयी है, जो 'अनमीबा' अर्थात् अमीबा नामक कीटाणु से रहित हो या कर दिया गया हो।

जल की अनिवार्यता—पीने योग्य जल प्राणिमात्र का प्राण है, अतएव जल का एक पर्याय 'जीवन' भी है। इस समस्त संसार को इसीलिए भगवान् ने जलमय बनाया है। जिस परिस्थिति में जल पीने का अत्यन्त निषेध भी किया गया हो वहाँ पूर्णरूप से जल रोका नहीं जाता। जल को न देने से अथवा इसका सेवन न करने से मुख सूखने लगता है, शरीर ढीला पड़ जाता है अथवा मृत्यु भी हो सकती है। अतएव स्वस्थ अथवा रोगी प्राणी का जीवन-निर्वाह जल के बिना नहीं हो सकता है। ये वृद्धवाग्भट के उद्गार हैं। देखें—अ.सं.सू. ६।३०-३१।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. २७।१९६-२१६; सु.सू. ४५।३-४६; अ.सं.सू. ६।३-५१ में देखें।

अथ तोयवर्गः

जीवनं तर्पणं हृद्यं ह्लादि बुद्धिप्रबोधनम्। तन्वव्यक्तरसं मृष्टं शीतं लघ्वमृतोपमम्॥ १॥
गङ्गाम्बु नभसो भ्रष्टं स्पृष्टं त्वर्केन्दुमारुतैः। हिताहितत्वे तद्भूयो देशकालावपेक्षते॥ २॥

गंगा का जल—आकाश से गिरा हुआ गंगा का जल जीवन (जीवित रखने वाला), तर्पण (तृप्तिकारक), हृदय के लिए हितकर, आनन्ददायक, बुद्धि को बढ़ाने वाला, तनु (पतला-गन्दगी रहित), अव्यक्त रस (मधुर आदि किसी रस-विशेष की जिसमें अभिव्यक्ति न हो), मृष्ट, शीतल, हलका और अमृत के समान हितकर होता है। यह जल आकाश से गिरने के बाद सूर्य, चन्द्र तथा वायु के स्पर्श से देश एवं काल के प्रभाव से हितकर भी हो सकता है और अहितकर भी हो सकता है। अर्थात् जैसे देश-काल का उसमें प्रभाव पड़ेगा तदनुरूप भला या बुरा हो जाता है॥ १-२॥

वक्तव्य—चरक में इसी के अनुरूप एक पद्य इस प्रकार है—'शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्। प्रकृत्या दिव्यमुदकम्'। (च.सू. २७।१९८) यहाँ 'मृष्टं' तथा 'विमलं' ये दो विशेषण समानार्थक आये थे, अतः 'मृष्टं' का अर्थ स्वादु किया गया था, किन्तु यहाँ ऐसी स्थिति नहीं है। 'मृष्ट' शब्द 'मृजू शुद्धौ' धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। अतः यहाँ इसका अर्थ 'शुद्ध' या 'स्वच्छ' होगा।

येनाभिवृष्टममलं शाल्यन्नं राजते स्थितम्। अक्लिन्नमविवर्णं च तत्पेयं गाङ्गम्—

गंगाजल का परिचय—जिस जल के बरसते समय घर के भीतर चाँदी के पात्र में परोसा हुआ शालिचावलों का भात निर्मल बना रहे, वह क्लेदयुक्त न हो अर्थात् पसीजने न लगे और उसका वर्ण विकारयुक्त न हो जाय, वह गंगा का जल होता है, इसे पीना चाहिए।

—अन्यथा॥ ३॥

सामुद्रं, तन्न पातव्यं मासादाश्वयुजाद्विना।

सामुद्र जल—उक्त गंगाजल के विपरीत जो जल होता है, उसे समुद्र का जल कहते हैं। वह पीने के योग्य नहीं होता है। यह जल आश्विन मास में पीने योग्य हो जाता है॥ ३॥

वक्तव्य—चरक के अनुसार आकाश से मेघ की सहायता से बरसने वाले सभी जल एक समान होते हैं। परन्तु जब वे गिरते हैं और गिरकर जिस प्रकार के देश में तथा जिस काल में गिरकर स्थित होते हैं, तदनुसार उन जलों के गुण हो जाते हैं। (च.सू. २७।१९६) **प्रधान जल**—जो जल इन्द्र (मेघ) द्वारा उत्पन्न हुआ आकाश से गिरता है और स्वच्छ पात्रों में संग्रह कर लिया जाता है, उसे ही विवेकशील विद्वान् 'ऐन्द्र' जल कहते हैं। वही जल राजाओं अथवा श्रीमानों के पीने योग्य होता है। यह जल प्रायः आश्विन मास में ग्रहण किया जाता है। (च.सू. २७।२०२)

धन्वन्तरि के अनुसार—जल दो प्रकार का होता है— १. गंगा का जल और २. समुद्र का जल। इनमें गंगा का जल प्रायः आश्विन मास में बरसता है। अतः उक्त दोनों प्रकार के जलों की परीक्षा करनी चाहिए। जिस समय पानी बरस रहा हो, उस समय पकाये हुए चावलों के न गले हुए अविवर्ण (जिसका स्वाभाविक वर्ण विकृत न हुआ हो) एक पिण्ड को चाँदी की थाली में रख दें। यदि ४-५ घण्टे में भी वह पिण्ड उसी प्रकार अविकृत रहता है, तो समझें इस समय गंगा का जल बरस रहा है। यदि उस भात के पिण्ड का रंग बदल जाय, उसमें कुछ सड़न के लक्षण दिखलायी दें, कुछ गदलापन दिखलायी दे तो समझना चाहिए कि इस समय सामुद्र जल बरस रहा है। सामुद्र जल को आश्विन मास में ग्रहण किया जा सकता है। देखें—सु.सू. ४५।७।

स्पष्टीकरण—समुद्री जल को ही **सामुद्र जल** कहते हैं। 'मानसून' द्वारा उठे हुए बादलों से जो जल बरसता है, उसे समुद्र का जल कहा जाता है। **गंगाजल**—जितनी भी तेज बहने वाली नदियाँ हैं, उन सबका नाम गंगा है। क्योंकि गंगा उसे कहते हैं जिसमें निरन्तर प्रवाह (बहाव) हो। देखें—'गच्छतीति

गङ्गा'। अतएव वेगवती नदियों का जल शुद्ध होता है। देखें—'नदी वेगेन शुध्यति'। (चा.नी. ६।३) अतः जल की परीक्षा करके उसका संग्रह तथा प्रयोग करें। कभी आश्विन में भी सामुद्र जल बरस सकता है। यद्यपि शरद् ऋतु का जल वर्षा ऋतु के जल से अवश्य स्वच्छ होता है, तथापि परीक्षा कर लेनी चाहिए।

निष्कर्ष—गंगा का जल पीने योग्य (हितकर) होता है और समुद्र का जल पीने योग्य नहीं होता, भले ही वह नमकीन न हो। अतः आश्विन मास से ज्येष्ठ मास तक जो वर्षा का जल होता है, वह पानीय (पीने योग्य) होता है, शेष महीनों में बरसने वाला जल सामान्यतः अपेय होता है।

ऐन्द्रमम्बु सुपात्रस्थमविपन्नं सदा पिबेत्॥४॥
तदभावे च भूमिष्ठमान्तरिक्षानुकारि यत्। शुचिपृथ्वसितश्वेते देशेऽर्कपवनाहतम्॥५॥

पानीय जल—ऐन्द्रम् अम्बु (बादलों से बरसा हुआ जल) जो साफ-सुथरे पात्र में रखा हो और जो किसी प्रकार से विकार युक्त न हुआ हो, उसे सदा पीना चाहिए। इसके अभाव में उस प्रकार के जल को पीना चाहिए, जो आकाश से बरसे हुए जल की भाँति स्वच्छ हो तथा पृथिवी के स्वच्छ, पवित्र तथा काले अथवा सफेद स्थान (पात्र) में रखा गया हो, जिसमें सूर्य की किरणों एवं शुद्ध हवा का स्पर्श होता हो; इस दृष्टि से तालाब तथा झील के जल पीने के योग्य होते हैं॥४-५॥

न पिबेत्पङ्कशैवालतृणपर्णाविलास्तृतम्। सूर्येन्दुपवनादृष्टमभिवृष्टं घनं गुरु॥६॥
फेनिलं जन्तुमत्तप्तं दन्तग्राह्यतिशैत्यतः। अनार्तवं च यद्दिव्यमार्तवं प्रथमं च यत्॥७॥
लूतादितन्तुविण्मूत्रविषसंश्लेषदूषितम् ।

न पीने योग्य जल—कीचड़, सिवार, तिनके तथा पत्तों के फैल जाने के कारण जो जल मलिन हो गया हो, उसे नहीं पीना चाहिए। जिस जल पर सूर्य-चन्द्रमा की किरणों का तथा शुद्ध वायु का स्पर्श न होता हो, जो अभी-अभी बरसा हो अर्थात् जो पहली वर्षा का जल हो, जो जल घन (गदला) होने के कारण गुरु (पचने में भारी) हो, जिसके ऊपर झाग उठी हो, जो क्रिमियुक्त हो, स्पर्श में उष्ण हो तथा जो अत्यन्त शीतल होने के कारण दाँतों में लगकर पीड़ा उत्पन्न करता हो, उस जल को नहीं पीना चाहिए।

वर्षाऋतु के जल को आर्तवजल कहते हैं। इस काल के अतिरिक्त जब भी तत्काल जल बरसे, उसे 'अनार्तव' जल कहते हैं और जो वर्षाकाल में भी आकाश से पहली बार बरसा हुआ जल है, उसे भी न पीयें। लूता आदि प्राणियों की जो लार से, मल-मूत्र तथा विष के सम्पर्क से दूषित जल हो, उसे भी नहीं पीना चाहिए॥६-७॥

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में सुश्रुत के विचार द्रष्टव्य हैं—**'तत्र····सर्वं चेति'**। (सु.सू. ४५।८) इसका आशय है—वर्षा ऋतु में आन्तरिक्ष (आकाश से प्राप्त), औद्भिद (स्रोत से निकलने वाले) जल को पीना चाहिए। भाद्रपद में जल को गरम करके ठण्डा कर लें, तब पीयें। क्योंकि ये दोनों प्रकार के जल महागुण वाले होते हैं। शरद् ऋतु में सभी प्रकार के जलों का सेवन किया जा सकता है, क्योंकि इन दिनों अगस्त्य का उदय हो जाता है। (ज्ञानमण्डल से प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी कोश' में लिखा है—अगस्त्योदय भाद्र-शुक्लपक्ष में होता है। इसे एक नक्षत्र कहते हैं, किन्तु इसकी गणना २७ नक्षत्रों में नहीं है। अगस्त्य नाम एक ऋषि का है, इन्होंने विन्ध्याचल को बढ़ने से रोक दिया था। इनका दूसरा नाम 'कुम्भज' है।) अतः इनके उदय हो जाने पर सभी प्रकार के जल स्वच्छ हो जाते हैं। हेमन्त ऋतु में सरोवर तथा तालाबों का जल पीने योग्य हो जाता है। वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में कुआँ तथा झरने का जल पीना चाहिए। प्रावृट् ऋतु में सरोवर, तालाब एवं कुआँ का जल नहीं पीना चाहिए। शेष जल पेय होते हैं, निषेध केवल 'अभिवृष्ट' जल का है। ऐसे जल में स्नान भी नहीं करना चाहिए।

महर्षि कश्यप ने कहा है—'बलाहकाद्याः समदाः कीटा लूताश्च खेचराः। तद्विषोत्सर्गसंसर्गादग्राह्यं तत् तदा जलम्'॥ अर्थात् अन्तरिक्ष में भ्रमण करने वाले अनेक प्रकार की लूताएँ तथा कीड़े आदि ऐसे होते

हैं, जो वर्षा के साथ भूमि पर गिरते हैं। यह सत्य है। आप देखें, बरसात के आरम्भ में वर्षा के जल से स्नान करने के कारण खुजली आदि चर्मरोग और उसे पीने से कास, प्रतिश्याय आदि रोग हो जाते हैं।

आठ प्रकार के जल— १. कौप (कुएँ का जल), २. सारस (सरोवर या झील का जल), ३. ताडाग (तालाब का जल), ४. चौण्ड्य (इसे चौञ्ज, चौण्ट्य तथा चौण्ड्य भी कहते हैं। इसके लक्षण इस प्रकार हैं—'शिलाकीर्णं स्वयं श्वभ्रं नीलाञ्जनसमोदकम्। लतावितानसम्पन्नं चौञ्जमित्यभिधीयते' ॥—भा.प्र.जलवर्ग), ५. प्रास्रवण (झरना का जल), ६. औद्भिद (चश्मा या स्रोत का जल), ७. वाप्य (बावड़ी का जल) तथा ८. नदी का जल। देखें—अ.सं.सू. ६।१२-१५।

पश्चिमोदधिगाः शीघ्रवहा याश्चामलोदकाः ॥ ८ ॥
पथ्याः समासात्ता नद्यो विपरीतास्त्वतोऽन्यथा।

(१) नदीजल का वर्णन—पश्चिमी समुद्र की ओर बहने वाली, वेग से बहने वाली तथा निर्मल जल वाली जो नदियाँ हैं, वे सभी संक्षेप से हितकारक जल वाली होती हैं। इन गुणों के विपरीत जो नदियाँ हैं, उनका जल अहितकारक होता है॥ ८॥

उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः ॥ ९ ॥
हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्यास्ता एव च स्थिराः। कृमिश्लीपदहृत्कण्ठशिरोरोगान् प्रकुर्वते ॥ १० ॥

(२) नदीजल का वर्णन—हिमालय तथा मलय पर्वत से निकल कर बहने वाली वे नदियाँ जिनका जल पत्थरों तथा चट्टानों से टकराकर गिरने से छिन्न-भिन्न होने के कारण खिन्न (दुःखी, आलोड़ित) हो जाता है, उनका जल पथ्य (हितकर) होता है। जब उक्त नदियों का जल जिस प्रदेश में आकर स्थिर हो जाता है अर्थात् वेग से बहता हुआ नहीं दिखलायी देता, उन-उन स्थानों में उन-उन नदियों का जल क्रिमिरोग, श्लीपद (फीलपाँव), हृदयरोग, कण्ठरोग (गलगण्ड) तथा शिरोरोग कारक हो जाता है॥ ९-१० ॥

प्राच्यावन्त्यपरान्तोत्था दुर्नामानि, महेन्द्रजाः। उदरश्लीपदातङ्कान्, सह्यविन्ध्योद्भवाः पुनः ॥
कुष्ठपाण्डुशिरोरोगान्, दोषघ्न्यः पारियात्रजाः। बलपौरुषकारिण्यः, सागराम्भस्त्रिदोषकृत् ॥

(३) नदीजल का वर्णन—प्राच्यदेश (आसाम तथा बंगाल) की, आवन्त्य देश (मालव) की तथा अपरान्त (सह्याद्रि का पश्चिमी प्रदेश—कोंकण) प्रदेश की नदियाँ अर्श (बवासीर), उदररोग तथा श्लीपद (फीलपाँव) रोगों को पैदा कर देती हैं। सह्याचल तथा विन्ध्याचल की नदियाँ कुष्ठरोग, पाण्डुरोग एवं शिरोरोगों को उत्पन्न कर देती हैं। पारियात्र (सात कुलपर्वतों में से एक) पर्वत से उत्पन्न नदियों का जल दोषनाशक होता है। इसका सेवन करने से बल एवं पौरुष (उत्साहशक्ति) की वृद्धि होती है तथा समुद्र का जल तीनों दोषों को उभाड़ने वाला होता है॥ ११-१२ ॥

वक्तव्य—ऊपर विभिन्न प्रकार की नदियों के जलों के गुण-धर्मों का विवेचन किया गया है, इसी विषय को संक्षेप में सुश्रुत ने इस प्रकार कहा है—'तत्र नद्यः पश्चिमाभिमुखाः पथ्याः लघूदकत्वात्; पूर्वाभिमुखास्तु न प्रशस्यन्ते, गुरूदकत्वात्; दक्षिणाभिमुखा नातिदोषलाः, साधारणत्वात्'। (सु.सू. ४५।२१) अर्थात् पश्चिम समुद्र की ओर बहने वाली नदियों का जल हितकर होता है, क्योंकि उनका जल हलका होता है। पूर्वी समुद्र की ओर बहने वाली नदियों का जल हितकर नहीं होता, क्योंकि इनका जल भारी होता है। दक्षिण समुद्र की ओर बहने वाली नदियों का जल अधिक दोषकारक नहीं होता, क्योंकि यह जल साधारण होता है। वास्तव में उक्त तीन प्रकार की नदियाँ क्रमशः जांगल प्रदेश, आनूप प्रदेश तथा साधारण देश से सम्बन्धित हैं, अतएव उनके गुण-धर्मों में इस प्रकार का अन्तर है।

स्पष्टीकरण— १. पश्चिमाभिमुखी नदियाँ—शतद्रु (सतलज) तथा विपाशा (व्यास) आदि। २. पूर्वाभिमुखी नदियाँ—गंगा (समतल भाग में बहने वाली), यमुना, सरयू आदि। ३. दक्षिणाभिमुखी

नदियाँ—नर्मदा, ताप्ती, पयोष्णी, गोदावरी, कावेरी आदि। जिन नदियों का जल उत्तम कहा गया है, उनकी उत्तमता का मापदण्ड है—उनकी प्रवाहशीलता; अन्यथा प्रवाह के शिथिल होने पर उत्तमता में भी शिथिलता आ जाती है, फलतः वे भी अपथ्यकारक हो जाती हैं।

विद्यात्कूपतडागादीन् जाङ्गलानूपशैलतः।

कूप आदि का जल—कुआँ, तालाब, झील आदि के जलों के गुण-दोष का निर्णय जांगल देश, अनूपदेश तथा पर्वतीय देश के अनुसार होता है।

वक्तव्य—जांगल देश के कुएँ, तालाब आदि का जल स्वास्थ्य-वृद्धि के लिए उत्तम होता है, अनूपदेश में स्थित इनका जल हानिकारक तथा पर्वतीय प्रदेश का जल ऊपरी भागों में हितकर एवं पर्वत के निचले भाग का जल प्रायः अहितकर होता है।

सुश्रुत के अनुसार अशुद्ध जल को शुद्ध करने की विधि—'तत्र····मणिश्चेति'। (सु.सू. ४५।१७) अर्थात् मलिन जल को शुद्ध करने वाले सात पदार्थ हैं—१. कतक (निर्मली), २. गोमेदक, ३. विसग्रन्थि (कमल की जड़), ४. शैवाल (काई) की जड़, ५. वस्त्र, ६. मोती, ७. मणि (फिटकिरी) आदि।

'पञ्च····चेति'। (सु.सू. ४५।१८) अर्थात् पाँच वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जिनके ऊपर पानी के पात्र को रख देने से भूमि का प्रभाव जल पर नहीं पड़ता—१. फलक (सेमल आदि लकड़ी का तख्ता), २. त्र्यष्टक (टिकटि या तिपायी), ३. मुञ्जवलय (मूँज आदि का बना गोल आकार का आसन), ४. उदकमञ्चिका (जिस पर जमीन से ऊँचे जलपात्र रखा जाय) तथा ५. शिक्य (छींका)।

'सप्त····चेति'। (सु.सू. ४५।१९) अर्थात् पानी को शीतल करने के सात उपाय हैं—१. हवा में (खुले स्थान में) पानी को रखना, २. पानी से भरे पात्र को बाहर से गीले वस्त्र से लपेट कर उसे तर रखना, ३. यन्त्र, लकड़ी आदि को घुमाते रहना, ४. पंखा चलाना, ५. वस्त्र द्वारा छानना, ६. पानी भरे पात्र को बालू के आसन पर रखना तथा ७. जलपात्र को छींके पर लटकाना।

नाम्बु पेयमशक्त्या वा स्वल्पमल्पाग्निगुल्मिभिः॥ १३॥
पाण्डूदरातिसारार्शोग्रहणीशोषशोथिभिः। ऋते शरन्निदाघाभ्यां पिबेत्स्वस्थोऽपि चाल्पशः॥

जलपान-विधि—शक्ति से अधिक जल किसी को नहीं पीना चाहिए। मन्दाग्नि, गुल्म, पाण्डुरोग, उदररोग, अतिसार, अर्शोरोग, ग्रहणीरोग, शोष (राजयक्ष्मा) तथा शोथरोग से युक्त पुरुषों को थोड़ा जल पीना चाहिए॥ १३-१४॥

समस्थूलकृशा भुक्तमध्यान्तप्रथमाम्बुपाः।

जलपान का प्रभाव—भोजन करते समय बीच-बीच में पानी पीने वालों का शरीर 'सम' रहता है, भोजन के अन्त में जल पीने वालों का शरीर स्थूल (मोटा) होता है और भोजन के आरम्भ में जल पीने वालों का शरीर कृश (दुर्बल) हो जाता है।

वक्तव्य—बेचारे वे जब पहले पानी से ही पेट भर लेंगे, तो भोजन कहाँ कर पायेंगे? वे कृश नहीं होंगे तो और क्या होंगे?

शीतं मदात्ययग्लानिमूर्च्छाच्छर्दिश्रमभ्रमान्॥ १५॥
तृष्णोष्णदाहपित्तास्रविषाण्यम्बु नियच्छति।

शीतल जलपान के लाभ—शीतल जल का सेवन करने से मदात्ययरोग, ग्लानि (हर्षक्षय), मूर्च्छा (बेहोशी), छर्दि (वमन), श्रम (थकावट), भ्रम, तृष्णा, उष्ण या ऊष्म (गर्मी या पसीने की अधिकता), दाह (जलन), पित्तविकार, रक्तविकार तथा विषविकार नष्ट हो जाते हैं॥ १५॥

दीपनं पाचनं कण्ठ्यं लघूष्णं बस्तिशोधनम्॥ १६॥

हिध्माध्मानानिलश्लेष्मसद्यःशुद्धिनवज्वरे। कासामपीनसश्वासपार्श्वरुक्षु च शस्यते॥ १७॥

उष्ण जलसेवन के लाभ—यह जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, आमरस को पचाता है, कण्ठ के लिए हितकर है, लघु (शीघ्र पचता) है, बस्ति का शोधक है; हिक्का, अफरा, वातविकार, कफविकार, तत्काल किये गये वमन, विरेचन, नवज्वर, कास, आमाजीर्ण, पीनस, श्वास तथा पार्श्वशूल रोगों में इसका प्रयोग प्रशंसित है॥ १६-१७॥

वक्तव्य—उष्ण जल के प्रयोग सम्बन्धी अनेक स्वरूप देखने को मिलते हैं। यथा— १. अष्टमांश शेष, २. चतुर्थांश शेष, ३. अर्धांश शेष तथा ४. उबाल कर रखा गया। ये जल उत्तरोत्तर सामान्य होते हैं। अष्टमांश शेष जल का प्रयोग प्रायः उच्च तापमान वाले ज्वर में गुनगुना करके दिया जाता है। यह स्वयं भी एक उत्तम औषध का काम करता है, व्यवहार करके देखें। जल को उबाल कर छान लें, उसे ठण्डा करने के लिए रख दें। यह निर्दोष जल सभी के पीने योग्य होता है। उष्णजल की उत्तमता १२ या २४ घण्टों तक ही रहती है, शेष आगे देखें।

अनभिष्यन्दि लघु च तोयं क्वथितशीतलम्। पित्तयुक्ते हितं दोषे, व्युषितं तत्त्रिदोषकृत्॥ १८॥

शृतशीत एवं बासी जल—उक्त विधियों से पकाकर शीतल किया हुआ जल अभिष्यन्दी नहीं होता अपितु वह लघु होता है। यह जल वातपित्त, कफपित्त तथा सन्निपात में भी यदि पित्त की अधिकता हो तो हितकर होता है और यही जल जब बासी हो जाता है, तो त्रिदोषकारक होता है॥ १८॥

वक्तव्य—इस विषय में सुश्रुत की स्पष्टोक्ति देखें—'यत् क्वाथ्यमानं निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं लघु। चतुर्भागावशेषस्तु तत्तोयं गुणवत् स्मृतम्' ॥ (सु.सू. ४५।४०) अर्थात् जो पानी पकाने पर वेगरहित, झागरहित तथा निर्मल हो जाय और चतुर्थांश शेष रह गया हो, वह लघु एवं गुणकारी होता है।

नारिकेलोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं लघु। तृष्णापित्तानिलहरं दीपनं बस्तिशोधनम्॥ १९॥

नारियल का जल—नारियल के कच्चे फल के भीतर दूध की आकृति का जो पानी होता है, वह स्निग्ध, स्वादु, वृष्य (वीर्यवर्धक), शीतल तथा लघु होता है। यह प्यास, पित्तविकार, वातविकार को नष्ट करता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है तथा बस्ति को शुद्ध करता है॥ १९॥

वक्तव्य—कवि कहता है कि ईश्वर की लीला विचित्र है। देखें उदाहरण—'समायाति यदा लक्ष्मीर्नारिकेलफलाम्बुवत्। विनिर्याति यदा लक्ष्मीर्गजभुक्तकपित्थवत्' ॥ अर्थात् जब लक्ष्मी आती है तो नारियल के फल के भीतर पानी की भाँति और जब वह जाने लगती है तो हाथी द्वारा खाये (निगले) गये कैथ के गूदा की भाँति। हाथी कैथ के फल को गूदा सहित निगल जाता है और जब उसके मल में वह कैथ का फल पाया जाता है तो बिना गूदा का। आश्चर्य है, बिना फल के फूटे वह गूदा कहाँ गया?

वर्षासु दिव्यनादेये परं तोये वरावरे।

इति तोयवर्गः।

उत्तम एवं अधम जल—वर्षा ऋतु में दिव्य (वर्षा का) जल उत्तम होता है और नदी का जल पीने योग्य नहीं होता है।

अथ क्षीरवर्गः

स्वादुपाकरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्धनम्॥ २०॥

वातपित्तहरं वृष्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम्। प्रायः पयः—

सामान्य दूध के गुण—प्रायः दूध रस एवं पाक में मधुर, स्निग्ध, ओजस् एवं रस आदि धातुओं को बढ़ाने वाला, वात-पित्तशामक, वीर्यवर्धक, कफकारक, गुरु तथा शीतल होता है॥ २०॥

—अत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्॥ २१॥

क्षतक्षीणहितं मेध्यं बल्यं स्तन्यकरं सरम्। श्रमभ्रममदालक्ष्मीश्वासकासातितृट्क्षुधः॥ २२॥
जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत्।

गाय के दूध के गुण—यह विशेष करके जीवनीय शक्ति को देने वाला तथा रसायन के गुण-धर्मों से युक्त होता है। उरःक्षत एवं क्षयरोगियों के लिए हितकर होता है। यह मेधा(धारणाशक्ति)दायक, बलकारक, दुग्धवर्धक तथा सर है। यह श्रम, भ्रम, मद, अलक्ष्मी (कान्तिहीनता), श्वास, कास, प्यास का अधिक लगना, अधिक भूख का लगना, जीर्ण (पुराना) ज्वर, मूत्रकृच्छ्र तथा रक्तपित्त रोग का विनाशक है॥ २१-२२॥

हितमत्यग्न्यनिद्रेभ्यो गरीयो माहिषं हिमम्॥ २३॥

भैंस के दूध का गुण—जिनकी जठराग्नि तीक्ष्ण हो गयी हों, जिन्हें नींद न आती हों उनके लिए हितकर होता है। यह गाय के दूध से अधिक गुरु तथा शीतल होता है॥ २३॥

वक्तव्य—चरक तथा सुश्रुत में वर्णित भैंस के दूध के गुणों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है—'महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पयः। स्नेहान्यूनमनिद्राय हितमत्यग्नये च तत्'॥ (च.सू. २७।२१९) और—'महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम्। निद्राकरं शीतकरं गव्यात् स्निग्धतरं गुरु'॥ (सु.सू. ४५।५५) **समन्वय**—यहाँ चरक द्वारा कहा गया—गाय के दूध से भैंस के दूध में जो स्नेह की कमी कही गयी है, वह हृदय के लिए कम हितकर है, इस दृष्टि से कहा गया है। भैंस के दूध से निकलने वाला जो स्नेह (घी) है, उसकी अपेक्षा गाय के दूध से उत्पन्न स्नेह (घी) हृदय के लिए अधिक हितकर होता है, यही अभिप्राय है। इसीलिए 'खारणादि' ने भी 'उत्तम' शब्द का प्रयोग किया है—'गव्यं स्नेहोत्तमं क्षीरं गव्याच्च पयसः पयः। यथोत्तरं स्नेहहीनमौरभ्रच्छागमाहिषम्'।

अल्पाम्बुपानव्यायामकटुतिक्ताशनैर्लघु। आजं शोषज्वरश्वासरक्तपित्तातिसारजित्॥ २४॥

बकरी के दूध के गुण—बकरी जल थोड़ा पीती है, कूदना-फाँदना, दौड़ना आदि अनेक प्रकार का व्यायाम अधिक करती है; कटु-तिक्त रस युक्त पत्तों को प्रायः खाती रहती है, अतः उसका दूध हलका (सुपच) होता है। यह शोष (राजयक्ष्मा), ज्वर, श्वास, रक्तपित्त तथा अतिसार रोगों को नष्ट करता है॥२४॥

वक्तव्य—बकरी स्वयं में राजयक्ष्मा-चिकित्सा की एक प्रयोगशाला है। चरक-टीकाकार चक्रपाणि ने स्वरचित 'चक्रदत्त' में एक प्रयोग इस प्रकार दिया है—

'छागं मांसं पयश्छागं छागं सर्पिः सशर्करम्।
छागोपसेवा शयनं छागमध्ये तु यक्ष्मनुत्'॥

अर्थात् बकरी का मांस, चीनी मिला हुआ बकरी का दूध, बकरी का घी, बकरियों के बीच में रहना, इन्हीं के बीच में सोना और इनकी मैं-मैं सुनना यक्ष्मरोगनाशक होता है। बकरी के दूध-घी आदि के अलग-अलग प्रयोग प्राचीन संहिताओं में भी मिलते हैं। इस प्रकार बकरी का सर्वांग उपयोग आचार्य चक्रपाणि का बुद्धिकौशल है।

काशी-निवासी स्वतन्त्रतासेनानी, वयोवृद्ध **पण्डित शिवविनायक मिश्र वैद्य** अपने जीवन के अन्तिम दिनों में क्षयरोग से पीड़ित हो गये थे। उन्होंने चक्रदत्त के उक्त श्लोक के अनुसार अपनी जीवनचर्या बना ली थी, जिससे वे रोगमुक्त हो गये थे; तब से समीपस्थ जनता उन्हें **'बकरिया वैद्य'** कहा करती थी। उनका स्वर्गवास उसके बहुत दिनों के बाद १९७६ में हुआ। ये स्वतन्त्रता-संग्राम के बाद आयुर्वेद के जीवन्त सेनानी एवं प्रहरी थे। ये बकरी का मांस नहीं खाते थे।

ईषद्रूक्षोष्णलवणमौष्ट्रकं दीपनं लघु। शस्तं वातकफानाहकृमिशोफोदरार्शसाम्॥ २५॥

ऊँटनी के दूध के गुण—ऊँटनी का दूध थोड़ा रूक्षता युक्त, उष्ण तथा लवण रसयुक्त, अग्निदीपक, लघु (हलका) होता है। यह वातविकार, कफविकार, आनाह (अफरा), कृमिरोग, शोथरोग, उदररोग तथा अर्शोरोग में हितकर होता है॥ २५॥

मानुषं वातपित्तासृगभिघाताक्षिरोगजित्।
तर्पणाश्च्योतनैर्नस्यैः—

मानुषी दूध के गुण—नारी का दूध वात, पित्त, रक्त तथा अभिघात (चोट आदि लगने) के कारण उत्पन्न नेत्र सम्बन्धी रोगों में तर्पण, आश्च्योतन एवं नस्य के रूप में प्रयोग करने से हितकर होता है।

वक्तव्य—तर्पण-विधि—रोगी को चित्त लेटाकर दो-चार बूँदें उसकी आँखों में डालकर कुछ देर दूध से आँखों को तृप्त होने दें। आश्च्योतन-विधि—आँखों या आँख में नारी के दूध की दो-चार बूँदें टपकाना, यह विधि अनेक बार की जाती है। वे दूध की बूँदें बहकर नीचे आ जाती हैं। नस्य-विधि—इसमें नारी के दूध को नथुनों में डालकर ऊपर की ओर को खींचा जाता है। इस नस्य से शिरोरोगों में शान्ति मिलती है।

—अहृद्यं तूष्णमाविकम्॥ २६॥
वातव्याधिहरं हिध्माश्वासपित्तकफप्रदम्।

भेड़ी के दूध का गुण—हृदय को अप्रिय या अहितकर, उष्ण, वातव्याधिनाशक, हिचकी, श्वास, पित्त एवं कफ को उभाड़ता है॥ २६॥

वक्तव्य—वातव्याधि में इसकी मालिश करने तथा इसे पीने से लाभ होता है।

हस्तिन्याः स्थैर्यकृत्—

हथिनी के दूध का गुण—यह शरीर की स्थिरता को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाता है। वास्तव में इसका यह गुण 'कारणानुरूपं कार्यम्' को चरितार्थ करता है।

—बाढमुष्णं त्वैकशफं लघु॥ २७॥
शाखावातहरं साम्ललवणं जडताकरम्।

एकशफ दूध के गुण—एक खुर वाले प्राणियों (घोड़ी, गधी आदि) का दूध उष्ण (गरम) एवं लघु (हलका) होता है। शाखाओं (टाँगों, बाँहों, रक्त आदि धातुओं एवं त्वचा) के वातदोष का नाशक है। यह कुछ खट्टा एवं लवणरस युक्त होता है और जड़ता (आलस्य एवं बुद्धिहीनता) कारक होता है॥ २७॥

वक्तव्य—ऊपर २७वें पद्य में श्रीहेमाद्रि ने 'बाढम्' इस पद को हथिनी के दूध का विशेषण माना है और दूसरे विद्वानों ने इसे एकशफ दुग्ध का विशेषण स्वीकार किया है। 'एकशफ' शब्द 'जातौ एकवचनम्' के अनुसार एक मान लेने पर यहाँ तक आठ प्राणियों के दूधों का वर्णन कर दिया है। एक शफ (खुर) वाले प्राणी अन्य अनेक होते हैं।

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं, युक्त्या शृतमतोऽन्यथा॥ २८॥

आमशृत दुग्ध-गुण—कच्चा (बिना गरम किया) दूध अभिष्यन्दी एवं गुरु, पाक में भारी होता है। विधिवत् पकाया गया दूध इस (कच्चे) के विपरीत गुण वाला होता है॥ २८॥

भवेद्गरीयोऽतिशृतं, धारोष्णममृतोपमम्।

धारोष्ण दूध के गुण—अत्यन्त पकाया गया दूध अधिक गुरु हो जाता है और धारोष्ण दूध अमृत के समान गुणकारक होता है।

वक्तव्य—मनुष्यों की सन्तानें गाय, भैंस आदि के बच्चे जो माता का स्तनपान करते हैं, उन्हें धारोष्ण दूध सुलभ होता है। नवजात किंवा क्षीराद शिशुओं के भाग्य में अब धारोष्ण दूध पीना नहीं लिखा है, यह आज के युग की देन है।

अम्लपाकरसं ग्राहि गुरूष्णं दधि वातजित्॥ २९॥
मेदःशुक्रबलश्लेष्मपित्तरक्ताग्निशोफकृत्। रोचिष्णु शस्तमरुचौ शीतके विषमज्वरे॥ ३०॥
पीनसे मूत्रकृच्छ्रे च, रूक्षं तु ग्रहणीगदे। नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसन्तोष्णशरत्सु न॥ ३१॥
नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं तन्नाघृतसितोपलम्। न चानामलकं नापि नित्यं नो मन्दमन्यथा॥ ३२॥
ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्डुभ्रमप्रदम् ।

दधिगुण-वर्णन—दही पाक एवं रस में अम्ल होता है। ग्राही (मल को बाँधने वाला), गुरु (पचने में देर लगाने वाला), उष्ण तथा वातनाशक होता है। मेदोधातु, शुक्र, कफ, पित्त, रक्त, अग्निवर्धक एवं शोथकारक होता है। भोजन के प्रति रुचि को बढ़ाता है। इसका प्रयोग अरुचि में किया जाता है। जाड़ा लगकर आने वाले विषमज्वर में, पीनसरोग में एवं मूत्रकृच्छ्ररोग में इसका प्रयोग हितकर होता है। ग्रहणीरोग में रूक्ष (मक्खन निकाला हुआ) दही हितकर होता है।

रात में दही का सेवन नहीं करना चाहिए, उष्ण (आग में तपाया हुआ) दही न खाये, वसन्त, ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु में दही न खाये, मूँग की दाल तथा उसके बड़े के बिना दही न खाये, मधु, घी, मिश्री से रहित दही न खाये, आँवलों से रहित दही न खाये, प्रतिदिन दही न खाये और मन्दक (जो भलीभाँति जमा न हो) ऐसा दही भी नहीं खाना चाहिए। यदि इस प्रकार के निषिद्ध दही का सेवन किया गया तो ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कुष्ठरोग, पाण्डुरोग, भ्रम (चक्कर आना)—ये विकार उत्पन्न हो जाते हैं॥ २९-३२॥

वक्तव्य—आजकल मक्खन रहित दूध तथा दही भी मिलता है। पुराने क्रम से घी निकालने में देर लगती है। आज भी पञ्जाब प्रदेश में उत्तम दूध, दही, घी सुलभ हैं। यद्यपि दही को बहुत-से लोग सदा खाते हैं, फिर भी इसके निषिद्ध विधि से निषिद्ध कालों में सेवन करने से ऊपर कहे गये ज्वर आदि रोगों के होने की सम्भावना बनी रहती है।

तक्रं लघु कषायाम्लं दीपनं कफवातजित्॥ ३३॥
शोफोदरार्शोग्रहणीदोषमूत्रग्रहारुचीः। प्लीहगुल्मघृतव्यापद्गरपाण्ड्वामयान् जयेत्॥ ३४॥

तक्र (मट्ठा या छाछ)—यह लघु, कषाय, अम्ल, जठराग्निदीपक तथा कफ-वातनाशक होता है। यह शोथरोग, उदररोग, अर्शोरोग, ग्रहणीरोग, मूत्राघात, अरुचि, प्लीहाविकार, गुल्म, घृत(स्नेह)-व्यापत्, गरविष तथा पाण्डुरोग को जीत लेता है॥ ३३-३४॥

वक्तव्य—'तक्र के भेदों के सम्बन्ध में सुश्रुत के विचार—**'तक्र'**—'जिस दही में आधा जल मिलाकर मथने से स्नेह (मक्खन) अलग कर लिया जाता है, फिर जो पतला दही का भाग शेष रहता है, उसे 'तक्र' कहते हैं। यह न तो अधिक गाढ़ा और न अधिक पतला होता है। यह तक्र मधुरविपाकी, रस में अम्ल एवं कषाय होता है'।

घोल—बिना पानी मिलाये जो दही मथा जाता है और जिसमें से स्नेह भाग भी अलग नहीं किया जाता, उसे घोल कहते हैं।

तक्रकूर्चिका—यह संग्राही, वातकारक तथा रूक्ष होती है एवं कठिनायी से पचती है।

(दही के साथ दूध को पकाने से 'दधिकूर्चिका' और तक्र के साथ दूध को पकाने से 'तक्रकूर्चिका' बनती है। तक्र तथा दही के गाढ़े भाग को भी **'कूर्चिका'** या **'पनीर'** कहते हैं। दूध के गाढ़े भाग

को भी 'कूर्चिका' कहते हैं, लोकव्यवहार में जिसे **'खोया'** या **'मावा'** कहते हैं। दूध को फाड़कर जो घन भाग बच जाता है, उसे **'किलाट'** या **'छेना'** कहते हैं।)

मण्ड—यह तक्र से भी पाचन में लघु होता है, इसे 'मस्तु' भी कहते हैं। इसे दही का पानी या छाछ का पानी भी कहते हैं।

तक्रप्रयोग-निषेध—घाव लग जाने पर, उष्णकाल (ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु) में, दुर्बलता में, मूर्च्छा, भ्रम, दाह तथा रक्तपित्त रोग में तक्र का प्रयोग न करें।

तक्रप्रयोग काल—शीतकाल में, अग्निमान्द्यरोग में, कफजनित विकारों में, स्रोतों में रुकावट आने पर तथा वात के दूषित होने पर तक्र का सेवन करना उत्तम होता है।

तक्र के गुण—मधुर रस वाला तक्र कफप्रकोपक तथा पित्तशामक होता है और अम्लरस-प्रधान तक्र वातनाशक तथा पित्तकारक होता है।

तक्रप्रयोग-विधि—वातदोष में अम्ल तक्र में नमक मिलाकर, पित्तदोष में मधुर तक्र में चीनी मिलाकर तथा कफदोष में तक्र में सोंठ, मरिच, पीपल के साथ कोई एक क्षार मिलाकर पीना चाहिए। इन प्रसंगों को देखें—सु.सू. ४५ के तक्रवर्ग में।

तक्र की प्रशंसा—संस्कृत के सुभाषित-साहित्य में विद्वानों ने तक्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यथा—'तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्'। कविराज लोलिम्बराज ने इसका वर्णन आलंकारिक भाषा में किया है। देखें—वैद्यावतंस, निघण्टु। तक्र के वास्तविक गुणों का परिचायक एक पद्य इस प्रकार है—

'न तक्रसेवी व्यथते कदाचित् न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः।
यथा सुराणाममृतं सुखाय तथा नराणां भुवि तक्रमस्ति'॥

तद्वन्मस्तु सरं स्रोतःशोधि विष्टम्भजिल्लघु।

मस्तु का वर्णन—मस्तु (दही का पानी) भी तक्र के समान गुण वाला होता है। विशेषकर यह सर, स्रोतों का शोधक, विष्टम्भ (कब्जियत) को दूर करता है तथा पाचन में लघु होता है।

वक्तव्य—जब तक्र का गाढ़ा भाग नीचे बैठ जाता है और उसके ऊपर जो जलीय भाग तैरता है, वह 'तक्रमस्तु' है।

नवनीतं नवं वृष्यं शीतं वर्णबलाग्निकृत्॥ ३५॥
सङ्ग्राहि वातपित्तासृक्क्षयार्शोर्दितकासजित्।

नवनीत-वर्णन—नवनीत (ताजा निकाला गया) मक्खन वृष्य (वीर्यवर्धक), शीतल, कान्तिकारक, बलवर्धक, अग्नि को तीव्र करने वाला और संग्राही (मल को बाँधने वाला) होता है। वातविकार, पित्तविकार, रक्तविकार, क्षयरोग, अर्शोरोग (रक्तार्श), अर्दित (मुखप्रदेश का लकवा) तथा कासरोग का विनाश करता है॥ ३५॥

क्षीरोद्भवं तु सङ्ग्राहि रक्तपित्ताक्षिरोगजित्॥ ३६॥

दूध का नवनीत—दूध से निकाला गया नवनीत विशेषकर संग्राही होता है। यह रक्तरोग, पित्तरोग तथा नेत्ररोगों का विनाश करता है॥ ३६॥

वक्तव्य—दूध को मथकर जो स्नेहद्रव्य प्राप्त किया जाता है, उसे **'नवनीत'** कहा जाता है। आज के दूध को गरम करके दही जमाकर, कल को उसे मथकर जो स्नेहद्रव्य प्राप्त किया जाता है, उसे **'हैयंगवीन'** कहते हैं। यह भी 'नवनीत' का ही एक प्रकार-भेद है। दोनों में ही दूध या दही का कुछ भाग लगा रहता है। पकाने पर घी का भाग ऊपर आ जाता है और दूध या दही का भाग नीचे रहकर जल जाता है।

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायुःशुक्रचक्षुषाम्। बालवृद्धप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम्॥ ३७॥
क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम्। वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम्॥ ३८॥
स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम्। सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत्॥ ३९॥

घृत के गुण—बुद्धि, स्मृति (स्मरणशक्ति), मेधा (धारणाशक्ति वाली बुद्धि), जठराग्नि, शारीरिक बल, दीर्घायु (आयुर्वै घृतम्), शुक्र तथा दृष्टि के लिए उत्तम है; बालकों तथा वृद्धों के लिए श्रेष्ठ है। प्रजा (सन्तान), कान्ति, सुकुमारता तथा सुरीला या तेज स्वर चाहने वालों के लिए उत्तम है। क्षत, क्षीण (क्षयपीड़ित), विसर्परोगी, शस्त्रहत, अग्निदाह से पीड़ित रोगियों के लिए हितकर है। वातविकार, पित्तविकार, विषविकार, उन्माद, शोष (राजयक्ष्मा), अलक्ष्मी (निर्धनता या कुरूपता) तथा ज्वर का नाश करता है। यह समस्त स्नेहद्रव्यों में श्रेष्ठ है, शीतवीर्य है, यौवन को स्थिर रखने वाले द्रव्यों में भी सर्वश्रेष्ठ है। शास्त्रोक्त विधियों से पकाकर रखा गया घी हजारों शक्तियों से पूर्ण होता है, अतएव युक्तियुक्त इसका प्रयोग करने पर यह हजारों चिकित्सोपयोगी कर्मों को करता है॥ ३७-३९॥

मदापस्मारमूर्च्छायशिरःकर्णाक्षियोनिजान्। पुराणं जयति व्याधीन् व्रणशोधनरोपणम्॥ ४०॥

पुराने घी के प्रयोग—मदपानजनित मदात्यय आदि विकारों में, अपस्मार, मूर्च्छा, सिर, कान तथा योनि (गर्भाशय, भग) के रोगों का विनाश करता है। यह व्रणों का शोधन एवं रोपण करता है॥ ४०॥

वक्तव्य—पुराने घी का व्यावहारिक परिचय सु.सू. ४५।१०७-१०९ से प्राप्त होगा। शास्त्रकारों ने काल की अवधि के अनुसार इसके नामभेद किये हैं। यथा— १. पुराणघृत, २. कुम्भसर्पि तथा ३. महाघृत। इनका प्रयोग उक्त सुश्रुत-सन्दर्भ के अनुसार करें। इसके भी कुछ अवान्तर भेद किये गये हैं। यथा— १ वर्ष पुराना, १० वर्ष पुराना, १५ वर्ष से अधिक पुराना अथवा १०० वर्ष या १११ वर्ष पुराना घृत 'पुराणघृत' या 'कुम्भसर्पि' कहा जाता है। इससे भी अधिक पुराने घी को 'महाघृत' कहा जाता है। यह घी केवल औषधोपयोगी रह जाता है। घी जितना पुराना होगा उसका वर्ण मोमियाँ हो जाता है। तब इसमें विशेष प्रकार की गन्ध आने लगती है। इस घी का प्रयोग—सन्निपातज्वर में सिर के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र के स्थान पर रखते हैं। श्वासरोग में इसे छाती, पसलियों तथा गले में लगाते (मलते) हैं। इसका संग्रह पहले श्रीमानों के घरों में, प्राचीन परम्परा के वैद्यों तथा हकीमों के चिकित्सालयों में होता था। यह चिकित्सा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

बल्याः किलाटपीयूषकूर्चिकामोरणादयः। शुक्रनिद्राकफकरा विष्टम्भिगुरुदोषलाः॥ ४१॥

किलाट आदि का वर्णन—दूध से बनाये गये किलाट, पीयूष, कूर्चिका, मोरण या मोरट आदि शब्द से क्षीरशाक एवं तक्रपिण्ड का ग्रहण किया जाता है। ये सब बल, शुक्र, निद्रा तथा कफदोष को बढ़ाते हैं। ये विष्टम्भी, गुरु तथा दोषकारक होते हैं॥ ४१॥

वक्तव्य—किलाट आदि का परिचय—इनके सम्बन्ध में हम इसी अध्याय में ३३-३४ श्लोकों के नीचे कह चुके हैं। **मोरण** या **मोरट**—पकते हुए दूध को नीबू के रस या फिटकिरी डालकर फाड़ लिया जाता है। जलीय भाग को मोरण या मोरट जेज्जट ने सुश्रुत के ४५वें अध्याय में यथास्थान कहा है। उसके सारभाग को छेना कहते हैं। **पीयूष**—अन्यत्र इसका अर्थ 'अमृत' है। नवप्रसूता गाय या भैंस के एक सप्ताह तक के दूध को पकाया जाता है, पकाते ही वह फटकर गाढ़ा हो जाता है, इसे पीयूष कहा जाता है। यह अत्यन्त गरिष्ठ होता है। ५-७ दिन के बाद यह दूध शुद्ध हो जाता है।

गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे निन्दिते चाविसम्भवे।

इति क्षीरवर्गः।

उत्तम-अधम विचार—इस प्रकरण में कहे गये दूध तथा घी में गाय का दूध और गाय का ही घी उत्तम होता है और भेड़ का दूध एवं घी निन्दित होता है।

वक्तव्य—'नानौषधिभूतं जगति किञ्चिद् विद्यते'। चरक के इस वचन के अनुसार सभी पदार्थ चिकित्सोपयोगी हैं, अतएव उन सबका अपने-अपने स्थान पर महत्त्व होता ही है। यहाँ तो गाय और भेड़ के दूध, दही, घी की परस्पर तुलना की चर्चा मात्र है।

अथेक्षुवर्गः

इक्षो रसो गुरुः स्निग्धो बृंहणः कफमूत्रकृत्॥ ४२॥
वृष्यः शीतोऽस्रपित्तघ्नः स्वादुपाकरसः सरः।

ईख के रस का वर्णन—ईख का रस सामान्य रूप से गुरु, स्निग्ध, बृंहण (पुष्टिकारक), कफ तथा मूत्र को बढ़ाने वाला होता है। यह वृष्य (वीर्यवर्धक), शीतल, रक्तपित्तनाशक, रस एवं पाक में मधुर तथा सर (मलभेदक) होता है॥ ४२॥

वक्तव्य—शास्त्रान्तरों में ईख के भेद—आज चल रही विकास की आँधी में इनकी कुछ ही जातियों के नाम सुनायी देते हैं, हो सकता है कि आगे ये बचे-खुचे नाम भी उड़ जायेंगे; तथापि इनका उल्लेख यहाँ कर दिया जा रहा है; १. पौंड्रक (पौंडा), २. भीरुक, ३. वंशक, ४. शतपोरक (सौ गाँठों वाला), ५. कान्तार, ६. तापसेक्षु (जंगलों में होने वाली ईख), ७. काण्डेक्षु, ८. सूचिपत्रक (जिसके पत्ते सुई की भाँति चुभते हों या नाम-विशेष), ९. नैपाल (नेपाल देश में होने वाला), १०. दीर्घपत्र (नाम-विशेष, वैसे तो सभी ईखों के पत्ते लम्बे होते हैं), ११. नीलपोर (जिसकी गाँठों में नीली आभा हो), १२. कोशकृत् तथा १३. मनोगुप्ता—ये तेरह जातियाँ ईख की कही गयी हैं, इसी को 'ऊख' भी कहा जाता है। अंग्रेजी में इसे 'सुगर केन' कहते हैं। संस्कृत में इसका एक नाम 'गुडमूल' है अर्थात् ईख सभी प्रकार की मिठाइयों की जड़ है। आगे चलकर बाल, तरुण, वृद्ध भेद से भी इसके गुणों का वर्णन किया गया है।

ईख के रस से निर्मित पदार्थ— १. फाणित (राब), २. मत्स्यण्डी (मछली के अण्डों के सदृश) या खण्डराब, ३. गुड़, ४. खण्ड (खाँड), ५. शर्करा (चीनी), ६. पुष्पसिता या सितोपला (फूलमिश्री)। इनके गुण चरक, सुश्रुत आदि में देखें।

सोऽग्रे सलवणो, दन्तपीडितः शर्करासमः॥ ४३॥

अगले भाग का रस—ईख के प्रारम्भिक एक-दो पोरों का रस कुछ नमकीन जैसा होता है। मध्य भाग का दाँतों से चूसा हुआ रस चीनी के समान मधुर एवं गुणकारक होता है॥ ४३॥

मूलाग्रजन्तुजग्धादिपीडनान्मलसङ्करात्। किञ्चित्कालं विधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः॥
विदाही गुरुविष्टम्भी तेनासौ—

यान्त्रिक रस के भेद—यन्त्र-विशेष में दबाकर निकाला हुआ ईख का रस—जड़ का भाग, अगला भाग तथा कीड़े आदि द्वारा खाया गया भाग सब एक साथ निचोड़ा जाता है। उसमें मैल का भी मिश्रण हो जाता है और वह कुछ समय तक उसी प्रकार पड़ा रह जाता है, तो वह रस विकृत (विकारयुक्त) हो जाता है। अतः वह विदाहक, गुरुपाकी तथा विष्टम्भी हो जाता है॥ ४४॥

—तत्र पौण्ड्रकः। शैत्यप्रसादमाधुर्यैर्वरस्तमनु वांशिकः॥ ४५॥

ईख के भेद तथा गुण—ईख की अनेक जातियाँ होती हैं, उनमें पौण्ड्रक नामक ईख जो देखने में मोटी, चबाने में कोमल होती है, उसका रस शीतल, स्वच्छ एवं मधुर होने के कारण सबमें श्रेष्ठ होता है। इससे गुणों में कुछ कम 'वाशिक' नामक ईख होती है॥ ४५॥

वक्तव्य—श्रीहेमाद्रि ने 'वांशिक' नामक ईख का पर्याय 'नीलेक्षु' दिया है। यह पौण्ड्रक जैसी मोटी तो होती है, किन्तु उससे कठोर होती है।

शतपर्वककान्तारनैपालाद्यास्ततः क्रमात्। सक्षाराः सकषायाश्च सोष्णाः किञ्चिद्विदाहिनः॥

शतपर्वक आदि ईखों के गुण—शतपर्वक ईख (अनेक पोरों वाला) कान्तार, नैपाल, आदि शब्द से दीर्घपत्र आदि भेदों को समझना चाहिए। उक्त ईखों के रस वांशिक नामक ईख के रस से उत्तरोत्तर हीन गुण वाले होते हैं। यथा—क्रमशः कुछ खारे, कुछ कसैले, कुछ उष्ण और कुछ विदाहकारक होते हैं॥ ४६॥

वक्तव्य—आज जहाँ ईख की प्राचीन जातियों का ह्रास हो रहा है, वहीं कृषि सम्बन्धी वैज्ञानिक अनुसन्धानों द्वारा नयी-नयी ईख की जातियों का आविष्कार भी हो रहा है। आज के नये उर्वरकों द्वारा उनकी उपज में बढ़ोत्तरी देखी जाती है, किन्तु स्वाद-गुण में प्राचीन जातियों की तुलना में ये कहीं स्थिर नहीं हैं, ऐसा बुद्धिजीवियों का मानना है। ये सब युगानुरूप कार्य हैं।

फाणितं गुर्वभिष्यन्दि चयकृन्मूत्रशोधनम्।

फाणित के गुण—फाणित गुरु, अभिष्यन्दी, दोषों का संचय करने वाला किन्तु मूत्र का शोधन करने वाला होता है अर्थात् इसका सेवन करने से मूत्र खुलकर निकल आता है।

नातिश्लेष्मकरो धौतः सृष्टमूत्रशकृद्गुडः॥ ४७॥
प्रभूतकृमिमज्जासृङ्मेदोमांसकफोऽपरः ।

गुड़ के गुण— १. ईख के रस को स्वच्छ करके बनाया गया प्रथम श्रेणी का गुड़ अधिक कफकारक नहीं होता तथा यह मूत्र एवं पुरीष का प्रवर्तक होता है। २. ईख के रस को पकाते समय उसकी मैल को निकाले बिना जो गुड़ बनाया जाता है, वह उक्त प्रथम गुड़ से दूसरी श्रेणी का होता है। उसके गुण—इसके सेवन से पेट में पर्याप्त क्रिमियों की उत्पत्ति होती है, यह मज्जा, मेदस्, मांस तथा कफदोष को बढ़ाता है॥ ४७॥

हृद्यः पुराणः पथ्यश्च, नवः श्लेष्माग्निसादकृत्॥ ४८॥

पुराने-नये गुड़ के गुण—पुराना गुड़ हृदय के लिए हितकारक तथा पथ्य होता है और नया गुड़ कफदोष को बढ़ाने वाला एवं जठराग्नि को मन्द कर देता है॥ ४८॥

वृष्याः क्षीणक्षतहिता रक्तपित्तानिलापहाः। मत्स्यण्डिकाखण्डसिताः क्रमेण गुणवत्तमाः॥ ४९॥

मत्स्यण्डिका आदि के गुण—मत्स्यण्डिका (राब), खण्ड (खाँड़) तथा सिता या सितोपला (मिश्री) ये उत्तरोत्तर गुणवान् होते हैं अर्थात् मत्स्यण्डिका से खण्ड, इससे सिता अधिक गुणवाली होती है। इनके गुण—ये सभी वृष्य, क्षत (उरःक्षत) तथा क्षीण पुरुषों के लिए हितकर होते हैं और रक्तपित्त एवं वातदोष नाशक हैं॥ ४९॥

वक्तव्य—ईख के रस को भलीभाँति पकाते-पकाते जब वह पत्थर की भाँति कड़ा हो जाता है, तो उसे 'गुड़' कहते हैं, किन्तु उसी गुड़ को गौड़ (बंगाल का पुराना नाम) देशवासी मत्स्यण्डी कहते हैं। यथा—'इक्षो रसो यः सम्पक्वो जायते लोष्ठवद् घनः। स गुडो, गौडदेशे तु मत्स्यण्डचैव गुडो मतः'॥

तद्गुणा तिक्तमधुरा कषाया यासशर्करा।

यासशर्करा या यवासशर्करा—इसे 'जवासा' की खाँड या चीनी कहते हैं। यह भी ईख की चीनी के समान गुणों वाली होती है। यह कुछ तिक्त, मधुर तथा कषाय रस वाली होती है।

दाहतृट्छर्दिमूर्च्छासृक्पित्तघ्न्यः सर्वशर्कराः॥ ५०॥

सभी प्रकार की शर्कराओं के गुण—दाह (जलन), प्यास, वमन, मूर्च्छा (बेहोशी) तथा रक्तपित्त का शमन करती हैं, अतः इन्हें उत्तम कहा गया है॥ ५०॥

वक्तव्य—ईख के अतिरिक्त अन्य पदार्थों से भी शर्करा का निर्माण किया जाता है। जैसे—ताड़ का गुड़, ताड़ की चीनी, खजूर की चीनी, दाख (मुनक्का) की चीनी तथा अन्य मधुर फलरसों से बनायी गयी चीनी, मधुर्शकरा आदि।

मधुशर्करा—जैसे राब में खाँड का अंश नीचे बैठ जाता है वैसे ही किसी-किसी मधु में मधुशर्करा का अंश नीचे इकट्ठा हो जाता है। उसमें चीनी के सदृश कण दिखलायी देते हैं। यह स्थिति मधु में दो या तीन मास के बाद देखी जाती है और मधु का तरल भाग ऊपर तैरता रहता है, यह भी शर्कराभेद ही है। यही कारण है कि प्राचीन संहिताकारों ने मधुशर्करा के गुण-धर्मों का वर्णन किया है। देखें—सु.सू. ४५।१६६। कुछ पर्वतीय प्रदेशों में मधु को जमा देने के लिए शुद्ध घी का जामन डाल देते हैं। इससे मधु जम जाता है, उसे बर्फी की भाँति काटकर मेहमानों (महामान्यों) का स्वागत किया जाता है।

शर्करेक्षुविकाराणां फाणितं च वरावरे।

इतीक्षुवर्गः।

शर्करा की उत्तमता—ईख के रस से बनने वाले सभी पदार्थों में शर्करा तथा मिश्री सर्वश्रेष्ठ होती है। फाणित (राब) अधम होती है।

वक्तव्य—**'यासशर्करा'**—जवासा नामक पौधा से जो गोंद निकलती है, उसी को यासशर्करा अथवा यवासशर्करा कहते हैं। देखें—सु.सू. ४५।१६७। यह औषध व्यवसाइयों की दूकान में **माना** या **मना** नाम से मिलती है। यह राजाओं एवं श्रीमानों के योग्य विरेचन है, यूनानी वैद्यक में प्रसिद्ध तुरञ्जवीन भी यही है। इसे चासनी बनाकर बर्फी की भाँति जमा लिया जाता है, एक टुकड़ा बर्फी पानी के साथ लें, मुँह भी मीठा और पेट भी साफ।

अथ मधुवर्गः

चक्षुष्यं छेदि तृट्श्लेष्मविषहिध्मास्रपित्तनुत्॥५१॥
मेहकुष्ठकृमिच्छर्दिश्वासकासातिसारजित्। व्रणशोधनसन्धानरोपणं वातलं मधु॥५२॥
रूक्षं कषायमधुरं, तत्तुल्या मधुशर्करा।

मधु का वर्णन—मधु (शहद) नेत्रों के लिए हितकारक होता है, यह लेखन होने के कारण कफ को निकाल देता है; प्यास, कफदोष, विषविकार, हिक्का (हिचकी), रक्तपित्त, प्रमेह, कुष्ठ, क्रिमि, छर्दि, श्वास, कास तथा अतिसार रोग को नष्ट करता है। यह व्रणशोधक, व्रणसन्धान तथा व्रणरोपण करता है। यह वातदोषकारक है, रूक्ष, कषाय एवं मधुर गुणवाला है। इसी के समान गुणों वाली 'मधुशर्करा' भी होती है॥५१-५२॥

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार मधु आठ प्रकार का होता है— १. पौत्तिक, २. भ्रामर, ३. क्षौद्र, ४. माक्षिक, ५. छात्र, ६. आर्घ्य, ७. औद्दालक तथा ८. दाल। हमने मधुशर्करा का वर्णन ऊपर श्लोक ५० के वक्तव्य में कर दिया है, क्योंकि उक्त श्लोक का विषय था 'सर्वशर्करा' वर्णन।

उष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णैर्निहन्ति तत्॥५३॥

उष्णमधुसेवन का निषेध—उष्ण मधु का सेवन उष्ण (धूप, घाम या अग्नि) से सन्तप्त मानव को उष्णकाल (गर्मी के दिनों) में उष्ण जल आदि के साथ खाने-पीने या चाटने के लिए नहीं देना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से हानि होती है॥५३॥

प्रच्छर्दने निरूहे च मधूष्णं न निवार्यते। अलब्धपाकमाश्वेव तयोर्यस्मान्निवर्तते॥५४॥

इति मधुवर्गः।

संशोधन में मधु-प्रयोग—वमन के लिए तथा निरूहणबस्ति में प्रयुक्त उष्ण मधु अथवा द्रव पदार्थ के साथ मिला हुआ मधु हानिकारक नहीं होता, क्योंकि वमन, निरूहण में प्रयुक्त उष्ण मधु शरीर में बिना पचे ही शीघ्र बाहर लौट (निकल) जाता है॥५४॥

अथ तैलवर्गः

तैलं स्वयोनिवत्तत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायि च। त्वग्दोषकृदचक्षुष्यं सूक्ष्मोष्णं कफकृन्न च॥ ५५॥
कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय च। बद्धविट्कं कृमिघ्नं च संस्कारात्सर्वरोगजित्॥ ५६॥

सामान्य तैल का वर्णन—सभी तेल अपने-अपने उत्पत्तिकारणों के समान गुण-धर्म वाले होते हैं। सब तेलों में 'तिलतैल' मुख्य होता है, क्योंकि तैल शब्द की निष्पत्ति ही तिल शब्द से होती है। यथा '**तिलोद्भवं तैलम्**'। तिलतैल—तीक्ष्ण (मन्द से विपरीत), व्यवायी (शीघ्र फैलने वाला), त्वग्दोषनाशक (दोषं कृन्ततीति दोषकृत्), नेत्रों के लिए हानिकारक, सूक्ष्म तथा उष्ण होता है। यह स्निग्ध होने पर भी कफकारक नहीं होता, कृश पुरुषों को पुष्ट करने में समर्थ है, अतएव वह बृंहण-कार्य भी करता है। स्थूलों को कृश करता है, पुरीष को बाँधता है, कृमिनाशक है और संस्कार करने से वात आदि दोषों को नष्ट करता है॥ ५५-५६॥

वक्तव्य—'कृशानां बृंहणायाऽलम्'—यह तिलतैल जो दुबले हैं, उन्हें पुष्ट करने में समर्थ है और 'स्थूलानां कर्शनाय च'—स्थूल पुरुषों को कृश भी करता है। ये गुण इसके परस्पर विरुद्ध हैं? इसका समाधान—यह तेल कृश पुरुष के संकुचित हुए स्रोतों में जाकर व्यवायि गुण के कारण उनमें प्रवेश कर उन स्रोतों को रस आदि धातुओं को वहन करने की शक्ति देकर उनका बृंहण करता है और यह वातदोष तथा कफदोष का क्षय करके स्थूल पुरुषों को कृश करता है। यथा—'**तैलं वातश्लेष्मप्रशमनानाम्**'। (च.सू. २५।४०)

सतिक्तोषणमैरण्डं तैलं स्वादु सरं गुरु। वर्ध्मगुल्मानिलकफानुदरं विषमज्वरम्॥ ५७॥
रुक्शोफौ च कटीगुह्यकोष्ठपृष्ठाश्रयौ जयेत्। तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं विस्रं, रक्तैरण्डोद्भवं त्वति॥

एरण्डतेल के गुण—यह कुछ तिक्त एवं कुछ कटु तथा मधुर रस वाला, विरेचक और पचने में भारी होता है। यह अण्डवृद्धि, गुल्मरोग, वातरोग, कफरोग, उदररोग एवं विषमज्वर का विनाश करता है। कमर, गुह्यप्रदेश, समस्त कोष्ठ के अवयवों, पीठ की पीड़ा तथा सूजन को जीत लेता है।

लाल एरण्ड का तेल—यह तीक्ष्ण, उष्ण, पिच्छिल एवं अप्रिय गन्ध वाला होता है॥ ५७-५८॥

वक्तव्य—कटिशूल में इसकी शीघ्र गुणकारिता को देखकर कहा गया है—'आमवातगजेन्द्रस्य कटीविपिनचारिणः। एक एव निहन्ताऽसौ एरण्डस्तैलकेशरी'॥ अर्थात् आमवातरोग रूपी कमररूपी वन में घूमने वाले हाथी को मारने वाला यह एरण्डतेल रूपी सिंह अकेला काफी है और इसका प्रयोग विरेचन के लिए किया जाता है। इसका प्रयोग करने के लिए ऋतु एवं देश-काल का विचार कर लेना चाहिए। पूर्ण अवस्था वालों को २ या ४ तोले की मात्रा में इसे दूध में मिलाकर देना चाहिए। बच्चों की नाभि के चारों ओर इसे गुनगुना कर मालिश कर देने से भी वही लाभ होता है।

कटूष्णं सार्षपं तीक्ष्णं कफशुक्रानिलापहम्। लघु पित्तास्रकृत् कोठकुष्ठार्शोव्रणजन्तुजित्॥ ५९॥

सरसों का तेल—सरसों का तेल कटु, उष्ण, तीक्ष्ण होता है। यह कफ, शुक्र तथा वात दोषनाशक है, लघु है, पित्त एवं रक्तवर्धक है, कोठ (जुलपित्ती या पित्त उभड़ना), कुष्ठरोग, अर्शोरोग, व्रण तथा क्रिमियों को नष्ट करता है॥ ५९॥

वक्तव्य—सरसों वर्ण से दो प्रकार की होती है— १. लाल तथा २. पीली। इनमें लाल सामान्य है। इसका तेल निकाला जाता है। पीली सरसों पूजा-पाठ आदि शुभकृत्यों में सर्वत्र प्रयोग में लायी जाती है। पीली सरसों का प्रयोग कृत्या (मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन) आदि में भी होता है। पुनः यह दो प्रकार की होती है— १. मीठी तथा २. कड़वी। मीठी सरसों का शाक पर्वतीय क्षेत्रों तथा पञ्जाब आदि में बड़े चाव से खाया जाता है। कड़वी सरसों को राई या लाई भी कहा जाता है। अलमोड़ा, नैनीताल आदि क्षेत्रों में इसे बादशाहलाई भी कहते हैं। इसके पत्ते दो-चार इंच चौड़े होते हैं, इनका शाक भी अत्यन्त रुचिकर होता है। इसका तेल झालदार होता है, नासिका तथा त्वचा पर लगाने से चुनचुनाता है। साहित्य-दर्पणकार ने 'तरुणं सर्षपशाकं' को ग्रामीणों का भोजन कहा है। यह नागरिकों को मिलता भी कहाँ है?

आक्षं स्वादु हिमं केश्यं गुरु पित्तानिलापहम्।

बहेड़े की गिरी का तेल—बहेड़ा का तेल स्वादु (मधुर), शीतल, बालों के लिए हितकर, पचने में भारी, पित्त तथा वात विकारों का शमन करता है।

नात्युष्णं निम्बजं तिक्तं कृमिकुष्ठकफप्रणुत्॥ ६०॥

नीम की गिरी का तेल—निबौलियों से निकाला गया तेल अधिक उष्णवीर्य वाला नहीं होता, स्वाद में तिक्त होता है। यह क्रिमियों, कुष्ठरोगों तथा कफज रोगों का नाश करता है॥ ६०॥

उमाकुसुम्भजं चोष्णं त्वग्दोषकफपित्तकृत्।

अतसी एवं कुसुम्भ तेल—अतसी (अलसी या तीसी) तथा कुसुम्भ (बर्रे) के तेल उष्णवीर्य होते हैं; त्वचा के विकारों, कफदोष तथा पित्तदोष को बढ़ाते हैं।

वक्तव्य—स्थावर तेलों की संख्या अनन्त हो सकती है। फिर भी कुछ तैल ऐसे हैं जो मिलते हैं, जिनकी आवश्यकता पड़ती रहती है; उनका परिगणन मात्र हम यहाँ कर रहे हैं— १. मूलक (मूली के बीजों का) तेल, २. दन्ती (जमालगोटा) का तेल, ३. इंगुदी (हिंगोट) के बीजों का तेल, ४. सरसों का तेल, ५. राई का तेल, ६. करञ्ज (डिठौरी) का तेल, ७. नीम का तेल, ८. सहजन के बीजों का तेल, ९. सुवर्चला (हुलहुल) के बीजों का तेल, १०. पीलु के बीजों का तेल, ११. नीप (कदम्ब) के बीजों का तेल, १२. शंखिनी वृक्ष के बीजों का तेल (च.क. ११।१० में देखें), १३. तुवरक (चालमोगरा) का तेल (देखें—सु.चि. १३।२०-२६), १४. आरुष्कर (भिलावा) का तेल, १५. बिभीतक (बहेड़ा की गिरी) का तेल, १६. अतिमुक्तक (माधवीलता के बीजों) का तेल, १७. अक्षोट (अखरोट की गिरी) का तेल, १८. नारिकेल की गिरी का तेल, १९. मधूकबीजों का तेल, २०. त्रपुष (खीरा) के बीजों का तेल, २१. कूष्माण्ड-बीजतेल, २२. श्लेष्मातक (लिसोड़ा) के बीजों का तेल, २३. राजादन (चिरौंजी) का तेल, २४. अगुरुसारतेल, २५. सरल (चीड़) सार का तेल (गन्धाविरोजा), २६. देवदारुसार (तारपीन) का तेल, २७. शिंशिपा (सार) का तेल, २८. श्रीपर्णी (गम्भारी) के बीजों का तेल, २९. किंशुक (पलाश) के बीजों का तेल, ३०. खर्बूजा के बीजों का तेल, ३१. बादाम का तेल तथा अन्य अनेक तेल।

वसा मज्जा च वातघ्नौ बलपित्तकफप्रदौ॥ ६१॥
मांसानुगस्वरूपौ च, विद्यान्मेदोऽपि ताविव।

इति तैलवर्गः।

प्राणिज स्नेह—स्थावर-स्नेहों का वर्णन करने के बाद अब यहाँ से जंगम-स्नेहों का वर्णन किया जा रहा है। वसा तथा मज्जा नामक स्नेहों की प्राप्ति प्राणियों से की जाती है। ये दोनों स्नेह वातनाशक, बल, पित्त, कफ को बढ़ाते हैं। ये मांस के समान गुण वाले हैं। मेदोधातु के गुण भी वसा-मज्जा के समान होते हैं॥ ६१॥

वक्तव्य—दिनचर्या-प्रकरण में उद्वर्तन का महत्त्व निर्दिष्ट है, उसी से सम्बन्धित विषय यहाँ भी दिया गया है—'तैलप्रयोगादजरा निर्विकारा जितश्रमाः। आसन्नतिबला युद्धे दैत्याधिपतयः पुरा'॥ (अ.सं.सू. ६।१०१) स्थावर-जंगम स्नेहों के सम्बन्ध में विशेष देखें—च.सू. १३; सु.सू. ४५ तथा सु.चि. ३१।

अथ मद्यवर्गः

दीपनं रोचनं मद्यं तीक्ष्णोष्णं तुष्टिपुष्टिदम्॥ ६२॥
सस्वादुतिक्तकटुकमम्लपाकरसं सरम्। सकषायं स्वरारोग्यप्रतिभावर्णकृल्लघु॥ ६३॥
नष्टनिद्राऽतिनिद्रेभ्यो हितं पित्तास्रदूषणम्। कृशस्थूलहितं रूक्षं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनम्॥ ६४॥
वातश्लेष्महरं युक्त्या पीतं विषवदन्यथा।

मद्य का वर्णन—विधिपूर्वक सेवन करने पर प्रायः सभी प्रकार के मद्य जठराग्नि को प्रदीप्त करते (बढ़ाते) हैं, रोचन (भोजन के प्रति रुचि को बढ़ाने वाले) हैं, ये तीक्ष्ण एवं उष्ण होते हैं। मात्रानुकूल सेवन करने से तुष्टि (सन्तोष) तथा शारीरिक पुष्टि को देते हैं। सामान्य मद्य कुछ मधुर, तिक्त, कटु रस वाला होता है। इसका अम्लपाक होता है, सर (मल को निकालने वाला) है, कुछ कषाय रसयुक्त भी होता है। यह स्वर, आरोग्य, प्रतिभा तथा मुखमण्डल की कान्ति को बढ़ाता है, लघु है। जिन्हें निद्रा न आती हो और जो अतिनिद्रा से पीड़ित हों उनके लिए हितकर होता है। यह पित्त तथा रक्त को दूषित कर देता है, कृश को पुष्ट करता है और स्थूल को कृश कर देता है, रूक्ष तथा सूक्ष्म है, स्रोतों को शुद्ध करता है, वातदोष एवं कफदोष को दूर करता है। विधि-विपरीत सेवन किया मद्य विष के समान हानिकारक होता है॥ ६२-६४॥

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. २५।४०; च.चि. २४; सु.सू. ४५; सु.उ. ४७ तथा अ.सं.सू. ६ मद्यवर्ग।

वक्तव्य—'मद्यं सौमनस्यजननानां, मद्याक्षेपो धीधृतिस्मृतिहराणाम्'। (च.सू. २५।४०) मद्य में जो दस गुण होते हैं वे क्रमशः ओजस् को जो शुक्र का उपधातु है, उसका विनाश कर देते हैं; यदि मद्य का अविधि सेवन किया गया तो। देखें—च.चि. २४।२९-३१। तैलवर्ग के बाद यहाँ मद्यवर्ग का इसलिए वर्णन किया गया है कि यह भी द्रव-द्रव्य है, दूसरा कारण यह भी है कि तेल और मद्य में 'कृश-स्थूल हित' धर्म समान हैं।

मद्य किस प्रकार कृश तथा स्थूल पुरुषों के लिए हितकारक होता है, उसका विवेचन यहाँ दिया जा रहा है—मद्य अपने तीक्ष्ण, सूक्ष्म आदि गुणों से तथा स्रोतों को शुद्ध करने आदि कर्मों के कारण ही कृशता अथवा स्थूलता को नष्ट करता है। **कृशता-नाश**—स्रोतों का भलीभाँति शोधन हो जाने से शरीर में रसधातु का संचार सुचारु रूप से होने लगता है, जिसके फलस्वरूप रस आदि सभी धातुएँ पुष्ट होने लग जाती हैं, जिससे मानव-शरीर पुष्ट हो जाता है। **स्थूलहित**—मद्य में रूक्ष, सर, तीक्ष्ण आदि कतिपय गुण ऐसे होते हैं, जिनके कारण तथा उक्त प्रकार से स्रोतों के संशोधन-कर्म से मेदोधातु का संचय होना भी रुक जाता है और पहले से संचित मेदोधातु इधर-उधर विलीन हो जाती है, मेदोवृद्धि ही तो स्थूलता में मूल कारण है।

नष्टनिद्राऽतिनिद्रेभ्यो हितम्—मद्य में तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष आदि गुण होते हैं, इनके कारण अतिनिद्रा का नाश हो जाता है। मद्य में मादकता यह एक प्रधान गुण होता है, जिसके कारण जिन्हें निद्रा नहीं आती है उन्हें मद्यपान कराने से निद्रा आ जाती है।

मद्य-परिचय—'बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारि तदुच्यते। तमोगुणप्रधानं च यथा मद्यं सुरादिकम्'॥ (शा.पू.खं. ४।२१) अर्थात् जो द्रव्य (मद्य) बुद्धि का विनाश कर देता है, उसे मदकारक कहते हैं, क्योंकि उसमें तमोगुण की प्रधानता रहती है। जैसे—मद्य, सुरा आदि।

मद्य रसायन है—यद्यपि मद्य एवं विष समान गुण वाले कहे गये हैं, तथापि मद्य तथा अन्न को समान रूप से प्रतिदिन सेवनीय कहा गया है। जब मद्य का अनुचित प्रकार से प्रयोग किया जाता है, तब यह रोगोत्पादक होता है, विधिपूर्वक सेवन करने से इसमें अमृत के समान गुण हैं। देखें—च.चि. २४।५९।

विधिप्रयुक्त मद्य के गुण—विधिपूर्वक, मात्रानुसार तथा समय पर चिकने पदार्थों के साथ यथाशक्ति, प्रसन्नचित्त होकर जो मद्यपान करता है, उसके लिए वह अमृत के समान गुणकारी होता है। देखें—च.चि. २४।२७।

सुरा का ऐतिहासिक वर्णन—चरक-चिकित्सास्थान २४।३ में सुरा की प्रशंसा करते हुए कहा है कि इसकी 'सौत्रामणि' नामक यज्ञ में आहुति भी दी जाती है। इस दृष्टि से यह सुरा यज्ञीय (पवित्र)

द्रव्य है। उक्त यज्ञ का संक्षिप्त परिचय—सौत्रामणि यज्ञ का ऋषि प्रजापति, देवता सुरा तथा इसका छन्द अनुष्टुप् है। इस यज्ञ में जिस समय सुरा-सन्धान किया जाता है, उस समय इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है—'ॐ स्वाद्वीन्त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन। मधुमतीं मधुमता सृजामि। स सोमेन सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्य'। इसका विस्तृत विवरण यजुर्वेद-काण्वशाखा अध्याय २१-२३ में देखें।

गुरु तद्दोषजननं नवं, जीर्णमतोऽन्यथा॥ ६५॥

नया तथा पुराना मद्य—नया मद्य गुरु (देर में पचने वाला) तथा त्रिदोषकारक होता है और इसके विपरीत पुराना मद्य लघु (शीघ्र पचने वाला) एवं त्रिदोषशामक होता है॥ ६५॥

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि नये मद्यों का सेवन नहीं करना चाहिए, केवल पुराने मद्य, आसव, अरिष्ट आदि का सेवन करना चाहिए। अतएव कहा गया है—'पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवा धातवो रसाः'। अर्थ स्पष्ट है।

पेयं नोष्णोपचारेण न विरिक्तक्षुधातुरैः। नात्यर्थतीक्ष्णमृद्वल्पसम्भारं कलुषं न च॥ ६६॥

मद्य का निषेध—उष्ण गुणयुक्त आहार-विहार के साथ, विरेचन करने के बाद एवं भूखे पेट में मद्य का सेवन न करे। अत्यन्त तीक्ष्ण, अत्यन्त मृदु (जिसमें मादकता बहुत कम हो), जो समुचित सामग्री से न बनाया गया हो और जो मलिन अर्थात् स्वच्छ न किया गया हो, ऐसे मद्य को नहीं पीना चाहिए॥ ६६॥

गुल्मोदरार्शोग्रहणीशोषहृत् स्नेहनी गुरुः। सुराऽनिलघ्नी मेदोऽसृक्स्तन्यमूत्रकफावहा॥ ६७॥

विभिन्न सुराओं का वर्णन—'सुरा'—यह गुल्मरोग, उदररोग, अर्शोरोग, ग्रहणीरोग तथा शोष (राजयक्ष्मा) रोग का विनाश करती है। यह स्नेहनकारक, गुरु (देर में पचने वाली) तथा वातनाशक होती है। यह मेदोधातु, रक्तधातु, दूध, मूत्र एवं कफदोष को बढ़ाती है॥ ६७॥

वक्तव्य—सुरा-परिचय—'शालिपिष्टकृतं मद्यं सुरा'। (श्रीहेमाद्रि) मद्य के अनेक भेदों में सुरा का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुरा-निर्माण के लिए शास्त्रोचित सामग्री का सन्धान हो जाने पर जब यन्त्र द्वारा मद्य निकाला जाता है, तो उसमें से पहले जो अर्क निकलता है, वह बहुत साफ होता है, अतएव उसे 'प्रसन्ना' कहते हैं। इसे पीते समय इसमें जल मिलाकर पिया जाता है, अतः इसे उत्तम श्रेणी की 'सुरा' कहते हैं। इसके बाद कादम्बरी, जगल और मेदक क्रमशः निम्न स्तर की होती हैं। प्राचीन काल में सुर, असुर, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व एवं मनुष्य भले ही इस उपद्रवकारिणी सुरा का आदर के साथ सेवन करते रहे हों; जैसा वर्णन च.चि. २४ में मिलता है और आज भी मद्य पीने वालों की कमी नहीं है। सरकार को भी इससे पर्याप्त लाभ है, भले ही सरकार मद्यविक्रय के साथ मद्यपान-निषेध की भी घोषणा करती रहती है, अस्तु। महर्षि वाग्भट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—**'मद्यविक्रयसन्धानदानादानानि नाचरेत्'**। (अ.हृ.सू. २।४०) अर्थात् मद्य का बनाना, बेचना, देना तथा लेना नहीं करना चाहिए। शास्त्र के इन उपदेशों को जब भले लोग नहीं सुनते हैं, तो भला ये शराबी कब सुनेंगे? और क्यों सुनेंगे?

सभी प्रकार के मादक पेय पदार्थों का नाम 'मद्य' है। प्राचीन उपलब्ध आयुर्वैदिक ग्रन्थों में 'अर्क' निकालने की विधि का उल्लेख नहीं मिलता। परवर्ती 'भैषज्यरत्नावली' नामक संग्रह-ग्रन्थ में 'मृतसंजीवनी सुरा' के निर्माण की विधि **'मृन्मये मोचिकायन्त्रे मयूराख्येऽपि यन्त्रके'** (ज्वराधिकार-प्रकरण) में अर्क निकालने का विधान किया गया है। अर्क जिनसे निकाला जाता है, उनके मोचिकायन्त्र तथा मयूरयन्त्र ये प्राचीन नाम हैं। मद्य के लिए सन्धान किये गये द्रव्यों का जो अर्क रूप द्रव होता है, उसी को मद्य (शराब) कहते हैं। सन्धानकाल की निश्चित अवधि नहीं है, फिर भी जिन द्रव्यों का सन्धान शीत-प्रधान स्थानों में एक मास में हो जाता है, वही कार्य उष्ण-प्रधान स्थानों में १५ दिनों में होते देखा जाता है।

एलोपैथी तथा होमियोपैथी पद्धति के अनुसार मद्यसार (स्प्रिट) में औषधियाँ डालकर कुछ समय तक उसी में पड़ी रहने पर उस-उस औषध को टिंचर के रूप में तैयार कर लिया जाता है। आयुर्वेदीय पद्धति के अनुसार औषधि तथा द्रव के संयोग से सन्धान करके आसव, अरिष्ट आदि तैयार कर लिये जाते हैं। औषध-द्रव्यों के क्वाथ आदि से आसव-अरिष्ट अपना प्रभाव इसलिए शीघ्र दिखलाते हैं, क्योंकि मद्य का एक गुण 'आशुकारी' भी है। अतएव सुश्रुत ने कहा है—'आशुत्वाच्चाशुकर्मकृत्'। (सु.उ. ४७।५)

तद्गुणा वारुणी हृद्या लघुस्तीक्ष्णा निहन्ति च। शूलकासवमिश्वासविबन्धाध्मानपीनसान्॥ ६८॥

वारुणी-परिचय—वारुणी नामक मद्य के गुण भी उक्त सुरा के समान होते हैं; शेष गुण इस प्रकार हैं—यह हृदय को बल देती हैं, लघु (शीघ्र पचने वाली) तथा तीक्ष्ण है। यह शूल, कास, वमन, श्वास, विबन्ध (स्रोतों की रुकावट, मल-मूत्र की रुकावट), अफरा तथा पीनस रोगों को नष्ट करती है॥ ६८॥

वक्तव्य—वरुणदेव (जल तथा पश्चिम दिशा के स्वामी) को यह मद्य प्रिय थी, अतः इसे 'वारुणी' कहते हैं। शार्ङ्गधराचार्य का कथन है कि इसका निर्माण ताल या ताड़ तथा खजूर के रस का सन्धान करके किया जाता है। वैसे भी ताड़ एवं खजूर की ताड़ी प्रसिद्ध है। यह सूर्योदय से पहले पीने पर मधुर स्वाद वाली होती है, सूर्य निकलने के बाद क्रमशः खट्टी होती जाती है।

नातितीव्रमदा लघ्वी पथ्या बैभीतकी सुरा। व्रणे पाण्ड्वामये कुष्ठे न चात्यर्थं विरुध्यते॥ ६९॥
विष्टम्भिनी यवसुरा गुर्वी रूक्षा त्रिदोषला।

बहेड़ा की सुरा—बिभीतक (बहेड़ा) की सुरा अधिक नशीली नहीं होती, हलकी होती है, हितकर होती है। और सुराओं की भाँति यह व्रण, पाण्डुरोग तथा कुष्ठरोग में अधिक हानिकारक नहीं होती॥ ६९॥

यव (जौ से निर्मित) सुरा—यह विष्टम्भकारक (कब्जियत करने वाली), गुरु, रूक्ष तथा त्रिदोषकारक होती है। **कोहली सुरा**—यह शरीर को स्थूल करने वाली तथा गुरु (देर में पचने वाली) होती है। **मधूलक सुरा**—यह कफकारक होती है।

वक्तव्य—वास्तव में **'विष्टम्भिनी·····मधूलकः'**॥ यह पद्य अ.सं.सू. ६।१२४ क्रमसंख्या में सुलभ है। इसे कुछ विद्वान् यहाँ भी जोड़ना चाहते हैं और कुछ इसकी प्रथम पंक्ति को यहाँ उद्धृत करना चाहते हैं, किन्तु श्रीहेमाद्रि कोहली सुरा का वर्णन करने वाली पहली पंक्ति को भी 'हृदयकार' की सम्पत्ति नहीं मानते, अस्तु।

कोहली सुरा—प्रथम मत—वैद्यकशब्दसिन्धु में इसे 'कूष्माण्डसुरा' कहा है अर्थात् कूष्माण्ड = पेठा, जिसकी मिठाई (कोहड़ापाक) बनती है, उससे बनायी गयी सुरा। द्वितीय मत—'कोहलो यवसक्तुकृत-मद्यविशेषः' अर्थात् जौ के सत्तुओं के द्वारा बनायी गयी सुरा। तीसरा मत—'कोहलः शक्तुभिर्देशे बाह्लीके क्रियते यवैः'। (वाचस्पतिः) बाह्लीक (बलख—अरब) देश में जौ के सत्तुओं द्वारा निर्मित सुरा। इस प्रकार दूसरा-तीसरा मत प्रायः समान है, केवल तीसरे मत में देश-विशेष की चर्चा है।

'मधूलक' का परिचय देते हुए श्रीइन्दु कहते हैं—'सर्वं मद्यमसञ्जातं मधूलकमिति स्मृतम्'। इति इन्दुः। उन सभी मद्यों को 'मधूलक' कह सकते हैं, जिनका सन्धान भलीभाँति न किया गया हो।

यथाद्रव्यगुणोऽरिष्टः　सर्वमद्यगुणाधिकः॥ ७०॥
ग्रहणीपाण्डुकुष्ठार्शःशोफशोषोदरज्वरान्। हन्ति गुल्मकृमिप्लीह्नः कषायकटुवातलः॥ ७१॥

अरिष्ट-परिचय—जिन द्रव्यों के संयोग द्वारा जिस अरिष्ट का निर्माण किया जाता है, वह अरिष्ट उन द्रव्यों के गुण-धर्म के समान होता है, किन्तु यह आसव सभी मद्यों से अधिक गुणवान् होता है। यह ग्रहणी, पाण्डु, कुष्ठ, अर्श, शोफ (सूजन), शोष (क्षय), उदररोग, ज्वर, गुल्म, क्रिमिरोग तथा प्लीहाविकारों को नष्ट करता है। यह स्वाद में कसैला तथा कटु होता है और वातवर्धक होता है॥ ७०-७१॥

वक्तव्य—आचार्य शार्ङ्गधर ने आसव-अरिष्ट के विभेदक लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'यद-पक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः। अरिष्टः क्वाथसाध्यः स्यात् तयोर्मानं पलोन्मितम्'॥ (शा.सं.म. १०।२) अर्थात् कच्ची औषधियों तथा जल के योग से सन्धान द्वारा जो मद्य तैयार किया जाता है, उसे 'आसव' कहते हैं। औषध-द्रव्यों को जल में डालकर क्वाथ करने के बाद जो मद्य तैयार किया जाता है, उसे 'अरिष्ट' कहते हैं। इन दोनों की साधारण मात्रा १ पल (४ तोला) है।

आसव-अरिष्ट का यह विभेदक लक्षण प्राचीन संहिताओं में नहीं मिलता है। हाँ, सुश्रुत ने आसवों से अरिष्टों को अधिक गुणवाला स्वीकार किया है—'अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्कारादधिको गुणैः'। (सु.सू. ४५।१९४) अर्थात् अरिष्ट में आसव से अधिक औषधद्रव्यों का संयोग होने से तथा संस्कार-विशेष होने से यह (अरिष्ट) अधिक गुणवान् होता है।

मार्द्वीकं लेखनं हृद्यं नात्युष्णं मधुरं सरम्। अल्पपित्तानिलं पाण्डुमेहार्शःकृमिनाशनम्॥ ७२॥

मुनक्का का मद्य—मृद्वीका को हिन्दी में मुनक्का या दाख कहते हैं। इसके द्वारा बनाया हुआ मद्य लेखन होता है, हृदय के लिए हितकर होता है। यह अधिक उष्ण नहीं होता, स्वाद में मधुर एवं इसका गुण सर है। यह थोड़ा पित्तदोष तथा वातदोष को बढ़ाता है। पाण्डुरोग, प्रमेह, अर्श (बवासीर) तथा क्रिमिरोग नाशक होता है॥ ७२॥

वक्तव्य—ऊपर मुनक्का के मद्य (द्राक्षासव) को 'लेखन' कहा गया है। यह आयुर्वेद में प्रयुक्त होने वाला एक पारिभाषिक शब्द है। लिखने की क्रिया को जो 'लेखन' कहा जाता है, वह वास्तविक रूप में लेपन है, क्योंकि हम स्याही द्वारा लेपन कार्य करते हैं। हाँ, उत्कीर्ण-लेखन कार्य में इस शब्द का समुचित प्रयोग हुआ है, क्योंकि 'लिख' धातु का अर्थ है—अक्षरविन्यास। इसी अर्थ में आयुर्वेद का लेखन शब्द भी है, जरा इसकी परिभाषा देखें—'धातून् मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत्। लेखनं तद्यथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः'॥ (शा.पू. ४।१०) अर्थात् जो द्रव्य सम्पूर्ण शरीर की धातुओं और मलों को सुखाकर तथा छीलकर निकाल देता है, वह 'लेखन' कहा जाता है। यथा—शहद, गरम जल, बालवच तथा जौ। वास्तव में छेदन एवं लेखन दोनों द्रव्य भीतर के जमे हुए दोषों को निकाल कर बाहर कर देते हैं।

अस्मादल्पान्तरगुणं खार्जूरं वातलं गुरु। शार्करः सुरभिः स्वादुहृद्यो नातिमदो लघुः॥ ७३॥

खार्जूर-शार्कर आसव—खजूर का मद्य—ऊपर मुनक्का के मद्य के जो गुण कहे गये हैं, उनसे खजूर के मद्य में कुछ कम गुण होते हैं। यह वातकारक तथा गुरु (देर में पचने वाला) होता है।

शार्कर (चीनी से निर्मित) मद्य—यह सुगन्धित, स्वाद में मधुर, हृदय के लिए हितकारक, अधिक नशा न करने लायक तथा लघु (शीघ्र पचने वाला) होता है॥ ७३॥

सृष्टमूत्रशकृद्वातो गौडस्तर्पणदीपनः।

गुड़ निर्मित आसव—यह मल, मूत्र तथा अपानवायु को बाहर निकलने के लिए प्रेरित करता है। यह मद्य तृप्तिकारक तथा अग्निदीपक होता है।

वक्तव्य—मद्य, आसव, सुरा, शराब, दारू आदि जिस-जिस द्रव्य से बनाये जाते हैं, उस-उस नाम से ये पुकारे जाते हैं। इस विषय में चरक ने कहा है—'योनिसंस्कारनामाद्यैर्विशेषैर्बहुधा च या। भूत्वा भवत्येकविधा सामान्यान्मदलक्षणात्'॥ (च.चि. २४।६) अर्थात् जो योनि (उत्पत्तिस्थान—धान्य, फल, मूल, सार, पुष्प, काण्ड, पत्र, त्वचा, शर्करा), संस्कार (पिप्पली आदि द्रव्यों से) तथा नाम आदि विशेषताओं से बहुत प्रकार की होती हुई भी मदलक्षण के सब में समान होने के कारण शराब एक ही प्रकार की होती है। देखें—च.सू. २४।४९। चरक के उक्त सन्दर्भ में इसके यथासम्भव भेदों का वर्णन कर दिया गया है।

वातपित्तकरः सीधुः स्नेहश्लेष्मविकारहा॥ ७४॥
मेदःशोफोदरार्शोघ्नस्तत्र पक्वरसो वरः।

सीधु का वर्णन—यह वात-पित्तकारक होता है, स्नेह के कारण उत्पन्न हुए विकारों तथा कफ-विकारों को नष्ट करता है। यह मेदोरोग, व्रणशोथ, उदरविकार तथा अर्शोरोग को नष्ट करता है। दो प्रकार के सीधुओं में शीत रस की तुलना में पक्वरस से बना हुआ सीधु गुणों में उत्तम होता है॥ ७४॥

वक्तव्य—सीधु दो प्रकार का होता है— १. शीतरस तथा २. पक्वरस। इसका निर्माण-प्रकार इस प्रकार है—ईख तथा अंगूर आदि के मधुर रस को पात्र में डालकर धूप में रख दें। इसे दो-तीन सप्ताह के बाद छानकर दूसरे पात्र में रख दिया जाता है। जब-जब इसमें जाला पड़े तब-तब इसे छानकर दूसरे पात्र में रख दें। जब जाला पड़ना बन्द हो जाय और वह रस अत्यन्त निर्मल हो जाय तो समझना चाहिए कि सीधु (सिरका) तैयार है। इसे बनाने के पारिवारिक अन्य अनेक प्रकार भी देखे जाते हैं। प्रायः इसके निर्माण में ४-५ मास का समय लग जाता है। इसका स्वाद अम्ल (खट्टा) होता है। यह पाचन होता है। इसका प्रयोग चटनी आदि के लिए किया जाता है।

छेदी मध्वासवस्तीक्ष्णो मेहपीनसकासजित्॥ ७५॥

मध्वासव का वर्णन—मधु के संयोग से बनाये गये आसव को मध्वासव कहते हैं। यह मल आदि का छेदन करता है और गुणों में तीक्ष्ण होता है। प्रमेह, पीनस एवं कास रोग को नष्ट करता है॥ ७५॥

रक्तपित्तकफोत्क्लेदि शुक्तं वातानुलोमनम्। भृशोष्णतीक्ष्णरूक्षाम्लं हृद्यं रुचिकरं सरम्॥ ७६॥
दीपनं शिशिरस्पर्शं पाण्डुदृक्कृमिनाशनम्।

शुक्त का वर्णन—यह रक्त, पित्त तथा कफ दोष को उभारता है, वातदोष का अनुलोमन करता है। यह गुण में अत्यन्त उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष तथा अम्लरस-प्रधान होता है। हृदय के लिए हितकर, रुचिकर, सर (मल को निकालने वाला), अग्निदीपन तथा स्पर्श में शीतल होता है। यह पाण्डुरोग, नेत्ररोग तथा क्रिमिरोग का नाश करता है॥ ७६॥

गुडेक्षुमद्यमार्द्वीकशुक्तं लघु यथोत्तरम्॥ ७७॥

गुड़ आदि शुक्त—गुड़ का शुक्त, ईख का शुक्त, मद्यनिर्माण-विधि से बनाया गया शुक्त तथा मुनक्का से बनाया गया शुक्त उत्तरोत्तर गुणों में हलके होते हैं॥ ७७॥

कन्दमूलफलाद्यं च तद्वद्विद्यात्तदासुतम्।

कन्द आदि शुक्त—सूरण, जिमीकन्द आदि कन्दों, गाजर-मूली आदि मूलों तथा लौकी, सेम, केवाँच आदि फलों से बनाया गया आसुत (आसव की भाँति चुवाया गया) द्रव भी उसी प्रकार लघु होता है।

वक्तव्य—यह शुक्त दो-तीन दिन में तैयार हो जाता है। मारवाड़, पंजाब आदि प्रदेशों में इसे 'काँजी' कहते हैं। इसमें राई पीसकर डाली जाती है; हींग, जीरा, कालानमक, हल्दी, तेल में पकाये पकौड़े भी डाले जाते हैं। खट्टापन आते ही इसमें डाले गये पदार्थों के साथ वह पानी भी पिया जाता है, जो पाचक तथा भूख को बढ़ाता है।

शुक्त-चुक्रनिर्माण-विधि—'मृण्मयादिशुचौ भाण्डे सगुडं क्षौद्रकाञ्जिकम्। धान्यराशौ त्रिरात्रिस्थं शुक्रं चुक्रं तदुच्यते'॥ अर्थात् मिट्टी आदि (ताँबा-पीतल का नहीं) के साफ पात्र में गुड़ तथा शहद को जल में घोलकर डाल दें। इस पात्र को तीन दिन तक धान्यराशि में दबाकर रख दें। इसी को शुक्त या चुक्र कहते हैं।

शाण्डाकी चासुतं चान्यत् कालाम्लं रोचनं लघु॥ ७८॥

शाण्डाकी-वर्णन—शाण्डाकी, आसुत तथा दूसरे वे द्रव जो कुछ (३ या ४) दिन तक रख देने से खट्टे हो जाते हैं, वे रुचिकारक तथा लघु (सुपाच्य) होते हैं॥ ७८॥

वक्तव्य—शण्डाकी, आसुत, सौवीर, तुषोदक आदि नाम अलग-अलग पदार्थों से बनायी गयी काँजियों के हैं। यह गर्मी के दिनों में २-३ दिनों में सेवन करने योग्य हो जाती है और शीतकाल में ५-६ दिनों में तैयार हो पाती है। फिर जितने दिन इसे रखेंगे खट्टी होती जाती है। यह खट्टी तथा मीठी भेद से दो प्रकार की होती है।

खट्टी काँजी के घटक द्रव्य— १. जल, २. नमक, ३. राई, ४. हल्दी तथा ५. कालीमिर्च।

मीठी काँजी के घटक द्रव्य—ईख का रस आदि मीठे द्रव-द्रव्यों द्वारा जल के योग से बनाई जाती है। काँजी का एक नाम 'अवन्तीसोम' भी है। वास्तव में यह मालव देश (मारवाड़) या जांगल देश का अमृत है, वहाँ इसे विविध प्रकार से बनाया जाता है, अन्यत्र यह अच्छी बनती भी नहीं।

धान्याम्लं भेदि तीक्ष्णोष्णं पित्तकृत्स्पर्शशीतलम्। श्रमक्लमहरं रुच्यं दीपनं बस्तिशूलनुत्॥ ७९॥
शस्तमास्थापने हृद्यं लघु वातकफापहम्। एभिरेव गुणैर्युक्ते सौवीरकतुषोदके॥ ८०॥
कृमिहृद्रोगगुल्मार्शःपाण्डुरोगनिबर्हणे। ते क्रमाद्वितुषैर्विद्यात्सतुषैश्च यवैः कृते॥ ८१॥

इति मद्यवर्गः।

धान्याम्ल आदि का वर्णन—धान्याम्ल नामक काँजी मल (पुरीष) का भेदन कर उसे निकालती है। यह तीक्ष्ण, उष्ण, पित्तवर्धक तथा स्पर्श में शीतल होती है। यह श्रम (शारीरिक थकावट) एवं क्लम (मानसिक थकावट) को दूर करती है। रुचिवर्धक, दीपन (जठराग्नि को बढ़ाने वाली), बस्तिशूलनाशक, निरूहणबस्ति में उपयोगी, हृदय के लिए हितकर, पाचन में लघु और वात तथा कफ दोष को नष्ट करती है।

सौवीरक तथा तुषोदक—उक्त धान्याम्ल के समान ही गुण इनके भी होते हैं। विशेष रूप से इनका प्रयोग इन रोगों के विनाश के लिए किया जाता है—क्रिमिरोग, हृदयरोग, गुल्मरोग, अर्शोरोग तथा पाण्डुरोग। दोनों में भेद—सौवीरक काँजी तुषरहित यवसमूह से बनायी जाती है और तुषोदक काँजी तुष सहित यवसमूह से बनायी जाती है॥ ७९-८१॥

वक्तव्य—भात या भात के माँड़ से जो काँजी बनायी जाती है, उसे 'धान्याम्ल' कहते हैं। 'सौवीरक' तथा 'तुषोदक' के भेदक लक्षण ऊपर कह दिये गये हैं।

ऊपर 'एभिरेव' से 'यवैः कृते' तक के श्लोकों की तीन पंक्तियाँ श्री अरुणदत्तसम्मत होने से इस संस्करण में अधिक हैं। ये पंक्तियाँ अ.सं.सू. ६।१३९-१४० से ली गयी हैं।

काँजी का स्पर्श शीतल होता है, अतः दाहशान्ति तथा ज्वरशान्ति के लिए इसमें साफ वस्त्र या रुई के फाहा को भिगाकर दाहस्थान पर माथा या नाभि पर रखा जाता है। ध्यान रहे, इसकी बूँदें आँखों में न पड़ने पायें।

अथ मूत्रवर्गः

मूत्रं गोऽजाविमहिषीगजाश्वोष्ट्रखरोद्भवम्। पित्तलं रूक्षतीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं कटु॥ ८२॥
कृमिशोफोदरानाहशूलपाण्डुकफानिलान्। गुल्मारुचिविषश्वित्रकुष्ठार्शांसि जयेल्लघु॥ ८३॥

इति मूत्रवर्गः।

आठ प्रकार के सूत्र— १. गाय, २. बकरी, ३. भेड़ी, ४. महिषी, ५. हाथी, ६. घोड़ा, ७. ऊँट तथा ८. गधा का मूत्र चिकित्सा में उपयोगी होता है। सामान्य दृष्टि से सभी मूत्र पित्तकारक, रूक्ष, तीक्ष्ण,

उष्ण, लवणरसयुक्त तथा कटुरसयुक्त होते हैं। ये क्रिमि, शोथ, उदररोग, आनाह (अफरा), शूल, पाण्डुरोग, कफविकार, वातविकार, गुल्म, अरुचि, विषविकार (विशेषकर सर्पविष), श्वित्र (सफेद दाग वाला कुष्ठ), कुष्ठ तथा अर्श (बवासीर) रोगों को शीघ्र शान्त करते हैं॥ ८२-८३॥

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि च.सू. १।९३ की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'अविमूत्रमित्यादौ स्त्रीमूत्रमेव प्रशस्तमिति लिङ्गपरिग्रहाद् दर्शयति; यतः स्त्रीणां लघ्वङ्गत्वान्मूत्रमपि लघु; वचनं हि—'लाघवं जातिसामान्ये स्त्रीणां पुंसां च गौरवम्'॥ (च.सू. २७।३३८) वास्तव में उक्त पाठ इस प्रकार है—'गौरवं लिङ्गसामान्ये पुंसां स्त्रीणां च लाघवम्'। हारीत का कथन है कि चौपायों में स्त्री को लघु और पक्षियों में पुरुष को लघु माना है, अस्तु।

सुश्रुत का मत—इनके अनुसार गाय, भैंस, बकरी, भेड़ (स्त्री जाति का) और घोड़ा, हाथी, गधा, ऊँट (पुरुष जाति) का ग्रहण करना चाहिए। इन्होंने नरमूत्र का भी ग्रहण करते हुए कहा है—यह विषनाशक होता है। इस प्रकार मूत्रों की संख्या = ८ + १ = ९ हो जाती है।

मूत्रप्रयोग का क्षेत्र—विरेचन के लिए इसका प्रयोग निरूहणबस्ति द्वारा किया जाता है। ये मूत्र विविध प्रकार के लेपों में तथा स्वेदन कार्य के लिए उपयोगी होते हैं। ये दीपन, पाचन तथा मलभेदक (दस्तावर) होते हैं। उक्त सभी मूत्रों में गोमूत्र उत्तम होता है। अ.सं.सू. ६।१४५-१४७ में वाग्भट ने इनके शकृत् (मलों) का भी वर्णन किया है।

आहार को पचाने के लिए पित्ताशय से आकर जितना पित्त द्रव खाये हुए आहार में मिलता है, इसका कुछ अंश मूत्र के साथ और कुछ मल के साथ शरीर से बाहर निकल जाता है, अतः मल एवं मूत्र में पित्तवर्धक गुण पाये जाते हैं, अतएव इनका प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है। मरे हुए प्राणियों के पित्ताशय से पित्तद्रव का संग्रह कर लिया जाता है, जिसका बाद में औषध रूप में प्रयोग किया जाता है। गाय के पित्त को 'गोरोचन' कहते हैं। इसका प्रयोग चिकित्सा तथा तान्त्रिक प्रयोगों में भी किया जाता है।

तोयक्षीरेक्षुतैलानां वर्गैर्मद्यस्य च क्रमात्। इति द्रवैकदेशोऽयं यथास्थूलमुदाहृतः॥ ८४॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने द्रवद्रव्यविज्ञानीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

उपसंहार—जल, क्षीर, इक्षु, तैल तथा मद्य वर्गों का इस अध्याय में क्रमशः वर्णन कर दिया गया है। इस प्रकार स्थूल रूप से द्रव-द्रव्यों के एक विशेष अंग को कह दिया है॥ ८४॥

वक्तव्य—यद्यपि उक्त पद्य अष्टांगसंग्रह (६।१४९) से लिया गया है, तथापि इसमें 'मूत्रवर्ग' का उल्लेख नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने इक्षुवर्ग के अन्तर्गत 'मधुवर्ग' को दे दिया था, उसे हमने स्वतन्त्र वर्ग के रूप में दे दिया है।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में द्रवद्रव्यविज्ञानीय नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त॥ ५॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातोऽन्नस्वरूपविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम द्रवद्रव्यों का वर्णन करने के बाद यहाँ से अन्नद्रव्यों के स्वरूप के विज्ञान के लिए प्रस्तुत अध्याय की व्याख्या करेंगे। इस विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने इस प्रकार कहा था।

निरुक्ति—'अन्नम्'—'अद्यते' इति क्तः'। 'अन्नं भक्ते च भुक्ते स्यात्'। इति मेदिनी। अन्न का अर्थ है— भात या खाया हुआ पदार्थ, इसका अर्थ यदि हम 'भात' करते हैं तो विषय-निर्देश में संकीर्णता आ जाती है, क्योंकि 'भुक्त' शब्द का क्षेत्र विस्तृत है, वहीं यहाँ अपेक्षित है, अस्तु। 'अन्नस्वरूप'—आहार के उपयोग में आने वाले रोटी, चावल, दाल, सब्जी आदि। स्वरूप—उन-उन के नाम, रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव, लक्षण आदि। यह अन्न (खाये जाने वाला पदार्थ) स्थावर तथा जांगम भेद से दो प्रकार का होता है। यथा—गेहूँ, चावल आदि स्थावर और मांस आदि जांगम (जंगम प्राणियों से प्राप्त होने वाला)।

स्थावर धान्य भी रबी और खरीफ भेद से दो प्रकार के होते हैं। इनका वर्गीकरण आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से पुनः दो प्रकार का होता है। यथा—१. शूकधान्य—शूक का अर्थ है नुकीले अग्रभाग वाले धान्य। जैसे—गेहूँ, जौ, धान आदि। २. शिम्बी या शमी धान्य—छीमी में उत्पन्न होने वाला दो दल युक्त अन्न। जैसे—चना, उड़द, कुलथी, सेम आदि।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. २७, सु.सू. ४६ तथा अ.सं.सू.७ तथा १२ में देखें।

अथ शूकधान्यवर्गः

रक्तो महान् सकलमस्तूर्णकः शकुनाहृतः। सारामुखो दीर्घशूको रोध्रशूकः सुगन्धिकः॥ १॥
पुण्ड्रः पाण्डुः पुण्डरीकः प्रमोदो गौरसारिवौ। काञ्चनो महिषः शूको दूषकः कुसुमाण्डकः॥
लाङ्गला लोहवालाख्याः कर्दमाः शीतभीरुकाः। पतङ्गास्तपनीयाश्च ये चान्ये शालयः शुभाः॥
स्वादुपाकरसाः स्निग्धाः वृष्या बद्धाल्पवर्चसः। कषायानुरसाः पथ्या लघवो मूत्रला हिमाः॥

शूकधान्यों का वर्णन—रक्तशालि, महाशालि, कलमशालि, तूर्णकशालि, शकुनाहृतशालि, सारामुख, दीर्घशूक, रोध्रशूक (लोध के फूल के सदृश शूक वाला), सुगन्धक (बासमती), पुण्ड्रशालि, पाण्डुशालि, पुण्डरीकशालि, प्रमोद, गौर, शारिव, काञ्चन, महिष, शूकशालि, दूषकशालि, कुसुमाण्डकशालि, लांगलशालि, लोहबाल नामक शालि, कर्दमशालि, शीतभीरुकशालि, पतंग तथा तपनीय शालि; इनके अतिरिक्त और भी जो अनेक शालियों की जातियाँ होती हैं, वे सब शालि उत्तम कोटि के होते हैं। वे सभी रस एवं विपाक में मधुर, स्निग्ध, वीर्यवर्धक होते हैं। इनको खाने से बँधा हुआ थोड़ा-सा मल बनता है। वे सब कुछ कषाय रसवाले होते हैं। ये सभी के लिए पथ्य, लघु (हलके), मूत्रकारक तथा हिम (शीतवीर्य) होते हैं॥ १-४॥

वक्तव्य—शकुनाहृत नामक शालिधान्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि इसे शकुनि (गरुड) पक्षी द्वीपान्तर से ले आया था, अतएव इसे शकुनाहृत या गरुड़शालि भी कहते हैं। आजकल तो व्यापारीवर्ग भी बासमती को 'गरुड़ब्राण्ड' कहने लगे हैं। किसी संस्करण में **'पुण्ड्र····शीतभीरुका'** ये पंक्तियाँ नहीं मिलतीं। यह पाठ सम्पूर्ण अष्टांगसंग्रह ७ से लिया गया है।

शूकजेषु वरस्तत्र रक्तस्तृष्णात्रिदोषहा।

रक्तशालि का वर्णन—ऊपर कहे गये सब शूकधान्य हैं, इनमें रक्तशालि उत्तम होता है। यह प्यास को कम करता है और त्रिदोषनाशक (शामक) होता है।

महांस्तमनु कलमस्तं चाप्यनु ततः परे॥५॥

क्रमशः गुणहीनता—रक्तशालि की तुलना में महाशालि, उससे कलमशालि, उससे भी तूर्णकशालि हीन गुणवाले होते हैं॥५॥

वक्तव्य—वाग्भट के टीकाकार श्री अरुणदत्त कहते हैं—'रक्तशालेः पश्चात् महान् शालिर्वरः'। और श्रीहेमाद्रि कहते हैं—'तमनु रक्तशालेर्हीनो महान्'। उक्त दोनों टीकाकारों का स्पष्ट मतभेद है। इस मतभेद के समाधान के लिए हम महर्षि सुश्रुत की शरण में जाते हैं— 'तेषां लोहितकः श्रेष्ठः·····तस्मादल्पान्तरगुणाः क्रमशः शालयोऽवराः'॥ (सु.सू. ४६।६-७) अर्थ स्पष्ट है।

यवका हायनाः पांसुबाष्पनैषधकादयः। स्वादूष्णा गुरवः स्निग्धाः पाकेऽम्लाः श्लेष्मपित्तलाः॥
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च पूर्वं पूर्वं च निन्दिताः।

यवक आदि शालिधान्य—यवक (जई), हायनक, पांसु, बाष्प, नैषधक आदि अन्य अनेक प्रकार के शालिधान्य होते हैं। इनके गुण—ये स्वाद में मधुर, उष्ण, गुरु, स्निग्ध, पाक में अम्ल, कफकारक तथा पित्तकारक होते हैं। इनके सेवन से मल-मूत्र की प्रवृत्ति सरलता से हो जाती है। ये क्रमशः अपने से पूर्व निन्दित होते हैं, इस क्रम से सबसे अधिक निन्दित यवक होता है॥६॥

वक्तव्य—चरक ने सूत्रस्थान के २५वें अध्याय में 'अहिततमानुपदेक्ष्यामः—यवकाः शूकधान्यानामपथ्यतमत्वेन प्रकृष्टतमा भवन्ति'। (३९) कहा है और 'लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमा भवन्ति'। (वहीं ३८) चरक के इस वचन से इनकी गुणहीनता तथा गुणवत्ता का स्पष्ट संकेत मिल जाता है।

स्निग्धो ग्राही लघुः स्वादुस्त्रिदोषघ्नः स्थिरो हिमः॥७॥
षष्टिको व्रीहिषु श्रेष्ठो गौरश्चासितगौरतः।

व्रीहिधान्य का वर्णन—व्रीहिधान्यों में षष्टिक (साठीधान्य) स्निग्ध, ग्राही (मल को बाँधने वाला), लघु (शीघ्र पचने वाला), स्वादु (मधुर), वात आदि तीनों दोषों का शामक, स्थिर (शरीर को स्थिर रखने वाला), हिम (शीतल) गुणवाला होता है। व्रीहिधान्यों से साठीधान्य उत्तम होता है। यह दो प्रकार का होता है—१. गौर (सफेद रंग वाला) तथा २. हलका काला। इनमें गौर साठी उत्तम होता है॥७॥

वक्तव्य—षष्टिक धान्य ग्रीष्म ऋतु में पकता है। षष्टिक (सफेद सांठी), कंगु, मुकुन्दक, पीतक, काकलक, असन, पुष्पक, महाषष्टिक, चूर्णक, कुरबक, केदार आदि ये सांठी धान्य की जातियाँ हैं। देखें—सु.सू. ४६।८ से ११ तक।

ततः क्रमान्महाव्रीहिकृष्णव्रीहिजतूमुखाः॥ ८ ॥
कुक्कुट्टाण्डकलावाख्यपारावतकशूकराः। वरकोद्दालकोज्ज्वालचीनशारददर्दुराः॥९॥
गन्धनाः कुरुविन्दाश्च गुणैरल्पान्तराः स्मृताः।

सामान्य गुणवाले षष्टिक—उक्त षष्टिक धान्यों से ये सामान्य (कुछ कम) गुण वाले होते हैं—महाव्रीहि, कृष्णव्रीहि, जतुमुख, कुक्कुटाण्ड, कपाल, पारावतक, शूकर, वरक, उद्दालक, उज्ज्वाल (ज्वार, मक्का, जुन्हरी), चीन (कौणी), शारद, दर्दुर, गन्धन तथा कुरुविन्द॥८-९॥

स्वादुरम्लविपाकोऽन्यो व्रीहिः पित्तकरो गुरुः ॥ १० ॥
बहुमूत्रपुरीषोष्मा, त्रिदोषस्त्वेव पाटलः ।

अन्य व्रीहिधान्य-वर्णन—ये रस में मधुर, विपाक में अम्ल, पित्तकारक, पाचन में गुरु तथा उष्ण होते हैं। इनका अधिक भाग मल-मूत्र के रूप में परिणत हो जाता है अर्थात् ये पौष्टिक नहीं होते। इनमें 'पाटल' नामक व्रीहि त्रिदोषकारक होता है॥ १० ॥

वक्तव्य—शालि-षष्टिक व्रीहिधान्यों का संक्षिप्त परिचय—**१. शालिधान्य**—इनकी फसल उगाने से पकने तक इन्हें जल से भरे खेतों की जरूरत होती है, फिर भी ये शरद् ऋतु के बाद में पकते हैं। ये अधिक सफेद होते हैं। **२. षष्टिक धान्य**—ये प्रायः साठ दिन में पककर तैयार हो जाते हैं। **३. व्रीहिधान्य**—चरक के टीकाकार श्रीचक्रपाणि के अनुसार ये शरत् काल में पकने वाले आशुधान्य हैं।

कङ्गुकोद्रवनीवारश्यामाकादि हिमं लघु ॥ ११ ॥
तृणधान्यं पवनकृल्लेखनं कफपित्तहृत् ।

तृणधान्यों का वर्णन—कंगु (कंगुनी या कौणी), कोद्रव (जंगली कोदों), नीवार (तीनी—मुनि अन्न), श्यामाक (साँवा) आदि ये तृण (निःसार) धान्य हैं। ये सभी शीरत, हलके, वातकारक, लेखन (खुरच कर मल या मैल को निकालने वाले), कफ तथा पित्त नाशक होते हैं॥ ११ ॥

वक्तव्य—ये तृणधान्य बिना जोते-बोये स्वयं उग जाते हैं और कहीं-कहीं बोये भी जाते हैं। हमारे धर्मशास्त्र के अनुसार अनेक व्रत ऐसे भी हैं, जिनमें **'हलकृष्टं न भुञ्जीत'** अर्थात् हल जोतकर जो अन्न पैदा होते हैं, उन्हें व्रत के दिन खाने का निषेध रहता है, तब ये अन्न खाये जाते हैं। यही स्थिति वनवासी मुनियों की भी होती है, अतएव इन्हें मुनिअन्न भी कहते हैं। सुश्रुत ने इन अन्नों का परिगणन 'कुधान्यवर्ग' में किया है। देखें—सु.सू. ४६।२१। वास्तव में ये 'कुत्सितं धान्यं कुधान्यम्' हैं।

भग्नसन्धानकृत्तत्र प्रियङ्गुर्बृंहणी गुरुः ॥ १२ ॥

प्रियंगुधान्य का वर्णन—तृणधान्यों में प्रियंगु (कंगुनी) भग्न (टूटे हुए शरीरावयव अर्थात् अस्थि) को जोड़ता है। यह शरीर को मोटा बनाता है और पाचन में गुरु है अर्थात् देर में पचता है॥ १२ ॥

वक्तव्य—सुश्रुत में प्रियंगु का वर्णन इस प्रकार है—प्रियंगु काला-लाल-पीला-सफेद वर्णभेद से चार प्रकार का होता है। ये उत्तरोत्तर रूक्ष तथा कफनाशक होते हैं। देखें—सु.सू. ४६।२४। इस दृष्टि से वाग्भटोक्त लक्षणों से ये लक्षण विपरीत प्रतीत होते हैं।

कोरदूषः परं ग्राही स्पर्शे शीतो विषापहः ।

कोदोंधान्य का वर्णन—कोदोंधान्य अत्यन्त ग्राही (मल को बाँधने वाला) होता है। यह स्पर्श में शीतल होता है और विषजनित विकारों को नष्ट करता है।

वक्तव्य—दाह की स्थिति में इसे पीसकर माथा में, पैरों में, उदर में, पेडुओं में लेप लगाया जाता है। यह स्पर्श में शीत होने के कारण दाहनाशक है। अष्टांगसंग्रह में कोरदूष = कोदों के बाद तृणधान्यों में एक 'उद्दालक' तथा 'मधूलिका' का भी ग्रहण किया है। इसे 'बड़ा कोदों' कहते हैं। यह उष्णवीर्य होता है। मधूलिका—यह शीतवीर्य, स्निग्ध तथा वृष्य होती है।

श्री अरुणदत्त का कथन है कि 'श्यामाकादि' में प्रयुक्त आदि शब्द से तोयश्यामाक, हस्तिश्यामाक, शिविर, प्रशान्तिका, मधूलिका, गवेधु, काण्डलोहित आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए। देखें—ऊपर ११वें श्लोक की व्याख्या।

रूक्षः शीतो गुरुः स्वादुः सरो विड्वातकृद्यवः ॥ १३ ॥
वृष्यः स्थैर्यकरो मूत्रमेदःपित्तकफान् जयेत्। पीनसश्वासकासोरुस्तम्भकण्ठत्वगामयान् ॥ १४ ॥

जौ का वर्णन—जौ रूक्ष, शीतल, पचने में गुरु (भारी), स्वाद में मधुर, सर (मल को सरकाने वाला), इसे खाने से मल (पुरीष) अधिक मात्रा में बनता है, यह वातदोष को बढ़ाता है। यह वीर्यवर्धक है, शरीर में स्थिरता को उत्पन्न करता है; मूत्रदोष, मेदोदोष, पित्त तथा कफविकारों को जीतता है। यह पीनस, श्वास, कास, ऊरुस्तम्भ, गले तथा त्वचा के रोगों को नष्ट करता है॥ १३-१४॥

न्यूनो यवादनुयवः—

अनुयव का वर्णन—अनुयव (छोटा जौ) के उक्त प्रसिद्ध जौ से दाने भी छोटे होते हैं और यह उक्त जौ से गुणों में भी कम होता है।

—रूक्षोष्णो वंशजो यवः।

वंशज जौ का वर्णन—बाँस से उत्पन्न लगभग जौ की आकृति वाले होने के कारण इन्हें बाँस के जौ कहते हैं। ये खाने में रूक्ष तथा उष्णवीर्य होते हैं।

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में वेणुयवों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—'बाँस के जौ उष्ण, सर, कषाय रस-प्रधान, वात तथा पित्त कारक होते हैं'। देखें—अ.सं.सू. ७।२१।

वृष्यः शीतो गुरुः स्निग्धो जीवनो वातपित्तहा॥ १५॥
सन्धानकारी मधुरो गोधूमः स्थैर्यकृत्सरः।

गोधूम का वर्णन—गेहूँ के गुण-धर्म—यह वृष्य (वीर्यवर्धक), शीतवीर्य, पाचन में गुरु, स्निग्ध, जीवनीय शक्ति प्रदान करने वाला, वात तथा पित्त का नाशक, टूटी हुई अस्थि को जोड़ने वाला, स्वाद में मधुर, स्थिरता को देने वाला तथा सर होता है॥ १५॥

पथ्या नन्दीमुखी शीता कषायमधुरा लघुः॥ १६॥
इति शूकधान्यवर्गः।

नन्दीमुखी का वर्णन—नन्दीमुखी (मुँडा गेहूँ) पथ्य (हितकर), शीतवीर्य, कषैला, मधुर तथा पाचन में लघु (हलका) होता है॥ १६॥

वक्तव्य—'नन्दीमुखी' यह नाम छोटे शूक वाले मुँडा गेहूँ का है, अतः व्याकरण की दृष्टि से इसका नाम **'नन्दीमुखा'** होना चाहिए 'गौरमुखा' की भाँति। देखें—'नखमुखात् संज्ञायाम्' (४।१।५८)—ङीष् न स्यात्।

अथ शिम्बीधान्यवर्गः

मुद्गाढकीमसूरादि शिम्बीधान्यं विबन्धकृत्। कषायं स्वादु सङ्ग्राहि कटुपाकं हिमं लघु॥ १७॥
मेदःश्लेष्मास्रपित्तेषु हितं लेपोपसेकयोः।

शिम्बीधान्य-परिचय—मूँग, अरहर, मसूर आदि शिम्बीधान्य कहे जाते हैं। ये शिम्बीधान्य स्वाद में कषैले तथा मधुर होते हैं। मल को बाँधते हैं, इनका कटु विपाक होता है। ये शीतवीर्य तथा लघुपाकी होते हैं। इनका प्रयोग मेदोविकार, कफविकार, रक्तविकार तथा पित्तविकारों में लेप तथा उपसेक अर्थात् दाल, कढ़ी आदि के रूप में भी किया जाता है॥ १७॥

वक्तव्य—इसके आगे कुछ संस्करणों में 'चना' नामक शिम्बीधान्य का इस प्रकार वर्णन मिलता है—'असृक्पित्तहरो रूक्षो वातलश्चवणकः स्मृतः'। इसका अर्थ है—चना। यह रक्तपित्तनाशक, रूक्ष तथा वातकारक होता है। अष्टांगसंग्रह ७।२६-२७ में इनके बारे में कुछ विशेष कहा गया है—दालों में मूँग की दाल श्रेष्ठ होती है, छोटे मूँग वातकारक होते हैं, हरे मूँग सबमें उत्तम होते हैं। **मोठ**—ये कृमिकारक

होते हैं। **मसूर**—लेप, उबटन आदि के रूप में प्रयुक्त मसूर मुखमण्डल की कान्ति को बढ़ाते हैं। ये मल को बाँधते हैं। **राजमाष** (लोबिया) गुरु होता है। यह मलकारक, रूक्ष तथा वातकारक होता है।

वरोऽत्र मुद्गोऽल्पचलः, कलायस्त्वतिवातलः ॥ १८ ॥
राजमाषोऽनिलकरो रूक्षो बहुशकृद्गुरुः ।

मूँग, मटर, राजमाष—मूँग, अरहर, मसूर नामक दालों में मूँग श्रेष्ठ है, यह थोड़ा वातकारक होता है। कलाय (मटर) अत्यधिक वातकारक होता है। राजमाष (लोबिया) वातकारक, रूक्ष तथा गुरु (पचने में देर लगाने वाला) होता है। इसका अधिकांश भाग मल (पुरीष) बन जाता है॥ १८॥

उष्णाः कुलत्थाः पाकेऽम्लाः शुक्राश्मश्वासपीनसान् ॥ १९ ॥
कासार्शःकफवातांश्च घ्नन्ति पित्तास्रदाः परम् ।

कुलथी का वर्णन—यह उष्ण, पाक में अम्ल, शुक्राश्मरी, श्वास, पीनस, कास, अर्श (बवासीर), कफविकार तथा वातविकारों को नष्ट करती है; पित्त और रक्त को बढ़ाती है॥ १९॥

निष्पावो वातपित्तास्रस्तन्यमूत्रकरो गुरुः ॥ २० ॥
सरो विदाही दृक्शुक्रकफशोफविषापहः ।

सेम का वर्णन—निष्पाव (सेम) वात-पित्तकारक, स्तन्य (दूध) तथा मूत्र को बढ़ाता है। यह गुरुपाकी होता है, सर, विदाही (पाचनकाल में दाहकारक होता है), नेत्रविकार, शुक्रदोष, कफविकार शोथ एवं विषविकारों को नष्ट करता है॥ २०॥

वक्तव्य—निष्पाव—निस् + पू + घञ्। इसका अर्थ होता है—फटकना या अनाज को साफ करना। इस अर्थ की इस प्रसंग में कोई उपयोगिता नहीं है। आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से यह एक शिम्बीधान्य है। निष्पाव (Phaseolus radiatus or a sort of pulse), सफेद सेम, राजशिम्बीबीज, भटवाँस (यह काला तथा सफेद रंग का होता है), कृष्णात्रेय ने—'निष्पावा मधुरा रूक्षाः सकषाया विदाहिनः' कहकर इनकी अनेक जातियाँ होती हैं, कहा है, अतएव बहुवचन का प्रयोग किया है।

माषः स्निग्धो बलश्लेष्ममलपित्तकरः सरः ॥ २१ ॥
गुरूष्णोऽनिलहा स्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत् ।

माष का वर्णन—माष (उड़द) स्निग्ध, बलवर्धक, कफकारक, मलवर्धक, पित्तकारक, सर, पाचन में गुरु, उष्ण, वातनाशक, स्वाद में मधुर, शुक्रवर्धक एवं विरेचक है॥ २१॥

वक्तव्य—माष (उड़द)-पाकविधि—उड़दों को खौलते हुए पानी में डालकर पकाया जाता है, जब उसके दाने फूटने लगते हैं, तो उसमें तेल डालकर ढक दिया जाता है। इस स्थिति में वे फिर मन्द आँच पर पकाये जाते हैं। इसमें नमक, मिर्च-मसाले इच्छानुसार डालकर हींग का छौंक भी लगाया जाता है। इस प्रकार पकायी गयी उड़द की दाल के गुणों का ही उक्त श्लोक में वर्णन है। पंजाब प्रान्त में इसी प्रकार उड़द की दाल बनायी जाती है। यह सूखी सब्जी की भाँति रोटियों तथा चावलों के साथ खायी जाती है। माष के अनेक वृष्य-प्रयोगों का वर्णन आयुर्वेद में प्राप्त होता है। माष का दाल के रूप में प्रयोग पश्चिम में अधिक होता है।

फलानि माषवद्विद्यात्काकाण्डोलात्मगुप्तयोः ॥ २२ ॥

काकाण्डोला तथा केवाँच—काकाण्डोला (शूकर सेम) तथा केवाँच के बीज भी माष (उड़द) के समान गुण-धर्मवाले होते हैं॥ २२॥

वक्तव्य—केवाँच की सेम जब पक जाती है, तो उसके रोम झड़ने लगते हैं। बन्दर उस सेम को खाने के लिए जाते हैं तो वे रोम उनके शरीर पर गिरते हैं, वे दिनभर खुजलाते रहते हैं। इस दृष्टि से केवाँच को संस्कृत में 'कपिकच्छु' कहते हैं। इसके बीज अत्यन्त पौष्टिक होते हैं। इन्हें घिसकर गोंद का भी काम लिया जाता है। उष्णकटिबन्ध में इसकी लताएँ होती हैं, यह शारदीय फल है। सुकोमल केवाँच की फलियों की सब्जी सेम की भाँति बनायी जाती है। केवाँच के बीजों की खीर अत्यन्त पौष्टिक एवं वीर्यवर्धक होती है।

उष्णस्त्वच्यो हिमः स्पर्शे केश्यो बल्यस्तिलो गुरुः। अल्पमूत्रः कटुः पाके मेधाऽग्निकफपित्तकृत्॥

तिल का वर्णन—तिल उष्णवीर्य, त्वचा के लिए हितकर, स्पर्श में शीत, बालों के लिए हितकर, बलवर्धक, गुरुपाकी, मूत्र को घटाने वाला, विपाक में कटु, बुद्धिवर्धक, अग्निवर्धक, कफकारक तथा पित्तकारक होते हैं॥ २३॥

वक्तव्य—'त्वच्यः' तथा 'केश्यः' तिलों के ये दो विशेषण प्रायः इनके तेल के हैं। तिलों को पीसकर इनका उबटन भी लगाया जाता है, तेल की मालिश भी की जाती है, अतः इन दोनों प्रकारों से यह त्वच्य है। 'केश्यः' केवल तेल के कारण है। **अल्पमूत्रः**—जाड़ों में वृद्धजनों को बार-बार पेशाब करने जाना पड़ता है, अतएव इन दिनों तिलकुट, तिलवट, तिलवा, गजक आदि भक्ष्यपदार्थ तिल को भूँजकर कूटकर गुड़ या चीनी मिलाकर बनाये जाते हैं। इनका सेवन करने से मूत्र की मात्रा कम हो जाती है। यही वाग्भट का सन्देश है।

स्निग्धोमा स्वादुतिक्तोष्णा कफपित्तकरी गुरुः। दृक्शुक्रहृत्कटुः पाके, तद्वद्बीजं कुसुम्भजम्॥

अतसी एवं कुसुम्भबीज—उमा (अलसी, तीसी या अतसी) स्निग्ध (तेल से युक्त), स्वाद में मधुर, कुछ तिक्त, उष्णवीर्य, कफकारक, पित्तकारक, गुरुपाकी, दृष्टिनाशक, शुक्रनाशक और विपाक में कटु होती है। कुसुम्भ (बर्रे) के बीज भी अतसी के समान गुण-कर्म वाले होते हैं॥ २४॥

वक्तव्य—तिल, अतसी तथा कुसुम्भबीज ये तीनों द्रव्य तिलहन में गिने जाते हैं, यहाँ इनका परिगणन शिम्बीधान्य के रूप में किया गया है। यह भी तो है कि एक द्रव्य अपने गुण-धर्मों से अनेक से सम्बन्धित रहता है।

माषोऽत्र सर्वेष्ववरो, यवकः शूकजेषु च।

माष एवं यवक वर्णन—शिम्बीधान्यों में माष (उड़द) उक्त सभी धान्यों में अवर (निकृष्ट) होता है और शूकधान्यों में यवक (जई) अधम होता है।

वक्तव्य—'माषाः शमीधान्यानाम् अपथ्यतमत्वेन प्रकृष्टतमा भवन्ति'। (च.सू. २५।३९) शमीधान्यों में माष अपथ्यतम होते हैं। यहाँ शूकधान्यों में यवक को जो पुनः अपथ्य कहा है, इससे ऐसा लगता है कि शास्त्रकार का यह वचन '**द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति**' वाली सूक्ति है अर्थात् दो बार बाँधी हुई गाँठ जल्दी खुलती नहीं। इसके पहले शूकधान्यवर्ग में 'पूर्वं पूर्वं च निन्दिताः' पद्यार्ध द्वारा यवक के गुणों की निन्दा की जा चुकी है, अस्तु। 'माषाः श्लेष्मपित्तजननानां श्रेष्ठाः'। (च.सू. २५।४०) इस वचन से अब आप किसी द्रव्य को सहसा उत्तम, मध्यम, अधम नहीं कह सकते, उसके लिए पूर्वापर की संगति अपेक्षित होती है। यही स्थिति 'यवक' की भी है।

वक्तव्य—चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि ने जिन द्रव्यों के जो नाम दिये हैं, देशभेद के कारण वे नाम बदल भी जाते हैं। इसलिए शूक, शमी, कुधान्य आदि को वहाँ-वहाँ के किसानों से, पशु-पक्षियों के नामों को व्याधों या शिकारियों से, कन्द-मूल-फलों के नामों को वनवासियों से, पकाये व्यञ्जनों के नामों को रसोइयों से, औषधद्रव्यों के नामों को औषधसंग्रह करके बाजारों में बेचने वालों (अत्तारों) से पूछें और प्रयोग करके उन-उन के गुण-धर्मों से मिलाकर प्रयोग में लायें।

नवं धान्यमभिष्यन्दि, लघु संवत्सरोषितम्॥ २५॥
शीघ्रजन्म तथा सूप्यं निस्तुषं युक्तिभर्जितम्।
इति शिम्बीधान्यवर्गः।

धान्य-विवेचन—उक्त दोनों प्रकार के (शूक तथा शिम्बी) धान्य नयी अवस्था में अभिष्यन्दी (कफकारक) होते हैं और वे ही सालभर पुराने होने पर लघु (शीघ्र पचने वाले) हो जाते हैं, जो धान्य शीघ्र पक जाते हैं। जैसे साठी आदि तथा छिलका उतारी हुई घी-तेल आदि में भूँजी हुई दालें भी लघु होती हैं॥ २५॥

वक्तव्य—खारणादि ने कहा है—एक साल पुराना हो जाने पर सभी प्रकार के धान्य अपनी गुरुता छोड़ देते हैं, किन्तु वे अपना वीर्य नहीं छोड़ते अर्थात् वे शक्तिहीन नहीं होते। **शीघ्रजन्म**—साठी आदि जो धान्य जितने शीघ्र पकते हैं वे उतने ही लघु होते हैं, इसके विपरीत देर में पकने वाले गेहूँ आदि धान्य स्वभावतः गुरु होते हैं। **सूप्य**—दाल के उपयोग में आने वाले मूँग, माष आदि। **निस्तुष**—छिलका उतारी हुई दालें, इन्हीं को **वितुष भी** कहते हैं। **युक्तिभर्जितम्**—ये दालें भड़भूँजे से भी भुँजवायी जाती हैं या घरों में घी-तेल में भूँजकर खायी जाती हैं, बिना घी-तेल के भूँजी हुई लघु होती है, शेष गुरु।

अथ कृतान्नवर्गः

मण्डपेया विलेपीनामोदनस्य च लाघवम्॥ २६॥
यथापूर्वं शिवस्तत्र मण्डो वातानुलोमनः। तृड्ग्लानिदोषशेषघ्नः पाचनो धातुसाम्यकृत्॥ २७॥
स्रोतोमार्दवकृत्स्वेदी सन्धुक्षयति चानलम्।

पकाये गये अन्नों का वर्णन—मण्ड (माँड़), पेया, विलेपी तथा ओदन (भात)—ये क्रमशः अपने पूर्ववर्ती पदार्थ से लघुपाकी होते हैं। **मण्ड-परिचय**—यह शिव (कल्याणकारक) होता है, वातदोष का अनुलोमन करता है, तृषा (प्यास), ग्लानि (हर्षक्षय), वमन, विरेचन आदि से शोधन कराने के बाद बचे हुए दोष का विनाशक है, पाचनकारक एवं धातुसाम्यकारक हैं, स्रोतों को मुलायम बना देता है, पसीना लाता है और यह जठराग्नि को विधिवत् सुलगाता (तेज करता) है॥ २६-२७॥

वक्तव्य—मण्ड—चावलों से चौदह गुना अधिक जल डालकर पकाये गये और सिक्थ (भात) के अंश को निकाल कर जो पेय द्रवद्रव्य शेष बचता है, उसे 'मण्ड' या 'माँड़' कहते हैं। इसमें सोंठ और सेंधानमक भी मिला लिया जाता है, तो यह दीपन-पाचन हो जाता है। इसके भेद—१. यवमण्ड तथा २. लाजमण्ड आदि।

पेया—आहारद्रव्य से चौदह गुना जल में बनायी गयी अत्यन्त पतली तथा थोड़ी-सी सीठी से युक्त वस्तु को पाकविशेषज्ञ 'पातुं योग्या पेया' अर्थात् पीने योग्य कहते हैं।

विलेपी—आहारद्रव्य से चौगुने पानी में डालकर तैयार की हुई, जिसमें सीठी का अंश विशेष हो, उसे विलेपी (लपसी) कहते हैं।

ओदन—चार पल (१६ तोला) चावलों को चौदह गुना जल में पकायें। चावलों के भलीभाँति गल जाने पर माँड़ को निकाल दें, इसे ओदन (भात) कहते हैं।

क्षुत्तृष्णाग्लानिदौर्बल्यकुक्षिरोगज्वरापहा॥ २८॥
मलानुलोमनी पथ्या पेया दीपनपाचनी।

पेया का वर्णन—यह भूख तथा प्यास को शान्त करती है, ग्लानि (उत्साहहीनता), दुर्बलता, उदररोगों एवं ज्वर का विनाश करती है। पुरीष आदि मलों का अनुलोमन करती है, रोगी तथा नीरोग दोनों के लिए हितकर है। यह दीपन और पाचन है॥ २८॥

विलेपी ग्राहिणी हृद्या तृष्णाघ्नी दीपनी हिता॥ २९॥
व्रणाक्षिरोगसंशुद्धदुर्बलस्नेहपायिनाम् ।

विलेपी का वर्णन—इसमें मल को बाँधने की शक्ति होती है, अतः यह अतिसाररोग को नष्ट करती है, हृदय को बल देती है, प्यास को शान्त करती है, मन्द अग्नि को प्रदीप्त करती है, सभी स्थितियों में हितकर है। यह व्रण (घाव), नेत्ररोग, वमन-विरेचन आदि द्वारा शुद्ध शरीर वाले दुर्बल व्यक्तियों तथा स्नेहपान करने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए लाभदायक होती है॥ २९॥

सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नोऽत्यक्तोष्मा चौदनो लघुः॥ ३०॥
यश्चाग्नेयौषधक्वाथसाधितो भृष्टतण्डुलः। विपरीतो गुरुः क्षीरमांसाद्यैर्यश्च साधितः॥ ३१॥

ओदन का वर्णन—जो भात चावलों को भलीभाँति धोकर पकाया जाता है, पकने पर जिसमें से माँड़ निकाल लिया गया हो (स्वाद की दृष्टि से नये चावलों का माँड़ प्रायः नहीं निकाला जाता, तभी वह स्वादिष्ट एवं गुरु होता है), जिसमें अभी तक गर्मी बनी हुई हो, ऐसा भात लघु (सुपच) होता है। जो भात चित्रक (चीता) के अथवा सोंठ के क्वाथ में बनाया जाता है या चावलों को भूजकर बनाया जाता है, वह भी लघु होता है। इसके विपरीत अर्थात् दूध में पकाये हुए चावलों की खीर, मांसरस में पकाये हुए चावलों का भात या बिना माँड़ निकाला हुआ भात ये सब गुरु (देर में पचने वाले) होते हैं॥ ३०-३१॥

इति द्रव्यक्रियायोगमानाद्यैः सर्वमादिशेत्।

संक्षिप्त निर्देश—इस प्रकार द्रव्य (जिससे जो पदार्थ बनाया गया हो), कर्म (निर्माणविधि के भेद-उपभेद), योग (सहयोगी द्रव्यों का संयोग) तथा उनके मान (नाप-तौल), आदि शब्द से देश, काल का ग्रहण करके सभी प्रकार के आहारद्रव्यों के लघुत्व, गुरुत्व आदि गुण-दोषों का स्वयं भी विचार कर लेना चाहिए और दूसरों को उसका निर्देश देना चाहिए।

बृंहणः प्रीणनो वृष्यश्चक्षुष्यो व्रणहा रसः॥ ३२॥

मांसरस के गुण—यह धातुओं को पुष्ट करने वाला, तृप्तिकारक, वीर्यवर्धक, आँखों के लिए हितकर (नेत्र-ज्योतिवर्धक) तथा व्रणनाशक (घाव को शीघ्र भरने वाला) होता है॥ ३२॥

मौद्गस्तु पथ्यः संशुद्धव्रणकण्ठाक्षिरोगिणाम्।

मूँग का यूष—यह वमन-विरेचन आदि क्रियाओं से शुद्ध शरीर वालों के लिए, व्रण, कण्ठ तथा नेत्ररोगियों के लिए पथ्य (हितकर) होता है।

वातानुलोमी कौलत्थो गुल्मतूनीप्रतूनिजित्॥ ३३॥

कुलथी का यूष—यह वातदोष को अनुलोम (अनुकूल) करता है, गुल्मरोग, तूनी तथा प्रतूनी नामक वातरोगों का विनाशक है॥ ३३॥

तिलपिण्याकविकृतिः शुष्कशाकं विरूढकम्। शाण्डाकीवटकं दृग्घ्नं दोषलं ग्लपनं गुरु॥ ३४॥

तिल, पिण्याक आदि—तिल की खली से बने हुए भोज्य पदार्थ, चना एवं सरसों के पत्तों को सुखाकर बनाये गये शाक, विरूढ़क (अंकुर निकले हुए चना, मोठ, मूँग आदि) तथा काँजी में डाले गये बड़े—ये सब पदार्थ दृष्टिनाशक, वात आदि दोषकारक, ग्लानिकारक तथा गुरु होते हैं॥ ३४॥

रसाला बृंहणी वृष्या स्निग्धा बल्या रुचिप्रदा।

रसाला के गुण—रसाला (श्रीखण्ड या शिखरन)—रस-रक्त आदि धातुओं को बढ़ाने वाली, वीर्यवर्धक, स्निग्ध (स्नेहयुक्त), बलवर्धक तथा रुचि को बढ़ाने वाली होती है।

रसाला, श्रीखण्ड, शिखरिणी या सिखरन—पाकक्रियाकुशल भीमसेन ने इसका निर्माण करके श्रीकृष्ण को खिलाया था, ऐसी चर्चा महाभारत में आई हैं। हम यहाँ उसी निर्माण-विधि का निर्देश कर रहे हैं—मलाई सहित उत्तम दही को एक स्वच्छ वस्त्र बाँधकर लटका दें। उसका जलीय तत्त्व निकल जाने पर उस दही को एक पात्र में निकाल लें, फिर किसी चौड़े बर्तन के मुख पर मोटा कपड़ा बाँधकर उस दही में चीनी मिलाकर उस कपड़ा के ऊपर रखकर उसे हाथ से रगड़ें। वह दही उस कपड़े से छनकर जब सब उस पात्र में आ जाये, तब उसमें उचित मात्रा में कालीमिर्च, जावित्री, केशर, इलायची आदि मिलाकर रख दिया जाता है, यह रसाला है। इसके भेद-उपभेदों का विस्तृत वर्णन देखें—'क्षेमकुतूहल' नामक ग्रन्थ में।

श्रमक्षुत्तृट्क्लमहरं पानकं प्रीणनं गुरु॥ ३५॥
विष्टम्भि मूत्रलं हृद्यं यथाद्रव्यगुणं च तत्।

पानक (शीतल पेय) गुण—यह शारीरिक थकावट, भूख, प्यास तथा मानसिक सुस्ती को हटाता है, तृप्तिकारक तथा गुरु होता है। यह विष्टम्भकारक (मलावरोधक), मूत्र को निकाल देने वाला, रुचिकर होता है। विशेष करके यह जिस प्रकार के द्रव्यों से बनाया जाता है, तदनुसार गुणों वाला होता है॥ ३५॥

वक्तव्य—यह एक प्रकार का पेय है, जो पकाये हुए कच्चे आम, पकी हुई इमली आदि के गूदे में पानी, नमक, मिर्च आदि मिलाकर तैयार किया जाता है; इसे 'पना' भी कहते हैं। इसके अन्य अनेक प्रकार हैं—फालसा, आलूबुखारा, काफल (नैनीताल, अलमोड़ा में सुलभ जंगली फल)—इनमें से किसी एक का उक्त विधि से पानक बनाया जाता है। बादाम, पोस्तादाना, भाँग के बीज, कद्दू, खरबूजा आदि के बीजों को एक साथ पानी डालकर पीस लें, फिर इसे कपड़े में डालकर छान लें। इसमें चीनी या उत्तम शहद डालकर पीया जाता है, यह भी एक सुमधुर पानक है। ग्रीष्मऋतु का यह उत्तम पौष्टिक पेय है। कुछ शौकीन लोग इसमें गुलकन्द भी मिलाते हैं। यह सोने में सुगन्ध है।

लाजास्तृट्छर्द्यतीसारमेहमेदःकफच्छिदः ॥ ३६॥
कासपित्तोपशमना दीपना लघवो हिमाः।

लाजा (लावा, खील)—ये तृष्णा (प्यास), वमन, अतिसार, प्रमेह, मेदोवृद्धि तथा कफदोष का विनाश करते हैं; कास एवं पित्तविकार को शान्त करते हैं, जठराग्नि को प्रदीप्त करते हैं, लघुपाकी, शीतल तथा शीतवीर्य होते हैं॥ ३६॥

वक्तव्य—'भृष्टं सुपुष्पितं धान्यं लाजेति परिकीर्तितम्'। अर्थात् धानों को भाड़ में भूँजकर जो फूल जैसा खिल जाता है, उसे 'लावा' कहते हैं। ये लाजा अन्य धान्यों के भी बनाये जाते हैं। लावा शब्द संस्कृत में पुल्लिंग एवं नित्य बहुवचनान्त है।

पृथुका गुरवो बल्याः कफविष्टम्भकारिणः॥ ३७॥

पृथुक (च्यूड़ा)—ये पाचन में गुरु, बलवर्धक, कफकारक तथा विष्टम्भकारक (मल को बाँधने वाले) होते हैं॥ ३७॥

वक्तव्य—श्रीअरुणदत्त का कथन है कि हरे धानों को भूँजकर मुशल से कूटकर चिपटे जो बनाये जाते हैं, उन्हें 'पृथुक' कहते हैं। यही मत श्रीहेमाद्रि तथा डल्हण का भी है। किन्तु आजकल सूखे धानों को भिगाकर भूनकर तब कूटकर च्यूड़ा बनाया जाता है।

उक्त आचार्यों द्वारा कथित विधि से बनाया गया च्यूड़ा शुद्ध एवं उत्तम होता है।

धाना विष्टम्भिनी रूक्षा तर्पणी लेखनी गुरुः।

धाना (भूने हुए जौ या चावल)—यह विष्टम्भकारक, रूक्ष (स्नेह रहित), तृप्तिकारक, लेखन करने वाली तथा पचने में गुरु होती है।

वक्तव्य—वाग्भट ने उक्त 'धाना' को 'गुरु' कहा है, सुश्रुत का मत इसके विपरीत है—'धानोलुम्बास्तु लघवः कफमेदोविशोषणाः'। (सु.सू. ४६।४१०) अर्थात् धाना तथा उलुम्बा (होलक) ये लघु होते हैं, कफ एवं मेदोधातु को सुखाते हैं। ऐसा क्यों ?

समाधान—'सुश्रुत' के मत में ये द्रव्य पाक में लघु हैं और गुणों में गुरु होते हैं। **'उलुम्बा'** को हिन्दी में **'होरहा'** भी कहते हैं।

सक्तवो लघवः क्षुत्तृट्श्रमनेत्रामयव्रणान्॥ ३८॥
घ्नन्ति सन्तर्पणाः पानात्सद्य एव बलप्रदाः। नोदकान्तरितान्न द्विर्न निशायां न केवलान्॥ ३९॥
न भुक्त्वा न द्विजैश्छित्त्वा सक्तूनद्यान्न वा बहून्।

सत्तुओं का वर्णन—प्रायः सभी प्रकार के सत्तू लघु होते हैं। ये भूख, प्यास, थकावट, नेत्ररोग तथा व्रणों को नष्ट करते हैं। ये पीने से तत्काल तृप्तिकारक तथा बल (शक्ति) कारक होते हैं। सत्तू खाते समय बीच-बीच में पानी नहीं पीना चाहिए। दिनभर में दो बार सत्तू का सेवन न करे, इसे रात में नहीं खाना चाहिए। केवल (बिना नमक या गुड़ मिलाये) सत्तू नहीं खाने चाहिए। भोजन कर लेने के बाद भी सत्तू का सेवन न करे। आटा की भाँति सानकर दाँतों से काट-काट या चबा-चबा कर इनका सेवन न करे और अधिक मात्रा में भी सत्तू न खाये॥ ३८-३९॥

वक्तव्य—अन्य प्रकार के भोजनों के बीच-बीच में जिस प्रकार लोग पानी पीते हैं, वैसा सत्तुओं के साथ न करें। 'न केवलान्' का अर्थ श्री अरुणदत्त तथा हेमाद्रि ने किया है—'उदकादिरहितान्'। इसमें आदि पद से नमक या गुड़ या मिश्री समझना चाहिए। कुछ लोग इसकी रूक्षता कम करने के लिए इसमें घी मिला लेते हैं। घी मिलाने की सलाह संग्रहकार की भी है। सत्तुओं को घोलकर पीना यही उचित है, आटा जैसा सानकर खाना उचित नहीं है।

सत्तू-निर्माण—जौ, चना, मसूर, बेर आदि को भूँजकर पीस लिया जाता है, इस प्रकार जो आटा बनाया जाता है, उसे 'सत्तू' कहते हैं। इसका प्रचार पूर्वी उत्तरप्रदेश में अधिक है। इधर इसके **'होटल'** भी देखे जाते हैं, उनका नाम होता है—'तुरन्ता भोजनालय'।

पिण्याको ग्लपनो रूक्षो विष्टम्भी दृष्टिदूषणः॥ ४०॥

पिण्याक-वर्णन—पिण्याक (तिल या सरसों की खली) ग्लानिकारक, रूक्षताकारक, विष्टम्भ (मल को रोकने वाला), दृष्टि को दूषित करने वाला होता है॥ ४०॥

वक्तव्य—पिण्याक का सेवन रात्रि में नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह रूक्ष होने के कारण विष्टम्भ करता है। उसके बाद यह विदाह करता है, फिर मन में ग्लानि को करता है।

वेसवारो गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः।

वेसवार-वर्णन—यह गुरु, स्निग्ध (चिकना), बलवर्धक तथा शरीर को स्थूल बनाता है।

वक्तव्य—वेसवार का परिचय श्रीचक्रपाणि ने च.सू. २७।२६९ की टीका में इस प्रकार दिया है—'मांसं निरस्थि सुस्विन्नं पुनर्दृषदि पेषितम्। पिप्पलीशुण्ठिमरिचगुडसर्पिःसमन्वितम्। ऐकध्यं विपचेत् सम्यग्वेशवार इति स्मृतः'। (सूदशास्त्र) अर्थात् अस्थिरहित मांस के छोटे-छोटे टुकड़ों को पकाकर उन्हें फिर सिल पर पीसकर पीपल, सोंठ, मरिच, गुड़, घी मिलाकर फिर से एक साथ पकायें, इसे वेसवार कहते हैं। इसी का अविकल पाठ सुश्रुत में देखें—सु.सू. ४६।३६४-३६५। यह मांसाहारियों का 'वेसवार' है। शाकाहारियों का 'वेसवार' आगे कहा जायेगा।

मुद्गादिजास्तु गुरवो यथाद्रव्यगुणानुगाः॥ ४१॥

मूँग आदि के वेसवार—मूँग, उड़द आदि वेसवार भी गुरु होते हैं, जिन घटकों द्वारा वे बनाये जाते हैं, उन्हीं के समान उन वेसवारों के गुण तथा कर्म भी होते हैं॥ ४१॥

वक्तव्य—'सिद्धसार' में कहा गया है—'अत्युष्णा मण्डकाः पथ्याः शीतला गुरवो मताः'। अर्थात् उक्त मूँग आदि द्वारा निर्मित मण्डक गरमागरम यदि खाये जाते हैं, तो हितकर होते हैं और वे शीतल हो जाने पर गुरु हो जाते हैं अर्थात् देर में पचते हैं।

वेशवार—जीरा, मरिच, सोंठ, पीपलामूल, धनियाँ, हल्दी, दारुहल्दी, पिप्पली तथा सफेद मरिच—यह सब वेशवारगण हैं। देखें—राज० मिश्रकवर्ग २२।६२। इन मसालों को डालकर जो मूँग आदि दालों के मण्डक (पकौड़े, बड़े आदि) बनाये जाते हैं, उनके गुण-धर्मों का ऊपर वर्णन किया गया है। यह शब्द तालव्य अथवा दन्त्य सकार मध्य भी देखा ज़ाता है।

कुकूलकर्परभ्राष्ट्रकन्द्वङ्गारविपाचितान् । एकयोनींल्लघून्विद्यादपूपानुत्तरोत्तरम्॥ ४२॥

इति कृतान्नवर्गः।

अपूपों का वर्णन—कुकूल (भूसा की आग), कर्पर या खर्पर अर्थात् फूटे हुए घड़े का टुकड़ा, भ्राष्ट्र (भाड़), कन्दुक (गोल आकार वाली कड़ाही) तथा जलते हुए कोयलों को अंगार कहते हैं। इनमें पकाये गये गेहूँ आदि किसी एक ही जाति के आटा के अपूप उत्तरोत्तर हलके होते हैं॥ ४२॥

वक्तव्य—'अपूप' शब्द सामान्यतया गेहूँ के आटे को घोलकर चीनी डालकर पकाये हुए मालपुआ के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ 'अपूप' की निर्माण-विधि से 'लिट्टी' या 'वाटी' का बोध हो रहा है, विशेषकर 'कुकूलपाचितान्' तथा 'अङ्गारपाचितान्' को देखकर। 'कर्परभ्राष्ट्रकन्दुपाचितान्' को देखकर रोटी का आभास हो रहा है। कर्पर या खर्पर का अर्थ है फूटे घड़े के खप्पर का तवा; भ्राष्ट्र का अर्थ है—भड़भूजे की भाड़ या भड़साँय या भड़साईं अथवा तन्दूर; कन्दु का अर्थ है—लोहे का तवा या कड़ाही। अब आप तवा या कड़ाही में जो भी बनायें किन्तु ऊपर के साधनों में अपूप का बनना या बनाना सम्भव नहीं है। इस प्रकार यहाँ अपूप का अर्थ—लिट्टी, वाटी, रोटी, फुलका, चिलड़ा, पराठा तथा मालपुआ भी हो सकता है। यद्यपि इसमें पकाये जाने वाले पदार्थों के लिए यहाँ घी-चीनी का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी अन्न, पकाने वाले पात्र तथा अग्नि का उल्लेख तो किया ही गया है। अतः यहाँ **'एकदेशविकृत-स्यानन्यत्वात्'** इस नियम से सभी का ग्रहण कर लिया जायेगा।

'कर्पर' शब्द का अर्थ है—घड़े का 'ठीकरा'। संस्कृत-साहित्य में एक आचार्य हुए हैं, जिनका नाम था 'घटकर्पर'। ये यमकालंकार की रचना में अपने काल में अद्वितीय थे। इनकी एक गर्वोक्ति है—'जीयेय येन कविना यमकैः परेण, तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण'। यहाँ भी कर्पर या खर्पर शब्द का वही अर्थ है।

इस प्रकरण का नाम **'कृतान्नवर्ग'** है। इसका अर्थ है—किये (पकाये) गये अन्नों (भक्ष्यपदार्थों) का वर्ग। 'कृत' का अर्थ संस्कृत भी होता है, इसका तात्पर्य है—मसाले आदि डालकर भलीभाँति पकाये गये और उसके बाद घी-तेल से छौंके गये। इस दृष्टि से सभी प्रकार के भक्ष्य पदार्थ कृत-अकृत भेद से दो प्रकार से बनाये जाते हैं। देखें—**'ज्ञेयाः कृताऽकृतास्ते तु स्नेहादियुतवर्जिताः'**। (अ.सं.सू. ७।५१) अर्थात् कृत (संस्कृत) अथवा अकृत (असंस्कृत)।

अथ मांसवर्गः

हरिणैणकुरङ्गर्क्षगोकर्णमृगमातृकाः । शशशम्बरचारुष्कशरभाद्या मृगाः स्मृताः॥ ४३॥

मृग-परिचय—हरिण, एण, कुरंग, गोकर्ण, मृगमातृका, शश, शम्बर (साँभर—बारहसिंगा), चारुष्क तथा शरभ आदि 'मृग' कहे जाते हैं॥ ४३॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह सू. ७।६७-६८ में मृगों की गणना इस प्रकार की गयी है—हरिण, एण, कुरंग, ऋष्य, गोकर्ण (नीलगाय), मृगमातृका, कालपुच्छक, चारुष्क, वरपोत, शशक, उरण, श्वदंष्ट्र, राम, शरभ (यह मृग काश्मीर में पाया जाता है, इसके आठ पैर होते हैं), लोहकारक, शम्बर (साँभर), कराल (कस्तूरीमृग), कृतमाल तथा पृषत (बिन्दुओं से युक्त त्वचा वाला)। चरक ने **'मृगा जाङ्गलचारिणः'** (च.सू. २७।५५) कहा है अर्थात् ये जंगल में विचरण करते रहते हैं। शिकारी इन्हें ढूढ़ते हैं, अतएव इन्हें मृग कहा जाता है।

लाववार्तीकवर्तीररक्तवर्त्मककुक्कुभाः । कपिञ्जलोपचक्राख्यचकोरकुरुवाहवः ॥ ४४ ॥
वर्तको वर्तिका चैव तित्तिरिः क्रकरः शिखी। ताम्रचूडाख्यबकरगोनर्दगिरिवर्तिकाः ॥ ४५ ॥
तथा शारपदेन्द्राभवरटाद्याश्च विष्किराः ।

विष्किर-परिचय—लाव (लवा), वर्तीक (बटेर), रक्तवर्त्मक, कुक्कुभ, कपिञ्जल, उपचक्र (चकवा), चकोर, कुरुबाहु, वर्तक (बत्तख), वर्तिका, तीतर, क्रकर, मोर, ताम्रचूड (मुर्गा), बकर, गोनर्द, गिरिवर्तिका, शारपद, इन्द्राभ तथा वरट नामक पक्षी विष्किर कहे जाते हैं॥ ४४-४५॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह (सू. ७।६९-७१) में विष्किर पक्षियों की गणना इस प्रकार की गयी है—लाव, वर्तीक, वातीर, रक्तवर्त्मक (गौरैया—गृहचटक), कुक्कुभ (जंगली मुरगा), कपिञ्जल (जंगली गौरैया), उपचक्र (चकवा), चकोर, कुरुबाहु, वर्तक (बत्तख), वर्तिका, तित्तिर, क्रकर (बया), मोर, मुर्गा, वरक (बगुला), गोनर्द, गिरिवर्तिका, शारपद, इन्द्राभ तथा वरटा (हंस की स्त्री)—ये सभी पक्षी विष्किर कहे जाते हैं।

विष्किर शब्द का अर्थ—पहले दानों के ढ़ेर को पंजों से बिखेर कर बाद में एक-एक दाना चुनकर खाने वाले पक्षियों को 'विष्किर' कहते हैं।

जीवञ्जीवकदात्यूहभृङ्गाह्वशुकसारिकाः ॥ ४६ ॥
लट्वाकोकिलहारीतकपोतचटकादयः । प्रतुदाः—

प्रतुद-परिचय—जीवंजीवक, दात्यूह, भृंग या भृंगराज, शुक, सारिका (मैना), लट्वा, कोकिल (कोयल), हारीत, कपोत (कबूतर) तथा चटक (गौरैया) आदि पक्षी प्रतुद कहे जाते हैं॥ ४६॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह सू. ७।७२-७५ में प्रतुद पक्षियों की गणना इस प्रकार है—शतपत्र (कठफोड़वा), भृंगराज, कोयष्टि (जलमुर्गा), जीवंजीवक, खंजरीट (खंजन पक्षी); हारीत (हरियल), दुर्नामारि (उल्लू), कृशगुह, लट्वा, लड्डूषक, वटहा, गोक्ष्वेड, डिण्डिमाणक, जटी (जटायु), दुन्दुभि, पार्कार, लोहपृष्ठ, कलिंगक, सारिका, शुक, शार्ङ्ग (सारंग), चिरीटीक, कुयष्टिक, मञ्जरीयक, दात्यूह, गोपापुत्र, प्रियात्मज, कलविंक, कोयल, कबूतर, अंगारचूड़क, पारावत (पेरवा वा जंगली कबूतर) तथा पाणविक—ये पक्षी 'प्रतुद' कहे जाते हैं। चोंच मारकर दाना चुगने वाले पक्षियों की 'प्रतुद' संज्ञा है।

विष्किर तथा प्रतुद वर्ग के पक्षी यद्यपि ऊपर अलग-अलग गिनाये गये हैं तथापि दोनों में प्रतुद धर्म समान ही होता है। सम्प्रति ये पक्षी उक्त नामों से अपरिचित से हो चले हैं, इनका परिचय बहेलियों (चिड़ीमारों) से प्राप्त कर लेना चाहिए।

—भेकगोधाहिश्वाविदाद्या बिलेशयाः ॥ ४७ ॥

बिलेशय-परिचय—भेक (मेढक), गोह, सर्प तथा साही आदि प्राणी 'बिलेशय' कहे जाते हैं॥ ४७॥

वक्तव्य—बिलेशय अर्थात् बिल में रहने वाले। मेढक मिट्टी के भीतर, गोह तथा सर्प का बिल होता ही है, साही के पूरे शरीर पर काँटे रहते हैं, यह बिल बना लेता है अथवा किसी गुफा को अपने लिए ढूँढ लेता है। इसके काँटे धार्मिक कृत्य तथा कृत्या प्रयोग में लिए जाते हैं।

अष्टांगसंग्रह (सू. ७।७६) में बिलेशय प्राणियों की गणना इस प्रकार है—श्वेत, श्याम, रंग-बिरंगी पीठ वाला तथा कालक नामक प्राणी मेढक, चिल्लट, कूचीक, गोह, शल्लक, शण्डक (साँडा), वृष (जंगली बिलाव), साँप, कदली (पौण्ड्रदेश में पाया जाने वाला प्राणी), श्वाविध (बड़ा साही) तथा नेवला—ये बिलेशय प्राणी हैं।

गोखराश्वतरोष्ट्राश्वद्वीपिसिंहर्क्षवानराः। मार्जारमूषकव्याघ्रवृकबभ्रुतरक्षवः ॥ ४८ ॥
लोपाकजम्बुकश्येनचाषवान्तादवायसाः। शशघ्नीभासकुररगृध्रोलूककुलिङ्गकाः। ॥ ४९ ॥
धूमिका मधुहा चेति प्रसहा मृगपक्षिणः।

प्रसह मृग—गाय, गधा, खच्चर, ऊँट, घोड़ा, द्वीपि (चीता), सिंह, भालू, बिलाव, चूहा, बाघ, वृक (भेड़िया), नेवला, तरक्षु (लकड़बग्घा), लोमड़ी तथा सियार। **पक्षी**—श्येन (बाज), चाष (नीलकण्ठ), वान्ताद (कुत्ता), कौआ, चील, भास, कुरर, गिद्ध, उल्लू, कुलिंगक, धूमिक तथा मधुहा नामक पक्षी प्रसह कहे जाते हैं॥ ४८-४९ ॥

वक्तव्य—ऊपर ४८वें श्लोक का यह उत्तरार्ध **'चाषवान्तादवायसाः'** कुछ खटक रहा है, 'क्योंकि यहाँ पक्षियों के बीच में कुत्ता का समावेश कर दिया है। यही स्थिति अ.सं.सू. ७।७८ की भी है। वास्तव में वान्ताद की गणना अन्वयविधि से कर भी ली जाती तो यहाँ सम्पूर्ण पंक्ति ही समस्त है, अस्तु। भीड़ में मनुष्य भी इधर-उधर भटक जाते हैं, पशु-पक्षियों का तो कहना ही क्या है?

वराहमहिषन्यङ्कुरुरुरोहितवारणाः ॥ ५० ॥
सृमरश्चमरः खड्गो गवयश्च महामृगाः।

महामृग-परिचय—सूअर, भैंसा, न्यंकु (बारहसिंगा का भेद), रुरु, रोहित, हाथी, सृमर (हरिण भेद), चमर, गैंडा तथा गवय (जंगली गाय)—ये महामृग कहे जाते हैं॥ ५० ॥

हंससारसकादम्बबककारण्डवप्लवाः ॥ ५१ ॥
बलाकोत्क्रोशचक्राह्वमद्गुक्रौञ्चादयोऽप्चराः ।

जलचर पक्षी—हंस, सारस, कादम्ब, बक (बगुला), कारण्डव, प्लव, बलाका, उत्क्रोश, चकवा, मद्गु (जलकौआ), क्रौञ्च आदि पक्षी 'जलचर' कहे जाते हैं॥ ५१ ॥

मत्स्या रोहितपाठीनकूर्मकुम्भीरकर्कटाः ॥ ५२ ॥
शुक्तिशङ्खोद्रशम्बूकशफरीवर्मिचन्द्रिकाः। चुलूकीनक्रमकरशिशुमारतिमिङ्गिलाः ॥ ५३ ॥
राजीचिलिचिमाद्याश्च—

मत्स्य-परिचय—रोहू, पाठीन, कछुआ, कुम्भीर, केकड़ा, शुक्ति (सीपी) का क्रिमि, शंख का क्रिमि, उद्र (जलबिलाव), शम्बूक (घोंघा), शफरी (छोटी जाति की मछली), वर्मी, चन्द्रिका, चुलुकी, नक्र (घड़ियाल), मकर, शिशुमार, तिमिंगिल (ह्वेल मछली), राजी तथा चिलचिम आदि मत्स्यवर्ग में परिगणित हैं॥ ५२-५३ ॥

—मांसमित्याहुरष्टधा।
(मृग्यं वैष्किरिकं किञ्च प्रातुदं च बिलेशयम्।
प्रासहं च महामृग्यमप्चरं मात्स्यमष्टधा ॥ १ ॥)

आठ प्रकार के मांस—१. मृग, २. विष्किर, ३. प्रतुद, ४. बिलेशय, ५. प्रसह, ६. महामृग; ७. जलचर पक्षी तथा ८. मत्स्यवर्ग॥ १ ॥

वक्तव्य—यहाँ 'जलचर' नाम से कुछ पक्षियों का वर्णन किया गया है, उसके बाद 'मत्स्यमांस' का उल्लेख है। मछलियाँ जलज, जलेचर तथा जलेशय होती हैं; किन्तु इनमें 'चिलचिम' नामक मछली

...का वर्णन चरक ने इस प्रकार दिया है—**'स पुनः शकली लोहितनयनः सर्वतो लोहितराजी रोहिताकारः प्रायो भूमौ चरति'**। (च.सू. २६।८३) यह इसकी आकृति का परिचय है और यह प्रायः भूमि में चरती है अर्थात् पानी से हटकर भी जीवित रहती है, यह इसकी विलक्षणता है।

योनिष्वजावी व्यामिश्रगोचरत्वादनिश्चिते॥५४॥

बकरी-भेड़ का वर्णन—बकरी तथा भेड़ की योनि (उत्पत्तिस्थान) के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये दोनों जांगल तथा आनूप देश में विचरण करती रहती हैं॥५४॥

आद्यान्त्या जाङ्गलानूपा मध्यौ साधारणौ स्मृतौ।

शेष प्राणियों का निर्णय—शेष मांसयोनियों का निश्चय इस प्रकार है—प्रारम्भ के तीन वर्ग (१. मृग, २. विष्किर, ३. प्रतुद) जांगल देश के और अन्तिम तीन वर्ग (१. महामृग, २. जलचर पक्षी तथा मत्स्य) आनूप देश के कहे जाते हैं तथा मध्यम दो वर्ग (१. बिलेशय तथा २. प्रसह) वाले दोनों लक्षणों से युक्त साधारण देश के माने जाते हैं।

तत्र बद्धमलाः शीता लघवो जाङ्गला हिताः॥५५॥
पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे।

मांसों का वर्णन—उक्त मांसों में जांगल देश के प्राणियों के मांस मल को बाँधते हैं, शीतवीर्य, पाचन में लघु तथा हितकर होते हैं। ये पित्त-प्रधान, मध्यम वात एवं हीन कफ वाले सन्निपात में हितकारक होते हैं॥५५॥

दीपनः कटुकः पाके ग्राही रूक्षो हिमः शशः॥५६॥

शशकमांस के गुण—खरगोश का मांस जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, विपाक में कटु, ग्राही (मल को बाँधने वाला), रूक्ष तथा शीतवीर्य होता है॥५६॥

ईषदुष्णगुरुस्निग्धा बृंहणा वर्तकादयः। तित्तिरिस्तेष्वपि वरो मेधाग्निबलशुक्रकृत्॥५७॥
ग्राही वर्ण्योऽनिलोद्रिक्तसन्निपातहरः परम्।

वर्तक आदि के मांस—ये कुछ उष्णवीर्य, पाचन में गुरु, स्निग्ध तथा पुष्टिकारक होते हैं। इन सबमें तीतर का मांस उत्तम होता है, क्योंकि यह धारण करने की शक्ति वाली बुद्धि, बल तथा शुक्र (वीर्य) को बढ़ाता है एवं मल को बाँधता है, मुखमण्डल की कान्ति को बढ़ाता है और वातदोष-प्रधान सन्निपात का विनाशक है॥५७॥

नातिपथ्यः शिखी पथ्यः श्रोत्रस्वरवयोदृशाम्॥५८॥

मोर का मांस—मोर का मांस अधिक पथ्यकारक नहीं होता, तथापि कर्णेन्द्रिय, स्वरवाही स्रोतस्, वयस् तथा दृष्टि को स्थिरता प्रदान करता है॥५८॥

तद्वच्च कुक्कुटो वृष्यः—

कुक्कुट का मांस—कुक्कुट का मांस भी मोर के मांस के समान गुण वाला होता है और यह वृष्य (वीर्यवर्धक) भी होता है।

—ग्राम्यस्तु श्लेष्मलो गुरुः।

पालतू मुर्गा का मांस—ग्राम्य (पालतू) मुर्गा का मांस वन में होने वाले मुर्गा के मांस से कफकारक तथा गुरु होता है।

मेधाऽनलकरा हृद्याः क्रकराः सोपचक्रकाः॥५९॥

क्रकर तथा उपचक्रक के मांस—ये मेधा (धारणाशक्ति) को बढ़ाने वाले, जठराग्नि को तेज करने वाले तथा हृदय के लिए हितकारक होते हैं॥ ५९॥

गुरुः सलवणः काणकपोतः सर्वदोषकृत्।

काणकपोतक का मांस—जंगली कबूतर का मांस पाचन में गुरु, कुछ नमकीन रस वाला तथा वात आदि तीनों दोषों को उभाड़ने वाला होता है।

चटकाः श्लेष्मलाः स्निग्धा वातघ्नाः शुक्रलाः परम्॥ ६०॥

चटक का मांस—यह मांस कफकारक, चिकना, वातदोषनाशक तथा शुक्र को अत्यन्त बढ़ाने वाला होता है॥ ६०॥

गुरूष्णस्निग्धमधुरा वर्गाश्चातो यथोत्तरम्। मूत्रशुक्रकृतो बल्या वातघ्नाः कफपित्तलाः॥ ६१॥

आठों मांसों का वर्णन—उक्त आठों मांस अपने क्रम से उत्तरोत्तर गुरु, उष्ण, चिकने तथा मधुर होते हैं। ये मूत्रवर्धक, शुक्रवर्धक, बलवर्धक, वातनाशक एवं कफ-पित्तकारक होते हैं॥ ६१॥

शीता महामृगास्तेषु क्रव्यादप्रसहाः पुनः। लवणानुरसाः पाके कटुका मांसवर्धनाः॥ ६२॥
जीर्णार्शोग्रहणीदोषशोषार्तानां परं हिताः।

महामृगों के मांस—उनमें भी महामृगों के मांस शीतवीर्य होते हैं। क्रव्यादों (कच्चा मांस खाने वाले प्राणियों) के तथा प्रसहों (जो दूसरे से लूटकर खा जाते हैं, उन) के मांस कुछ नमकीन स्वाद वाले, विपाक में कटु तथा मांस को बढ़ाने वाले होते हैं। ये पुराने अर्शरोग, ग्रहणीरोग तथा शोष (राजयक्ष्मा) रोग से पीड़ितों के लिए अत्यन्त हितकारक होते हैं॥ ६२॥

नातिशीतगुरुस्निग्धं मांसमाजमदोषलम्॥ ६३॥
शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम्।

बकरा का मांस—यह मांस समशीतोष्ण होता है, अतएव कहा गया है कि यह अतिशीत नहीं होता, अतिगुरु एवं अतिस्निग्ध भी नहीं होता; इसीलिए यह किसी दोष-विशेष को नहीं बढ़ाता। यह मनुष्य के शरीर की रस आदि धातुओं के समान होने के कारण अभिष्यन्दी भी नहीं है। यह सभी धातुओं को बढ़ाता है॥ ६३॥

विपरीतमतो ज्ञेयमाविकं बृंहणं तु तत्॥ ६४॥

भेड़ का मांस—भेड़ का मांस बकरे के मांस के गुणों से विपरीत गुणों वाला होता है, किन्तु यह भी शरीर की धातुओं को बढ़ाता है॥ ६४॥

शुष्ककासश्रमात्यग्निविषमज्वरपीनसान्। कार्श्यं केवलवातांश्च गोमांसं सन्नियच्छति॥ ६५॥

गाय का मांस—गाय के मांस का सेवन करने से सूखी खाँसी, श्रम (थकावट), अत्यग्नि (भस्मक रोग), विषमज्वर, पीनस, कृशता तथा केवल (शुद्ध) वातरोगों का विनाशक होता है॥ ६५॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने गोमांस के गुणों में एक गुण 'पवित्र' भी दिया है, जो विचारणीय है। देखें—सु.सू. ४६।८९। चरक ने भी प्रायः उक्त गुणों का ही वर्णन किया है। देखें—च.सू. २७।७९। किन्तु इन्होंने **'गोमांसं मृगमांसानाम्'** (च.सू. २५।३९) कहकर सभी मृगमांसों में इसे अधिक अपथ्य कहा है और वाग्भट ने भी 'निन्दितो गौः' (अ.सं.सू. ७।१०८) कहकर अपना अभिप्राय प्रकट किया है।

उष्णो गरीयान्महिषः स्वप्नदार्ढ्यबृहत्त्वकृत्।

भैंसा का मांस—यह अत्यन्त उष्ण, अत्यन्त गुरु, पर्याप्त नींद लाने वाला, शरीर को दृढ़ करने वाला तथा पुष्टिकारक होता है।

तद्वद्वराहः श्रमहा रुचिशुक्रबलप्रदः ॥ ६६ ॥

सूअर का मांस—सूअर का मांस भी भैंसे के मांस के समान गुण-धर्म वाला होता है। यह शारीरिक थकावट को दूर करता है, भोजन के प्रति रुचि को बढ़ाता है, वीर्यवर्धक तथा बलप्रद होता है॥ ६६॥

मत्स्याः परं कफकराः—

मत्स्य का मांस—सभी प्रकार की मछलियों का मांस अत्यन्त कफकारक होता है।

—चिलिचीमस्त्रिदोषकृत्।

चिलचिममत्स्य का मांस—चिलचिम नामक मछली का मांस त्रिदोषकारक होता है।

वक्तव्य—पक्षियों में चमगादड़ और मछलियों में चिलचिम जब जिधर मौका लगता है, उधर के हो जाते हैं। चमगादड़ पंख होने के कारण पक्षियों में और दाँत होने के कारण मृग आदि पशुओं में सम्मिलित हो जाता है। इसी प्रकार चिलचिम जलचर तथा थलचरों में सम्मिलित हो जाता है। ऐसे लोगों के चरित्र तथा गुण-धर्म दूषित होते ही हैं।

लावरोहितगोधैणाः स्वे स्वे वर्गे वराः परम्॥ ६७॥

लाव आदि का वर्णन—अपने-अपने वर्ग में इन प्राणियों के मांस उत्तम माने गये हैं, होते भी हैं। यथा—विष्किर वर्ग में 'लाव' पक्षी का मांस, मत्स्य वर्ग में 'रोहित मछली' का मांस, बिलेशय वर्ग में गोधा (गोह) का मांस और मृगवर्ग में 'एण' (हरिण) का मांस॥ ६७॥

वक्तव्य—अनूप देशवासी अथवा नदियों के तटवर्ती वे लोग जो सदा अन्न के स्थान पर मछलियों का ही आहार करते हैं। वे अपने को मांसाहारी स्वीकार नहीं करते। वे इन्हें फल या शाक के रूप में स्वीकार करते हैं और मछलियों को वे **'जलतोरई'** संज्ञा देते हैं।

मांसं सद्योहतं शुद्धं वयःस्थं च भजेत्—

भक्ष्य मांस-वर्णन—तत्काल मारे गये, जवान प्राणी के शुद्ध (साफ किये गये) मांस का सेवन करना चाहिए।

—त्यजेत्। मृतं कृशं भृशं मेद्यं व्याधिवारिविषैर्हतम्॥ ६८॥

अभक्ष्य मांस-वर्णन—स्वयं मरे हुए, अत्यन्त कृश हो, जो मृत प्राणी अधिक मेदस्वी हो या रोग-विशेष के कारण मरा हुआ हो, जल में डूबने से मरे प्राणी के अथवा विष के कारण जो मरा हो, ऐसे प्राणियों के मांसों का सेवन नहीं करना चाहिए॥ ६८.॥

वक्तव्य—गाय के मांस को बेचने वाला **बूचड़** तथा अन्य सभी प्रकार के मांसों को बेचने वाला कसाई कहा जाता है। अथवा ये दोनों ही कसाई हैं। ये भक्ष्य (हितकर), अभक्ष्य (अहितकर) दोनों प्रकार के मांसों को बेचते हैं। अतः मांसभक्षण करने वाले सावधान रहें। रोगी प्राणियों का मांस खा लेने से खाने वाले व्यक्ति को वे सभी रोग हो जाते हैं जिनके कारण उस प्राणी की मृत्यु हुई थी। प्रायः ये मांसविक्रेता बीमार पशुओं को सस्ते दामों में खरीद कर उन्हें मारकर उनका मांस बेच दिया करते हैं।

पुंस्त्रियोः पूर्वपश्चार्धे गुरुणी, गर्भिणी गुरुः। लघुर्योषिच्चतुष्पात्सु, विहङ्गेषु पुनः पुमान्॥ ६९॥
शिरःस्कन्धोरुपृष्ठस्य कट्याः सक्थ्नोश्च गौरवम्। तथाऽऽमपक्वाशययोर्यथापूर्वं विनिर्दिशेत्॥
शोणितप्रभृतीनां च धातूनामुत्तरोत्तरम्। मांसाद्गरीयो वृषणमेढ्रवृक्कयकृद्गुदम्॥ ७१॥

इति मांसवर्गः।

विशिष्ट अवयवों के मांस—पुरुषों के शरीर के पूर्वार्ध भाग का और स्त्रियों के शरीर के उत्तरार्ध भाग का मांस गुरु होता है। गर्भिणी स्त्री का मांस भी गुरु होता है। चौपायों में पुरुष प्राणी की तुलना

में स्त्रियों का मांस अधिक गुरु होता है। इसके विपरीत पक्षियों में स्त्री से पुरुष पक्षी का मांस अधिक गुरु होता है। यहाँ तक स्त्री-पुरुष के शरीर के अवयवों के मांस की गुरु-लाघव चर्चा हो गयी।

अब शरीर के अवयवों की चर्चा प्रस्तुत है। सिर, कन्धे, ऊरुओं, पीठ, कमर, टाँगों, आमाशय तथा पक्वाशय का मांस पूर्व-पूर्व अर्थात् अन्तिम से पहला, फिर उससे पहला—इस क्रम से गुरु होता है और रक्त आदि धातु भी उत्तरोत्तर गुरु होते हैं। यथा रक्त से मांस गुरु होता है। मांस से भी अधिक गुरु वृषण (अण्डकोष), मेढ्र (पुरुष की मूत्रेन्द्रिय), वृक्क (गुरदे), यकृत् तथा गुदभाग का मांस उत्तरोत्तर गुरु होता है॥ ६९-७१॥

वक्तव्य—इस वर्ग में मांसधातु के गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। यह सम्पूर्ण सृष्टि गुण-दोषमयी है। **'मांसान्मांसं प्रवर्द्धते'** अर्थात् मांस खाने से मांस बढ़ता है। ऐसा देखा भी जाता है, यह शास्त्रवचन भी है। ऐसा भी नहीं कि मांस खाने वाले ही हृष्ट-पुष्ट होते हों, शाकाहारी भी स्वस्थ, हृष्ट तथा प्रसन्न रहते ही हैं। मांसभक्षण सिंह आदि प्राणियों का धर्म है। प्राणियों में सद्भावना रखने के क्षेत्र में अहिंसा का प्रमुख स्थान है, अस्तु। मांसभक्षण जिह्वा के स्वाद का 'मिथ्यायोग' है। इन्द्रियों का वशीभूत मानव सत्-असत् सभी कर्मों को करता है। वास्तव में यह आयुर्वेद किसी जाति या सम्प्रदाय विशेष का न होकर मानव मात्र को स्वास्थ्य-सन्देश देने वाला एक प्रमुख शास्त्र है।

अथ शाकवर्गः

शाकं पाठाशठीसूषासुनिषण्णसतीनजम्। त्रिदोषघ्नं लघु ग्राहि सराजक्षववास्तुकम्॥ ७२॥

शाकों का वर्णन—अब यहाँ से कतिपय शाकों का वर्णन किया जा रहा है—पाठा, शठी (कचूर), सूषा (कासमर्द या कसौंदी), सुनिषण्ण (चौपतिया), सतीनज (तीनी), राजक्षव (नकछिकनी) तथा बथुआ—ये सभी शाक त्रिदोषनाशक, लघु एवं ग्राही होते हैं॥ ७२॥

वक्तव्य—ऊपर संक्षेप से कतिपय शाकों का वर्णन किया गया है, इसके आगे प्रायः उन्हीं का स्वतन्त्र रूप में विस्तार से वर्णन किया है। **शाकभेद**—१. पत्र, २. पुष्प, ३. फल, ४. नाल, ५. कन्द और ६. संस्वेदज—इस प्रकार शाकों के छः भेद होते हैं। ये उत्तरोत्तर एक-दूसरे से गुरु होते हैं, शास्त्रों में शाकों की निन्दा लिखी है। यथा—'शाकेन रोगा वर्धन्ते' (चा. नीति) और यह भी कहा है—ये विष्टम्भी, गुरुपाकी, रूक्ष आदि भी होते हैं। फिर भी ये प्रतिदिन खाये जाते हैं, अतः इन्हें सामान्य वचन समझना चाहिए अर्थात् इनका अधिक सेवन न करें।

सुनिषण्णोऽग्निकृद्वृष्यस्तेषु—

सुनिषण्णक का वर्णन—सुनिषण्णक (चौपतिया) का शाक उक्त सभी शाकों में अग्निवर्धक तथा वीर्यवर्धक होता है।

वक्तव्य—इस शाकवर्ग में कहे गये सभी शाकों के पर्याय निघण्टु-ग्रन्थों में देखें।

—राजक्षवः परम्। ग्रहण्यर्शोविकारघ्नः—

राजक्षव का वर्णन—राजक्षव (नकछिकनी) का शाक ग्रहणीरोग तथा अर्शोरोग का नाश करने वाले शाकों में उत्तम होता है।

—वर्चोभेदि तु वास्तुकम्॥ ७३॥

वास्तुक का वर्णन—वास्तुक (बथुआ) का शाक बँधे हुए मल का भेदन कर निकालने में उत्तम होता है॥ ७३॥

हन्ति दोषत्रयं कुष्ठं वृष्या सोष्णा रसायनी। काकमाची सरा स्वर्या—

काकमाची का वर्णन—काकमाची (मकोय की पत्तियों) का शाक तीनों दोषों का शमन करने वाला, कुष्ठरोग का विनाशक, वीर्यवर्धक, कुछ उष्णवीर्य, रसायन गुणों से युक्त, सर (मल को सरकाने वाला) तथा स्वरयन्त्र के लिए हितकर होता है।

—चाङ्गेर्यम्लाऽग्निदीपनी ॥ ७४ ॥
ग्रहण्यर्शोऽनिलश्लेष्महितोष्णा ग्राहिणी लघुः ।

चांगेरी (तिपतिया) का शाक—यह स्वाद में अम्ल, अग्निवर्धक, ग्रहणीरोग, अर्शोरोग, वातविकार तथा कफविकार नाशक होता है। यह उष्णवीर्य, मल को बाँधने वाला और लघु (शीघ्र पचने वाला) होता है ॥ ७४ ॥

वक्तव्य—सुनिषण्णक और चांगेरी के आकार में क्रमशः चार पात और तीन पात का अन्तर है, ये दोनों पत्रशाक हैं।

पटोलसप्तलारिष्टशार्ङ्गेष्टावल्गुजाऽमृताः ॥ ७५ ॥
वेत्राग्रबृहतीवासाकुतिलीतिलपर्णिकाः । मण्डूकपर्णीकर्कोटकारवेल्लकपर्पटाः ॥ ७६ ॥
नाडीकलायगोजिह्वावार्ताकं वनतिक्तकम् । करीरं कुलकं नन्दी कुचैला शकुलादनी ॥ ७७ ॥
कटिल्लं केम्बुकं शीतं सकोशातककर्कशम् । तिक्तं पाके कटु ग्राहि वातलं कफपित्तजित् ॥ ७८ ॥

पटोल आदि शाक—पटोल (परवल), सप्तला (सातला), अरिष्ट (नीम), शार्ङ्गेष्टा (काकतिक्ता —चक्रपाणि), अवल्गुजा (बाकुची के पत्ते, फलियाँ तथा बीज), अमृता (गिलोय या गुरुच के पत्ते), वेत्राग्र (बेंत के नये अंकुर), बृहती (वनभण्टा), वासा (अड़ूसा), कुन्तली (छोटा तिल-विशेष का पौधा), तिलपर्णिका, मण्डूकपर्णी (ब्राह्मीभेद के पत्ते), कर्कोट (ककोड़ा का फल), कारवेल्लक (करेला), पर्पट (पितपापड़ा), नाड़ी (नाड़ीशाक), कलाय (मटर), गोजिह्वा (गाजवाँ), वार्ताक (बैंगन), वनतिक्तक (पथ्यसुन्दर अर्थात् हरीतिकी—चक्र.टी.च.सू. २७।९५), करीर (कैर के फल या बाँस के अंकुर), कुलक (छोटा जंगली करैला), नन्दी (पारसपीपल के पत्ते), कुचैला (काली पाठा), शकुलादनी (कुटकी), कठिल्ल (दीर्घपत्रा पुनर्नवा), केम्बुक (करेमू), कोशातक (कृतबेधन तरोई) और कर्कश (स्वल्पकर्कोटकः —चक्र. कबीला के पत्र)—ये द्रव्य शीतवीर्य, स्वाद में तिक्त, पाक में कटु हैं, मल को बाँधने वाले हैं, वातकारक, कफ तथा पित्त दोषशामक हैं ॥ ७५-७८ ॥

वक्तव्य—ऊपर जिन २८ शाकों के नाम गिनाये गये हैं, उनमें अनेक परिचय की दृष्टि से विवादास्पद हैं, अतएव कोई टीकाकार किसी द्रव्य का कोई पर्याय दे रहा है तो कोई कुछ। यह विवाद औषधद्रव्य-विशेषज्ञों के सामूहिक निर्णय की अपेक्षा रखता है। विशेषज्ञ भी वे हों जो पूर्वाग्रह या दुराग्रह से ग्रस्त न हों, क्योंकि विगृह्यसम्भाषा से निर्णीत विषय सिद्धान्त रूप में परिणत नहीं हो पाते। ऐसा ही एक द्रव्य है—**वनतिक्तकम्**। आचार्य चक्रपाणि इसे पथ्यसुन्दरम्, श्री अरुणदत्त वत्सकः, श्री हेमाद्रि किराततिक्तम्, शब्दमाला—हरीतकी, वैद्यकनि०—लोध्रवृक्ष तथा रत्नमाला—वनतिक्तायां, पाठायाम्। इसी प्रकार अन्य अनेक द्रव्य हैं।

हृद्यं पटोलं कृमिनुत्स्वादुपाकं रुचिप्रदम्।

परवल का शाक—यह हृदय के लिए हितकारक, क्रिमिनाशक, पाक में मधुर तथा भोजन के प्रति रुचि (इच्छा) को उत्पन्न करता है।

पित्तलं दीपनं भेदि वातघ्नं बृहतीद्वयम् ॥ ७९ ॥

बृहतीद्वय का वर्णन—वनभण्टा तथा कण्टकारी के फलों का शाक पित्तवर्धक, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, मलभेदक तथा वातनाशक होता है ॥ ७९ ॥

वृषं तु वमिकासघ्नं रक्तपित्तहरं परम्।

अडूसा का वर्णन—अडूसा के पत्तों का शाक वमन, कास (खाँसी) तथा रक्तपित्तरोग का नाश करने में उत्तम होता है।

कारवेल्लं सकटुकं दीपनं कफजित्परम्॥ ८०॥

करेला का शाक—यह कुछ कटु (तिक्तरस युक्त), अग्निदीपक तथा कफनाशक द्रव्यों में उत्तम है॥ ८०॥

वक्तव्य—लोलिम्बराज ने करेला का आलंकारिक वर्णन किया है। देखें—वैद्यावतंस।

वार्ताकं कटु तिक्तोष्णं मधुरं कफवातजित्। सक्षारमग्निजननं हृद्यं रुच्यमपित्तलम्॥ ८१॥

बैगन का शाक—यह दो प्रकार का होता है—१. कटु तथा तिक्त, २. मधुर। दोनों प्रकार के बैगन उष्णवीर्य, कफ तथा वात नाशक होते हैं। इनमें कुछ क्षार अंश भी होता है। ये जठराग्नि को बढ़ाने वाले, हृदय के लिए हितकर, रुचिकारक तथा कुछ पित्तकारक भी होते हैं॥ ८१॥

वक्तव्य—'अपित्तलम्'—यहाँ पित्त शब्द के साथ जो नञ्समास किया गया है, वह 'ईषत्' अर्थ में है, ऐसा समझना चाहिए। श्रीहेमाद्रि कहते हैं—'अपित्तलत्वं बालपक्वव्यतिरेकेण'। यहाँ श्रीहेमाद्रि ने सुश्रुतसम्मत व्याख्यान किया है। देखें—'जीर्णं सक्षारपित्तलम्'। (सु.सू. ४६।२६९)

करीरमाध्मानकरं कषायं स्वादु तिक्तकम्।

करीर का शाक—यह आध्मान(अफरा)कारक होता है, रस में कषाय, मधुर तथा तिक्त होता है।

कोशातकावल्गुजकौ भेदिनावग्निदीपनौ॥ ८२॥

तोरई तथा बाकुची का शाक—ये दोनों बँधे हुए मल का भेदन करने वाले तथा अग्निदीपक होते हैं॥ ८२॥

तण्डुलीयो हिमो रूक्षः स्वादुपाकरसो लघुः। मदापित्तविषास्रघ्नः—

तण्डुलीय (चौलाई) का शाक—यह शीतवीर्य, रूक्ष, रस तथा पाक में मधुर एवं लघु होता है। यह मदविकार (मदात्यय), पित्तविकार, विषविकार तथा रक्तविकार (विशेषकर रक्तप्रदर) का विनाश करता है।

—मुञ्जातं वातपित्तजित्॥ ८३॥

स्निग्धं शीतं गुरु स्वादु बृंहणं शुक्रकृत्परम्।

मुञ्जातक (कन्द-विशेष) का शाक—यह वात तथा पित्तविकारों का नाशक होता है; स्निग्ध, शीत, गुरु, स्वाद में मधुर, शरीर को पुष्ट करने वाला तथा शुक्रवर्धक होता है॥ ८३॥

गुर्वी सरा तु पालङ्क्या—

पालक का शाक—यह गुरु होने के कारण देर में पचता है तथा मलभेदक होता है। देशभेद से इसका स्वादभेद भी देखा जाता है।

—मदघ्नी चाप्युपोदका॥ ८४॥

उपोदिका (पोई) का शाक—यह भी गुरु एवं सर गुणों से युक्त होती है तथा मद का नाश भी करती है॥ ८४॥

पालङ्क्यावत्स्मृतश्चञ्चुः स तु सङ्ग्रहणात्मकः।

चञ्चु का शाक—इसके सामान्य गुण पालक के समान होते हैं। इसका विशेष गुण है—ग्राही होना।

वक्तव्य—करीर या करील को 'क्रकरीपत्र' भी कहा गया है। यह अन्य वृक्षों की भाँति बहुत पत्तों वाला नहीं होता, तथापि इसकी नवीन शाखाओं में विरल पत्ते होते हैं। निघण्टुकारों ने इसे 'मरुभूरुह' कहा है। इसकी कली तथा फलों का अचार भी बनता है। औषधीय उपयोग में इसकी कली, फल एवं छाल लिये जाते हैं। **मुञ्जातक**—एक कन्द-विशेष का नाम है, इसके गुण राजनिघण्टु में देखें। इसके अभाव में तालमज्जा का प्रयोग किया जाता है। सु.सू. ३९।९ में कफनाशक द्रव्यों में इसका भी परिगणन किया गया है।

विदारी वातपित्तघ्नी मूत्रला स्वादुशीतला॥ ८५॥
जीवनी बृंहणी कण्ठ्या गुर्वी वृष्या रसायनम्।

विदारी (बिलाई) कन्द—यह वात-पित्तनाशक, मल-मूत्र को निकालने वाला, स्वाद में मधुर, शीतवीर्य, जीवनीय शक्ति को देने वाला, स्वास्थ्यवर्धक, कण्ठ के लिए हितकर, पाचन में गुरु, वीर्यवर्धक तथा रसायन होता है॥ ८५॥

वक्तव्य—इसकी सुदीर्घ लताएँ होती हैं, उनकी जड़ों में गाँठ के रूप में यह कन्द पाया जाता है। छिलका उतारने पर दूध जैसा सफेद द्रव इसमें से निकलता है। यह खाने में आरम्भ में अत्यन्त मधुर किन्तु अन्त में कुछ कसैलापन इसमें पाया जाता है। पहाड़ी क्षेत्रों में यह जाड़े का मेवा है। वर्षभर के बाद इनका स्वाद वैसा नहीं रह जाता।

चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा॥ ८६॥

जीवन्ती का शाक—यह दृष्टि के लिए हितकर, त्रिदोषनाशक, मधुर तथा शीतवीर्य है॥ ८६॥

कूष्माण्डतुम्बकालिङ्गकर्कार्वेर्वारुतिण्डिशम्। तथा त्रपुसचीनाकचिर्भटं कफवातकृत्॥ ८७॥
भेदि विष्टम्भ्यभिष्यन्दि स्वादुपाकरसं गुरु।

कूष्माण्ड आदि का वर्णन—कूष्माण्ड (कोहड़ा, पेठा), तुम्ब (जिसकी साधु लोग तुम्बी या कमण्डलु बनाते हैं), कालिंग (तरबूज), कर्कारु (खरबूजा), उर्वारु (ककड़ी या खीरा), तिण्डिश (टिंडे), त्रपुस (बड़ा खीरा), चीनाक (चीना ककड़ी) और चिर्भट (फूट)—ये सभी कफकारक, वातकारक, मलभेदक, विष्टम्भी, अभिष्यन्दी, विपाक तथा रस में मधुर एवं गुरु होते हैं॥ ८७॥

वल्लीफलानां प्रवरं कूष्माण्डं वातपित्तजित्॥ ८८॥
बस्तिशुद्धिकरं वृष्यम्—

कूष्माण्ड (कोहड़ा) के गुण—लताओं में फलने वाले उक्त सभी फलों में कूष्माण्ड उत्तम माना गया है। यह वात तथा पित्त विकार का शमन करता है, बस्ति (मूत्राशय) को शुद्ध करता है और वीर्य को बढ़ाता है॥ ८८॥

—त्रपुसं त्वतिमूत्रलम्।

त्रपुस का वर्णन—त्रपुस (बड़ा खीरा) कूष्माण्ड आदि से अधिक मूत्रकारक होता है।

तुम्बं रूक्षतरं ग्राहि कालिङ्गैर्वारुचिर्भटम्॥ ८९॥
बालं पित्तहरं शीतं विद्यात्पक्वमतोऽन्यथा।

तुम्ब या तुम्बा (गोल लौआ या लौकी)—तरबूज, ककड़ी, फूट ये सब अत्यन्त रूक्ष तथा मल को बाँधने वाले होते हैं। ऊपर कहे गये फल जब तक बाल (मुलायम) रहते हैं तब तक इनका गुण पित्तनाशक होता है और ये शीतवीर्य होते हैं। जब ये पक जाते हैं, तब पित्तकारक एवं उष्णवीर्य हो जाते हैं॥ ८९॥

शीर्णवृन्तं तु सक्षारं पित्तलं कफवातजित्॥ ९०॥
रोचनं दीपनं हृद्यमष्ठीलाऽऽनाहनुल्लघु।

शीर्णवृन्त-फलशाक—शीर्णवृन्त (जो शाकफल अपने डण्ठल से अलग हो गया हो) शाक कुछ खारापन, पित्तकारक, कफदोष तथा वातदोष का विनाशक, रुचिकारक, जठराग्निदीपक तथा हृदय के लिए हितकर होता है। यह वाताष्ठीला तथा आनाह (अफरा) रोगों का विनाशक एवं लघु होता है॥ ९०॥

वक्तव्य—यहाँ 'शीर्णवृन्त' शब्द से भलीभाँति पके हुए फल का ग्रहण करना चाहिए। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—'शुक्लं लघूष्णं सक्षारं दीपनं बस्तिशोधनम्' (सु.सू. ४६।२१३) श्री अरुणदत्त अपनी व्याख्या में कहते हैं—'शीर्णवृन्तं' = कर्चूरम्।

शीर्णवृन्त—यहाँ इस नाम से एक शाक-विशेष का वर्णन किया गया है। 'वृन्त' शब्द का प्रयोग—फल तथा वृक्ष या लता से जुटे हुए भाग को **डण्ठी** या **डण्ठल** कहते हैं। शीर्ण का अर्थ है—गला हुआ। प्रायः सब फलों के वृन्त पकने पर गल या झड़ जाते हैं, किन्तु लाल कुम्हड़ा या सीताफल या कद्दू नाम का एक लताफल ऐसा होता है, जिसका वृन्त पकने पर भी अलग नहीं होता। इसे अंग्रेजी में Red gourd कहते हैं, इसका अर्थ लाल कुम्हड़ा होता है। वाग्भट ने श्लोक ८८ में जिस कूष्माण्ड का वर्णन किया है, वह 'पेठे की मिठाई' वाला है।

मृणालबिसशालूककुमुदोत्पलकन्दकम् ॥ ९१॥
नन्दीमाषककेलूटशृङ्गाटककसेरुकम्। क्रौञ्चादनं कलोड्यं च रूक्षं ग्राहि हिमं गुरु॥ ९२॥

मृणाल आदि का वर्णन—मृणाल (कमलनाल), बिस (कमल की जड़ = भसींडा), शालूक (कमलकन्द), कुमुद (कुई) एवं उत्पल के कन्द, नन्दी (तुण्डिकेरी), माषक (वास्तुल), केलूट (किस्मक नामक उदुम्बर भेद), शृंगाटक (सिंघाड़ा), कसेरू, क्रौञ्चादन (मृणाल, पिप्पली, धेञ्चुलक, चिञ्चोटक) और कलोड्य (पद्मबीज)—ये सभी द्रव्य रूक्ष, ग्राही (मल को बाँधने वाले), शीतवीर्य एवं गुरु (देर से पचने वाले) होते हैं॥ ९१-९२॥

कलम्बनालिकामार्षकुटिञ्जरकुतुम्बकम्। चिल्लीलट्वाकलोणीकाकुरूटकगवेधुकम्॥ ९३॥
जीवन्तझुञ्झ्वेडगजयवशाकसुवर्चलाः। आलुकानि च सर्वाणि तथा सूप्यानि लक्ष्मणम्॥ ९४॥
स्वादु रूक्षं सलवणं वातश्लेष्मकरं गुरु। शीतलं सृष्टविण्मूत्रं प्रायो विष्टभ्य जीर्यति॥ ९५॥
स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं नातिदोषलम्।

कलम्ब आदि का वर्णन—कलम्ब (कदम्ब या करेमू), नालिका (नालीशाक), मार्ष (मरसा), कुटिञ्जर (ताम्रमूलक या तन्दुलक), कुतुम्बक (द्रोणपुष्पी—गूमा), चिल्ली (क्षारपत्रक शाक, लाल बथुआ), लट्वाक (गुग्गुलशाक), लोणीका (लोणार, सलूनक, कुलफा), कुरूटक (स्थितिवारक, शितिवारी), गवेधुक (तृणधान्य), जीवन्त (जीवन्ती), झुञ्झु (चुच्चू), ऐडगज (चकवड़), यवशाक (छोटे पत्तों वाली चिल्ली या जौ के कोमल पत्ते), सुवर्चल (हुलहुल), सभी प्रकार के आलू, सभी प्रकार के वे अन्न जिनकी दालें बनायी जाती हैं (जैसे—चना, अरहर, मूँग, उड़द, मसूर, कुलथी आदि) और लक्ष्मण (मुलेठी के पत्ते)—उपर्युक्त सभी शाक स्वाद में मधुर, रूक्ष, लवणरस युक्त, वात तथा कफ कारक, देर में पचने वाले, शीतवीर्य, मल-मूत्र निकालने वाले और प्रायः ये देर से पचते हैं। यदि इन्हें उबाल कर इनका रस निचोड़ कर घी या तेल में भलीभाँति भूँज लिया जाता है, तो ये दोषकारक नहीं होते॥ ९३-९५॥

लघुपत्रा तु या चिल्ली सा वास्तुकसमा मता॥ ९६॥

चिल्लीशाक का वर्णन—चिल्ली नामक शाक दो प्रकार का होता है—१. बड़े पत्तों वाला तथा २. छोटे पत्तों वाला। इनमें से दूसरे के गुण-धर्म बथुआ के समान होते हैं॥ ९६॥

तर्कारीवरुणं स्वादु सतिक्तं कफवातजित्।

तर्कारी आदि शाक का वर्णन—तर्कारी (अरणी) तथा वरणा के कोमल पत्तों एवं फलों का शाक स्वाद में मधुर, कुछ तीतापन युक्त होता है। ये दोनों कफदोष तथा वातदोष नाशक होते हैं।

वर्षाभ्वौ कालशाकं च सक्षारं कटुतिक्तकम्॥ ९७॥
दीपनं भेदनं हन्ति गरशोफकफानिलान्।

पुनर्नवा एवं कालशाक—दोनों प्रकार की (छोटी तथा बड़ी) पुनर्नवाओं का तथा कालशाक (काला मरसा का शाक) कुछ खारा, स्वाद में कुछ कटु एवं कुछ तिक्त रस वाला होता है। ये दोनां शाक जठराग्नि को प्रदीप्त करते (सुलगाते) हैं, मल का भेद करके उसे निकालते हैं। दूषीविष, शोफ (सूजन), कफदोष तथा वातदोष का विनाश करते हैं॥ ९७॥

दीपनाः कफवातघ्नाश्चिरिबिल्वाङ्कुराः सराः॥ ९८॥

करञ्ज का शाक—करंज के कोमल पत्तों या अंकुरों का शाक जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला कफ एवं वात नाशक होता है और मल की रुकावट को दूर करता है॥ ९८॥

शतावर्यङ्कुरास्तिक्ता वृष्या दोषत्रयापहाः।

शतावरी के अंकुरों का शाक—यह स्वाद में हलका तिक्तरस वाला, वीर्यवर्धक तथा तीनों दोषों का विनाशक होता है।

वक्तव्य—शतावरी या शतावर वृष्य (वीर्यवर्धक) औषधों में उत्तम है। नैनीताल तथा अलमोड़ा आदि पर्वतीय क्षेत्रों में यह पर्याप्त रूप में पायी जाती है। इसके अंकुरों को पर्वतीय भाषा में 'कैंरुआ' कहा जाता है। ये चैत्रमास के अन्तिम दिनों से आषाढ़ तक अधिक मात्रा में निकलते रहते हैं। आरम्भ में ये दो-चार दिनों तक सुकोमल होते हैं। इनका संग्रह कर छोटे-छोटे टुकड़े काटकर सब्जी बना ली जाती है। इसे रोटी के साथ खाया जाता है। यह पौष्टिक तथा रुचिवर्धक होती है। यह **अंकुरशाक** है।

रूक्षो वंशकरीरस्तु विदाही वातपित्तलः॥ ९९॥

वंशकरीर का शाक—बाँस के नये अंकुर का शाक—शतावरी के अंकुरों की भाँति बाँस के भी अंकुर निकलते हैं, इनका भी शाक, आचार तथा मुरब्बा बनाया जाता है। नेपाल में इसके आचार का अत्यन्त प्रचार है, वहाँ इसे 'तामा' कहते हैं। इसके गुण—यह रूक्ष, विदाहकारक तथा वातपित्तकारक होता है॥ ९९॥

पत्तूरो दीपनस्तिक्तः प्लीहार्शःकफवातजित्।

पत्तूर (मछेछी) का शाक—यह अग्निदीपक, स्वाद में तिक्त, कफ तथा वात दोष का नाशक है। यह प्लीहाविकार तथा अर्शोरोग को शान्त करता है।

कृमिकासकफोत्क्लेदान् कासमर्दो जयेत्सरः॥ १००॥

कासमर्द (कसौंदी) का शाक—यह क्रिमिरोग, कासरोग, कफज विकार तथा उत्क्लेद (शरीर में उत्पन्न गीलेपन) को जीत लेता है। यह मलभेदक है॥ १००॥

रूक्षोष्णमम्लं कौसुम्भं गुरु पित्तकरं सरम्।

कुसुम्भ का शाक—कुसुम्भ (कुसुम) के पत्तों का शाक रूक्ष, उष्णवीर्य, अम्ल, गुरु (देर से पचने वाला), पित्तकारक तथा सर (रेचक) होता है।

गुरूष्णं सार्षपं बद्धविण्मूत्रं सर्वदोषकृत्॥ १०१॥

सरसों के पत्तों का शाक—यह पाचन में गुरु, उष्णवीर्य, स्वाद में कुछ अम्ल, पाचन में गुरु, मल-मूत्र की प्रवृत्ति में रुकावट डालने वाला तथा त्रिदोषकारक होता है॥ १०१॥

वक्तव्य—साहित्यदर्पणकार श्रीविश्वनाथ ने भी सर्षपशाक की प्रशंसा की है, परन्तु यह भी कह दिया है कि इसे ग्राम्य लोग बड़े चाव से खाते हैं—'तरुणं सर्षपशाकं' इत्यादि। इसे पंजाब में बड़े आदर के साथ खाया जाता है, अन्यत्र भी लोग खाते ही हैं।

यद्बालमव्यक्तरसं किञ्चित्क्षारं सतिक्तकम्। तन्मूलकं दोषहरं लघु सोष्णं नियच्छति॥ १०२॥
गुल्मकासक्षयश्वासव्रणनेत्रगलामयान्। स्वराग्निसादोदावर्तपीनसांश्च—

बालमूली का शाक—जो मूली कच्ची (रूढ़ न हुई हो) वह अव्यक्त रस वाली या कुछ खारापन तथा तीतापन लिये होती है। वह तीनों दोषों का नाश करती है, लघु तथा कुछ उष्णवीर्य वाली होती है। मूली गुल्म, कास, क्षय, श्वास, व्रण, नेत्रविकार, कण्ठविकार (स्वरभेद आदि), ज्वररोग, अग्निमान्द्य, उदावर्त तथा पीनस रोगों को नष्ट करती है॥ १०२॥

—महत्पुनः॥ १०३॥
रसे पाके च कटुकमुष्णवीर्यं त्रिदोषकृत्। गुर्वभिष्यन्दि च—

वृद्धमूली का शाक—बड़ी मूली रस एवं विपाक में कटु, उष्णवीर्य, त्रिदोषकारक, देर में पचने वाली तथा अभिष्यन्दी होती है॥ १०३॥

—स्निग्धसिद्धं तदपि वातजित्॥ १०४॥

स्नेहसिद्ध मूली का शाक—यदि बड़ी मूली को घी में भलीभाँति पका लिया जाय तो यह वातनाशक होती है॥ १०४॥

वक्तव्य—आकृतिभेद से मूली दो प्रकार की होती है—१. गोल तथा २. लम्बी। लम्बी मूली भी छोटी-बड़ी भेद से दो प्रकार की होती है—१. लघुमूलक और २. नेपालमूलक। ये भी नयी एवं पुरानी भेद से पुनः दो प्रकार की होती है। गर्मियों में मिलने वाली मूली स्वाद में कटु होती है, जाड़ों में होने वाली मूली मधुर होती है। इसे नमक-मिरच लगाकर खाया जाता है। कच्ची मूली का शाक भी बनाया जाता है और सलाद के रूप में कच्चा भी खाया जाता है। इसी के भेद हैं—गाजर, चुकन्दर, सलजम आदि।

मौसम में मूली को काट कर सुखा लिया जाता है। बाद में पानी में भिगाकर इसका भी शाक के लिए प्रयोग होता है। यह सब वर्णन किसी भी जाति की बालमूली का है। जब यह रूढ़ हो जाती है, इसके भीतर जाली पड़ जाती है और बाहर का भाग कड़ा हो जाता है तब यह अग्राह्य हो जाती है। इसके विशेष गुण-धर्मों के लिए देखें—सु.सू. ४६।२४०-२४३। सुखाये सभी शाक विष्टम्भी तथा वातकारक होते हैं, केवल सुखाए हुए मूली के शाक को छोड़कर।

वातश्लेष्महरं शुष्कं सर्वम्—

सूखी मूली का शाक—सुखायी गयी सभी प्रकार की मूलियाँ वात एवं कफ नाशक होती हैं।

—आमं तु दोषलम्।

कच्ची मूली का शाक—सभी प्रकार की कच्ची मूलियाँ वात आदि दोषकारक होती हैं।

कटूष्णो वातकफहा पिण्डालुः पित्तवर्धनः॥ १०५॥

पिण्डालु नामक कन्द का शाक—यह कुछ कटु, उष्णवीर्य तथा पित्त को बढ़ाने वाला है॥ १०५॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने पिण्डालु का जो वर्णन किया है, वह उक्त वाग्भटोक्त गुण-धर्मों के विपरीत है। देखें—'पिण्डालुकं कफकरं गुरु वातप्रकोपणम्'। (सु.सू. ४६।३०४)

आयुर्वेद में 'आलुक' नाम से अनेक कन्दों का ग्रहण होता है। जैसे—१. **काष्ठालुक** (कठालू)। २. **शंखालुक**—यह सफेदी लिये होता है, ऐसा लगता है कि बाजारों में बिकने वाला यही शंखालू ही आलू है। ३. **हस्त्यालुक**—बड़े-से-बड़े आकार का आलू, इसके दर्शन प्रदर्शनियों में किये जा सकते हैं। ४. **पिण्डालुक**—हमारी मान्यता के अनुसार यह वही है, जिसका विवेचन हमने इसी प्रकरण में आगे किया है। जो इसे **'सुथनी'** मानते हैं, उन्हें इसका समावेश 'मध्वालुक' में अथवा 'रक्तालुक' में करना चाहिए, क्योंकि यह लाल तथा सफेद भेद से दो प्रकार का पाया जाता है। ५. **मध्वालुक**—यह आकृति से दो प्रकार का होता है—१. छोटा और २. बड़ा। इनमें छोटा छीलने पर भीतर से सफेद और बड़ा छीलने पर रक्ताभ होता है। हिन्दी में इन्हें छोटी सुथनी तथा बड़ी सुथनी कहते हैं। ६. **रक्तालुक**—यह भी वर्णभेद से दो प्रकार का होता है। १. जंगली सफेद और २. घर में लगाया हुआ लाल रंग का। जंगली अधिक-से-अधिक १ या २ इंच गोलाई में मोटा, घरेलू ५ या ६ इंच मोटा या इससे भी अधिक। इसे तरूड़ या रतालू भी कहते हैं। इन्हीं कन्दों में एक **शकरकन्द** भी है। यह शक्कर की भाँति खाने में मीठा होता है, अतएव इसे 'शकरकन्द' कहते हैं।

नैनीताल तथा अलमोड़ा आदि जिलों में 'पिण्डालु' नाम से सुप्रसिद्ध एक कन्द मिलता है, जिसका शाक क्षेत्रीय लोगों को अतिप्रिय है। वहाँ इसकी खेती भी होती है। मैदानी स्थानों में इसे 'अरुई' या 'घुइयाँ' कहते हैं। ये पिण्डालू या पिनालू के उपकन्द हैं। पिण्डालू के जिस मूल अवयव को यहाँ बण्डा कहा जाता है, उसे पर्वतीय क्षेत्रों में **'गडेरी'** कहते हैं। हमारे विचार से सुश्रुत ने जिस 'पिण्डालु' के गुण-धर्मों का वर्णन किया है, वह यही 'पिण्डालु' कन्द है।

कुठेरशिग्रुसुरससुमुखासुरिभूस्तृणम्। फणिज्जार्जकजम्बीरप्रभृति ग्राहि शालनम्॥ १०६॥
विदाहि कटु रूक्षोष्णं हृद्यं दीपनरोचनम्। दृक्शुक्रकृमिहृत्तीक्ष्णं दोषोत्क्लेशकरं लघु॥ १०७॥

कुठेरक आदि शाक—कुठेरक (वनतुलसी—बवई), शिग्रु (सहजन की फली), सुरस (काली तुलसी), सुमुखा (तुलसीभेद), आसुरि (राई के पत्ते), भूस्तृण, फणिज्झक, अर्जक, जम्बीर आदि के पत्तों के शाक ग्राही (मल को बाँधने वाले) तथा उत्तम होते हैं। यह विदाहकारी, स्वाद में कटु, रूक्ष, उष्णवीर्य, हृदय के लिए हितकारी, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले तथा रुचिकारक होते हैं। ये दृष्टिनाशक, शुक्र तथा क्रिमि नाशक होते हैं। ये गुणों में तीक्ष्ण, वात आदि दोषों को उभाड़ने वाले तथा पाचन में लघु होते हैं॥ १०६-१०७॥

वक्तव्य—'फणिज्जार्जकजम्बीरप्रभृति' इस 'प्रभृति' शब्द से अष्टांगसंग्रह अध्याय ७ में कहे गये—धान्य, तुम्बुरु, शैलेय, यवानी, शृंगवेर, पर्णाश, गृंजन, अजाजी, कण्डीर, जलपिप्पली, खराश्वा, कालमालिका, दीप्यक, क्षवकृत्, द्वीपि और वस्तगन्धा का ग्रहण कर लेना चाहिए। अष्टांगहृदय में उक्त द्रव्यों को **'हरितकवर्ग'** में गिना है।

हिध्माकासविषश्वासपार्श्वरुक्पूतिगन्धहा। सुरसः—

सुरसा का शाक—हिचकी, कास, विषविकार, श्वास, पार्श्वशूल (पसलियों में पीड़ा का होना) तथा मुख की दुर्गन्धि का विनाश करता है।

—सुमुखो नातिविदाही गरशोफहा॥ १०८॥

सुमुख नामक तुलसी का शाक—यह अधिक विदाहकारक नहीं होता है। दूषीविष तथा शोथरोग का विनाश करता है॥ १०८॥

आर्द्रिका तिक्तमधुरा मूत्रला न च पित्तकृत्।

हरा धनिया का शाक—यह थोड़ा तीता तथा मधुर होता है। मूत्रल तथा पित्तकारक नहीं होता।

लशुनो भृशतीक्ष्णोष्णः कटुपाकरसः सरः॥ १०९॥
हृद्यः केश्यो गुरुर्वृष्यः स्निग्धो रोचनदीपनः। भग्नसन्धानकृद्बल्यो रक्तपित्तप्रदूषणः॥ ११०॥
किलासकुष्ठगुल्मार्शोमेहक्रिमिकफानिलान्। स हिध्मापीनसश्वासकासान् हन्ति रसायनम्॥

लशुनकन्द का शाक—इसका कन्द विशेष करके तीक्ष्ण एवं उष्णवीर्य होता है। इसका विपाक कटु होता है। यह सर है, हृदय के लिए तथा केशों के लिए हितकर है, पचने में गुरु, वीर्यवर्धक, स्निग्ध, दीपन, पाचन, अस्थिभग्न को जोड़ने वाला, बलवर्धक, रक्त एवं पित्त को दूषित करने वाला है। यह किलास (श्वित्र), कुष्ठ, गुल्म, अर्श, प्रमेह, क्रिमिरोग, कफविकार, वातविकार, हिचकी, पीनस, श्वास और कास रोग का विनाश करता है। यह रसायन है॥ १०९-१११॥

वक्तव्य—यहाँ लहसुन के केवल कन्द के गुण दिये गये हैं। प्रसंगवश उसके अन्य अंगों का वर्णन भी प्रस्तुत है—इसके पत्र खारे तथा मधुर होते हैं और इसका मध्यभाग अधिक मधुर एवं पिच्छिल होता है। कभी-कभी इसके मध्यभाग में भी लशुनकन्द पाये जाते हैं, औषध में इनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अष्टांगहृदय-उत्तरस्थान (३९।१११-१२९) में इसकी विस्तृत रसायनविधि देखें। इसके अतिरिक्त 'काश्यपसंहिता' में भी इसके विविध कल्पों का अवलोकन करें।

पलाण्डुस्तद्गुणन्यूनः श्लेष्मलो नातिपित्तलः।

पलाण्डु (प्याज) का शाक—यह लहसुन से कुछ कम गुणों वाला होता है। यह कफकारक है तथा पित्तकारक कम होता है।

कफवातार्शसां पथ्यः स्वेदेऽभ्यवहृतौ तथा॥ ११२॥
तीक्ष्णो गृञ्जनको ग्राही पित्तिनां हितकृन्न सः।

गृञ्जनक का शाक—यह कफविकार, वातविकार तथा अर्शोरोग में हितकर होता है। व्रणशोथ आदि पर इसका लेप कर के स्वेदन किया जाता है एवं शाक बनाकर इसे खाया भी जाता है। गाजर का शाक तीक्ष्ण गुणवाला, मल को बाँधने वाला तथा यह पित्तविकार वालों के लिए हितकर नहीं है॥ ११२॥

वक्तव्य—वास्तव में उक्त ११२वें पद्य को 'पलाण्डु'''तथा'। इस प्रकार दो पंक्तियों में पूरा होना चाहिए था। ऐसा मत श्री अरुणदत्त एवं श्रीचन्द्रनन्दन का था, किन्तु श्रीहेमाद्रि का कथन है कि ये गुण-धर्म पलाण्डु के नहीं अपितु 'गृञ्जन' के हैं। अतः उक्त दो पंक्तियों को यहाँ एक साथ रखा है। वास्तव में स्वेदन के लिए 'पलाण्डु' तथा गृञ्जन दोनों का ही प्रयोग होता है। देखें—च.सू. २७।१७४।

दीपनः सूरणो रुच्यः कफघ्नो विशदो लघुः॥ ११३॥
विशेषादर्शसां पथ्यः—

सूरण का शाक—यह अग्निदीपक, रुचिकारक, कफनाशक, विशद (पिच्छिलतानाशक), लघु (शीघ्र पचने वाला), विशेष करके यह अर्शरोगियों के लिए हितकर होता है॥ ११३॥

वक्तव्य—अर्शोनाशक 'शूरणमोदक' योग, देखें—भैषज्यरत्नावली-अर्शोरोगाधिकार में—१. स्वल्प-शूरणमोदक, २. बृंहत्शूरणमोदक तथा अन्य अनेक योग। **सूरण-परिचय**—यह दो प्रकार का होता है—एक वह जिसे खा लेने से मुख तथा गले में काँटे जैसे चुभते-से प्रतीत होते हैं, दूसरा वह जो पहले की तुलना में कम कष्टकारक होता है। पाककर्मकुशल व्यक्ति दोनों की सब्जी सूखी अथवा रसेदार बनाते हैं, बड़े शौक से खायी भी जाती है। वे इसके टुकड़ों को इमली (किसी प्रकार के अम्ल में), चूना या फिटकिरी आदि में डालकर उबाल कर घी में भलीभाँति तलकर इसका पाक किया करते हैं। कुछ टीकाकारों ने 'सूरण' को ही भूकन्द माना है। 'कन्द' शब्द की दृष्टि से उनका सोचना उचित ही है, किन्तु 'सूरण' के उक्त गुणों के बाद उसे 'अतिदोषज' कहना कहाँ तक युक्तिसंगत होगा ?

—भूकन्दस्त्वतिदोषलः।

भूकन्द का शाक—यह अत्यन्त दोषकारक तथा दोषवर्धक होता है।

वक्तव्य—भूकन्द के सम्बन्ध में विद्वानों के मतभेद—कोई इसे 'जिमीकन्द', दूसरे विद्वान् इसे 'भूस्फोटाऽऽख्यः प्रावृड् उद्भवः' अर्थात् यह संस्वेद शाक है। हिन्दी में इसे—भुँईछत्ता, खुमी आदि कहते हैं। अंग्रेजी में 'Mushroom' कहते हैं। यह वर्षाऋतु में जोरदार वर्षा होने पर सहसा पैदा हो जाता है। इसका आकार छाता का जैसा होता है, रंग सफेद या बादामी सफेद होता है। यह भक्ष्य (खाने योग्य) तथा अभक्ष्य (जहरीला) भेद से दो प्रकार का होता है।

पत्रे पुष्पे फले नाले कन्दे च गुरुता क्रमात्॥ ११४॥

शाकों में उत्तरोत्तर गुरुता—पत्रशाकों से पुष्पशाक गुरु, इनसे अधिक गुरु फलशाक, फलशाकों से भी अधिक गुरु नालशाक (सरसों के नाल = गन्दल), इनसे भी अधिक गुरु कन्दशाक होते हैं॥ ११४॥

वक्तव्य—श्रीहेमाद्रि उक्त श्लोक का क्रम **'पुष्पे पत्रे'** इस प्रकार चाहते हैं, क्योंकि सुश्रुत ने एक तो 'नालशाक' का ग्रहण नहीं किया है और दूसरा जहाँ श्रीहेमाद्रि **'लघवः'** पाठ को उद्धृत करते हैं, वहाँ सुश्रुत ने 'गुरवः' पाठ दिया है, जो सर्वथा युक्तियुक्त है। देखें—सु.सू. ४६।२४३। 'गुरवः' के स्थान पर 'लघवः' शब्द का छप जाना सम्पादकीय प्रमाद प्रतीत होता है।

वरा शाकेषु जीवन्ती सार्षपं त्ववरं परम्।
इति शाकवर्गः।

उत्तम-अधम-निर्णय—शाकवर्ग में परिगणित शाकों में जीवन्ती (डोड़ी) शाक उत्तम तथा सरसों की पत्तियों एवं नाल का शाक अधम माना गया है।

वक्तव्य—शाकवर्ग के आरम्भ में छः प्रकार के शाकों का परिगणन किया गया था। तदनुसार यहाँ कहा गया 'भूकन्द' संस्वेदज शाकों में गिना जाता है। संक्षेप में शाक-परिचय—**१. पत्रशाक**—बथुआ, पोई, मरसा, चौलाई आदि। **२. पुष्पशाक**—गोभी, अगस्तिया के फूल, केले के फूल, सेमल के फूल आदि। **३. फलशाक**—पेठा, लौकी, करेला, बैगन, परवल, टिण्डा आदि। **४. नालशाक**—सरसों, राई आदि के नाल। **५. कन्दशाक**—मूली, सूरण (जिमीकन्द), आलू, पिण्डालू, रत्तालू, वाराहीकन्द, गेठी, तरूड़ आदि। **६. संस्वेदज शाक**—छत्रक, खुंब आदि। आचार्य खरनाद ने कहा है कि भोजन कर लेने के बाद फलों का सेवन करना चाहिए, अतः अब इसके बाद यहाँ फलवर्ग का प्रस्ताव है।

अथ फलवर्गः

द्राक्षा फलोत्तमा वृष्या चक्षुष्या सृष्टमूत्रविट्॥ ११५॥
स्वादुपाकरसा स्निग्धा सकषाया हिमा गुरुः। निहन्त्यनिलपित्तास्रतिक्तास्यत्वमदात्ययान्॥
तृष्णाकासश्रमश्वासस्वरभेदक्षतक्षयान्　।

द्राक्षा-परिचय—द्राक्षा (दाख या मुनक्का) सब फलों में उत्तम है। यह वीर्यवर्धक, आँखों के लिए हितकर, मल-मूत्र को सुचारु रूप से निकालती है। विपाक तथा रस में मधुर, स्निग्ध, कुछ कषाय रसयुक्त, शीतवीर्य तथा देर में पचने वाली है। यह वात, पित्त तथा रक्त विकारों का विनाश करती है। मुख का तीतापन, मदात्ययरोग, तृष्णा (प्यास का अधिक लगना), कास, श्रम (थकावट), श्वास, स्वरभेद, क्षत (उरःक्षत) एवं क्षय इन रोगों का विनाश करती है॥ ११५-११६॥

वक्तव्य—अंगूर आकार-भेद से दो प्रकार के होते हैं—१. छोटे, जिनके किसमिस बनाये जाते है और २. बड़े, जो आकार में लम्बे होते हैं, इनके मुनक्के बनाये जाते हैं। फिर ये बीज वाले तथा बीज-

रहित भेद से भी दो प्रकार के होते हैं। स्वाद-भेद से भी ये दो प्रकार के होते हैं—१. खट्टे और २. मीठे। वर्ण-भेद से भी ये दो प्रकार के होते हैं—१. काले तथा २. सफेद या हरिताभ सफेद। मुनक्का या किसमिस बनाने के लिए इन्हें थोड़ा पकाना पड़ता है, नहीं तो ये जल्दी सूखते नहीं अपितु सड़ जाते हैं।

उद्रिक्तपित्ताञ्जयति त्रीन्दोषान्स्वादु दाडिमम् ॥ ११७ ॥

पित्ताविरोधि नात्युष्णमम्लं वातकफापहम्। सर्वं हृद्यं लघु स्निग्धं ग्राहि रोचनदीपनम् ॥ ११८ ॥

दाड़िम-फल का वर्णन—यह स्वादभेद से दो प्रकार का होता है—१. मधुर और २. अम्ल (खट्टा)। मधुर दाडिम के गुण—इसी को 'अनार' कहते हैं। यह पित्त-प्रधान तीनों दोषों को शान्त करता है। खट्टा दाड़िम—यह खट्टा होने पर पित्तदोष को प्रकुपित नहीं करता। यह अधिक उष्ण भी नहीं होता है। यह वात तथा कफ दोष का विनाशक होता है।

सभी प्रकार के दाड़िम हृदय के लिए हितकर, शीघ्र पचने वाले, स्निग्ध, ग्राही (मल को बाँधने वाले), रुचि तथा जठराग्नि को बढ़ाने वाले होते हैं॥ ११७-११८॥

वक्तव्य—पर्वतीय क्षेत्रों में दाड़िम के वृक्ष पर्याप्त रूप में पाये जाते हैं। इसके वृक्ष चिरायु होते हैं। स्थानीय लोग खट्टे तथा मीठे दाड़िमों की चटनी बनाकर रख लेते हैं। इसे **'काली चटनी'** कहते हैं। यह लाल, सफेद वर्णभेद से दो प्रकार का होता है। इसके छिलकों को धूप में सुखाकर चूर्ण बनाकर रख लिया जाता है। यह चूर्ण पित्तातिसार, प्रवाहिका, कास, बालको के दाँत निकलने तथा टाउन्सिल में प्रयोग किया जाता है। यद्यपि सभी अम्ल पदार्थ पित्तवर्धक तथा उष्णवीर्य होते हैं, तथापि अनार एवं आँवला फल इसके अपवाद हैं।

मोचखर्जूरपनसनारिकेलपरूषकम्। आम्राततालकाश्मर्यराजादनमधूकजम् ॥ ११९ ॥
सौवीरबदराङ्कोल्लफल्गुश्लेष्मातकोद्भवम्। वातामाभिषुकाक्षोडमुकूलकनिकोचकम् ॥ १२० ॥
उरुमाणं प्रियालं च बृंहणं गुरु शीतलम्। दाहक्षतक्षयहरं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥ १२१ ॥
स्वादुपाकरसं स्निग्धं विष्टम्भि कफशुक्रकृत्।

केला आदि फलों का वर्णन—मोच (केले का फल), खर्जूर (खजूर या छुहारा), पनस (कटहल), नारियल, परूषक (फालसा), आम्रात (आमड़ा), तालफल, काश्मर्य (गम्भारी का फल), राजादन (खिरनी), महुआ का फल, सौवीर (बड़ा बेर का फल), बेर का फल, अंकोल, फल्गु (गूलर), श्लेष्मातक (लिसोड़ा), बादाम, अभिषुक (पिस्ता), अखरोट, मुकूलक (यह भी पिस्ता की जाति है), निकोचक (चिलगोजा—चीड़ का बीज), उरुमाण (खुमानी या खुरमानी) और प्रियाल (चिरौंजी)—ये सभी फल बृंहण (शरीर को बढ़ाने वाले), गुरु (देर में पचने वाले) तथा शीतवीर्य होते हैं। दाह, क्षत (उरःक्षत) तथा अन्य स्थानों में लगे घावों का शमन करते हैं। रक्त तथा पित्त को शुद्ध करते हैं। ये सभी विपाक में मधुर हैं, स्निग्ध, विष्टभकारक (मलावरोधक), कफ एवं शुक्रधातु को बढ़ाते हैं॥ ११९-१२१ ॥

फलं तु पित्तलं तालं सरं काश्मर्यजं हिमम् ॥ १२२ ॥

शकृन्मूत्रविबन्धघ्नं केश्यं मेध्यं रसायनम्। वातामाद्युष्णवीर्यं तु कफपित्तकरं सरम् ॥ १२३ ॥
परं वातहरं स्निग्धमनुष्णं तु प्रियालजम्। प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः ॥ १२४ ॥
कोलमज्जा गुणैस्तद्वत्तृट्छर्दिः कासजिच्च सः।

ताल आदि फलों का वर्णन—ताल (ताड़) **का फल** पित्तकारक तथा सर (रेचक) होता है। **गम्भार का फल** शीतवीर्य, मल तथा मूत्र की रुकावट को दूर करता है, बालों एवं मेधा (धारणाशक्ति) के लिए हितकर, रसायन गुणों से युक्त होता है। **बादाम आदि फलों के गुण**—ये उष्णवीर्य, कफकारक, पित्तकारक, सर, वातनाशक द्रव्यों में श्रेष्ठ तथा स्निग्ध होते हैं, किन्तु प्रियाल (चिरौंजी) उष्णवीर्य नहीं होता। **प्रियालमज्जा के गुण**— चिरौंजी की गिरी मधुर, वीर्यवर्धक, पित्त तथा वातविकार का नाश करती

है। **बेर की मज्जा के गुण**—इसके गुण भी प्रायः प्रियालमज्जा के समान होते हैं, किन्तु यह तृष्णा तथा कास का विनाश करती है॥ १२२-१२४॥

वक्तव्य—'वातामादि'—यहाँ आदि शब्द से अभिषुक (पिस्ता), अखरोट, मकूलक, निकोचक (चिलगोजा) और उरुमाण (खुमानी) तक के द्रव्यों को लेना चाहिए। उरुमाण फल पर्वतीय प्रदेशों (नैनीताल, अलमोड़ा, शिमला, मंसूरी, काश्मीर आदि) में होता है। इसका बाहरी गूदा भी और भीतर की गिरी भी खायी जाती है, जो बादाम के आकार की तथा स्वाद में मधुर होती है। यह आकार-भेद से दो प्रकार की होती है—छोटी तथा बड़ी। बड़ी खुमानी के भीतर से निकलने वाली गिरी के ये गुण हैं।

पक्वं सुदुर्जरं बिल्वं दोषलं पूतिमारुतम्॥ १२५॥
दीपनं कफवातघ्नं बालं, ग्राह्युभयं च तत्।

बिल्व का पका फल—पका हुआ बेल का फल बड़ी कठिनता से पचता है, दोषकारक होता है तथा इसका सेवन करने से अपानवायु दुर्गन्धियुक्त निकलता है। कच्चा बेल का फल अग्नि प्रदीप्त करता है, कफ तथा वात दोष का नाश करता है। ये दोनों प्रकार के बेल ग्राही (मल को बाँधने वाले) होते हैं।

कपित्थमामं कण्ठघ्नं दोषलं, दोषघाति तु॥ १२६॥
पक्वं हिध्मावमथुजित्, सर्वं ग्राहि विषापहम्।

कैथ का कच्चा फल—यह कण्ठ (स्वरयन्त्र) को हानि पहुँचाता है, दोषकारक होता है। कैथ का पका फल दोषशामक, हिचकी तथा वमन का विनाश करता है। दोनों प्रकार के कैथ ग्राही होते हैं और विषविकार को नष्ट करते हैं॥ १२६॥

जाम्बवं गुरु विष्टम्भि शीतलं भृशवातलम्॥ १२७॥
सङ्ग्राहि मूत्रशकृतोरकण्ठ्यं कफपित्तजित्।

जामुन का फल—यह गुरु (देर में पचने वाला), विष्टम्भी, शीतवीर्य, वातविकार को अत्यन्त बढ़ाने वाला, मल-मूत्र को रोकने वाला, स्वरयन्त्र के लिए अहितकर, कफ तथा पित्त विकार को जीतने वाला होता है॥ १२७॥

वक्तव्य—राजजम्बू को संस्कृत में 'फलेन्द्रा' तथा हिन्दी में 'फरेना' कहते हैं। इसके अतिरिक्त जामुन के ये भेद पाये जाते हैं—शुद्रजम्बू, काकजम्बू, भूमिजम्बू तथा जलजम्बू। 'राजजम्बू का ही वर्णन महाकवि कालिदास ने मेघदूत में इस प्रकार किया है—'श्यामजम्बूवनान्ताः'। (पूर्वमेघ)

वातपित्तास्रकृद्बालं, बद्धास्थि कफपित्तकृत्॥ १२८॥
गुर्वाम्रं वातजित्पक्वं स्वाद्वम्लं कफशुक्रकृत्।

आम का वर्णन—जिसमें अभी गुठली नहीं पड़ी हो ऐसा बाल (छोटा) आम वातकारक, पित्तकारक तथा रक्तधातु को दूषित करता है। गुठली पड़ जाने पर अर्थात् कुछ बड़ा होने पर वह कफकारक तथा पित्तकारक होता है। पका हुआ आम पाक में गुरु, वातनाशक, स्वाद में मधुर होता है। पका हुआ खट्टा आम कफकारक तथा शुक्रवर्धक होता है॥ १२८॥

वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्महरं लघु॥ १२९॥

वृक्षाम्ल का वर्णन—वृक्षाम्ल (विषांविल, कोकम) का फल ग्राही, रूक्ष, उष्णवीर्य, वात तथा कफदोष नाशक तथा पाचन में लघु होता है॥ १२९॥

वक्तव्य—इसकी उत्पत्ति कोंकण, कनारा आदि दक्षिणी प्रान्तों में होती है। बीज निकाल कर सुखाये हुए फल को अमसूल या कोकम कहते हैं। इसके बीजों से तेल निकाला जाता है। इसे कोकम का घी या तेल कहते हैं। यह तेल स्तम्भन एवं व्रणरोपण होता है। इसके छिलकों की चटनी बनायी जाती है।

अतिसार, रक्तातिसार आदि में इसका फाण्ट (चाय) बनाकर दिया जाता है तथा पित्तजनित विकारों में इसे घोलकर इसका शरबत बनाकर दिया जाता है। इससे लाभ भी होता है।

शम्या गुरूष्णं केशघ्नं रूक्षम्—

शमी का फल—यह पाक में गुरु, उष्णवीर्य, केशनाशक तथा रूक्ष होता है।

वक्तव्य—शमी को हिन्दी में 'छोंकर' कहते हैं। इसका वर्णन 'भावप्रकाश' तथा 'धन्वन्तरि' निघण्टुओं में भी आया है। यह छोटी-बड़ी भेद से दो प्रकार की होती है। धार्मिक कार्यों में इसंका बड़ा महत्त्व है। इसकी कच्ची फलियों का शाक बनाकर मारवाड़ तथा पंजाब में खाया जाता है, दशहरा के पुण्य पर्व पर इस वृक्ष की पूजा की जाती है। विशेष देखें—च.सू. २७।१५९; सु.सू. ४६।१९३।

—पीलु तु पित्तलम्। कफवातहरं भेदि प्लीहार्शःकृमिगुल्मनुत्॥ १३०॥
सतिक्तं स्वादु यत्पीलु नात्युष्णं तत्त्रिदोषजित्।

पीलु का फल—यह पित्तकारक, कफ तथा वात नाशक, मलभेदक (दस्तावर), प्लीहारोग, अर्शोरोग, क्रिमिरोग तथा गुल्मरोग नाशक होता है। जो पीलु कुछ तीता एवं मधुर होता है, वह अधिक उष्ण नहीं होता और वह त्रिदोषनाशक भी होता है॥ १३०॥

वक्तव्य—इसके वृक्ष राजस्थान, बिहार, कोंकण, दक्षिणप्रदेश, कर्नाटक, बलूचिस्तान आदि सूखे स्थानों में पाये जाते हैं। यह पीलु छोटा-बड़ा भेद से दो प्रकार का होता है।

त्वक्तिक्तकटुका स्निग्धा मातुलुङ्गस्य वातजित्॥ १३१॥
बृंहणं मधुरं मांसं वातपित्तहरं गुरु। लघु तत्केसरं कासश्वासहिध्मामदात्ययान्॥ १३२॥
आस्यशोषानिलश्लेष्मविबन्धच्छर्द्यरोचकान्। गुल्मोदरार्शःशूलानि मन्दाग्नित्वं च नाशयेत्॥

मातुलुंग (बिजौरा नीबू) की त्वचा—यह तिक्त एवं कटु होती है और स्निग्ध तथा वातनाशक होती है। उसका मांस (गूदा) बृंहण, मधुर, वात तथा पित्त नाशक और गुरु होता है। बिजौरानीबू का केशर लघु, कास, श्वास, हिचकी, मदात्यय, मुखशोष, वातरोग, कफरोग, विबन्ध (कब्जियत), वमन, अरोचक, गुल्मरोग, उदररोग, अर्शोरोग, शूलरोग एवं मन्दाग्नि का विनाश करता है॥ १३१-१३३॥

वक्तव्य—नैनीताल, अलमोड़ा आदि पर्वतीय स्थानों में **'बिजौरानीबू'** पर्याप्त रूप में पाया जाता है। इसका छिलका बाहरी और भीतरी भेद से दो प्रकार का कहा गया है। बाहरी छिलका को **त्वक्**, भीतरी छिलका को **मांस** और उसके भीतर मिलने वाले अम्ल पदार्थ को **केसर** कहा गया है। अब आप इसका अर्थ इस प्रकार लगायें—बाहरी छिलका को अत्यन्त पतला छीलकर फेंक दिया जाता है, उसके गुण हैं—**'त्वक्तिक्ता····वातजित्'**। इस बाहरी छिलका में तेल का अंश पाया जाता है, जो छीलने वाले के हाथ में लग जाता है। इसका वह भाग जिसे वाग्भट ने **'मांस'** कहा है, इसे मित्रमण्डली या परिजनों के साथ बैठकर खाया जाता है, जिसे **'सौगात'** = **'स्वागत'** माना जाता है। यह अत्यन्त कोमल तथा मधुर होता है।

इसी का एक भेद 'मतकाकड़ी' भी है, जिसे आयुर्वेद में **'मधुकर्कटी'** कहा है। इसके विपरीत जो निघण्टु-ग्रन्थों में इसे **चकोतरा** कहा है, यह भ्रम है। आप देखें—**मधुकर्कटी** और **मतकाकड़ी** शब्दों में कितना साम्य है? इसी प्रकार बिजौरानीबू और मतकाकड़ी में क्रमशः छोटे-बड़े मात्र का अन्तर है। इसी बहाने आप पर्वतीय यात्रा करें और देखें—इन दोनों फलों को। **'चकोतरा'** जिसे कहते हैं, उसका बाहर का छिलका फेंक दिया जाता है और भीतर का केशर मीठा होने के कारण खाया जाता है। उक्त बिजौरानीबू तथा मतकाकड़ी का केशर अत्यन्त खट्टा होता है। ये दोनों के परस्पर विभेदक लक्षण हैं।

भल्लातकस्य त्वङ्मांसं बृंहणं स्वादु शीतलम्। तदस्थ्यग्निसमं मेध्यं कफवातहरं परम्॥ १३४॥

भिलावा का वर्णन—भिलावा का छिलका तथा गूदा बृंहण (शरीर को स्थूल करने वाला), रस में मधुर तथा शीतवीर्य होता है। भिलावा की गुठली अग्नि के समान तीक्ष्ण (दाहक), बुद्धिवर्धक एवं अत्यन्त कफ एवं वातनाशक होती है॥ १३४॥

वक्तव्य—भिलावा के फल हृदयाकृति होने पर भी ये दो भागों में मूलतः विभक्त होते हैं। जब इसका ऊपरी भाग दाहक होता है और नीचे का भाग पकी नारंगी के सदृश हो जाता है, तब उसे खाया जाता है। इसी का वर्णन ऊपर प्रथम पंक्ति द्वारा किया गया है।

स्वाद्वम्लं शीतमुष्णं च द्विधा पालेवतं गुरु। रुच्यमत्यग्निशमनं—

पारेवत का वर्णन—पारेवत मधुर तथा अम्ल भेद से दो प्रकार का होता है। मीठा पारेवत शीतवीर्य होता है तथा अम्लपारेवत उष्णवीर्य होता है। ये दोनों पारेवत पाचन में गुरु, रुचिकारक तथा अत्यग्नि (भस्मक रोग) का शमन करते हैं।

वक्तव्य—उक्त गुण-धर्मों से युक्त द्रव्य को चरक ने 'पारावत' कहा है। देखें—च.सू. २७।१३४। यह फल कामरूप (आसाम) आदि देशों में पाया जाता है (चक्रपाणि)

—रुच्यं मधुरमारुकम्॥ १३५॥

पक्वमाशु जरां याति नात्युष्णगुरुदोषलम्।

आरुक-फल का वर्णन—आड़ूफल रुचिकारक तथा रस में मधुर होता है। यह पका हुआ शीघ्र पच जाता है। यह अधिक गरम नहीं होता किन्तु गुरु तथा दोषकारक होता है॥ १३५॥

वक्तव्य—यह पर्वतीय क्षेत्रों का फल है। इसके अनेक भेद-उपभेद होते हैं। तदनुसार ये वैशाख से पकने प्रारम्भ होते हैं और जातिभेद से आश्विन तक पकते रहते हैं। अब इसकी कुछ जातियाँ मैदानी भागों में भी पायी जाने लगी है, फिर भी पर्वतीय जल-वायु का स्वाद कुछ और ही होता है।

द्राक्षापरूषकं चार्द्रमम्लं पित्तकफप्रदम्॥ १३६॥
गुरूष्णवीर्यं वातघ्नं सरं सकरमर्दकम्।

कच्चे दाख आदि का फल—द्राक्षा (मुनक्का) एवं परूषक (फालसा) के कच्चे फल स्वाद में खट्टे होते हैं। ये पित्त तथा कफ वर्धक होते हैं।

करमर्द (करौंदा) के कच्चे फल—यह पाचन में गुरु, उष्णवीर्य, वातनाशक तथा सर होते हैं॥ १३६॥

तथाऽम्लं कोलकर्कन्धुलकुचाम्रातकारुकम्॥ १३७॥

ऐरावतं दन्तशठं सतूदं मृगलिण्डिकम्। नातिपित्तकरं पक्वं शुष्कं च करमर्दकम्॥ १३८॥

कोल-कर्कन्धु-वर्णन—कोल (बड़ा बेर) तथा कर्कन्धु (छोटे बेर), लकुच (बड़हल), आम्रातक (आमड़ा), ऐरावत (नारंगी—वै०नि०), दन्तशठ (जम्बीरीनीबू), तूद (शहतूत), मृगलिण्डिक (बड़े शहतूत)—ये सभी फल कच्ची दाख के समान गुण-धर्म वाले होते हैं। इनमें सूखा तथा पका हुआ करौंदा अधिक पित्तकारक नहीं होता है॥ १३७-१३८॥

दीपनं भेदनं शुष्कमम्लीकाकोलयोः फलम्। तृष्णाश्रमक्लमच्छेदि लघ्विष्टं कफवातयोः॥

इमली तथा बेर के सूखे फल—ये अग्नि को प्रदीप्त करने वाले तथा मलभेदक (दस्तावर) होते हैं। ये दोनों प्यास, शारीरिक एवं मानसिक थकावट को दूर करते हैं, कफ तथा वातविकार में लाभदायक होते हैं एवं पाचन में लघु होते हैं॥ १३९॥

फलानामवरं तत्र लकुचं सर्वदोषकृत्।

बड़हर के फल—फलों में बड़हर का फल अधम गुणों वाला होता है तथा यह वात आदि सभी दोषों को उभाड़ने वाला होता है।

हिमानलोष्णदुर्वातव्याललालादिदूषितम्॥ १४०॥

जन्तुजुष्टं जले मग्नमभूमिजमनार्तवम्। अन्यधान्ययुतं हीनवीर्यं जीर्णतयाऽति च॥ १४१॥

धान्यं त्यजेत्तथा शाकं रूक्षसिद्धमकोमलम्। असञ्जातरसं तद्वच्छुष्कं चान्यत्र मूलकात्॥ १४२॥

प्रायेण फलमप्येवं तथाऽऽमं बिल्ववर्जितम्।

इति फलवर्गः।

त्याज्य धान्य, शाक एवं फल—हिम (बरफ) गिरने से, ओले पड़ने से, कड़ी धूप लगने से या आग से झुलस जाने से, दूषित वायु के स्पर्श से, साँप या अन्य जहरीले प्राणियों की लार के लग जाने से, कीड़े पड़ जाने से, जल में डूब जाने से, विपरीत (अपने प्रतिकूल) गुणों वाली भूमि में उत्पन्न होने से, विपरीत ऋतु में उत्पन्न होने से, विपरीत गुणवाले धान्य (अनाज) के साथ मिला देने से, शक्तिहीन हो जाने से अथवा अधिक पुराने हो जाने से धान्य अपने गुणों से रहित हो जाते हैं। ऐसे धान्यों का सेवन न करें। इसी प्रकार के शाक भी त्याज्य होते हैं तथा जो शाक घी-तेल स्नेहों से बिना छौंके ही बनाये गये हों और जो कोमल न हों वे भी अखाद्य होते हैं। जिन शाकों में स्वाभाविक रस, गुण आदि की उत्पत्ति न हुई हो अथवा जो शाक सूख गये हों वे भी खाने योग्य नहीं होते।

सुखाये गये कन्दशाक (मूली आदि) खाये जा सकते हैं। जैसा कि इसी अध्याय के १०५वें पद्य के पूर्वार्ध में कहा गया है। इसी प्रकार के फल भी खाने योग्य नहीं होते, किन्तु सुखाया गया कच्चा बेल का फल खाया जा सकता है, अन्य कच्चे फलों को नहीं खाना चाहिए॥ १४०-१४२॥

अथौषधवर्गः

विष्यन्दि लवणं सर्वं सूक्ष्मं सृष्टमलं मृदु॥ १४३॥

वातघ्नं पाकि तीक्ष्णोष्णं रोचनं कफपित्तकृत्।

फलों का वर्णन करने के बाद अब यहाँ से विविध प्रकार के **लवणों का वर्णन** प्रारम्भ होता है।

लवण-सामान्य के गुण—ये विष्यन्दनकारक अर्थात् अभिष्यन्दी, सूक्ष्म, मल को सरकाने वाले, मृदु, वातविकारनाशक, भोजन को पचाने वाले, तीक्ष्ण, उष्ण, रुचि को बढ़ाने वाले और कफ तथा पित्तकारक होते हैं॥ १४३॥

वक्तव्य—सूक्ष्म लवण (नमक) छोटे से भी छोटे स्रोतों में प्रवेश कर जाते हैं, यही कारण है कि नाड़ीव्रणविनाशक मलहमों में घृत, मधु तथा लवण आदि द्रव्यों का प्रमुख रूप से प्रयोग होता है। **पाकि**—बनते हुए भोजन (दाल आदि) को शीघ्र गला देता है, पकने के बाद आहार को पचाता है और व्रणशोथ (फोड़े) को भी पका देता है।

सैन्धवं तत्र सस्वादु वृष्यं हृद्यं त्रिदोषनुत्॥ १४४॥

लघ्वनुष्णं दृशः पथ्यमविदाह्यग्निदीपनम्।

सेंधानमक के गुण—सभी नमकों में सेंधानमक तीक्ष्णता की कमी के कारण कुछ मधुर, वीर्यवर्धक, हृदय के लिए हितकर, त्रिदोषशामक, लघु, कुछ उष्णवीर्य वाला, नेत्रों के लिए हितकारी, अविदाही (यह विदाहकारक नहीं होता) होने पर भी जठराग्नि को प्रदीप्त करता है॥ १४४॥

लघु सौवर्चलं हृद्यं सुगन्ध्युद्गारशोधनम्॥ १४५॥

कटुपाकं विबन्धघ्नं दीपनीयं रुचिप्रदम्।

सौवर्चलनमक के गुण—इसी को **'सज्जीखार'** कहते हैं। यह लघु, हृदय के लिए हितकर, सुगन्धित, उद्गार (डकार) को शुद्ध करने वाला, विपाक में कटु, मल-मूत्र की रुकावट को हटाने वाला, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला तथा रुचिकारक होता है॥ १४५॥

ऊर्ध्वाधःकफवातानुलोमनं दीपनं विडम्॥ १४६॥
विबन्धानाहविष्टम्भशूलगौरवनाशनम् ।

विड (विरिया) नमक के गुण—इसका सेवन करने से कफ ऊपर की ओर से निकलने लगता है और अपानवायु नीचे की ओर से निकलता है अर्थात् यह कफ एवं वायु की गति का अनुलोमन करता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है, मल-मूत्र की रुकावट, आनाह, विष्टम्भ (आँतों की गति की रुकावट को), शूल तथा भारीपन का नाश करता है॥ १४६॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने इसे कफ का अनुलोमक नहीं कहा है, केवल वातानुलोमक ही कहा है। देखें—सु.सू. ४६।३१६। आचार्य डल्हण कहते हैं—यह नमक स्रोतों की शुद्धि करता है, अतएव रुका हुआ वातदोष अनुलोम हो जाता है। कुछ टीकाकारों ने सौवर्चल लवण को कालानमक स्वीकार किया है। जो विडलवण को 'कालानमक' कहते हैं, यह कृत्रिम नमक है।

कालानमक-निर्माणविधि—४०, सेर सेंधानमक, हरड़ के छिलके, आँवला का सूखा गूदा और सज्जीखार—ये द्रव्य प्रत्येक आधा-आधा सेर लेकर किसी लोहे या मिट्टी के पात्र में मिलाकर पकाते हैं। जब हरड़ तथा आँवला गलकर मिल जाता है, तो शीतल होने पर नमक निकाल लिया जाता है। इसी को मराठी में **'पादेलोण'** कालानमक कहते हैं।

सौवर्चल लवण—कुछ विद्वानों ने इसे 'कालालवण' माना है। फारसी में सोंचरनमक को ही **'नमकस्याह'** कहते हैं। कुछ लोगों का मत है कि जो सौवर्चलनमक गन्धरहित होता है। वह 'कालालवण' है। डॉ० देसाई कहते हैं कि रसग्रन्थों में सौवर्चल 'शोरे' को कहते हैं। श्री द.अ. कुलकर्णी जी कहते हैं—जिस मिट्टी से शोरा प्राप्त होता है, उसे लुनिया मिट्टी कहते हैं, इसमें कुछ मात्रा नमक की भी रहती है। शोरा के साथ प्राप्त होने के कारण इसे सोंचर या सौवर्चल कहते हैं। अस्तु।

विपाके स्वादु सामुद्रं गुरु श्लेष्मविवर्धनम्॥ १४७॥

सामुद्र लवण के गुण—समुद्रलवण (समुद्र के जल को सुखाकर बनाया गया नमक) रस में नमकीन किन्तु विपाक में मधुर, गुरु तथा कफदोष को बढ़ाता है॥ १४७॥

सतिक्तकटुकक्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम्।

औद्भिदलवण के गुण—औद्भिदलवण (रेह या ऊषर नमक) कुछ तिक्त एवं कटु रस वाला, क्षार गुण युक्त, तीक्ष्ण तथा क्लेदकारक होता है।

वक्तव्य—रेह मिट्टी को जल में घोलकर उस पानी को सुखाकर जो नमक तैयार किया जाता है, उसे औद्भिद लवण कहते हैं। जिससे धोबी कपड़े धोते हैं, वही रेह मिट्टी है।

कृष्णे सौवर्चलगुणा लवणे गन्धवर्जिताः॥ १४८॥

कृष्णलवण के गुण—इसमें सौंचर नमक के समान गुण होते हैं, किन्तु उसकी जैसी गन्ध इसमें नहीं होती है॥ १४८॥

रोमकं लघु, पांसूत्थं सक्षारं श्लेष्मलं गुरु।

रोमकलवण के गुण—इसकी उत्पत्ति धूलि से होती है। यह लघु, कुछ खारा, कफकारक तथा गुरु होता है।

वक्तव्य—इसी वर्ग में सज्जीखार तथा सोराखार भी आते हैं। इसी को संस्कृत में सुवर्चिकाक्षार (कलमीसोरा) भी कहते हैं।

लवणानां प्रयोगे तु सैन्धवादि प्रयोजयेत्॥ १४९॥

सामान्य निर्देश—जहाँ केवल इस प्रकार का शास्त्रनिर्देश हो कि इस योग में लवण का प्रयोग करे, वहाँ निश्चिन्त होकर सैन्धवलवण का प्रयोग करना चाहिए॥ १४९॥

वक्तव्य—जहाँ एक लवण का प्रयोग करना हो वहाँ सैन्धवलवण का, जहाँ दो नमकों का प्रयोग करना हो; जैसे—हिंग्वष्टकचूर्ण में 'द्विपटु', यहाँ १. सैन्धव तथा २. सौवर्चल का, जहाँ तीन लवणों का प्रयोग करना हो वहाँ—१. सैन्धव, २. सौर्वल, ३. विड का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार चतुर्लवण तथा पञ्चलवण का भी प्रयोग करना चाहिए। चरक ने **'सैन्धवं लवणानां हिततमम्'**। (च.सू. २५।३८) तथा **'ऊषरं लवणानामहिततमम्'**। (च.सू. २५।३९) अर्थात् सभी नमकों में सेंधानमक उत्तम होता है और ऊषर नमक अहित होता है।

गुल्महृद्ग्रहणीपाण्डुप्लीहानाहगलामयान्। श्वासार्शःकफकासांश्च शमयेद्यवशूकजः॥ १५०॥

यवक्षार के गुण—यवक्षार (जौखार) गुल्मरोग, हृदयरोग, ग्रहणीरोग, पाण्डुरोग, प्लीहारोग, आनाह (अफरा रोग), स्वरयन्त्र के रोग, श्वासरोग, अर्शोरोग, कफरोग तथा कासरोग को नष्ट करता है॥ १५०॥

क्षारः सर्वश्च परमं तीक्ष्णोष्णः कृमिजिल्लघुः। पित्तासृग्दूषणः पाकी छेद्यहृद्यो विदारणः॥
अपथ्यः कटुलावण्याच्छुक्रौजःकेशचक्षुषाम्।

सभी प्रकार के क्षार—सभी क्षार अत्यन्त तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कृमिनाशक तथा लघु होते हैं। ये पित्त तथा रक्त को दूषित करते हैं; आहार तथा व्रणशोथ (फोड़ा) को पका देते हैं। छेदक (अर्श के मस्सों एवं बालों की जड़ों को काट देते) हैं, हृदय के लिए अहितकर हैं, पके हुए व्रणशोथ को फाड़ देते हैं, कटु तथा लवण रस-प्रधान होने के कारण ये शुक्र, ओजस्, केंश तथा नेत्रों के लिए अहितकर होते हैं॥ १५१॥

वक्तव्य—पलाश (ढाक) अथवा अर्क (मदार) की सूखी लकड़ियों को आग से जला दें। उस भस्म को लेकर चौगुना जल डालकर मिट्टी के पात्र में रातभर रहने दें। इस प्रकार राख नीचे जम जायेगी और क्षारयुक्त जल ऊपर रहेगा, इसे सावधानी के साथ दूसरे पात्र में ले लें। इस जल को अग्नि पर रखकर सुखायें। सूखने पर सफेद रंग का क्षार मिलेगा, उसे खुरच कर रख लें। क्षार तैयार है। यह दो प्रकार का होता है—१. प्रतिसारणीय क्षार चूर्णरूप में और २. पानीय क्षार क्वाथ के रूप में। विशेष देखें—सु.सू. ११ सम्पूर्ण। क्षारों का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिए। देखें—च.वि. १।१५। और भी देखें—'क्षारः पुंस्त्वोपघातिनां श्रेष्ठः'। (च.सू. २५।४०) इनका अधिक सेवन करने से पुरुष नपुंसक हो जाता है।

हिङ्गु वातकफानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम्॥ १५२॥
कटुपाकरसं रुच्यं दीपनं पाचनं लघु।

हींग का वर्णन—वातज रोगों, कफज रोगों, आनाह (अफरा) तथा शूलरोगों को यह नष्ट करती है, पित्त को प्रकुपित करती है तथा विपाक एवं रस में कटु होती है। हींग रुचिकारक, अग्निप्रदीपक, पाचक तथा लघु है॥ १५२॥

वक्तव्य—हींग अनेक प्रकार की पायी जाती है, उन सबमें १. हीरा हींग और २. तलाव हींग अच्छी होती है। आजकल नकली हींग की प्राप्ति अच्छी हींग की तुलना में अधिक है। हींग के वृक्ष काबुल, फारस, अफगानिस्तान आदि प्रदेशों में अधिक पाये जाते हैं। इन वृक्षों की गोंद को ही हींग कहते हैं। देशी हींग की तुलना में काबुली हींग उत्तम होती है। अच्छी हींग को पानी में घिसने से दुधिया घोल बनता है, दूसरों का नहीं, यही इसकी पहचान है।

कषाया मधुरा पाके रूक्षा विलवणा लघुः॥ १५३॥
दीपनी पाचनी मेध्या वयसः स्थापनी परम्। उष्णवीर्या सराऽऽयुष्या बुद्धीन्द्रियबलप्रदा॥
कुष्ठवैवर्ण्यवैस्वर्यपुराणविषमज्वरान्। शिरोऽक्षिपाण्डुहृद्रोगकामलाग्रहणीगदान्॥ १५५॥

सशोषशोफातीसारमेदमोहवमिक्रिमीन्। श्वासकासप्रसेकार्शःप्लीहानाहगरोदरम्॥ १५६॥
विबन्धस्रोतसां गुल्ममूरुस्तम्भमरोचकम्। हरीतकी जयेद्व्याधींस्तांस्तांश्च कफवातजान्॥१५७॥

हरीतकी का वर्णन—यह रस में कसैली, विपाक में मधुर, गुण में रूक्ष, केवल लवण रस से रहित अर्थात् लवण के अतिरिक्त इसमें शेष सभी रस रहते हैं। यह लघु, अग्नि को दीप्त करती है, भोजन को पचाती है, बुद्धिवर्धक है, दीर्घायु प्रदान करने वाले द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ है, उष्णवीर्य है, सर (रेचक), आयु के लिए हितकर, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियों को बल देने वाली है।

यह कुष्ठरोग, विवर्णता, स्वरभेद, जीर्णज्वर, विषमज्वर, शिरोरोग, नेत्ररोग, पाण्डुरोग, हृदयरोग, कामलारोग, ग्रहणीरोग, शोष (राजयक्ष्मा), सूजन, अतिसार, मेदोरोग, मोह (मूर्च्छा), वमन, क्रिमिरोग, श्वास, कास, प्रसेक (लालास्राव तथा योनिस्राव), अर्शोरोग, प्लीहारोग, आनाह (अफरा), गरविष, उदररोग, स्रोतों की रुकावट, गुल्मरोग, ऊरुस्तम्भ तथा अरोचक आदि कफज एवं वातज रोगों का विनाश करती है॥ १५३-१५७॥

वक्तव्य—आयुर्वेदशास्त्र में हरीतकी (हरड़), लहसुन तथा शिलाजीत इन तीन द्रव्यों का विशेष महत्त्व है। हरीतकी की तो यहाँ तक प्रशंसा की गयी है—**'कदाचित् कुप्यति माता नोदरस्था हरीतकी'**। अर्थात् माता तो अपने बालक पर कभी रुष्ट हो भी सकती है, परन्तु पेट के भीतर गयी हुई हरीतकी कभी कुपित नहीं होती। सचमुच यह इसके गुणों की वास्तविकता है, न कि अतिशयोक्ति।

तद्वदामलकं शीतमम्लं पित्तकफापहम्।

आमलक का वर्णन—आँवला के गुण भी हरीतकी (हरड़) के समान ही होते हैं, परन्तु आँवला शीतवीर्य होता है तथा रस में अम्ल (खट्टा) होता है। यह पित्त तथा कफ का विनाशक होता है।

कटु पाके हिमं केश्यमक्षमीषच्च तद्गुणम्॥ १५८॥

बिभीतक का वर्णन—यह भी हरीतकी के समान गुण-धर्मों वाला होता है, किन्तु यह विपाक में कटु, केशों के लिए हितकर होता है, फिर भी हरीतकी तथा आँवला से कुछ कम गुण वाला होता है॥ १५८॥

वक्तव्य—हरड़, बहेड़ा, आँवला का सम्मिलित नाम त्रिफला है। तन्त्रान्तर में कहा है—'अभयैका प्रदातव्या द्वावेव तु बिभीतकौ। धात्रीफलानि चत्वारि त्रिफलेयं प्रकीर्तिता'॥ अर्थात् एक हरीतकी, दो बहेड़ा और तीन आँवला—इनको इस अनुपात में मिलाकर त्रिफला का निर्माण होता है।

इयं रसायनवरा त्रिफलाऽक्ष्यामयापहा। रोपणी त्वग्गदक्लेदमेदोमेहकफास्रजित्॥ १५९॥

त्रिफला का वर्णन—उक्त तीनों फलों के विधिवत् मिश्रण का नाम **'त्रिफला'** है। यह उत्तम कोटि का रसायन है। यह नेत्ररोगों का विनाश करती है, व्रणरोपण, त्वचा में होने वाली सड़न, मेदोदोष, प्रमेह, कफज रोग एवं रक्तज रोगों का विनाश करती है॥ १५९॥

सकेसरं चतुर्जातं त्वक्पत्रैलं त्रिजातकम्। पित्तप्रकोपि तीक्ष्णोष्णं रूक्षं रोचनदीपनम्॥ १६०॥

त्रिजात का वर्णन—दालचीनी, तेजपत्ता और बड़ी इलायची इन तीन द्रव्यों के संयोग का नाम 'त्रिजात' या 'त्रिजातक' है। ये दोनों शब्द शास्त्रीय प्रयोगों में पाये जाते हैं।

चतुर्जात का वर्णन—उक्त त्रिजात में नागकेसर द्रव्य को मिला देने से इसे 'चतुर्जात' या 'चतुर्जातक' कहा जाता है। उक्त योगों के गुण-धर्म—ये पित्तवर्धक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रूक्ष, अग्नि को प्रदीप्त कर भोजन के प्रति रुचि को बढ़ाते हैं॥ १६०॥

रसे पाके च कटुकं कफघ्नं मरिचं लघु।

मरिच (कालीमरिच) के गुण—यह रस एवं विपाक में कटु, कफनाशक तथा लघु होती है।

श्लेष्मला स्वादुशीताऽऽर्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली॥ १६१॥
सा शुष्का विपरीताऽतः स्निग्धा वृष्या रसे कटुः। स्वादुपाकाऽनिलश्लेष्मश्वासकासापहा सरा॥

न तामत्युपयुञ्जीत रसायनविधिं विना।

पिप्पली के गुण—हरी पिप्पली कफकारक, स्वाद में मधुर, शीतवीर्य, देर में पचने वाली तथा कुछ स्निग्ध होती है। वही पिप्पली जब सूख जाती है तो उक्त गुणों से विपरीत हो जाती है। तब यह स्निग्ध, वीर्यवर्धक, रस में कटु और विपाक में मधुर होती है। यह वातनाशक, कफनाशक, श्वास तथा कास नाशक एवं सर (मलभेदक) है। 'पिप्पलीरसायन' विधि के अतिरिक्त पिप्पली का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए॥ १६१-१६२॥

वक्तव्य—चरक में भी इसके अधिक सेवन का निषेध किया है। देखें—च.वि. १।१५।

नागरं दीपनं वृष्यं ग्राहि हृद्यं विबन्धनुत्॥ १६३॥
रुच्यं लघु स्वादुपाकं स्निग्धोष्णं कफवातजित्।

नागर (सोंठ) के गुण—यह जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, वीर्यवर्धक है, मल को बाँधता है, हृदय के लिए हितकर है। स्रोतों को शुद्ध करता है, रुचिवर्धक, लघु, विपाक में मधुर, स्निग्ध, उष्ण, कफ तथा वात नाशक है॥ १६३॥

तद्वदार्द्रकमेतच्च त्रयं त्रिकटुकं जयेत्॥ १६४॥
स्थौल्याग्निसदनश्वासकासश्लीपदपीनसान् ।

आर्द्रक के गुण—सोंठ के समान ही इसके भी गुण होते हैं। ये तीनों (सोंठ, मरिच, पीपल) मिलकर 'त्रिकटु' कहे जाते हैं। इसी को 'कटुत्रय' या 'त्र्यूषण' भी कहते हैं।

त्रिकटु के गुण—यह स्थूलता (मोटापा), मन्दाग्नि, श्वास, कास, श्लीपद (फीलपाँव) तथा पीनस रोगों का विनाश करता है॥ १६४॥

चविकापिप्पलीमूलं मरिचाल्पान्तरं गुणैः॥ १६५॥

चव्य तथा पीपलामूल के गुण—चव्य तथा पीपलामूल ये दोनों द्रव्य गुणों में मरिच के गुणों से कुछ ही कम हैं अर्थात् लगभग वैसे ही गुणों वाले होते हैं॥ १६५॥

चित्रकोऽग्निसमः पाके शोफार्शःकृमिकुष्ठहा।

चित्रक के गुण—चित्रक के जड़ की छाल पाक में अग्नि के समान है। यह शोफ (सूजन), अर्श (बवासीर), क्रिमिरोग तथा कुष्ठरोग का विनाश करती है।

पञ्चकोलकमेतच्च मरिचेन विना स्मृतम्॥ १६६॥
गुल्मप्लीहोदरानाहशूलघ्नं दीपनं परम्।

पञ्चकोल के गुण—यह 'पञ्चकोल' के संयोग के बिना ही माना गया है अर्थात् इस योग में—पीपल, सोंठ, चव्य, पीपलामूल और चीता की छाल ये ५ द्रव्य हैं। यह गुल्म, प्लीहारोग, उदररोग, आनाह (अफरा) तथा शूलरोगों का विनाशक है और उत्तम अग्निदीपक है॥ १६६॥

वक्तव्य—श्लोक १६१ से १६६ तक में वर्णित द्रव्यों में से मरिच को छोड़कर शेष कहे गये द्रव्यों के योग का नाम 'पञ्चकोल' है, क्योंकि इस योग में इन द्रव्यों की मात्रा १-१ कोल (आधा-आधा तोला) होती है। इस 'पञ्चकोल' में यदि मरिच का संयोग कर दिया जाता है, तो इसे 'षडूषण' कहते हैं अर्थात् छः उष्ण द्रव्यों का योग।

बिल्वकाश्मर्यतर्कारीपाटलाटिण्टुकैर्महत् ॥ १६७॥
जयेत्कषायतिक्तोष्णं पञ्चमूलं कफानिलौ।

बृहत्पञ्चमूल के योग—बेल की गिरी, गम्भार, अरणी, पाढल तथा सोनापाठा की छाल—इन पाँच द्रव्यों के योग का नाम 'बृहत्पञ्चमूल' है। यह रस में कषाय, तिक्त तथा उष्णवीर्य होता है। यह कफ एवं वात विकारों का विनाशक होता है॥ १६७॥

ह्रस्वं बृहत्यंशुमतीद्वयगोक्षुरकैः स्मृतम्॥ १६८॥
स्वादुपाकरसं नातिशीतोष्णं सर्वदोषजित्।

लघुपञ्चमूल के गुण—वनभण्टा, कण्टकारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी एवं गोखरू— इस योग को लघुपंचमूल कहते हैं। यह विपाक एवं रस में मधुर, समशीतोष्ण तथा सभी दोषों का शामक है॥ १६८॥

बलापुनर्नवैरण्डशूर्पपर्णीद्वयेन तु॥ १६९॥
मध्यमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं सरम्।

मध्यमपञ्चमूल के गुण—बला, पुनर्नवा, रेड़ की जड़, माषपर्णी और मुद्गपर्णी—इन पाँच द्रव्यों के योग का नाम 'मध्यमपञ्चमूल' है। यह कफ तथा वात दोष का नाशक तथा सर होता है। यह अधिक पित्तकारक नहीं होता है॥ १६९॥

अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकैः स्मृतम्॥ १७०॥
जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम्।

जीवनपञ्चमूल के गुण—शतावरी, मेदा, जीवन्ती, जीवक और ऋषभक—इन पाँच द्रव्यों के योग का नाम 'जीवनपञ्चमूल' है। यह आँखों के लिए हितकर, वीर्यवर्धक, पित्तदोष तथा वातदोष का शमन करता है॥ १७०॥

तृणाख्यं पित्तजिद्दर्भकासेक्षुशरशालिभिः॥ १७१॥
इत्यौषधवर्गः।

तृणपञ्चमूल के गुण—दर्भ (डाभ या कुश), कास (काँस), ईख की जड़, शर (सरपत) और शालिधानों की जड़—इनके योग का नाम 'तृणपञ्चमूल' है। यह पित्तशामक होता है॥ १७१॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में दो पञ्चमूलों का संग्रह और मिलता है। यथा—**वल्लीपञ्चमूल**—मेढ़ासिंगी, हल्दी, विदारीकन्द, सारिवा तथा गिलोय। दूसरा है **कण्टकपञ्चमूल**—गोखरू, शतावरी, कटसरैया, अहींस तथा करौंदा। देखें—अ.सं.सू. १२।६१-६२।

शूकशिम्बीजपक्वान्नमांसशाकफलौषधैः। वर्गितैरन्नलेशोऽयमुक्तो नित्योपयोगिकः॥ १७२॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थानेऽन्नस्वरूपविज्ञानीयो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

उपसंहार—१. शूकधान्यवर्ग, २. शिम्बीधान्यवर्ग, ३. पक्वान्नवर्ग, ४. मांसवर्ग, ५. शाकवर्ग, ६. फलवर्ग और ७. औषधवर्ग—इस प्रकार के वर्गीकरण द्वारा आहारद्रव्यों का लेशमात्र (अत्यन्त उपयोगी द्रव्यों का) वर्णन यहाँ कर दिया गया है॥ १७२॥

वक्तव्य—उक्त वर्गों के बीच-बीच में कुछ अन्य वर्गों का भी वर्णन इस अध्याय में हुआ है। यथा—'फलवर्ग' के अन्त में 'लवणवर्ग', इसके बाद ही 'हिंगु' का वर्णन संहिताकार ने किया है। प्राचीन निघण्टु-ग्रन्थों में द्रव्यों का वर्गीकरण स्वतन्त्र रूप से देखा जाता है।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी के पुत्र डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में अन्नस्वरूपविज्ञानीय नामक छठा अध्याय समाप्त॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातोऽन्नरक्षाध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से अन्नरक्षा नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि इस विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

निरुक्ति—इस प्रकरण में 'अन्न' शब्द पकाकर तैयार किये गये तथा खाये जाने योग्य पदार्थों का वाचक है। यथा—'अन्नं भक्ते च भुक्ते स्यात्'। इति मेदिनी। अन्यत्र इसके और भी अर्थ होते हैं। इसी अन्न की किस प्रकार और किसलिए रक्षा करनी चाहिए, यही इस अध्याय का प्रधान विषय है। यद्यपि आगे कहा जा रहा है कि राजा या महाराजा अपने घर के पास चिकित्सक के रहने की व्यवस्था करे।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. ११, २१, २६; च.शा. ८; च.सि. १२; सु.सू. २०, ३४; सु.शा. ४; सु.चि. २४; सु.क. १ तथा अ.सं.सू. ८-९ में देखें।

राजा राजगृहासन्ने प्राणाचार्यं निवेशयेत्। सर्वदा स भवत्येवं सर्वत्र प्रतिजागृविः॥ १॥

प्राणाचार्य की नियुक्ति—राजा का कर्तव्य है कि वह अपने राजभवन के समीप शास्त्रज्ञ कुशल चिकित्सक को सदा रखे, उसकी नियुक्ति करे अथवा उसके रहने की व्यवस्था करे। ऐसा करने पर वह चिकित्सक राजा के आहार-विहार आदि के प्रति सदैव जागरूक (सचेष्ट) रहेगा॥ १॥

अन्नपानं विषाद्रक्षेद्विशेषेण महीपतेः। योगक्षेमौ तदायत्तौ धर्माद्या यन्निबन्धनाः॥ २॥

चिकित्सक का कर्तव्य—राजा या श्रीमान् पुरुष जिस अन्न-पान का सेवन करें, उसमें कहीं से किसी प्रकार विष का प्रयोग तो नहीं हुआ है, इसकी परीक्षा कर उनकी रक्षा चिकित्सक करता रहे। क्योंकि राजा की विधिपूर्वक रक्षा होने पर ही उससे योगक्षेम (जीविका एवं कुशलता) तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का लाभ प्राप्त हो सकता है॥ २॥

वक्तव्य—उक्त श्लोक में 'अन्नपान' एक प्रधान विषय कह दिया है, इसके अतिरिक्त वस्त्र, माला, गुलदस्ता, रूमाल, प्रसाधन-सामग्री आदि पर भी चिकित्सक को ध्यान रखना चाहिए। विषकन्याओं का प्रयोग होता था, आज भी उसके प्रकारान्तर हैं, इनसे सावधान रहें। वैसे शत्रुओं से सभी को सदा सावधान रहना चाहिए। महर्षि चाणक्य ने तो इससे भी एक कदम आगे बढ़कर कहा है—'न विश्वसेत् कुमित्रे च मित्रे चापि न विश्वसेत्। कदाचित् कुपितं मित्रं सर्वं गुह्यं प्रकाशयेत्'॥ (चा.नी. २।६)

ओदनो विषवान् सान्द्रो यात्यविस्राव्यतामिव। चिरेण पच्यते पक्वो भवेत्पर्युषितोपमः॥ ३॥
मयूरकण्ठतुल्योष्मा मोहमूर्च्छाप्रसेककृत्। हीयते वर्णगन्धाद्यैः क्लिद्यते चन्द्रिकाचितः॥ ४॥

विषैले भात के लक्षण—विष मिला हुआ भात कुछ गीला-सा रहता है, ऐसा लगता है, मानो उसमें से माँड़ न निकाला गया हो। यदि पकते समय ही विष डाल दिया गया हो तो चावल देर से पकते हैं। यदि पके हुए भात में विष मिला दिया हो तो वह बासी भात जैसा दिखलायी देता है, उसमें से जो भाप निकलती है वह मोर के कण्ठ के समान वर्ण वाली (नीली) होती है। उस भाप के लगने से अथवा उस भात को खोलने से मोह, मूर्च्छा होती है तथा मुख से लार निकलने लगती है। वह विषैला भात अपने स्वाभाविक रूप तथा गन्ध वाला नहीं रह जाता है, उसमें गलन या सड़न-सी पैदा हो जाती है और उसमें चन्द्रिकाएँ जैसी दिखलायी पड़ती हैं॥ ३-४॥

व्यञ्जनान्याशु शुष्यन्ति ध्यामक्वाथानि तत्र च। हीनाऽतिरिक्ता विकृता छाया दृश्येत नैव वा॥
फेनोर्ध्वराजीसीमन्ततन्तुबुद्बुदसम्भवः। विच्छिन्नविरसा रागाः खाण्डवाः शाकमामिषम्॥ ६॥

विषैले व्यञ्जनों के लक्षण—विष युक्त व्यंजन (शाक-तरकारी आदि) जल्दी सूख जाते हैं और उनके रस मलिन पड़ जाते हैं। उन रसों में यदि छाया दिखलायी भी पड़ती है, तो वह हीन अंगों वाली या अतिरिक्त अंगों वाली अथवा विकृत छाया दिखती है अथवा छाया नहीं दिखायी देती। उन व्यंजनों में विष के कारण ऊपर की ओर को झाग उठने लगती है, रेखाएँ दिखलायी देती हैं, बीच में फटा हुआ-सा, तन्तु (ताँत) जैसा, बुलबुले जैसे उठना—ये लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। राग (रायते), खाडव (खट्टे रस वाली सब्जियाँ), शाक तथा मांसरसों के आकार कटे-फटे से दिखलायी देते हैं और खाने पर उनका रस विकृत जान पड़ता है॥ ५-६॥

नीला राजी रसे, ताम्रा क्षीरे, दधनि दृश्यते। श्यावाऽऽपीतासिता तक्रे, घृते पानीयसन्निभा॥
मस्तुनि स्यात्कपोताभा, राजी कृष्णा तुषोदके। काली मद्याम्भसोः, क्षौद्रे हरित्तैलेऽरुणोपमा॥
पाकः फलानामामानां पक्वानां परिकोथनम्। द्रव्याणामार्द्रशुष्काणां स्यातां म्लानिविवर्णते॥
मृदूनां कठिनानां च भवेत्स्पर्शविपर्ययः। माल्यस्य स्फुटिताग्रत्वं म्लानिर्गन्धान्तरोद्भवः॥ १०॥
ध्याममण्डलता वस्त्रे, शदनं तन्तुपक्ष्मणाम्। धातुमौक्तिककाष्ठाश्मरत्नादिषु मलाक्तता॥ ११॥
स्नेहस्पर्शप्रभाहानिः, सप्रभत्वं तु मृण्मये।

विषैली वस्तुओं के विशिष्ट लक्षण—विषैले मांसरस में नीली रेखाएँ, दूध में लाल, दही में काली, पीली या सफेद मठा में, घी में पानी की जैसी, मस्तु (दही के पानी आदि) में कबूतर के वर्ण जैसी, तुषोदक (काँजी) में काली रेखाएँ, मद्य में तथा जल में काली रेखाएँ, मधु में हरे वर्ण वाली, तेल में अरुण वर्ण (ईंट के रंग जैसी) रेखाएँ दिखलायी देती हैं।

विष के प्रभाव से कच्चे फल शीघ्र पक जाते हैं, पके हुए फलों से सड़न पैदा हो जाती है। गीले अथवा सूखे पदार्थ विषप्रयोग से मलिन तथा विकृत वर्ण के हो जाते हैं। कोमल एवं कठोर द्रव्यों के स्पर्श में अन्तर पड़ जाता है। अथवा इसे इस प्रकार समझें—विष-प्रयोग से मृदु द्रव्य कठोर और कठोर द्रव्य मृदु स्पर्श वाले हो जाते हैं। माला में फूलों के अगले हिस्से फूट जाते हैं, वे मलिन पड़ जाते हैं और उनकी गन्ध विकृत हो जाती है। वस्त्रों पर सूखापन, चकत्ते पड़ जाना, उनके धागे या रोएँ ढीले पड़ जाते हैं या टूटने लगते हैं। सोना आदि धातुओं के आभूषणों, मोती आदि में; लकड़ी से बने हुए कुर्सी, टेबुल, चौकी, छड़ी आदि में, पत्थर से गढ़े गये पात्रों पर, हीरे आदि उत्तम रत्नों में मैलापन आ जाता है। उनमें से चिकनापन, स्पर्शप्रियता, प्रभा की हानि हो जाती है और मिट्टी के पात्रों में चमकीलापन आ जाता है॥ ७-११॥

विषदः श्यावशुष्कास्यो विलक्षो वीक्षते दिशः॥ १२॥
स्वेदवेपथुमांस्त्रस्तो भीतः स्खलति जृम्भते।

विषदाता के लक्षण—इसका मुख गोरा होने पर भी काली छाया युक्त, चेहरा सूखा हुआ-सा कान्तिहीन हो जाता है। वह लज्जित होकर इधर-उधर दूर तक दिशाओं की ओर देखता रहता है अर्थात् वह अपराधी होने के कारण किसी से नजर मिला नहीं पाता। उसके शरीर में पसीना तथा कम्पन होने लगता है, वह घबड़ा जाता है, डर जाता है, चलने में उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं और बार-बार जँभाइयाँ लेता रहता है॥ १२॥

वक्तव्य—विषदाता के कुछ और भी लक्षण होते हैं उन्हें चरक, सुश्रुत आदि में देखें। कभी-कभी पुलिस की धर-पकड़ से निरपराधी भी फँस जाते हैं और वे भी वैसी चेष्टा करने लगते हैं। अतः सावधानी से निर्णय करना चाहिए।

प्राप्यान्नं सविषं त्वग्निरेकावर्तः स्फुटत्यति॥ १३॥
शिखिकण्ठाभधूमार्चिरनर्चिर्वोग्रगन्धवान् ।

विषैले अन्न की अग्नि-परीक्षा—यदि विषैला अन्न आग में डाला जाता है, तो उसकी लौ किसी एक ओर ही होती है। वह अन्न अत्यन्त फूटने (चट-चटाने) लगता है, मोर के गले के सदृश नीली लौ तथा ऐसा ही धुआँ निकलता है अथवा आग की लौ नहीं भी उठती और उसमें से अत्यन्त तीव्र दुर्गन्ध आती है॥ १३॥

वक्तव्य—हमारे प्राचीन धर्माचार्यों ने भोजन करने के पहले कुछ ग्रास गाय, कुत्ता, कौआ आदि को देने का और कुछ अंश अग्नि में डालने का जो निर्देश दिया था, उसमें धार्मिक दृष्टिकोण के साथ-ही-साथ एक रहस्य यह भी अवश्य रहा होगा। इसी से सम्बन्धित वर्णन आगे भी है।

म्रियन्ते मक्षिकाः प्राश्य काकः क्षामस्वरो भवेत्॥ १४॥
उत्क्रोशन्ति च दृष्ट्वैतच्छुकदात्यूहसारिकाः। हंसः प्रस्खलति, ग्लानिर्जीवञ्जीवस्य जायते॥
चकोरस्याऽक्षिवैराग्यं, क्रौञ्चस्य स्यान्मदोदयः। कपोतपरभृद्दक्षचक्रवाका जहत्यसून्॥ १६॥
उद्वेगं याति मार्जारः, शकृन्मुञ्चति वानरः। हृष्येन्मयूरस्तद्दृष्ट्या मन्दतेजो भवेद्विषम्॥ १७॥
इत्यन्नं विषवज्ज्ञात्वा त्यजेदेवं प्रयत्नतः। यथा तेन विपद्येरन्नपि न क्षुद्रजन्तवः॥ १८॥

विषैले अन्न का प्रभाव—विषैले अन्न (आहार) को खाकर मक्खियाँ मर जाती हैं, कौए का स्वर क्षीण हो जाता है और ऐसे अन्न को देखते ही सुग्गा, दात्यूह (जलमुर्गा या कौआ या चातक पक्षी) तथा मैना—ये पक्षी चिल्लाने लगते हैं। हंस लड़खड़ाने लगते हैं, जीवंजीव (कोषकार कहते हैं कि इसे देखने मात्र से विष का नाश हो जाता है) पक्षी विष को देखकर दुःखी हो जाता है, चकोर की आँखों का रंग बिगड़ जाता है, क्रौञ्च को नशा चढ़ जाता है; कबूतर, कोयल, मुर्गा, चकवा ये मर जाते हैं, बिलाव घबड़ा जाता है, बन्दर देखते ही मलत्याग कर देता है तथा मोर विष को देखकर प्रसन्न हो जाता है और इसके देखने मात्र से विष का प्रभाव कम हो जाता है (अतएव यह जहरीले साँपों को भी खा जाता है)। इन परीक्षाओं से उस अन्न को विष के समान समझ कर छोड़ दे और उस अन्न को ऐसे स्थान पर डाल दे, जिससे क्षुद्र प्राणी भी उसे खाकर न मरें॥ १४-१८॥

वक्तव्य—'प्रमादो धीमतामपि' अर्थात् सूझ-बूझसम्पन्न लोग भी जब भूल कर बैठते हैं तो श्रीमान् पुरुषों की तो बात ही क्या कहना है! यदि किसी प्रकार विष-प्रयोग हो ही गया हो तो उसका निराकरण इस प्रकार करें।

स्पृष्टे तु कण्डूदाहोषाज्वरार्तिस्फोटसुप्तयः। नखरोमच्युतिः शोफः, सेकाद्या विषनाशनाः॥१९॥
शस्तास्तत्र प्रलेपाश्च सेव्यचन्दनपद्मकैः। ससोमवल्कतालीसपत्रकुष्ठामृतानतैः॥ २०॥

स्पर्शज विष-चिकित्सा—विषैले पदार्थों (माला, वस्त्र आदि) का स्पर्श हो जाने पर खुजली, जलन, ऊष्मा (गरम-गरम भाप जैसी निकलना), ज्वर हो जाना, पीड़ा, उस स्थान पर फफोलों का निकलना, सुन्न पड़ जाना, नख तथा रोमों का उखड़ जाना, सूजन हो जाना आदि लक्षण हो जाते हैं। इस स्थिति में शीघ्र ही विषनाशक स्नान, अभ्यंग, अवगाहन तथा लेपों-प्रलेपों की व्यवस्था करें। यथा—खस, सफेद चन्दन, पद्मकाष्ठ (पद्माख), कायफल का छिलका (इसकी नस्य भी बनायी जाती है), तालीसपत्र, कूठ (यह सुगन्धित द्रव्य है), गिलोय तथा तगर के कल्क का लेप करें और क्वाथ को पिलायें अथवा इनके क्वाथों का उन अवयवों में सेचन करें॥ १९-२०॥

लाला जिह्वौष्ठयोर्जाड्यमूषा चिमिचिमायनम्। दन्तहर्षो रसाज्ञत्वं हनुस्तम्भश्च वक्त्रगे॥ २१॥
सेव्याद्यैस्तत्र गण्डूषाः सर्वं च विषजिद्धितम्।

मुख में विष का प्रभाव—यदि मुख के भीतरी प्रदेश में किसी विष का प्रभाव हो गया हो तो उसमें ये लक्षण होते हैं—मुख से बार-बार लार निकलना, जीभ तथा होठों में जड़ता, जलन का होना, चुनचुनाहट का होना, दन्तहर्ष, रसों का ज्ञान न होना (यह जिह्वा की जड़ता है) तथा हनुस्तम्भ। इनकी चिकित्सा—बीसवें श्लोक में कहे गये खस आदि द्रव्यों के क्वाथ बनवाकर उनके गण्डूष (कुल्ले) करें और भी जो विषनाशक चिकित्सा हो, उसे करें, ये सब हितकर होती हैं॥ २१॥

आमाशयगते स्वेदमूर्च्छाध्मानमदभ्रमाः॥ २२॥
रोमहर्षो वमिर्दाहश्चक्षुर्हृदयरोधनम्। बिन्दुभिश्चाचयोऽङ्गानां, पक्वाशयगते पुनः॥ २३॥
अनेकवर्णं वमति मूत्रयत्यतिसार्यते। तन्द्रा कृशत्वं पाण्डुत्वमुदरं बलसङ्क्षयः॥ २४॥
तयोर्वान्तविरिक्तस्य हरिद्रे कटभीं गुडम्। सिन्दुवारितनिष्पावबाष्पिकाशतपर्विकाः॥ २५॥
तण्डुलीयकमूलानि कुक्कुटाण्डमवल्गुजम्। नावनाञ्जनपानेषु योजयेद्विषशान्तये॥ २६॥

आमाशयगत विष के लक्षण—पसीना का आना, मूर्च्छा, आध्मान (अफरा), मद (नशा का होना), चक्कर आना, रोंगटे खड़े होना, वमन, जलन, आँखों के सामने अँधेरा छा जाना, हृदय की गति में रुकावट का होना तथा शरीर के अवयवों पर पानी के फफोलों जैसे बिन्दुओं का उभड़ आना।

पक्वाशयगत विष के लक्षण—अनेक रंग के वमनों का होना, मूत्र का अधिक होना, अतिसार का होना, तन्द्रा (उँघाई का आना), कृशता, शरीर में पीलापन का होना, उदररोग तथा बल का क्रमशः क्षय होना।

उक्त दोनों की चिकित्सा—ऊपर वर्णित लक्षणों में वमन तथा अतिसार का वर्णन है, उस स्थिति में आप देखें कि यदि वमन-विरेचन आवश्यकता के अनुसार हो गये हैं, तो आगे की चिकित्सा इस प्रकार करें—हल्दी, दारुहल्दी की छाल, कटभी (अपराजिता), गुड़, सिन्दुवार (मेवड़ी) के पत्ते, निष्पाव (मटर), हिंगुपत्री, बालवच, चौलाई की जड़, मुर्गी के अण्डे का रस तथा बाकुची—इनका प्रयोग नस्य, अञ्जन तथा क्वाथ बनाकर पीने के रूप में करें, इससे विषविकार शान्त हो जाते हैं॥ २२-२६॥

वक्तव्य—आमाशयगत विष प्रारम्भ में वमनों द्वारा और पक्वाशयगत विष विरेचनों द्वारा निकल जाता है, शेष उक्तनिर्दिष्ट औषधयोग से शान्त हो जाता है। विष में घृतपान अत्यन्त लाभकारी होता है, उसमें भी गाय का घृत और भी उत्तम होता है।

विषभुक्ताय दद्याच्च शुद्धायोर्ध्वमधस्तथा। सूक्ष्मं ताम्ररजः काले सक्षौद्रं हृद्विशोधनम्॥ २७॥
शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्।

ताम्र एवं स्वर्ण भस्म-प्रयोग—जिस व्यक्ति ने विष खाया है, उसे वमन-विरेचन विधियों से नीचे-ऊपर शुद्ध हो जाने पर प्रतिदिन १ रत्ती ताम्रभस्म १ तोला मधु के साथ प्रातः-सायं सेवन करने के लिए देना चाहिए। इससे विशेषरूप से हृदय का शोधन हो जाता है। जब हृदय शुद्ध हो जाय तब इस रोगी को १ शाण स्वर्णभस्म का सेवन करने के लिए दें॥ २७॥

वक्तव्य—४ माषा = १ शाण, ६ रत्ती = १ माषा, ६×४ = २४ रत्ती अर्थात् १-१ रत्ती की मात्रा में मधु के साथ विषभुक्त रोगी को २४ दिनों तक इसका सेवन कराना चाहिए।

न सज्जते हेमपाङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद्विषम्॥ २८॥
जायते विपुलं चायुर्गरेऽप्येष विधिः स्मृतः।

स्वर्णभस्म का प्रभाव—जो सदा इस प्रकार स्वर्णभस्म का सेवन करता है उसके शरीर में विष का प्रभाव उस प्रकार नहीं होता, जिस प्रकार कमलपत्र पर जल का स्पर्श नहीं हो पाता। स्वर्ण का सेवन करने से आयु बढ़ती है। गरविषों तथा मूलविषों की चिकित्सा भी इसी प्रकार की जाती है॥ २८॥

वक्तव्य—अष्टांगहृदय-उत्तरस्थान अध्याय ३५ से ३८ तक विविध प्रकार के विषों की चिकित्साओं का वर्णन विस्तार से किया गया है।

विरुद्धमपि चाहारं विद्याद्विषगरोपमम्॥ २९॥

विरोधी आहार—विरुद्ध अथवा परस्पर विरोधी आहार भी विष (स्थावर, जंगम) तथा गरविष (कृत्रिम विष) के समान होता है॥ २९॥

वक्तव्य—विरुद्ध अन्नपानों के सेवन का निषेध तो वाग्भट ने किया है, किन्तु उनका शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है, स्पष्टरूप से उसका निर्देश नहीं किया है। इसे चरक के अनुसार इस प्रकार समझें—'षाण्ढचान्ध्य····हेतुम्'॥ (च.सू. २६।१०२-१०३) अर्थात् विरुद्ध आहारों के सेवन से होने वाले रोग—नपुंसकता, अन्धापन, विसर्प, जलोदर, विस्फोट, उन्माद, भगन्दर, मूर्च्छा, मदरोग, आध्मान, गले के रोग, पाण्डुरोग, अलसक (गुमहैजा), विसूचिका, किलास (श्वेत कुष्ठ), कुष्ठ, ग्रहणीरोग, शोष, रक्तपित्त, ज्वर, प्रतिश्याय, सन्तानदोष (गर्भावस्था में माता द्वारा सेवन करने से भ्रूण का गर्भ में मर जाना या पैदा होकर मर जाना आदि) तथा मृत्यु—ये कारण होते हैं। इसी प्रकार के निर्देश अ.स.सू. ९।२९ में भी देखें।

आनूपमामिषं माषक्षौद्रक्षीरविरूढकैः। विरुध्यते सह बिसैर्मूलकेन गुडेन वा॥ ३०॥
विशेषात्पयसा मत्स्या मत्स्येष्वपि चिलीचिमः।

आनूपदेशीय (सूअर आदि का) मांस—उड़द, मधु, दूध, अंकुरित धान्यों (चना, गेहूँ, मूँग, मोठ, मटर आदि) के साथ परस्पर गुणों में विपरीत होता है तथा बिस (भँसीड़ा), मूली एवं गुड़ के साथ भी विरुद्ध होता है। विशेष करके दूध के साथ मछलियों का सेवन न करें, उनमें भी चिलचिम नामक मछली का तो कभी भी दूध के साथ सेवन नहीं करना चाहिए॥ ३०॥

वक्तव्य—विरुद्ध आहार इस प्रकरण में जिन-जिन को कहा जायेगा, उनमें से कौन क्या विकार करता है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा गया है; तथापि इनसे रक्त दूषित होकर अनेक विस्फोट आदि विकृतियाँ होती हैं। ये सभी खाद्य पदार्थ हैं, इनका एक ही समय में एक साथ खाना ही विरुद्ध कहा गया है। स्वतन्त्र रूप से क्रमशः इनका सेवन किया ही जाता है, तब कोई दोष भी नहीं होता है। यही मत चरक, सुश्रुत आदि का भी है।

विरुद्धमम्लं पयसा सह सर्वं फलं तथा॥ ३१॥
तद्वत्कुलत्थवरककङ्गुवल्लमकुष्टकाः।

दुग्धपान-विचार—अम्लरस-प्रधान सभी पदार्थ तथा फल दूध के साथ नहीं खाने चाहिए, क्योंकि ये परस्पर विरुद्ध होते हैं। इसी प्रकार कुलथी, वरक (उद्दालक), कंगुनी (कौंणी), मटर, मोठ आदि भी दूध के साथ नहीं खाने चाहिए॥ ३१॥

वक्तव्य—'सर्वं फलं'—ऐसा नहीं है कि दूध के साथ कोई फल नहीं खाया जाता हो। बादाम, छुहारा, किसमिश आदि के साथ दूध का प्रयोग किया ही जाता है, दूध के साथ किन फलों को नहीं खाना चाहिए, देखें—'आम्रातक····चान्यानि'। (च.सू. २६।८४) इसी प्रकार सु.सू. २०।८ का भी अवलोकन करें।

भक्षयित्वा हरितकं मूलकादि पयस्त्यजेत्॥ ३२॥

विरुद्ध आहार के लक्षण—मूली आदि हरे पदार्थों को खाकर उनके तत्काल बाद भी दूध नहीं पीना चाहिए॥ ३२॥

वाराहं श्वाविधा नाद्याद्दध्ना पृषतकुक्कुटौ। आममांसानि पित्तेन, माषसूपेन मूलकम्॥ ३३॥
अविं कुसुम्भशाकेन, बिसैः सह विरूढकम्। माषसूपगुडक्षीरदध्याज्यैर्लाकुचं फलम्॥ ३४॥
फलं कदल्यास्तक्रेण दध्ना तालफलेन वा। कणोषणाभ्यां मधुना काकमाचीं गुडेन वा॥ ३५॥
सिद्धां वा मत्स्यपचने पचने नागरस्य वा। सिद्धामन्यत्र वा पात्रे कामात्तामुषितां निशाम्॥ ३६॥

वराह (सूअर) का मांस साही (सेह या सौल) के मांस के साथ मिलाकर न खायें। चितकबरा हरिण तथा मुर्गा का मांस दही के साथ नहीं खाना चाहिए। कच्चे मांसों को प्राणियों के पित्तद्रव के साथ न खायें, उड़द की दाल के साथ मूली न खायें, भेड़ के मांस को कुसुम्भ के शाक के साथ न खायें। बिस (भँसीड़ा) के साथ अंकुरित धान्यों को, बड़हर के फल को उड़द की दाल, गुड़, दूध, दही तथा घी के साथ नहीं खाना चाहिए। केले के पके फल को मठा, दही अथवा ताड़ के फल के साथ, मकोय को पीपल तथा मरिच के साथ, मधु अथवा गुड़ के साथ नहीं खाना चाहिए। जिस पात्र में मछली पकायी गयी हो अथवा सोंठ पकायी गयी हो उसी पात्र में पकाया गया मकोय का शाक न खायें। यदि दूसरे पात्र में मकोय का शाक पकाया गया हो किन्तु रातभर का बासी शाक हो, उसे भी भरपेट न खायें॥ ३३-३६॥

मत्स्यनिस्तलनस्नेहे साधिताः पिप्पलीस्त्यजेत्। कांस्ये दशाहमुषितं सर्पिरुष्णं त्वरुष्करे॥ ३७॥

जिस स्नेह (तेल या घी) में मछली का मांस तला गया हो, उसी स्नेह में तली गयी पिप्पली का सेवन न करें। काँसा के पात्र में दस दिन तक रखे हुए घी (यह घी देखने में हरा या नीला हो जाता है और खा लेने पर इससे वमन होने लगते हैं, अतः इस) को न खायें। भिलावा के सेवन काल में उष्णताकारक आहार-विहारों का सेवन न करें॥ ३७॥

भासो विरुध्यते शूल्यः कम्पिल्लस्तक्रसाधितः।

भास (गीध) का मांस शूल (लोहे की छड़) पर लपेट कर अँगारों में पकाया गया विरुद्ध होता है। मठा के साथ पकाया गया कम्पिल्ल (कबीला) विरुद्ध होता है।

ऐकध्यं पायससुराकृशराः परिवर्जयेत्॥ ३८॥

पायस (खीर, खोया या मलाई) आदि पदार्थों को सुरा (मद्यभेद) एवं खिचड़ी के साथ नहीं खाना चाहिए॥ ३८॥

मधुसर्पिर्वसातैलपानीयानि द्विशस्त्रिशः। एकत्र वा समांशानि विरुध्यन्ते परस्परम्॥ ३९॥

समान भाग मधु-घृत, वसा (प्राणिज स्नेह), तैल, जल—इन द्रव्यों को दो-दो करके अथवा तीन-तीन को एक साथ मिलाकर सेवन करना विरुद्ध होता है॥ ३९॥

वक्तव्य—केवल इन्हीं द्रव्यों का परस्पर संयोग विरुद्ध होता है, इनके साथ और भी द्रव्य मिलाये गये हों तो कोई हानि नहीं होती। जैसे—**अगस्त्यलेह**। यह दो-दो या तीन-तीन का जो योग कहा गया है यह उपलक्षण मात्र है। यह संयोग चार-पाँच द्रव्यों का भी हो सकता है।

भिन्नांशे अपि मध्वाज्ये दिव्यवार्यनुपानतः। मधुपुष्करबीजं च, मधुमैरेयशार्करम्॥ ४०॥
मन्थानुपानः क्षैरेयो, हारिद्रः कटुतैलवान्।

कम-ज्यादा परिमाण में भी मिलाये गये मधु-घृत वर्षाजल के अनुपान से विरुद्ध हो जाते हैं। मधु तथा कमलबीज (कमलगट्टा), मधु तथा मैरेय (धान्यासव—चन्द्रनन्दन के अनुसार, खर्जूरासव—अरुणदत्त एवं इन्दु के अनुसार) तथा शर्करासव ये भी परस्पर विरुद्ध होते हैं। खीर, मठा या सत्तू के घोल के साथ और हारिद्रक (पीले रंग वाला छत्राक नामक कन्द-विशेष, इसको संस्वेदज शाक कहा है) को सरसों के तेल में तलकर नहीं खाना चाहिए॥ ४०॥

उपोदकाऽतिसाराय तिलकल्केन साधिता॥ ४१॥

तिल की चटनी के साथ पकाया गया पोई (उपोदिका या उपोदका) का शाक विरुद्ध होता है। इसका सेवन करने से अतिसार होने लगता है॥ ४१॥

बलाका वारुणीयुक्ता कुल्माषैश्च विरुध्यते। भृष्टा वराहवसया सैव सद्यो निहन्त्यसून्॥ ४२॥

बलाका (बगुला की स्त्री) का मांस वारुणी (सुरा) तथा कुल्माष (उबाले हुए चना, मटर, मूँग) के साथ खाने से विरुद्ध होते हैं। बलाका का मांस सूअर की चर्बी में तल कर खाने से शीघ्र ही मारक हो जाता है॥ ४२॥

तद्वत्तित्तिरिपत्राढ्यगोधालावकपिञ्जलाः। ऐरण्डेनाग्निना सिद्धास्तत्तैलेन विमूर्च्छिताः॥ ४३॥

तीतर आदि निम्नलिखित प्राणियों के मांस रेंड़ की लकड़ियों की आग में और रेंड़ के तेल में तले जाने पर ऊपर कहे गये बलाका-मांस की भाँति मारक होते हैं। प्राणियों के नाम—तीतर, पत्राढ्य (मोर), गोह, लवा एवं गौरैया॥ ४३॥

हारीतमांसं हारिद्रशूलकप्रोतपाचितम्। हरिद्रावह्निना सद्यो व्यापादयति जीवितम्॥ ४४॥

हारीत (हारिल) पक्षी का मांस दारुहल्दी की लकड़ी में पिरोकर या लपेट कर हल्दी की लकड़ी की आग में पकाया गया शीघ्र मारक होता है॥ ४४॥

भस्मपांशुपरिध्वस्तं तदेव च समाक्षिकम्।

भस्म (राख) तथा धूल से धूसरित (मलिन) एवं मधु मिलाकर खाया गया वह हारिल पक्षी का मांस तत्काल मारक होता है।

यत्किञ्चिद्दोषमुत्क्लेश्य न हरेत्तत्समासतः॥ ४५॥
विरुद्धम्—

जो कोई आहार-पदार्थ वात आदि दोषों को उभाड़कर उन्हें निकालता नहीं, वह आहार संयोगविरुद्ध कहा जाता है॥ ४५॥

वक्तव्य—यहाँ केवल संयोगविरुद्ध की चर्चा की गयी है। चरकसंहिता में इसके अनेक भेदों का इस प्रकार वर्णन किया है। देखें— १. देशविरुद्ध, २. कालविरुद्ध, ३. अग्निविरुद्ध, ४. मात्राविरुद्ध, ५. सात्म्यविरुद्ध, ६. दोषविरुद्ध, ७. संस्कारविरुद्ध, ८. वीर्यविरुद्ध, ९. कोष्ठविरुद्ध, १०. अवस्थाविरुद्ध, ११. क्रमविरुद्ध, १२. परिहारविरुद्ध, १३. उपचारविरुद्ध, १४. पाकविरुद्ध, १५. संयोगविरुद्ध, १६. सम्पद्‌विरुद्ध और १७. विधिविरुद्ध। देखें—च.सू. २६।८६-१०१।

—शुद्धिरत्रेष्टा शमो वा तद्विरोधिभिः।

इस प्रकार विरुद्ध आहारों का सेवन करने से जो विकार उत्पन्न हो गये हों, उनको दूर करने के लिए वमन-विरेचन द्वारा शरीर का शोधन करना चाहिए अथवा उन-उन आहारों के विरोधी आहारों द्वारा उनकी शमन-चिकित्सा करनी चाहिए।

द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याभिसंस्कृतिः॥ ४६॥

अथवा उस प्रकार के विरुद्ध आहारों के विरोधी आहारद्रव्यों का सेवन करने से पहले ही से शरीर को उस प्रकार का बना लेना चाहिए, जिससे विरुद्ध आहार का प्रभाव शरीर पर न पड़ सके॥ ४६॥

वक्तव्य—विरुद्ध भोजन भी निरन्तर सेवन करते रहने से सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) कर लिये जाते हैं। इस विवशता का एक उदाहरण है। जैसे—रात की नौकरी करने वाले दिन में सोकर रात की नींद पूरी कर लेते हैं। फिर भी यह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध तो है ही।

व्यायामस्निग्धदीप्ताग्निवयःस्थबलशालिनाम्। विरोध्यपि न पीडायै सात्म्यमल्पं च भोजनम्॥

विरोधी आहारों का सेवन—प्रतिदिन व्यायाम करने वाले, स्निग्ध शरीर वाले, जिनकी जठराग्नि दीप्त है, युवक (युवती), बलवान् पुरुषों (स्त्रियों) को विरोधी अन्न-पानों से कोई हानि नहीं होती। यदि वे पदार्थ सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) हों तथा स्वल्प मात्रा में खाये गये हों तो वे हानिकारक नहीं होते॥ ४७॥

वक्तव्य—उक्त उदाहरण व्यक्ति-विशेष तथा परिस्थिति-विशेष का है। इस पद्य का सन्निवेश यहाँ इसलिए किया गया है कि कोई मनचला व्यक्ति आयुर्वेद के प्रति आक्षेप न करे कि अमुक व्यक्ति ने विरुद्ध आहार का सेवन किया, वह स्वस्थ है। वास्तव में विरुद्ध आहारों का सेवन न करें।

पादेनापथ्यमभ्यस्तं पादपादेन वा त्यजेत्। निषेवेत हितं तद्वदेकद्वित्र्यन्तरीकृतम्॥ ४८॥

अपथ्य का त्याग, पथ्य का सेवन—प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा सेवन करने के कारण अभ्यास किये गये अपथ्य (विरुद्ध आहार-विहार) को भी एक-एक चौथाई क्रम से छोड़ते जाना चाहिए। यदि इतनी मात्रा में छोड़ने पर भी हानि होने की सम्भावना हो तो उसे सोलहवें हिस्से से छोड़ना आरम्भ करें और उसी क्रम से एक, दो, तीन दिन का अन्तर देकर उन्हें छोड़ देना चाहिए। इसी क्रम से हितकर आहार-विहार का सेवन प्रारम्भ करना चाहिए॥ ४८॥

अपथ्यमपि हि त्यक्तं शीलितं पथ्यमेव वा। सात्म्यासात्म्यविकाराय जायते सहसाऽन्यथा॥ ४९॥

सहसा त्याग का निषेध—यदि उक्त प्रकार से व्यवहार न करके आपने सहसा अपथ्य का परित्याग कर दिया और पथ्य का सेवन प्रारम्भ कर दिया तो सहसा सात्म्य पदार्थों के छोड़ने और असात्म्य पदार्थों के सेवन करने के कारण अनेक प्रकार के विकार (रोग) उत्पन्न हो सकते हैं॥ ४९॥

क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः। सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च॥ ५०॥

दोषों का ह्रास, गुणों की वृद्धि—क्रमशः घटाये गये वात आदि दोष पुनः बढ़ने नहीं पाते तथा क्रमशः संचित किये गये गुण चिर-स्थिर होते हैं अर्थात् उन्हें कोई डिगा नहीं पाता॥ ५०॥

अत्यन्तसन्निधानानां दोषाणां दूषणात्मनाम्। अहितैर्दूषणं भूयो न विद्वान् कर्तुमर्हति॥ ५१॥

दोषों को दूषित न करें—शरीर में वात आदि दोष सदा रहा करते हैं, उनका स्वभाव है, वे शरीर को दूषित किया करते हैं। अतएव पथ्य तथा अपथ्य को जानकर विद्वान् वैद्य अहितकर आहार एवं विहार द्वारा उन दोषों को दूषित न होने दें अर्थात् चिकित्सा की आज्ञा के अनुकूल मनुष्य आहार-विहार करे॥ ५१॥

आहारशयनाब्रह्मचर्यैर्युक्त्या प्रयोजितैः। शरीरं धार्यते नित्यमागारमिव धारणैः॥ ५२॥

तीन उपस्तम्भ—शरीर के तीन उपस्तम्भ हैं— १. आहार, २. शयन (निद्रा) तथा ३. ब्रह्मचर्य। इन तीनों का शास्त्रीय निर्देशों के अनुसार युक्तिपूर्वक उपयोग करने से शरीर का उस प्रकार धारण होता है जिस प्रकार खम्भों से मकान स्थिर रहता है॥ ५२॥

वक्तव्य—इस विषय का प्रतिपादन चरक में भी किया गया है—**'त्रयः····देक्ष्यते**। (च.सू. ११।३५) अर्थात् 'आहार, स्वप्न, ब्रह्मचर्य' इन तीन उपस्तम्भों के विधिवत् प्रयोग करने से शरीर जीवनभर बल, कान्ति तथा पुष्टि से युक्त रहता है; किन्तु इस बीच में अहितकर आहार-विहारों का यदि सेवन किया जाता है, तो उक्त लाभ नहीं मिलते। इन विषयों का वर्णन हम इसी अध्याय में आगे करेंगे।

आहारो वर्णितस्तत्र तत्र तत्र च वक्ष्यते।

आहार नामक उपस्तम्भ—शरीर को धारण करने में जिन तीन उपस्तम्भों का वर्णन किया गया है, उनमें पहला उपस्तम्भ आहार है। इसके पहले अ.हृ.सू. ३ में तथा अ.हृ.सू. ५,६ और ७वें अध्याय में भी इसका वर्णन कर दिया गया है, इसके आगे भी यथास्थान किया जायेगा।

वक्तव्य—'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः'; 'जगदन्ने प्रतिष्ठितम्' तथा 'अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठम्' (च.सू. २५।४०) और 'इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः प्रत्यक्षफलदर्शनात्'। (च.सू. २७।३) इसके आगे च.सू. २८।३ भी देखें। वास्तव में जीवन की रक्षा करने वाले भावों में अन्न सर्वश्रेष्ठ भाव है। इसी विषय का समर्थन सुश्रुत में भगवान् धन्वन्तरि ने इस प्रकार किया है—'प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च'। (सु.सू. ४६।३)

निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्॥५३॥
वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च।

निद्रा नामक उपस्तम्भ—दूसरा उपस्तम्भ है निद्रा—शयन करना (सुख से सोना)। इसी के ऊपर आगे कहे जाने वाले भाव निर्भर रहते हैं। यथा—सुख, पुष्टि, बल, वृषता (मैथुन करने की शक्ति), ज्ञान तथा दीर्घजीवन का लाभ भलीभाँति नींद आ जाने पर मिलते हैं और नींद के न आने पर इनके विपरीत भावों की प्राप्ति होती है। यथा—दुःख, कृशता, दुर्बलता, क्लीबता (नपुंसकता—रतिशक्ति का अभाव), अज्ञान तथा मृत्यु॥५३॥

अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता॥५४॥
सुखायुषी पराकुर्यात् कालरात्रिरिवापरा।

निद्रा का अभाव—निद्रा का दुरुपयोग या अभाव—असमय में निद्रा का सेवन (सोना), आवश्यकता से अधिक सोना अथवा थोड़ा-सा भी न सोना जीवन के सुखों तथा आयु को नष्ट कर देता है। इस प्रकार की अनियमित निद्रा कालरात्रि के समान होती है॥५४॥

वक्तव्य—उक्त पद्य श्रीवाग्भट ने चरक से अविकल रूप में उद्धृत किया है। देखें—च.सू. २१।३७।

रात्रौ जागरणं रूक्षं, स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा॥५५॥
अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम्।

निद्रा के गुण-दोष—रात्रि में जागने से शरीर में रूक्षता हो जाती है, दिन में सोने से शरीर में स्निग्धता बढ़ जाती है (इसमें मूल कारण कफदोष की वृद्धि है)। सोने का एक प्रकार और है—बैठे-बैठे ऊँघना या झपकियाँ लेते रहना। यह न तो रूक्षता करता है और न कफ को ही बढ़ाता है॥५५॥

वक्तव्य—चरक ने निद्रा की इस स्थिति को 'आसीनप्रचलायित' संज्ञा दी है। देखें—च.सू. २१।५०।

ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यरात्र्यल्पभावतः॥५६॥
दिवास्वप्नो हितोऽन्यस्मिन् कफपित्तकरो हि सः। मुक्त्वा तु भाष्ययानाध्वमद्यस्त्रीभारकर्मभिः॥
क्रोधशोकभयैः क्लान्तान् श्वासहिध्मातिसारिणः। वृद्धबालाबलक्षीणक्षततृट्शूलपीडितान्॥
अजीर्ण्यभिहतोन्मत्तान् दिवास्वप्नोचितानपि। धातुसाम्यं तथा ह्येषां श्लेष्मा चाङ्गानि पुष्यति॥

निद्रा सम्बन्धी विचार—ग्रीष्म ऋतु में वातदोष का संचय होने से, आदानकाल के कारण होने वाली रूक्षता से एवं इन दिनों रातों के छोटी हो जाने से दिन में सोना हितकर होता है। इसके अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में दिन में सोना कफकारक होता है॥५६॥

अधिक बोलने से, सवारी करने से, रास्ता चलने से, मद्यपान करने से, स्त्री-सहवास करने से, क्रोध से, शोक से, भय से, थके हुए पुरुषों को, श्वास, हिक्का (हिचकी) एवं अतिसार रोगियों को, वृद्ध, बालक, दुर्बल (कमजोर), क्षीण (कृश), क्षत (उरःक्षत), प्यास तथा शूलरोग से पीड़ित, अजीर्णरोगी, घायल (चोट लगे हुए), उन्मत्त (पागल) व्यक्ति को और जिन्हें शास्त्र ने दिन में सोने की अनुमति दे रखी है उन्हें तथा ऊपर कहे गये रोगियों को भी दिन में सोना उचित है; क्योंकि दिन में सोने से इनका धातु साम्य हो जाता है और कफ इनके शरीरावयवों को पुष्ट कर देता है॥५७-५९॥

बहुमेदःकफाः स्वप्युः स्नेहनित्याश्च नाहनि। विषार्तः कण्ठरोगी च नैव जातु निशास्वपि॥६०॥

दिन में न सोने का निर्देश—जिन मनुष्यों के शरीर में मेदोधातु एवं कफदोष बढ़ा हुआ हो और जो प्रतिदिन स्निग्ध आहारों का सेवन करते हैं, उन्हें दिन में नहीं सोना चाहिए। विषरोग से तथा गले के रोग से पीड़ित रोगी को रात में भी नहीं सोना चाहिए॥६०॥

अकालशयनान्मोहज्वरस्तैमित्यपीनसाः। शिरोरुक्शोफहृल्लासस्रोतोरोधाग्निमन्दताः॥६१॥

अकाल शयन से हानि—असमय में सोने से मोह, ज्वर, स्तैमित्य (गीले कपड़े से ओढ़े हुए का जैसा अनुभव होना), पीनस (प्रतिश्याय), शिरोरोग, सूजन, जी मिचलाना, रसवाही स्रोतों में रुकावट तथा मन्दाग्नि हो जाती है॥ ६१॥

तत्रोपवासवमनस्वेदनावनमौषधम्। योजयेदतिनिद्रायां तीक्ष्णं प्रच्छर्दनाञ्जनम्॥ ६२॥
नावनं लङ्घनं चिन्तां व्यवायं शोकभीक्रुधः। एभिरेव च निद्राया नाशः श्लेष्मातिसङ्क्षयात्॥

चिकित्सा-निर्देश—उक्त स्थिति में रोगी को उपवास, वमन, स्वेदन और नस्य कारक औषधों का प्रयोग करें। अतिनिद्रा की स्थिति में तीक्ष्ण वमन, अञ्जन (सुरमा) एवं नस्य दें। उसे लंघन, चिन्ता, व्यवाय (मैथुन), शोक, भय तथा क्रोध करायें, जिससे रोगी के कफ का नाश होकर निद्रा का भी नाश हो सके॥ ६२-६३॥

वक्तव्य—ऊपर कहे गये ६२ तथा ६३वें श्लोकों में केवल कफनाशक उपायों का वर्णन किया गया है, कफदोष की निवृत्ति हो जाने पर अतिनिद्रा स्वयं शान्त हो जाती है।

निद्रानाशादङ्गमर्दशिरोगौरवजृम्भिकाः। जाड्यग्लानिभ्रमापक्तितन्द्रा रोगाश्च वातजाः॥ ६४॥

निद्रानाश के लक्षण—निद्रा के समुचित रूप से न आने पर शरीर में मसल देने की पीड़ा, सिर में भारीपन, बार-बार जँभाइयों का आना, शरीर में जड़ता, हर्षक्षय, चक्करों का आना, भुक्त आहार का न पचना, उँघाई आदि वातविकार सम्बन्धी रोग हो जाते हैं॥ ६४॥

यथाकालमतो निद्रां रात्रौ सेवेत सात्म्यतः। असात्म्याज्जागरादर्धं प्रातः स्वप्यादभुक्तवान्॥ ६५॥

निद्रासेवन-निर्देश—अतएव रात्रि में समय पर सो जाना चाहिए। यहाँ सात्म्यतः का अर्थ है—जिसे जितनी नींद आती हो उतना ही सोयें अर्थात् कोई रात में दो पहर, कोई तीन पहर सोता है, तदनुसार सोये। जो पूरी रात भलीभाँति न सो सका हो तो वह प्रातःकाल भोजन करके आधी नींद सो जाय॥ ६५॥

शीलयेन्मन्दनिद्रस्तु क्षीरमद्यरसान् दधि। अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानमूर्धकर्णाक्षितर्पणम्॥ ६६॥
कान्ताबाहुलताश्लेषो निर्वृतिः कृतकृत्यता। मनोऽनुकूला विषयाः कामं निद्रासुखप्रदाः॥ ६७॥
ब्रह्मचर्यरतेर्ग्राम्यसुखनिःस्पृहचेतसः। निद्रा सन्तोषतृप्तस्य स्वं कालं नातिवर्तते॥ ६८॥

पूर्णनिद्रा-प्राप्तिविधि—जिसे पूर्ण निद्रा न आती हो वह दूध, मद्य, मांसरस, दही का सेवन करे; अभ्यंग, उबटन स्नान करे तथा सिर में, कानों में एवं आँखों में तर्पण स्नेह का प्रयोग करें। सामान्य रूप से स्त्री या पुरुष जिसे नींद न आती हो वह अपने प्रिय या प्रिया का आलिंगन करके सोये। निर्वृति (सुख), कृतकृत्यता (मैंने अपना कार्य कर लिया है), मन के अनुकूल शब्द (स्नेहपूर्ण कथाएँ या सुरीले गीत) आदि विषयों की चर्चा—ये पर्याप्त निद्रासुख को देते हैं॥ ६६-६७॥

ब्रह्मचर्य नामक उपस्तम्भ—जिसकी ब्रह्मचर्य के पालन में रति है, जिसका मन स्त्री-सहवास की ओर से निःस्पृह (विरक्त) रहता है और जो सदा सन्तोष से तृप्त रहता है, उसे अपने समय से निद्रा आ जाती है। अर्थात् उसकी निद्रा कभी भी अपने समय का अतिक्रमण नहीं करती है॥ ६८॥

वक्तव्य—श्रीअरुणदत्त एवं श्रीहेमाद्रि की टीकाओं से युक्त अष्टांगहृदय में उक्त ६८वें पद्य को निद्रावर्णन सम्बन्धी अन्य श्लोकों के साथ केवल इसलिए जोड़ दिया है कि उक्त श्लोक के उत्तरार्ध में निद्रा शब्द आया है। वास्तव में ६८वाँ पद्य **ब्रह्मचर्य नामक उपस्तम्भ** का परिचायक होने के कारण स्वतन्त्र है।

निद्रा का वर्णन प्राचीन संहिताओं में इस प्रकार उपलब्ध होता है—च.सू. २१।३५ से ५९ तक और सु.शा. ४।३२ से ४७ तक। चरक ने निद्रा के अनेक भेद इस प्रकार किये हैं—'तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनःशरीरश्रमसम्भवा च। आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा'॥ (च.सू. २१।५८) चरक ने उक्त भाव को पुनः अपने शब्दों में इस प्रकार कहा है—'रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं

प्रवदन्ति निद्राम्'॥ (च.सू. २१।५९) अर्थात् जो स्वस्थ पुरुषों को रात्रि के समय स्वभाव से निद्रा आती है, उसे **'भूतधात्री'** (समस्त प्राणियों की उपमाता के समान) कहते हैं, जो समस्त प्राणियों का धारण-पोषण करती है। यही निद्रा सभी प्रकार की निद्राओं में उत्तम है। तामसिक नींद भैंस, शेर, बाघ आदि प्राणियों को आती है, फलतः ये रात-दिन सोते रहते हैं। राजस व्यक्ति कभी भी अपनी नींद पूरी कर लेते हैं। सात्त्विक निद्रा जिन्हें आती हैं, वे सन्त आधी रात को थोड़ा-सा सो लेते हैं। एक निद्रा है—'अनवबोधिनी', जिस नींद के आ जाने पर प्राणी फिर जगता नहीं अर्थात् मर जाता है। यह मृत्युकाल की निद्रा का नाम है।

सुश्रुत ने ग्रीष्म ऋतु में दिन में सोने का विधान इस प्रकार किया है—'सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्'। (सु.शा. ४।३८) इसके अतिरिक्त भी उन्होंने अनेक विकल्पों की चर्चा की है—'निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा। दिवारात्रौ च ये नित्यं स्वप्नजागरणोचिताः। न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां वापि जायते'॥ (सु.शा. ४।४१) अर्थात् जिन लोगों ने रात में अथवा दिन में सोने का अभ्यास बना लिया है, जो मनुष्य दिन या रात में सोने या जागने के अभ्यासी हो गये हैं, उन्हें दिन में सोने अथवा रात में जागने से किसी प्रकार का दोष नहीं होता। वास्तव में तमोगुण और निद्रा का सम्बन्ध कफदोष से है, यही कारण है कि भोजन करते ही कफ की वृद्धि होने के कारण नींद आती है या आने लगती है। निद्रा का प्रारम्भिक स्वरूप है तन्द्रा।

ग्राम्यधर्मे त्यजेन्नारीमनुत्तानां रजस्वलाम्। अप्रियामप्रियाचारां दुष्टसङ्कीर्णमेहनाम्॥ ६९॥
अतिस्थूलकृशां सूतां गर्भिणीमन्ययोषितम्। वर्णिनीमन्ययोनिं च गुरुदेवनृपालयम्॥ ७०॥
चैत्यश्मशानाऽऽयतनचत्वराम्बुचतुष्पथम्। पर्वाण्यनङ्गं दिवसं शिरोहृदयताडनम्॥ ७१॥

स्त्री-सहवास का वर्णन—ग्राम्यधर्म (मैथुनकाल) में इस प्रकार की स्त्री का परित्याग करें—जो उस समय चित लेटी न हो, जो रजस्वला धर्म से निवृत्त न हुई हो, जो प्रिय (मनोनुकूल) न हो अथवा जिसका आचरण (व्यवहार) रुचिकर न हो, जिसका भग उपदंश आदि रोग से दूषित हो अथवा संकीर्ण हो, जो अत्यन्त मोटी या अत्यन्त कृश हो, जिसे अभी ४०-४५ दिन पूर्व प्रसव हुआ हो, जो पहले से गर्भिणी हो या जो दूसरे की स्त्री हो, जो ब्रह्मचारिणी हो, जो अन्यजातीया हो; इनको त्याग देना चाहिए।

निषिद्ध स्थान—गुरुगृह, देवगृह, राजगृह, चैत्य (यज्ञमण्डप, वेदी आदि), श्मशानभूमि, बध्यभूमि, चबूतरा, जलस्थान (नदीतट आदि) और चौराहा।

निषिद्ध दिन—संक्रान्ति, सूर्य-चन्द्रग्रहण, पूर्णिमा, अमावास्या, भग के अतिरिक्त (मुख आदि) अंगों में दिन में सहवास न करे। इस सम्भोग काल में हृदय तथा शिरः ताड़न न करें॥ ६९-७१॥

वक्तव्य—'दुष्टसङ्कीर्णमिहनाम्'—श्रीअरुणदत्त तथा श्रीहेमाद्रि ने 'मेहनाम्' शब्द का अर्थ 'योनि' किया है। जब कि मेहनन शब्द पुरुष की मूत्रेन्द्रिय के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। देखें—'मेढ्रं मेहनशेफसी' (अमरकोश) तथा–'मेहनं मूत्रशिश्नयोः'। (मेदिनी) 'मेहनम्' क्ली० लिङ्गे। (वै.श.सि.) सुश्रुत ने उक्त विषय का वर्णन करते हुए कहा है—'योनिदोषसमन्विताम्'। (सु.चि. २४।११५)

'वाचां भटः = वाग्भट' के उक्त प्रयोग पर दोषदृष्टि डालने से पहले हम उक्त शब्द के परिवेश का पर्यालोचन करा देना चाहते हैं। वेद में पुरुष को **'द्यौः'** और स्त्री को **'पृथिवी'** तथा वात्स्यायन-कामसूत्र में पुरुष को **'कर्ता'** और स्त्री को **'अधिकरण'** कहा है। आकाश से वर्षा पृथिवी पर होती है। अतः कर्ता (गर्भाधानकर्ता अर्थात् बीज बोने वाले पुरुष) का अधिकरण (आधार) स्त्री है। ठीक इन्हीं परम्पराओं के आधार को लेकर सुधी वाग्भट ने 'करणाधिकरणयोश्च' (३।३।११७) सूत्र से अधिकरण अर्थ में 'मिह सेचने' धातु तथा ल्युट् प्रत्ययान्त मेहन शब्द से **'इध्मप्रव्रश्चनः कुठारः'** तथा **'गोदोहनी स्थाली'** की भाँति 'मेहना' प्रयोग बुद्धिपूर्वक किया है। अब इसका अर्थ होगा 'योनि' जिसमें वीर्य का सेचन होता है। यहाँ टित् के अनित्य होने से 'टाप्' प्रत्यय हुआ है।

अप्रियाम् अन्ययोषितम्—इन सभी विषयों का विचार स्त्रियों को पुरुषों के प्रति भी कर लेना चाहिए अर्थात् नारी ऐसे नर से सहवास न करे। स्त्री-पुरुष दोनों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह सहवास पुत्र सन्तान-प्राप्ति के लिए ही किया जा रहा है।

शिरोहृदयताडनम्—यद्यपि शिर:ताड़न, हृदयताड़न, केशाकर्षण, नखक्षत आदि रतिकलह सम्बन्धी विषयों का वर्णन वात्स्यायन-कामसूत्र में मिलता है, तथापि इस स्वास्थ्यशास्त्र में उसका पूर्ण रूप से निषेध किया गया है।

अत्याशितोऽधृतिः क्षुद्वान् दुःस्थिताङ्गः पिपासितः। बालो वृद्धोऽन्यवेगार्तस्त्यजेद्रोगी च मैथुनम्॥

मैथुन के अयोग्य स्थिति—जिसने बहुत भोजन किया हो, अधीर (घबराया हुआ) हो, जिसे भूख लगी हो, दुःस्थिताङ्ग अर्थात् अनुचित आसन में स्थित होकर, जो प्यासा हो, जो बालक (अभी युवक न हुआ) हो, जो बूढ़ा हो गया हो, जिसे मल-मूत्र आदि का वेग प्रवृत्त हो तथा रोगी पुरुष मैथुन कर्म न करे॥ ७२॥

वक्तव्य—उक्त विधि-निषेध नर-नारी दोनों के लिए है, क्योंकि 'मैथुन' मिथुन का कर्म है, निषेध के कारण स्पष्ट हैं। इस प्रसंग में वृद्धवाग्भट के वचनों का भी अनुसन्धान कर लेना चाहिए। देखें—अ.सं.सू. ९।८१-८४। अर्थात् इन निर्देशों का उल्लंघन वही कर सकता है, जिसे दीर्घजीवन की कामना न हो। देखें—'आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति'। क्योंकि शुक्रधातु शरीर का बहुमूल्य पदार्थ है। जिसके सम्बन्ध में कहा गया है—'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'। यहाँ तक आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य नामक शरीर को धारण करने वाले तीन उपस्तम्भों का वर्णन कर दिया गया है।

सेवेत कामतः कामं तृप्तो वाजीकृतां हिमे। त्र्यहाद् वसन्तशरदोः पक्षाद् वर्षानिदाघयोः॥ ७३॥

मैथुन सम्बन्धी अन्य निर्देश—वाजीकरण औषधों एवं आहारों से तृप्त फलतः परिपुष्ट शरीरावयवों वाले नर-नारी हिमकाल (हेमन्त तथा शिशिर ऋतुओं) में इच्छानुसार मैथुन का सेवन करें। वसन्त एवं शरद् ऋतुओं में तीन दिनों तथा गर्मी और वर्षा ऋतुओं में पन्द्रह दिनों में मैथुन करें॥ ७३॥

भ्रमक्लमोरुदौर्बल्यबलधात्विन्द्रियक्षयाः। अपर्वमरणं च स्यादन्यथा गच्छतः स्त्रियम्॥ ७४॥

विपरीत व्यवहार का फल—उक्त नियमों के विपरीत मैथुन करने पर भ्रम, क्लम (सुस्ती), ऊरुओं में कमजोरी, कृशता तथा बल, रस आदि शुक्र पर्यन्त धातुओं का क्षय, इन्द्रियों की शक्ति का क्षय अथवा असमय में मृत्यु भी हो सकती है॥ ७४॥

स्मृतिमेधायुरारोग्यपुष्टीन्द्रिययशोबलैः। अधिका मन्दजरसो भवन्ति स्त्रीषु संयताः॥ ७५॥

संयम का महत्त्व—जो पुरुष स्त्री-सहवास में अपने को वश में रखते हैं, उनकी स्मरणशक्ति, मेधा, दीर्घायु, आरोग्य (स्वास्थ्य), शारीरिक पुष्टि, इन्द्रियबल, सुयश, शारीरिक एवं मानसिक बल अधिक होता है; वे देर में वृद्ध होते हैं॥ ७५॥

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इस 'मैथुन' को तथा इसी प्रकार के अन्य भावों को भी 'तदात्व सुखसंज्ञक' कहा है। देखें—अ.सं.सू. ९।८५। इसी विषय का प्रतिपादन भगवद्गीता में भी किया गया है—'ये तु संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः'॥ (गीता) इसे पुरुष के लिए स्त्रीस्पर्शज और स्त्री के लिए पुरुषस्पर्शज सुखभोग कहा जाता है। इस प्रकार के सुखभोगों में समझदार स्त्री-पुरुष विशेष आसक्त नहीं होते।

स्नानानुलेपनहिमानिलखण्डखाद्यशीताम्बुदुग्धरसयूषसुराप्रसन्नाः ।
सेवेत चानु शयनं विरतौ रतस्य तस्यैवमाशु वपुषः पुनरेति धाम॥ ७६॥

मैथुनोत्तर कर्त्तव्य—मैथुन क्रिया से निवृत्त होकर स्नान करें अथवा लिंग एवं योनि को भलीभाँति धो लें। ऋतु के अनुसार चन्दन, कस्तूरी आदि का अनुलेपन लगायें, शीतल वायु का सेवन करें; मिश्री, मिठाई आदि, शीतल जल, दूध, मांसरस, उड़द आदि का जूस, सुरा, प्रसन्ना आदि का सेवन कर पुनः सो जायें। ऐसा करने से पुनः उसके शरीर में तेजस् का संचार हो जाता है॥ ७६॥

वक्तव्य—इस सन्दर्भ से सम्बन्धित विषय की चर्चा सुश्रुत ने (सु.चि. २४।११० से १३२ में) की है, आप उसे देखें। इस प्रकरण में सुश्रुत ने यह भी निर्देश दिया है-मैथुन करते समय आये हुए शुक्र के वेग को रोकना नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से 'शुक्राश्मरी' पैदा हो जाती है, जो बाद में कष्टप्रद होती है। सुश्रुत ने इसी प्रसंग के १२०वें श्लोक में **'मूर्धावरणमेव च'** का उल्लेख किया है। इस तथ्य की ओर ध्यान दें—शिश्न के अगले भाग में स्थित मणि के ऊपर आवरण चढ़ाना, यहीं से योनि के भीतर शुक्र का क्षरण होता है। क्या यह मूर्धावरण सुश्रुत के समय का कोई कृत्रिम उपाय था जो फ्रेञ्चलेदर की भाँति सन्तानोत्पत्ति न चाहने की इच्छा से प्रयुक्त होता हो ?

मैथुन की प्रवृत्ति युवा-युवती के परस्पर एक-दूसरे के प्रति आकर्षण में कारण है, इसका धार्मिक दृष्टिकोण है—पुत्रोत्पादन का लक्ष्य, जिसे वाग्भट ने अ.हृ.शा. १।३० में स्वीकार किया है। दूसरा है आलिङ्गनपूर्वक स्पर्शसुख की प्राप्ति, फ्रेंचलेदर इसमें बाधक होता है, क्योंकि इसके लगा लेने से स्पर्शसुख में बाधा आ जाती है। तीसरा लक्ष्य है—विसृष्टिसुख अर्थात् शुक्र के निकलने का सुख। खेल-खेल में भी मैथुन करने का निषेध है। देखें—'क्रीडायामपि····परिवर्जयेत्'। (सु.चि. २४।१२१)

राजा-महाराजाओं अर्थात् धनसम्पन्न लोगों के आत्मीय जनों से अधिक उनके शत्रु होते हैं, जो उन्हें लूटने-खसोटने में लगे रहते हैं। इनसे भी अधिक सावधान रहना चाहिए, जो विषकन्या आदि के प्रयोग से उन्हें मार डालना चाहते हैं। इसका विस्तृत विवेचन **'विषकन्या'** नाम से अ.सं.सू. ८।८६-८९ में दिया है, इसे पढ़ें। यदि राजा आदि श्रीमान् पुरुष चिकित्सक की सलाह से दैनिक व्यवहार करते हैं, तो वह उन्हें सावधान कर बाहर से उस सुन्दरी भीतर से घातक स्त्री का स्पर्श भी नहीं होने देता, फलतः वे सुरक्षित रह जाते हैं।

श्रुतचरितसमृद्धे कर्मदक्षे दयालौ भिषजि निरनुबन्धं देहरक्षां निवेश्य।
भवति विपुलतेजःस्वास्थ्यकीर्तिप्रभावः स्वकुशलफलभोगी भूमिपालश्चिरायुः॥ ७७॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थानेऽन्नरक्षा नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

राजा आदि का कर्तव्य—शास्त्रज्ञ, चरित्रवान्, चिकित्साकार्यकुशल, प्राणियों पर दया करने वाले चिकित्सक पर निःशंक होकर अपने शरीर की रक्षा का भार डालकर राजा-महाराजा या श्रीमान् पुरुष अत्यन्त तेजस्वी, स्वस्थ (नीरोग), कीर्तिमान्, प्रभावशाली तथा अपने जीवन के सुखों का उपभोग करता हुआ दीर्घायु होता है॥ ७७॥

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में अन्नरक्षा नामक सातवाँ अध्याय समाप्त॥ ७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातो मात्राशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से मात्राशितीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि इस विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—इसके पहले ७।५३ में कहा गया है—'आहारो वर्णितस्तत्र तत्र तत्र च वक्ष्यते'। अतएव इस ८वें अध्याय में उस आहार का किस प्रकार मात्रा के अनुकूल सेवन करना चाहिए, इस विषय की चर्चा की जा रही है, क्योंकि यहाँ जो मात्रा शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका तात्पर्य है आहार का सम्यक्योग। यह अशन या आहार सात प्रकार का होता है—१. संकीर्णाशिन, २. विरुद्धाशन, ३. अमात्राशन, ४. अजीर्णाशिन, ५.समशन, ६. अध्यशन तथा ७. विषमाशन। इनमें दो के उदाहरण आगे इसी अध्याय में दिये जायेंगे।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. ५, च.सू. २७, च.वि. २, च.चि. १५, च.सि. १२, सु.सू. ४६, सु.उ. ५६ एवं अ.सं.सू. १० तथा ११ में देखें।

मात्राशी सर्वकालं स्यान्मात्रा ह्यग्नेः प्रवर्तिका। मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते गुरूण्यपि लघून्यपि॥ १॥

आहार-मात्रा का वर्णन—मनुष्य को सदा मात्रा के अनुसार आहार (भोजन) करना चाहिए, क्योंकि उचित मात्रा में किया गया भोजन जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। मात्रा का निर्धारण गुरु तथा लघु द्रव्यों को देखकर करना चाहिए, जैसा आगे कहा जायेगा॥ १॥

वक्तव्य—मात्रा का विचार च.सू. ५।४ में संक्षेप से नपे-तुले शब्दों में किया गया है। इसके आगे च.वि. २।३ में कुछ विशेष ढंग से इसे कहा है—'आहार करते समय पुरुष को आमाशय की खाली जगह को तीन भागों में इस प्रकार बाँट देना चाहिए; यथा—एक भाग को ठोस आहार-द्रव्यों के लिए, एक भाग द्रव द्रव्यों के लिए और एक भाग वात, पित्त तथा कफ के लिए रखें'। वाग्भट ने इसी विषय को प्रकारान्तर से आगे कहा है—'अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्। आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत्'। (अ.हृ.सू. ८।४६) अर्थात् 'भोजन करते समय आमाशय के दो भागों को रोटी, दाल, भात आदि से भर ले, तीसरे भाग को पेय पदार्थों से भर ले और शेष चौथे भाग को वात-पित्त-कफ की क्रिया के लिए सुरक्षित रखें'। इसके पहले भी श्रीवृद्धवाग्भट ने मात्रा का विचार करते हुए कहा है—'मात्रा''''चाहारराशिः'। (अ.सं.सू. १०।९) अर्थात् 'मात्रा वह है, जो आहार के सभी पदार्थों के परिमाण से तथा प्रत्येक द्रव्य के गुरु-लघु आदि गुणों के समुदाय से 'आहारराशि' कही जाती है'। इसके आगे फिर वृद्धवाग्भट ने अ.सं.सू. ११।३-५ में आहार-मात्रा का विस्तृत वर्णन किया है। सु.सू. ४६ के उत्तरार्ध में इस विषय को सूत्र रूप में कहा गया है।

गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता। मात्राप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं यावद्विजीर्यति॥ २॥

मात्रा में गुरु-लघु विचार—गुरु भोजन-पदार्थों को आधी तृप्ति हो जाने पर खाना छोड़ दें और लघु भोजन-पदार्थों को भी अधिक तृप्त होने तक न खायें। वास्तव में भोजन की उचित मात्रा वही है, जो सुखपूर्वक पच जाय।॥ २॥

भोजनं हीनमात्रं तु न बलोपचयौजसे। सर्वेषां वातरोगाणां हेतुतां च प्रपद्यते॥ ३॥

हीन मात्रा वाले आहार से हानि—हीन (कम) मात्रा वाला भोजन बल, शरीरपुष्टि तथा ओजस् को नहीं बढ़ाता है और इस प्रकार का भोजन सभी प्रकार की वातव्याधियों की उत्पत्ति का कारण होता है॥ ३॥

अतिमात्रं पुनः सर्वानाशु दोषान् प्रकोपयेत्।

अधिक मात्रा वाले आहार से हानि—मात्रा से अधिक किया गया आहार वात आदि सभी प्रकार के दोषों को शीघ्र ही प्रकुपित कर देता है।

पीड्यमाना हि वाताद्या युगपत्तेन कोपिताः॥ ४॥
आमेनान्नेन दुष्टेन तदेवाविश्य कुर्वते। विष्टम्भयन्तोऽलसकं च्यावयन्तो विसूचिकाम्॥ ५॥
अधरोत्तरमार्गाभ्यां सहसैवाजितात्मनः।

विसूचिका के लक्षण—ऊपर कहे गये अतिमात्रा वाले आहार का सेवन कर लेने से पीड़ित वात आदि दोष उस आम (न पचे हुए) तथा दूषित आहार से एक साथ कुपित होकर एवं उसी आहार में मिलकर आमाशय की गति को रोककर 'अलसक' नामक रोग को पैदा कर देते हैं। उस अजितात्मा पुरुष के ऊपर तथा नीचे के मार्ग से अर्थात् मुख एवं गुद मार्ग से क्रमशः वमन तथा अतिसार के रूप में आहार पदार्थ को निकालते हुए 'विसूचिका' नामक रोग को पैदा कर देते हैं॥ ४-५॥

प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न च पच्यते॥ ६॥
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः।

अलसक की परिभाषा—अलसक रोग होने के पहले जो आहार खाया गया था, वह न तो ऊपर (मुख) की ओर से निकलता है और न नीचे (गुदमार्ग) से निकलता हैं, न वह पचता ही है। वह आमाशय में आलसी की भाँति पड़ा रहता है, अतएव इस रोग को 'अलसक' कहा जाता है॥ ६॥

विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादिभृशकोपतः ॥ ७॥
सूचीभिरिव गात्राणि विध्यतीति विसूचिका।

विसूचिका की परिभाषा—वात आदि दोषों के अत्यन्त प्रकुपित हो जाने के कारण अनेक प्रकार की वेदनाओं की उत्पत्ति होने से जो बार-बार सुई की भाँति शरीरावय को बेंधती रहती है, उसे 'विसूचिका' कहते हैं॥ ७॥

वक्तव्य—'विसूचिका' शब्द में श, ष, स इन तीनों का प्रयोग यत्र-तत्र देखा जाता है। जैसे—कलश, कलस आदि। **विसूचिका**—इसमें आम आहार वमन एवं विरेचन के रूप में बार-बार निकलता रहता है। **अलसक**—इसमें आम आहार आमाशय में पड़ा ही रहता है और वह पचता भी नहीं। इसका उक्त नाम इसके लक्षणों के अनुरूप है।

तत्र शूलभ्रमानाहकम्पस्तम्भादयोऽनिलात्॥ ८॥
पित्ताज्ज्वरातिसारान्तर्दाहतृट्प्रलयादयः। कफाच्छर्द्यङ्गगुरुतावाक्सङ्गष्ठीवनादयः॥ ९॥

विसूचिका के लक्षण—वातदोष से शूल, चक्करों का आना, आनाह, कँपकँपी का होना तथा स्तम्भ (जड़ता) ये लक्षण होते हैं। पित्तदोष से ज्वर, अतिसार, भीतर से जलन, बार-बार प्यास का लगना एवं प्रलाप (अंट-संट बकना) ये लक्षण होते हैं। कफदोष से छर्दि (वमन), शरीर के अवयवों में भारीपन, बोलने में रुकावट तथा लार का चूना ये लक्षण होते हैं॥ ८-९॥

विशेषाद्दुर्बलस्याल्पवह्नेर्वेगविधारिणः। पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा॥ १०॥
अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम्। शूलादीन् कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान्॥ ११॥
सोऽलसः—

अलसक का वर्णन—यह रोग विशेष करके दुर्बल, मन्द अग्निवाले, वात, मूत्र तथा मल के वेगों को रोकने वाले पुरुष को होता है। इसमें खाया गया आहार वात द्वारा पीड़ित एवं कफ के कारण आमाशय में रोका गया स्वयं वह गतिहीन हो जाता है। वात आदि दोषों द्वारा हिलाया-डुलाया जाने पर भी वह आमाशय में शल्य के रूप में स्थित रहता है तथा कष्टकारक शूल आदि विकारों को तो करता है, किन्तु इसमें वमन-विरेचन नहीं होते, अतः इस रोग को अलस या अलसक कहते हैं॥ १०-११ ॥

—अत्यर्थदुष्टास्तु दोषा दुष्टामबद्धखाः। यान्तस्तिर्यक्तनुं सर्वां दण्डवत्स्तम्भयन्ति चेत्॥ १२॥
दण्डकालसकं नाम तं त्यजेदाशुकारिणम्।

दण्डालसक का वर्णन—ऊपर कहे गये कारणों से वात आदि दोष अत्यन्त कुपित तथा दूषित होकर आम (अपक्व) अन्न द्वारा मुख एवं गुद मार्ग के रुक जाने के कारण ये तिर्यग्वाही अर्थात् रसवाही स्रोतों द्वारा समस्त शरीर में फैलकर सम्पूर्ण शरीर को दण्ड (डण्डा) के समान जड़ कर देते हैं। अतः इस रोग को दण्डालसक कहते हैं। यह रोग शीघ्र मारक होता है, इसकी चिकित्सा करना छोड़ देनी चाहिए॥ १२॥

वक्तव्य—अ.सं.सू. ११।५१ में विसूचिका के असाध्य लक्षणों का वर्णन किया है। इनका अवलोकन कर लें।

विरुद्धाध्यशनाजीर्णशीलिनो विषलक्षणम्॥ १३॥
आमदोषं महाघोरं वर्जयेद्विषसंज्ञकम्। विषरूपाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वतः॥ १४॥

आमविष का वर्णन—विरुद्धअशन (अ.हृ.सू.७।३१), अध्यशन (इसी अध्याय का ३४वाँ पद्य) तथा अजीर्ण अवस्था में भी आहार करने वाले पुरुष का आमदोष अत्यन्त कष्टदायक होता है, इसीलिए इसे 'आमविष' कहते हैं। यह विष के समान अपना शीघ्र प्रभाव दिखलाता है और इसकी यदि चिकित्सा की जाती है तो उसका प्रभाव भी विपरीत ही होता है॥ १३-१४॥

वक्तव्य—'विरुद्धोपक्रमत्व'—यह आमविष विष के समान गुणों वाला होता है, अतः विष की शीत प्रधान चिकित्सा की जाती है और आमदोष में उष्ण उपचार करने का विधान है, अतएव यह विरुद्धोपक्रम होता है, जिससे सफलता नहीं मिल पाती। चरक ने भी उक्त विषय का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—'विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनशीलिनः पुनरामदोषमामविषमित्याचक्षते भिषजः'। (च.वि. २।१२) ठीक इसी का पद्यानुवाद श्रीवाग्भट ने किया है। यद्यपि विषरोगी की चिकित्सा की जाती है, वह नीरोग भी होता है, किन्तु यहाँ (आमविष में) परिस्थिति का भेद है, अतएव यह विरुद्धोपक्रम होता है। इस आमविष का जब प्रकोप होता है तो ऐंठन या मरोड़ के साथ चावल के धोअन का जैसा वमन या विरेचन होता देखा जाता है। प्रायः इसका स्वरूप 'आमातिसार' जैसा होता है।

अथाममलसीभूतं साध्यं त्वरितमुल्लिखेत्। पीत्वा सोग्रापटुफलं वार्युष्णं योजयेत्ततः॥ १५॥
स्वेदनं फलवर्तिं च मलवातानुलोमनीम्। नाम्यमानानि चाङ्गानि भृशं स्विन्नानि वेष्टयेत्॥ १६॥

आमदोष की चिकित्सा—जब आमदोष अलसक के रूप में परिणत हो गया हो और साध्यता के लक्षणों से युक्त हो, तब उसे बालवच, पटु (नमक) एवं फल (मैनफल) को गरम पानी में मिलाकर पिलायें, जिससे शीघ्र ही वमन हों अर्थात् उस रोगी को यह वमनकारक पेय पिलाकर शीघ्र वमन करायें। उसके बाद उसे स्वेदन करायें और फिर उसे मल तथा अपानवायु को अनुलोम कराने वाली फलवर्ति का प्रयोग करायें। यदि इस समय आमदोष की विकृति के कारण उसके अंगों में सिकुड़न आ रही हो तो उन्हें पर्याप्त स्वेदन कराकर वस्त्र आदि से कसकर बाँध दें॥ १५-१६॥

वक्तव्य—'फलवर्ति' नामक जिस योग की चर्चा खारणादि ने यहाँ की है, वह इस प्रकार है—'शूले तु स्तिमिते सामे स्वेदः शस्तो मुहुर्मुहुः। रूक्षोष्णैः कटुकैः पांशुकरीषसिकतादिभिः॥ पिप्पल्योऽगारधूमश्च मदनं

सर्षपास्त्रिवृत्। हेमक्षीरी वचा किण्वं कुष्ठं दन्ती यवाग्रजः॥ समूत्रलवणाभ्यक्ता फलवर्तिरियं हिता। संस्वेद्यालसके शूलविबन्धानाहनाशिनी॥' अर्थ प्रायः स्पष्ट है। दूसरी फलवर्ति का योग श्रीचक्रपाणि ने 'उदावर्तचिकित्सा' श्लोक १३ चक्रदत्त में दिया है। श्रीअरुणदत्त ने अपनी व्याख्या में एक फलवर्ति का योग इस प्रकार दिया है—'विपाच्य मूत्राम्लमधूनि दन्तीपिण्डीतकृष्णाविडधूमकुष्ठैः। वर्तिं कराङ्गुष्ठनिभां घृताक्तां गुदे रुजानाहहरीं विदध्यात्'॥ यदि ये वर्तियाँ समय पर उपलब्ध न हों तो किसी अन्य मल तथा वात को अनुलोमन करने वाली वर्ति का प्रयोग किया जा सकता है।

विसूच्यामतिवृद्धायां पार्ष्ण्योर्दाहः प्रशस्यते। तदहश्चोपवास्यैनं विरिक्तवदुपाचरेत्॥ १७॥

पार्ष्णिदाह-प्रयोग—यदि विसूची (हैजा) रोग का वेग अधिक बढ़ गया हो तो दोनों एड़ियों में दाहकर्म करना चाहिए, इसकी प्रशंसा की गयी है। उस दिन इस रोगी को उपवास कराकर विरिक्त की भाँति इसका उपचार करे॥ १७॥

वक्तव्य—विसूची के वेग के अधिक बढ़ जाने पर जो ऊपर पार्ष्णिदाह की चर्चा की गयी है, वह वास्तव में रोगी की बेहोशी को दूर करने के लिए है। इसका उल्लेख सुश्रुत में भी है। देखें—सु.उ. ५६।१२। ध्यान दें—सुश्रुत ने कहा है कि यह दाह कर्म तभी करे जब रोगी साध्य हो। विरिक्तवदुपाचरेत्—वमन कराने के बाद रोगी को संसर्जन क्रम में रखा जाता है, इसे बाद में पेया, विलेपी देकर स्वस्थ होने पर भोजन दिया जाता है। इसकी विस्तृत विधि देखें—अ.हृ.सू. १८।

तीव्रार्तिरपि नाजीर्णी पिबेच्छूलघ्नमौषधम्। आमसन्नोऽनलो नालं पक्तुं दोषौषधाशनम्॥ १८॥
निहन्यादपि चैतेषां विभ्रमः सहसाऽऽतुरम्।

अन्य उपचार—अत्यन्त वेदना होने पर भी अजीर्ण का रोगी शूलनाशक औषध का पान न करे, क्योंकि आमदोष के कारण मन्द जठराग्नि वात आदि दोषों, औषध तथा अशन (पहले खाये गये आहार) को पचाने में समर्थ नहीं होता है। कभी ऐसा भी होता है कि दोष, औषध एवं आहार का विभ्रम (समुचित प्रयोग न हो पाना) रोगी को सहसा मार सकता है॥ १८॥

वक्तव्य—च.वि. २।१३ का यह गद्य वाग्भट के उक्त पद्यरचना का मूल स्रोत रहा है।

जीर्णाशने तु भैषज्यं युञ्ज्यात् स्तब्धगुरूदरे॥ १९॥
दोषशेषस्य पाकार्थमग्नेः सन्धुक्षणाय च।

भोजन के पच जाने पर भी यदि पेट में स्तब्धता एवं भारीपन प्रतीत होता है, तो शेष दोष को पचाने के लिए और जठराग्नि को सुलगाने अर्थात् तीव्र करने के लिए औषध-योगों का प्रयोग करें॥ १९॥

शान्तिरामविकाराणां भवति त्वपतर्पणात्॥ २०॥
त्रिविधं त्रिविधे दोषे तत्समीक्ष्य प्रयोजयेत्।

अपतर्पण-प्रयोग—आमदोषजनित विकारों की शान्ति करने के लिए अपतर्पण (तर्पण = चकाचक भोजन करना, इसके विपरीत उपवास-लंघन = अपतर्पण) का प्रयोग करना चाहिए और उस अपतर्पण का प्रयोग तीन प्रकार के दोषों में तीन प्रकार (अल्प, मध्य, प्रधान भेद) से विचार करके करना चाहिए॥ २०॥

तत्राल्पे लङ्घनं पथ्यं, मध्ये लङ्घनपाचनम्॥ २१॥
प्रभूते शोधनं, तद्धि मूलादुन्मूलयेन्मलान्।

यदि आमदोष अल्पमात्रा में हो तो लंघन (उपवास)कराना ही हितकर होता है। मध्यम श्रेणी का आमदोष हो तो इसमें लंघन के साथ-साथ दोष को पचाने वाले औषध-द्रव्यों का भी प्रयोग कराना चाहिए। यदि आमदोष अधिक मात्रा में हो तो वमन तथा विरेचन करायें, क्योंकि यह शोधन कर्म उक्त आमदोष को जड़ से उखाड़ देता है॥ २१॥

एवमन्यानपि व्याधीन् स्वनिदानविपर्ययात्॥ २२॥

चिकित्सेदनुबन्धे तु सति हेतुविपर्ययम्। त्यक्त्वा यथायथं वैद्यो युञ्ज्याद्व्याधिविपर्ययम्॥ २३॥

हेतुविपरीत आदि चिकित्सा—इसी प्रकार ज्वर आदि अन्य रोगों की भी अपने-अपने निदान (हेतु) के विपरीत चिकित्सा करे। यदि ऐसा करने पर भी रोग शान्त न हो तो उसे छोड़कर चिकित्सक यथोचित अवसर देखकर व्याधिविपरीत औषध-योगों का प्रयोग करे॥ २२-२३॥

तदर्थकारि वा, पक्वे दोषे त्विद्धे च पावके। हितमभ्यञ्जनस्नेहपानबस्त्यादि युक्तितः॥ २४॥

विपरीतार्थकारी चिकित्सा—अथवा विपरीतार्थकारी चिकित्सा-विधि का प्रयोग करना चाहिए। जब इस प्रकार दोष का पाचन हो जाता है और जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, तो विधिपूर्वक अभ्यञ्जन (तैलमर्दन), स्नेहपान तथा बस्ति आदि का प्रयोग कराना चाहिए॥ २४॥

वक्तव्य—'तदर्थकारि'—तत् अर्थात् निदान, व्याधिविपर्यय द्वारा साध्य, जो 'अर्थ' रोगशान्तिरूप लक्षण को करने का स्वभाव है, जिसका इस प्रकार की चिकित्सा अथवा जैसे मदात्यय रोग में पुनः मद्यपान कराना, अतिसार में विरेचन कराना आदि। 'बस्त्यादि'—यहाँ आदि शब्द से रसायन आदि चिकित्सा-विधियों की ओर संकेत है।

अजीर्णं च कफादामं तत्र शोफोऽक्षिगण्डयोः। सद्योभुक्त इवोद्गारः प्रसेकोत्क्लेशगौरवम्॥ २५॥

आमाजीर्ण के लक्षण—कफदोष के प्रकोप से आमाजीर्ण होता है। इसके लक्षण–आँखों तथा गालों पर शोथ, तत्काल खाये हुए आहार के अनुरूप उद्गारों (डकारों) का आना, लालास्राव, जी मिचलाना तथा शरीर में भारीपन—ये लक्षण होते हैं॥ २५॥

विष्टब्धमनिलाच्छूलविबन्धाध्मानसादकृत्।

विष्टब्धाजीर्ण के लक्षण—वातदोष के प्रकोप से विष्टब्धाजीर्ण होता है। इसमें पेट में शूल, मल-मूत्र एवं अपानवायु के निकलने में रुकावट, अफरा एवं शरीर में ढीलापन—ये लक्षण होते हैं।

पित्ताद् विदग्धं तृण्मोहभ्रमाम्लोद्गारदाहवत्॥ २६॥

विदग्धाजीर्ण के लक्षण—पित्तदोष के प्रकोप से विदग्धाजीर्ण होता है। इसमें बार-बार प्यास लगना, मोह (बेहोशी), चक्करों का आना, खट्टे डकारों का आना एवं जलन का होना—ये लक्षण होते हैं॥ २६॥

लङ्घनं कार्यमामे तु, विष्टब्धे स्वेदनं भृशम्। विदग्धे वमनं, यद्वा यथावस्थं हितं भवेत्॥ २७॥

चिकित्सा-सूत्र—आमाजीर्ण में रोग के अनुसार पूर्ण लंघन (उपवास) करे या लघुभोजन करे। विष्टब्धाजीर्ण में बार-बार पेट के ऊपर स्वेदन करे, इससे वातदोष का अनुलोमन होता है। विष्टब्धाजीर्ण में तब तक वमन कराना चाहिए जब तक वमन में पित्त का दर्शन न हो जाय। अन्य लक्षणों की शान्ति के लिए परिस्थिति के अनुसार समयोचित चिकित्सा करनी चाहिए॥ २७॥

गरीयसो भवेल्लीनादामादेव विलम्बिका। कफवातानुबद्धाऽऽमलिङ्गा तत्समसाधना॥ २८॥

विलम्बिका के लक्षण—भयावह आमदोष जो लीन (छिपा) रहता है, उसी से यह विलम्बिका रोग हो जाता है। इसमें कफ एवं वात दोष युक्त आमाजीर्ण के लक्षण होते हैं और ऊपर कहे गये कफ-वात-दोष सम्बन्धित अजीर्णों के समान ही इसकी भी चिकित्सा होती है॥ २८॥

वक्तव्य—'लीन' शब्द की चरितार्थता—वमन-विरेचन से सामान्य आमदोष निकल जाता है, ऐसा ऊपर कहा गया है, किन्तु यह आमदोष उक्त उपायों से भी नहीं निकल पाता, अतएव इसे लीन (सटा हुआ) कहा गया है। सुश्रुत ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—'दुष्टं तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य। विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः'॥ (सु.उ. ५६।९) सुश्रुत

ने इसे अन्य आमदोषों से अतिकष्टसाध्य कहा है। अतएव इसका नाम भी विलम्बिका (लीचड़ रोग) रखा है। महर्षि वाग्भट ने इस आमदोष के लिए 'लीन' शब्द (सट जाने वाला) का युक्तियुक्त प्रयोग किया है।

अश्रद्धा हृद्व्यथा शुद्धेऽप्युद्गारे रसशेषतः। शयीत किञ्चिदेवात्र सर्वश्चानाशितो दिवा॥ २९॥
स्वप्यादजीर्णी, सञ्जातबुभुक्षोऽद्यान्मितं लघु।

रसशेषाजीर्ण-चिकित्सा—रसशेषाजीर्ण में आहार के पच जाने पर भी जब रस का परिपाक नहीं हो पाता है, तब ये लक्षण होते हैं—उद्गारों (डकारों) के शुद्ध आने पर भी रस के अपक्व रह जाने से भोजन के प्रति अरुचि तथा हृदय में पीड़ा होती रहती है।

उपचार—इस दशा में दिन में कुछ खाये-पीये बिना थोड़ा सो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य अजीर्णरोगी भी दिन में सो जायें और भलीभाँति भूख लगने पर थोड़ी मात्रा में लघु (सुपच) आहार का सेवन करें॥ २९॥

विबन्धोऽतिप्रवृत्तिर्वा ग्लानिर्मारुतमूढता॥ ३०॥
अजीर्णलिङ्गं सामान्यं विष्टम्भो गौरवं भ्रमः।

अजीर्ण का सामान्य लक्षण—अजीर्ण के सामान्य लक्षण इस प्रकार हैं—मल का खुलकर न होना अथवा अधिक (अतिसार के रूप में) निकलना, ग्लानि (मन का मलिन रहना), वायु का अनुलोम न होना अर्थात् ठीक ढंग से डकार एवं अपानवायु के रूप में न निकल पाना, विष्टम्भ (आमाशय में स्वाभाविक गति का न होना), पेट तथा सम्पूर्ण शरीर में भारीपन का होना एवं चक्करों का आना॥ ३०॥

न चातिमात्रमेवान्नमामदोषाय केवलम्॥ ३१॥
द्विष्टविष्टम्भिदग्धामगुरुरूक्षहिमाशुचि। विदाहि शुष्कमत्यम्बुप्लुतं चान्नं न जीर्यति॥ ३२॥
उपतप्तेन भुक्तं च शोकक्रोधक्षुदादिभिः।

अजीर्ण के विविध कारण—केवल अधिक मात्रा में खाया हुआ आहार ही आमदोष का कारण नहीं होता है, अपितु इसके अन्य अनेक कारण हैं। यथा—द्विष्ट (जिसे खाने की इच्छा न हो), विष्टम्भकारक, जला हुआ, आम (भलीभाँति न पका हुआ), गुरु (देर में पचने वाला), रूक्ष (स्नेह रहित), शीत (बासी), अपवित्र, विदाहकारक, अत्यन्त सूखा, अधिक पानी पीने से अथवा थोड़ा भी जल न पीने से खाया हुआ भोजन नहीं पचता। बड़ी देर से भूख लगने के बाद में खाया हुआ भोजन भी नहीं पचता तथा शोक, क्रोध आदि से पीड़ित होने के बाद में खाया हुआ भोजन भी ठीक प्रकार से नहीं पचता॥ ३१-३२॥

वक्तव्य—'क्षुदादिभिः'—यहाँ प्रयुक्त आदि शब्द से काम, क्रोध, लोभ, मोह, लज्जा, अपमान, तिरस्कार, भय और घबड़ाहट की स्थिति में खाया गया आहार समुचित प्रकार से नहीं पचता है। ऊपर की चतुर्थ पंक्ति का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—'शोकक्रोधक्षुदादिभिः उपतप्तेन (पुंसा) भुक्तम्'। शोक, क्रोध आदि मानसिक विकृतियाँ भोजन करते समय जो तन्मयता होनी चाहिए, उसमें बाधा पहुँचाती हैं, क्योंकि चरक का आदेश है—'तन्मना भुञ्जीत' (च.वि. १।२५)। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में भोजन कैसे करना चाहिए, इसका विधिपूर्वक वर्णन किया है, इसे पढ़कर तब भोजन करें। आज भी जो अनशन किया करते हैं, उन्हें पहले फलों का रस ही दिया जाता है, न कि पूर्ण भोजन।

मिश्रं पथ्यमपथ्यं च भुक्तं समशनं मतम्॥ ३३॥
विद्यादध्यशनं भूयो भुक्तस्योपरि भोजनम्। अकाले बहु चाल्पं वा भुक्तं तु विषमाशनम्॥ ३४॥
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान् व्याधीन् सृजन्ति वा।

समशन आदि के लक्षण—पथ्य (हितकर) तथा अपथ्य (अहितकर) प्रकार के भोजनों को मिलाकर जो खाया जाता है, उसे **'समशन'** कहते हैं। अभी भोजन किया है, वह पचा नहीं तब तक जो पुनः

भोजन कर लिया जाता है, उसे '**अध्यशन**' कहते हैं। असमय में अधिक या थोड़ा जो भोजन किया जाता है, उसे '**विषमाशन**' कहते हैं। ये तीनों प्रकार के 'अशन' घोर (कष्टकारक) रोगों को उत्पन्न कर देते हैं अथवा मृत्युकारक होते हैं॥ ३३-३४॥

वक्तव्य—चरक-विमानस्थान १।२५ में निर्दिष्ट विधियों के विपरीत ये तीनों अशन हैं; अतएव ये हानिकारक होते हैं। 'समशन' शब्द उक्त अर्थ में आयुर्वेद ने स्वीकार किया है, अन्यत्र इसका अर्थ—'सम्यक् अशन' भी हो सकता है। आहार जीवन को धारण करने वाले उपस्तम्भों में सर्वप्रथम है, अतः इसका विधिवत् सेवन करना ही चाहिए। उक्त तीनों प्रकार के अशन आहार की विकृतियाँ हैं। सुश्रुत में आहार-विधि का उत्तम वर्णन किया है। आप भी देखें, पढ़ें तथा इसे व्यवहार में लायें—सु.सू. ४६।४४६ से ४९५ तक और देखें—अ.सं.सू. ११।६३।

काले सात्म्यं शुचि हितं स्निग्धोष्णं लघु तन्मनाः॥ ३५॥
षड्रसं मधुरप्रायं नातिद्रुतविलम्बितम्। स्नातः क्षुद्वान् विविक्तस्थो धौतपादकराननः॥ ३६॥
तर्पयित्वा पितॄन् देवानतिथीन् बालकान् गुरून्। प्रत्यवेक्ष्य तिरश्चोऽपि प्रतिपन्नपरिग्रहान्॥
समीक्ष्य सम्यगात्मानमनिन्दन्नब्रुवन् द्रवम्। इष्टमिष्टैः सहाश्नीयाच्छुचिभक्तजनाहृतम्॥ ३८॥

शास्त्रीय भोजन-विधि—उचित समय पर, सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल), पवित्र, स्वास्थ्यवर्धक, स्निग्ध, गरमागरम, लघु (सुपाच्य), मन लगाकर, छः रसों से युक्त, जिसमें मधुररस वाले पदार्थ अधिक हों; इस प्रकार के भोज्य पदार्थों को न बहुत जल्दी और न बहुत देर करके खाना चाहिए। स्नान करके, भूख लग जाने पर, एकान्त में बैठकर, हाथ, मुख तथा पैरों को धोकर, पितरों, देवताओं, अतिथियों, बच्चों तथा बूढ़ों को तृप्त कराकर, पशु-पक्षियों का ध्यान देकर, अतिथियों एवं परिवारजनों के भोजन की व्यवस्था करके; अपने शरीर की वर्तमान स्थिति का विचार करता हुआ, भोजन की निन्दा न करता हुआ मौन होकर मित्रों के साथ बैठकर, पवित्र सेवकों द्वारा परोसा गया रुचिकर एवं द्रवप्राय भोजन का सेवन करे॥ ३५-३८॥

वक्तव्य—श्लोक की रचना में पदों को व्यवस्थित करने की एक समस्या होती है, उन्हें व्यवस्थित करने के लिए अन्वय का सहारा लेना पड़ता है। इस दृष्टिकोण से आप उक्त पद्यों को देखें—'स्नातः विविक्तस्थः देवान् (ऋषीन्) पितॄन् तर्पयित्वा, अतिथीन् बालकान् गुरून् च तर्पयित्वा, प्रतिपन्नपरिग्रहान् तिरश्चोऽपि प्रत्यवेक्ष्य सम्यक् आत्मानं समीक्ष्य····धौतपादकराननः इष्टैः सह शुचिभक्तजनाहृतं इष्टं, द्रवं च अश्नीयात्'।

भोजनं तृणकेशादिजुष्टमुष्णीकृतं पुनः। शाकावरान्नभूयिष्ठमत्युष्णलवणं त्यजेत्॥ ३९॥

त्याज्य भोजन—जिस भोजन में तिनके, केश (बाल), मक्खी आदि पड़े हों, जो फिर से गरम किया गया हो अर्थात् जो एक बार ठण्डा हो चुका हो, जिसमें शाक अथवा कुत्सित (निर्वीय) अन्न अधिक मात्रा में डाले गये हों, जो अत्यन्त गरम हो या उष्णवीर्य हो या जिसमें अधिक नमक पड़ा हो, ऐसे भोजन-पदार्थों का परित्याग कर देना चाहिए॥ ३९॥

किलाटदधिकूर्चीकाक्षारशुक्तामसूलकम्। कृशशुष्कवराहाविगोमत्स्यमहिषामिषम्॥ ४०॥
माषनिष्पावशालूकबिसपिष्टविरूढकम्। शुष्कशाकानि यवकान् फाणितं च न शीलयेत्॥

असेवनीय आहार—किलाट, दही, कूर्चिका, क्षार, शुक्त, कच्ची मूली, कृश प्राणी का मांस, सुखाया गया मांस, सूअर, गाय, मछली तथा भैंस का मांस, उड़द, निष्पाव (उबले हुए धान्य), शालूककन्द, विसकन्द, पीठी के द्वारा निर्मित पदार्थ, अंकुरित अन्न, सुखाये गये शाक, यवक (जई) नामक अन्न एवं राब—इनका अधिक मात्रा में निरन्तर सेवन न करें॥ ४०-४१॥

शीलयेच्छालिगोधूमयवषष्टिकजाङ्गलम्। सुनिषण्णकजीवन्तीबालमूलकवास्तुकम्॥ ४२॥
पथ्यामलकमृद्वीकापटोलीमुद्गशर्कराः। घृतदिव्योदकक्षीरक्षौद्रदाडिमसैन्धवम्॥ ४३॥

सेवनीय आहार—शालिधान्य, गेहूँ, जौ, साँठी, जांगल देश के प्राणियों के मांस, सुनिषण्णक, जीवन्ती, मुलायम मूली, बथुआ, हरीतकी, आँवला, मुनक्का, परबल, मूँग, चीनी, घृत, दिव्योदक (गंगा का जल), दूध, मधु, दाडिम (अनार) तथा सेंधानमक—इन द्रव्यों का सदा सेवन करें॥ ४२-४३॥

त्रिफलां मधुसर्पिर्भ्यां निशि नेत्रबलाय च। स्वास्थ्यानुवृत्तिकृद्यच्च रोगोच्छेदकरं च यत्॥ ४४॥

रात में सेवनीय पदार्थ—दृष्टि की शक्ति को बढ़ाने के लिए रात में मधु तथा घी में मिलाकर त्रिफला का सेवन करें। जो-जो द्रव्य स्वास्थ्य की रक्षा करने वाला तथा रोगनाशक हो उस-उस का भी निरन्तर सेवन करें॥ ४४॥

बिसेक्षुमोचचोचाम्रमोदकोत्कारिकादिकम्। अद्याद्द्रव्यं गुरु स्निग्धं स्वादु मन्दं स्थिरं पुरः॥
विपरीतमतश्चान्ते मध्येऽम्ललवणोत्कटम्।

अन्य पदार्थों को खाने की विधि—विस (कमलकन्द), ईख, केला, चोच (नारियल, तालफल, बड़हर या कटहर), आम, लड्डू, उत्कारिका (लपसी या हलुआ) तथा अन्य गुरु, स्निग्ध, स्वादु, मन्द एवं स्थिर पदार्थों को भोजन के आरम्भ में खाना चाहिए। उक्त द्रव्यों के विपरीत गुण वाले आहार-द्रव्यों को अन्त में खायें और बीच में अम्ल तथा लवण रस-प्रधान द्रव्यों का सेवन करें॥ ४५॥

वक्तव्य—उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि वातशामक भोजन-द्रव्यों का प्रयोग प्रारम्भ में, कफशामक द्रव्यों का अन्त में और अग्निवर्धक द्रव्यों का प्रयोग भोजन के मध्य में करना चाहिए। अर्थात् लवण आदि रसों के अन्त में **'मधुरेण समापयेत्'** सूक्ति का अनुसरण करें और मधुररस-प्रधान आहार द्रव्यों के अन्त में **'भोजनान्ते पिबेत् तक्रम्'** का स्मरण अवश्य कर लेना चाहिए, क्योंकि 'न तक्रसेवी व्यथते कदाचित्'।

अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्॥ ४६॥
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत्।

आमाशय के चार भाग—कुक्षि (आमाशय) को चार भागों में बाँटकर उसके दो भागों को अन्न (दाल, भात, रोटी, तरकारी आदि) से भर लें, एक अर्थात् तीसरे भाग को पेय पदार्थों (दूध, काँजी, जल आदि) से भर लें और शेष चौथे भाग में वात-पित्त-कफ दोष अपनी क्रिया कर सकें, इसके लिए खाली छोड़ दें॥ ४६॥

वक्तव्य—यह पद्य अविकलरूप से अ.सं.सू. १०।७५ में भी आया है। चरक में कुक्षि के तीन भाग करने को कहा है, यह अपनी व्यवस्था है। देखें—च.वि. २।३। इनके अनुसार भक्ष्य एवं पेय आदि को दो भागों में और एक भाग दोषों की गति के लिए छोड़ना चाहिए। इस विधि से अजीर्ण आदि रोग नहीं हो पाते। उक्त पद्य अन्यत्र इस प्रकार देखा जाता है—'द्वौ भागौ पूरयेदन्नं तोयमेकेन पूरयेत्। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्'॥ आशय दोनों का समान है। उक्त प्रकार के कुक्षि-विभाजन से 'अर्धसौहित्य' तथा 'नातितृप्तता' का अनुमान सुखपूर्वक लगाया जा सकता है।

अनुपानं हिमं वारि यवगोधूमयोर्हितम्॥ ४७॥
दध्नि मद्ये विषे क्षौद्रे, कोष्णं पिष्टमयेषु तु। शाकमुद्गादिविकृतौ मस्तुतक्राम्लकाञ्जिकम्॥ ४८॥
सुरा कृशानां पुष्ट्यर्थं स्थूलानां तु मधूदकम्। शोषे मांसरसो, मद्यं मांसे स्वल्पे च पावके॥ ४९॥
व्याध्यौषधाध्वभाष्यस्त्रीलङ्घनातपकर्मभिः। क्षीणे वृद्धे च बाले च पयः पथ्यं यथाऽमृतम्॥

विविध प्रकार के अनुपान—गेहूँ तथा जौ का, दही, मद्य, विष या विषयुक्त औषध-द्रव्यों तथा मधु का अनुपान शीतल जल है। पीठी आदि से बने हुए (कचौड़ी आदि) भक्ष्य पदार्थों का अनुपान गुनगुना जल है। विविध प्रकार के शाकों, मूँग, उड़द आदि द्वारा बनाये गये बड़ा आदि पदार्थों का अनुपान मस्तु

(दही का पानी), मठा, खट्टी काँजी है। कृश (दुबले) पुरुषों को पुष्ट करने के लिए सुरा अनुपान के रूप में दें। स्थूल पुरुषों को कृश करने के लिए मधु मिला हुआ जल पीने के लिए दें। शोष(क्षय)रोग में मांसरस (शोरवा) पीने के लिए दें। मांस खाने के बाद तथा अग्नि के मन्द पड़ जाने पर अनुपान के रूप में मद्य पीने को दें। रोग, औषधसेवन, रास्ता चलने से थकने पर, भाषण, मैथुन (स्त्रीसहवास), लंघन, धूप लगना, काम करने से क्षीण, बालक तथा वृद्ध—इन सबको अनुपान में दूध दें। यह इनके लिए अमृत के समान हितकर होता है॥ ४७-५०॥

विपरीतं यदन्नस्य गुणैः स्यादविरोधि च। अनुपानं समासेन, सर्वदा तत्प्रशस्यते॥ ५१॥

उत्तम अनुपान—संक्षेप में उत्तम अनुपान का यह सूत्र है—जो अन्न (आहार) के गुणों से विपरीत गुणों वाला हो, किन्तु उन आहार-द्रव्यों का विरोधी न हो, वह अनुपान सदा प्रशंसनीय माना जाता है॥ ५१॥

वक्तव्य—विपरीत तथा विरोधी का अन्तर आप इस प्रकार समझें—शीतल आहारों के साथ उष्ण और उष्ण आहारों के साथ शीत अनुपान उत्तम होता है। इसी प्रकार रूक्ष आहार-द्रव्यों के साथ स्निग्ध और स्निग्ध के साथ रूक्ष पेय अनुपान में हितकर होते हैं।

अनुपानं करोत्यूर्जां तृप्तिं व्याप्तिं दृढाङ्गताम्। अन्नसङ्घातशैथिल्यविक्लित्तिजरणानि च॥ ५२॥

अनुपान-सेवन का फल—उचित अनुपान का सेवन ऊर्जा (बल एवं दीर्घ जीवन), तृप्ति, आहाररस को फैलाना, अंगों को दृढ़ करना, खाये गये अन्नसमूह को ढीला करना, उसे गीला करना तथा उसे पचाना—इन कार्यों को करता है॥ ५२॥

वक्तव्य—सुश्रुत-सूत्रस्थान अध्याय ४६।४३४ से ४४५ में एक अनुपानवर्ग दिया गया है। इसका परिशीलन अवश्य कर लें और इस श्लोक को याद कर लें—'सर्वेषामनुपानानां माहेन्द्रं तोयमुत्तमम्। सात्म्यं वा यस्य यत्तोयं तत् तस्मै हितमुच्यते॥ उष्णं वाते कफे तोयं पित्ते रक्ते च शीतलम्'॥ (सु.सू. ४६।४३४)

नोर्ध्वजत्रुगदश्वासकासोरःक्षतपीनसे। गीतभाष्यप्रसङ्गे च स्वरभेदे च तद्धितम्॥ ५३॥

१. अनुपान का निषेध—जत्रु (ग्रीवास्थि या हँसुली) के ऊपरी भाग में होने वाले रोगों (मुख, कर्ण, नेत्र तथा शिर के रोगों) में, श्वास, कास, उरःक्षत, पीनस (नासारोग) में, गाने, भाषण आदि में तथा स्वरभेद में अनुपान (पेय पदार्थ) हितकर नहीं होते हैं॥ ५३॥

प्रक्लिन्नदेहमेहाक्षिगलरोगव्रणातुराः। पानं त्यजेयुः—

२. अनुपान का निषेध—जिनके शरीर में क्लिन्नता (कहीं भी गलन या सड़न) हो, जो प्रमेहरोग, नेत्ररोग, गलरोग तथा व्रणरोग से पीड़ित हों, ये भी उक्त अनुपानों का सेवन न करें।

—सर्वश्च भाष्याध्वशयनं त्यजेत्॥ ५४॥

पीत्वा, भुक्त्वाऽऽतपं वह्निं यानं प्लवनवाहनम्।

३. अनुपान का निषेध—सभी स्वस्थ अथवा रोगी अनुपान (पेय पदार्थ) का सेवन करके भाषण, रास्ता चलना तथा दिन में सोना छोड़ दें। खाना खाकर एवं पानी पीकर धूप सेंकना, आग सेंकना, यान (सवारी द्वारा यात्रा करना), कूदना-फाँदना तथा घोड़ा आदि की सवारी न करें॥ ५४॥

वक्तव्य—चरक ने (सूत्रस्थान २७।३२७-३२८ में) उक्त विषय का इस प्रकार वर्णन किया है—'भोजन के बाद पिया हुआ जल कण्ठ तथा उरःप्रदेश में स्थित आहार के स्नेह को वहीं रोक कर उसके न पचने से दोष को बढाने में समर्थ हो जाता है। यहाँ 'हत्वा' का अर्थ 'प्राप्त होकर' यह भी हो सकता है, क्योंकि 'हन धातु' का अर्थ हिंसा और गति भी है। अर्थात् अनुपान के रूप में पिया गया जल आहार के स्नेह को प्राप्त होकर तथा आमाशय को दूषित कर दोष को बढ़ा देता है। इस सन्दर्भ में सु.सू. ४६ का अनुपानवर्ग भी देखें।

प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति।
तथाऽग्नावुद्रिक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ
प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितं, कालः स हि मतः॥५५॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने मात्राशितीयो नामाष्टमोऽध्यायः॥८॥

भोजन-समय का निर्देश—मल-मूत्र के भलीभाँति निकल जाने पर, हृदय के शुद्ध अतएव विमल हो जाने पर, वात आदि दोषों के अपने-अपने मार्ग की ओर प्रवृत्त हो जाने पर, शुद्ध (दोषरहित) डकार के आने पर, भूख के लगने पर, अपानवायु के अनुकूल ढंग से निकलने पर, जठराग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर, इन्द्रियों के निर्मल हो जाने पर तथा शरीर के हलका हो जाने पर विधिपूर्वक आहार (भोजन) करे। यही आहार करने का उचित समय है॥५५॥

वक्तव्य—इसी अध्याय के ३५वें श्लोक में 'काले सात्म्यं शुचि हितं' का यह उत्तर है। ऐसे समय में किया गया भोजन सम्पूर्ण इन्द्रियों सहित शरीर को तृप्त कर देता है। इस समय किये गये भोजन से जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, लोभ आदि कारणों से इसके आगे-पीछे किया गया भोजन हानिकारक होता है। इस विषय में महर्षि पुनर्वसु के उपदेशों पर ध्यान दें। देखें—च.सू. २७।३४५ से ३५० तक।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में मात्राशितीय नामक आठवाँ अध्याय समाप्त॥८॥

नवमोऽध्यायः

अथातो द्रव्यादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।

इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से द्रव्यादिविज्ञानीय अर्थात् द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव का वर्णन इस अध्याय में करेंगे। ऐसा प्राचीन आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—इससे पहले अध्याय में अन्न-पान के उपयोगी द्रव्यों का सामान्य रूप से वर्णन तथा आहार-विधि का उपदेश किया गया था। अब इस अध्याय द्वारा द्रव्य और उसमें आश्रित रहने वाले रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव का इसलिए वर्णन किया जायेगा कि इनकी परीक्षा करके ही अन्न-पान के उपयोग का उपदेश दिया जायेगा। अतएव प्रस्तुत अध्याय की उपस्थापना की जा रही है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. २६; सु.सू. ४०-४१ तथा अ.सं.सू. १७ में देखें।

द्रव्यमेव रसादीनां श्रेष्ठं, ते हि तदाश्रयाः।

द्रव्य की प्रधानता—रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव द्रव्य में रहने वाले इन धर्मों में हरीतकी आदि द्रव्यों को ही श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि ये रस आदि द्रव्य में ही आश्रित होते हैं। अर्थात् ये रस आदि भाव द्रव्य में प्राप्त होते हैं।

वक्तव्य—चरक ने द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्'। तद् द्रव्यम्'। (च.सू. १।५१) अर्थात् जिसमें कर्म एवं गुण आश्रित हैं और जो द्रव्य गुण-कर्म का समवायिकारण है, वह द्रव्य है। इसका विस्तृत व्याख्यान सुरभारती प्रकाशन चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित 'चरकसंहिता' प्रथम भाग में यथास्थान देखें।

पञ्चभूतात्मकं तत्तु—

द्रव्य का स्वरूप—वह द्रव्य पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु एवं आकाश—इन पाँच महाभूतों के संयोग वाला है।

—क्ष्मामधिष्ठाय जायते॥ १॥

द्रव्य की उत्पत्ति—वह द्रव्य पृथिवी का आश्रय पाकर उस प्रकार उत्पन्न होता है, जैसे मिट्टी से घड़ा उत्पन्न होता है॥ १॥

अम्बुयोन्यग्निपवननभसां समवायतः। तन्निर्वृत्तिर्विशेषश्च—

उत्पत्ति के कारण—द्रव्य की उत्पत्ति का प्रमुख कारण जल है, तथापि इसकी उत्पत्ति में अग्नि, वायु तथा आकाश के समवायि सम्बन्ध से उसकी उत्पत्ति होती है। उक्त पदार्थों (महाभूतों) के संयोग-भेद से द्रव्यों में भिन्नता भी होती है।

—व्यपदेशस्तु भूयसा॥ २॥

नामकरण में कारण—जिस द्रव्य में जिस महाभूत तत्त्व की विशेषता होती है, वह उसी नाम से कहा जाता है। जैसे—पार्थिव, आग्नेय, वायव्य, नाभस आदि व्यवहार के लिए उस-उसकी संज्ञाएँ होती हैं॥ २॥

तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घातसम्भवात्।

द्रव्य [illegible] **अनेक** [illegible] —पृथिवी आदि महाभूतों के समवाय से उत्पन्न होने के कारण कोई भी द्रव्य किसी एक रसवाला नहीं होता है।

नैकदोषास्ततो रोगास्तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः॥ ३॥
अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते।

अनेकदोषज रोग—यही कारण है कि उस द्रव्य का सेवन करने से उत्पन्न होने वाले ज्वर आदि रोग भी किसी एक ही दोष वाले नहीं होते हैं, उस द्रव्य में जो रस व्यक्त (प्रतीत) होता है, वही उसका प्रधान रस कहा जाता है। जो रस प्रधान रस का अनुभव होने के बाद प्रतीत होता है अथवा जिसका बहुत कम अनुभव हो पाता है, उसे 'अनुरस' कहा जाता है॥ ३॥

वक्तव्य—महर्षि पुनर्वसु के समय में रस तथा आहार विषय सम्बन्धी एक सम्भाषा परिषद् हुई थी, जिसका विशद विवेचन च.सू. २६ में किया गया है। अन्त में भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की तथा द्रव्य, देश, काल के प्रभाव से ६३ प्रकार के रसभेदों की चर्चा की गयी। इसका परिशीलन करें। इस प्रसंग में सु.सू. ४० का भी अवलोकन कर लें।

गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये॥ ४॥
रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः।

द्रव्यगत गुरु आदि गुण—गुरु आदि बीस गुण (जिनका वर्णन अष्टांगहृदय-सूत्रस्थान १।१८ में किया जा चुका है) पार्थिव आदि द्रव्यों में रहते हैं। ये ही द्रव्य मधुर आदि रसों के आश्रय भी होते हैं, किन्तु साहचर्य (संगति) होने के कारण वे गुरु आदि गुण रसों में भी होते हैं, ऐसा कह दिया जाता है॥ ४॥

वक्तव्य—'गुर्वादयो गुणाः'—इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। 'पृथिव्यादौ' के स्थान पर 'पार्थिवादौ' पद अधिक सुगम होता। ऐसा न होने के कारण श्री अरुणदत्त को उक्त पद की व्याख्या 'पृथिव्यादि महाभूतारब्धे द्रव्ये' इस प्रकार करनी पड़ी है। इसके पहले तीसरे पद्य में भी इन्होंने द्रव्य को 'भूतसङ्घातसम्भव' माना है और अगले पद्यों में भी द्रव्यों को क्रम से पार्थिव, आप्य, आग्नेय आदि संज्ञा दी है। वास्तव में पृथिवी आदि भूत हैं, इनके संयोग से ही पञ्चभूतात्मक द्रव्य या द्रव्यों की उत्पत्ति होती है।

तत्र द्रव्यं गुरुस्थूलस्थिरगन्धगुणोल्बणम्॥ ५॥
पार्थिवं गौरवस्थैर्यसङ्घातोपचयावहम्।

पार्थिव द्रव्य का वर्णन—उक्त पञ्चमहाभूतात्मक द्रव्यों में जो द्रव्य गुरु, स्थूल, स्थिर तथा गन्धगुण-प्रधान होता है, उसे पार्थिव द्रव्य कहते हैं। इन गुणों से युक्त पार्थिव द्रव्य गुरुता, स्थिरता, संघातता (ठोसपन) तथा उपचय (शरीरपुष्टि) कारक होता है॥ ५॥

द्रवशीतगुरुस्निग्धमन्दसान्द्ररसोल्बणम् ॥ ६॥
आप्यं स्नेहनविष्यन्दक्लेदप्रह्लादबन्धकृत्।

आप्य द्रव्य का वर्णन—जो द्रव्य द्रव, शीत, गुरु, स्निग्ध, मन्द, सान्द्र तथा रसगुण-प्रधान होता है, उसे आप्य (अप् धातु-प्रधान) या जलीय द्रव्य कहते हैं। इन गुणों से युक्त आप्य द्रव्य स्नेहन, विष्यन्दन (अभिष्यन्दकारक), क्लेदन (गीलापन), प्रह्लादन (आनन्द या तृप्तिकारक) तथा बन्धन (आटा आदि को बाँधने वाला) कारक होता है॥ ६॥

रूक्षतीक्ष्णोष्णविशदसूक्ष्मरूपगुणोल्बणम् ॥ ७॥
आग्नेयं दाहभावर्णप्रकाशपचनात्मकम्।

आग्नेय द्रव्य का वर्णन—जो द्रव्य रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, विशद, सूक्ष्म तथा रूपगुण-प्रधान होता है, उसे आग्नेय द्रव्य कहते हैं। इन गुणों से युक्त आग्नेय द्रव्य दाह, कान्ति, वर्ण, प्रकाश तथा पाचन करने वाला होता है॥७॥

वायव्यं　रूक्षविशदलघुस्पर्शगुणोल्बणम्॥८॥
रौक्ष्यलाघववैशद्यविचारग्लानिकारकम्　।

वायव्य द्रव्य का वर्णन—जो द्रव्य रूक्ष, विशद, लघु तथा स्पर्शगुण-प्रधान होता है, वह वायव्य द्रव्य कहा जाता है। वह रूक्षता, लघुता, विशदता, विचरणशीलता एवं ग्लानि (हर्षक्षय) कारक होता है॥८॥

नाभसं　सूक्ष्मविशदलघुशब्दगुणोल्बणम्॥९॥
सौषिर्यलाघवकरम्—

नाभस द्रव्य का वर्णन—जो द्रव्य सूक्ष्म, विशद, लघु तथा शब्दगुण-प्रधान होता है वह नाभस (आकाशीय) कहा जाता है। वह सौषिर्य (खोखलापन) तथा लघुता कारक होता है॥९॥

—जगत्येवमनौषधम्। न किञ्चिद्विद्यते द्रव्यं वशान्नानार्थयोगयोः॥१०॥

औषधमय द्रव्य—इस प्रकार सम्पूर्ण संसार में कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है जो औषध न हो, क्योंकि सभी द्रव्य अनेक अर्थों (प्रयोजनों) में एवं विविध प्रकार के योगों में प्रयुक्त होते हैं॥१०॥

वक्तव्य—इसी विषय का जीवातु भगवान् पुनर्वसु का यह उपदेश है—'नानौषधिभूतं जगति किञ्चिद् द्रव्यमुपलभ्यते'। (च.सू. २६।१२) तथा इसी का समर्थक गद्य देखें—सु.सू. ४१।५। गुरु आदि २० गुणों का वर्णन इसके प्रथम अध्याय में महर्षि वाग्भट ने किया है। इनके अतिरिक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन्हें भी गुण कहा गया है। ऊपर श्लोक ५ से ९ तक में देखें। महर्षि कणाद ने २४ गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है—१. रूप, २. रस, ३. गन्ध, ४. स्पर्श, ५. संख्या, ६. परिमाण, ७. पृथक्त्व, ८. संयोग, ९. विभाग, १०. परत्व, ११. अपरत्व, १२. गुरुत्व, १३. द्रवत्व, १४. स्नेह, १५. शब्द, १६. बुद्धि, १७. सुख, १८. दुःख, १९. इच्छा, २०. द्वेष, २१. प्रयत्न, २२. धर्म, २३. अधर्म और २४. संस्कार। साथ ही च.सू. १।४९ भी देखें। इन गुण-धर्मों वाले द्रव्य स्वयं तथा दूसरे के संयोग से औषध-कार्य का निर्वाह करते हैं। ये औषध द्रव्य स्थावर-जंगम भेद से दो प्रकार के होते हैं।

द्रव्यमूर्ध्वगमं तत्र प्रायोऽग्निपवनोत्कटम्। अधोगामि च भूयिष्ठं भूमितोयगुणाधिकम्॥११॥

द्रव्यों की विशेषता—जो द्रव्य ऊर्ध्वगामी अर्थात् वमनकारक होता है, उसमें प्रायः अग्नि तथा वायु तत्त्व के गुण अधिक होते हैं और जो द्रव्य अधोगामी अर्थात् विरेचनकारक होता है, उसमें प्रायः पृथिवी तथा जल तत्त्व के गुण अधिक पाये जाते हैं॥११॥

वक्तव्य—एक 'नाभस' गुण-प्रधान द्रव्य का वर्णन ऊपर के श्लोक में छूट गया है। इसका गुण है—संशमनकारकत्व। प्रायः शब्द कभी-कभी इसके विपरीत प्रभाव की भी सूचना देता है। कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही द्रव्य वमन तथा विरेचन कारक होता है, तो उसमें उक्त चारों भूतों के गुण पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं, फलतः वे दोनों कार्य में समर्थ हैं। इस विषय का विस्तृत वर्णन सुश्रुत में इस प्रकार प्राप्त है—'तत्र····साधयेत्' (सु.सू. ४१।६) अर्थात् विरेचक द्रव्यों में पृथिवी एवं जल तत्त्व के गुणों की अधिकता रहती है, क्योंकि ये दोनों तत्त्व भारी होने के कारण अधोगामी होते हैं। वामक द्रव्यों में अग्नि एवं वायु के गुणों की अधिकता होती है। ये दोनों तत्त्व लघु होने के कारण ऊर्ध्वगामी होते हैं। आकाश गुण अधिकता वाले द्रव्य संशमन होते हैं। इसी प्रकार यहाँ दीपन, लेखन तथा बृंहण द्रव्यों का भी वर्णन किया गया है।

इति द्रव्यम्—

द्रव्य-वर्णन की समाप्ति—यहाँ तक पाञ्चभौतिक द्रव्य के सम्बन्ध में जो वर्णन करना था, उसका व्याख्यान समाप्त हो गया है।

—रसान् भेदैरुत्तरत्रोपदेक्ष्यते।

रसवर्णन-प्रस्ताव—द्रव्यों का वर्णन करने के बाद अब अगले (११वें) अध्याय में रसों के भेदों का वर्णन किया जायेगा।

वीर्यं पुनर्वदन्त्येके गुरु स्निग्धं हिमं मृदु॥ १२॥
लघु रूक्षोष्णतीक्ष्णं च तदेवं मतमष्टधा।

द्रव्यगत वीर्य-वर्णन—कुछ आचार्यों का कथन है कि द्रव्यगत वीर्य आठ प्रकार का होता है। यथा—१. गुरु, २. स्निग्ध, ३. हिम, ४. मृदु, ५. लघु, ६. रूक्ष, ७. उष्ण एवं ८. तीक्ष्ण॥ १२॥

चरकस्त्वाह वीर्यं तत् क्रियते येन या क्रिया॥ १३॥
नावीर्यं कुरुते किञ्चित्सर्वा वीर्यकृता हि सा।

चरकसम्मत वीर्य—महर्षि चरक का कथन है कि वीर्य उसे कहते हैं जिससे जो क्रिया की जाती है। कोई भी द्रव्य वीर्य के बिना किसी कार्य को नहीं कर सकता, अतः सभी क्रियाएँ वीर्य से ही सम्पन्न होती हैं॥ १३॥

गुर्वादिष्वेव वीर्याख्या तेनान्वर्थेति वर्ण्यते॥ १४॥
समग्रगुणसारेषु शक्त्युत्कर्षविवर्तिषु। व्यवहाराय मुख्यत्वाद् बह्वग्रग्रहणादपि॥ १५॥

वाग्भट का मत—श्रीवाग्भटाचार्य का कथन है कि ऊपर कहे गये गुरु आदि आठ गुणों में ही वीर्य संज्ञा सार्थक है, अतएव उक्त आठ गुणों को वीर्य कहा जाता है, क्योंकि उक्त आठ गुण ही पहले कहे गये बीस गुणों में प्रमुख होते हैं और अपनी शक्ति की श्रेष्ठता के कारण ही विविध प्रकार से क्रिया करते हैं। यह (वीर्य) सभी गुणों में चिरस्थायी होने के कारण तथा शक्ति की अधिकता के कारण चिकित्सा-व्यवहार में प्रमुख होता है। सभी गुणों में प्रमुख होने के कारण उसी की गणना (उल्लेख) होती है॥ १४-१५॥

अतश्च विपरीतत्वात्सम्भवत्यपि नैव सा। विवक्ष्यते रसाद्येषु, वीर्यं गुर्वादयो ह्यतः॥ १६॥

रस आदि में वीर्य की श्रेष्ठता—इसीलिए उक्त विशेषताओं से विपरीत होने के कारण रस, विपाक, प्रभाव को 'वीर्य' संज्ञा नहीं दी गयी है। यद्यपि उक्त रस आदि को भी वीर्य कहा जा सकता था, पर कहा नहीं गया। अतएव गुरु आदि आठ गुणों का नाम ही 'वीर्य' है॥ १६॥

उष्णं शीतं द्विधैवान्ये वीर्यमाचक्षते—

वीर्य सम्बन्धी अन्य मत—कुछ दूसरे आचार्यों का मत है कि 'वीर्य' केवल दो प्रकार का होता है—१. उष्ण एवं २. शीत। यहाँ 'एव' शब्द निश्चयात्मक है अर्थात् वीर्य दो ही प्रकार का होता है।

—अपि च। नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ॥ १७॥
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित्।

वाग्भट का समर्थन—वाग्भटाचार्य का कथन है कि यह मत भी ठीक ही है, क्योंकि अनेक प्रकार के शक्तिशाली द्रव्य भी अग्नि तथा सोम (जल) तत्त्वों का कभी भी उस प्रकार अतिक्रमण नहीं कर पाते, जिस प्रकार व्यक्त एवं अव्यक्त कारण वाला जगत् (संसार) अग्नि एवं सोम का अतिक्रमण नहीं कर सकता॥ १७॥

वक्तव्य—ऊपर वीर्य की मान्यता के सम्बन्ध में मत-मतान्तरों की चर्चा की गयी है। चरक का मत है कि 'वीर्य' वह है जिसकी शक्ति से द्रव्य कर्म को पूर्ण करता है और उन्होंने 'कर्म' की परिभाषा

इस प्रकार दी है—'प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते'। (च.सू. १।४९) वीर्य की परिभाषा—'वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया। नावीर्यं कुरुते किञ्चित्, सर्वा वीर्यकृता क्रिया'॥ (च.सू. २६।६५) इस प्रसंग में सुश्रुतोक्त गद्य का भी अवलोकन करें—सु.सू. ४०।५।

तत्रोष्णं भ्रमतृड्ग्लानिस्वेददाहाशुपाकिताः॥ १८॥

शमं च वातकफयोः करोति, शिशिरं पुनः। ह्लादनं जीवनं स्तम्भं प्रसादं रक्तपित्तयोः॥ १९॥

वीर्य के लक्षण—वाग्भट के अनुसार वीर्य दो प्रकार का होता है। उन दोनों में प्रथम उष्णवीर्य के लक्षण—भ्रम, प्यास का लगना, ग्लानि (हर्षक्षय), स्वेद, दाह, आशुपाकिता (शीघ्र पचना—भोजन का तथा व्रण आदि का) एवं वात तथा कफ दोषों का शमन करता है।

शीतवीर्य—ह्लादन (मन को प्रसन्न करने वाला), जीवन, स्तम्भनकारक और रक्त एवं पित्त को निर्मल करने वाला होता है॥ १८-१९॥

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥ २०॥

विपाक का वर्णन—जठराग्नि के संयोग से जब खाये हुए मधुर आदि रस युक्त आहार का पाक होने लगता है, उसके बाद जो आहाररस से अलग रस उत्पन्न होता है, उसे 'विपाक' कहते हैं॥ २०॥

वक्तव्य—श्रीमानों का भोजन प्रायः षड्रस युक्त होता है। इसको समझाने के लिए उक्त श्लोक में 'रसानां' पद दिया है। उसके बाद उस खाये हुए आहार का जब जठराग्नि से पुनः पाक होकर जो दूसरा रस पैदा होता है, उसे 'विपाक' अर्थात् विशिष्ट पाक कहते हैं।

स्वादुः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः। तिक्तोषणकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः॥ २१॥

विपाकज रस-भेद—प्रायः मधुर तथा लवण रस वाले पदार्थों का विपाक मधुर होता है, अम्ल पदार्थों का विपाक अम्ल ही होता है और तिक्त, कटु एवं कषाय रसों का विपाक कटु होता है॥ २१॥

वक्तव्य—उक्त दृष्टि से छः रसों का त्रिविध (मधुर, अम्ल तथा कटु) विपाक होता है, किन्तु सुश्रुत ने दो प्रकार का विपाक माना है। देखें—सु.सू. ४०।१०-१२। वे दो विपाक हैं—१. मधुर तथा २. कटु। श्रीवाग्भट ने 'प्रायः' पद का प्रयोग करके प्राचीन मत को स्वीकार कर अपने मत को भी प्रदर्शित कर दिया है।

कटु-तिक्तरस विवाद—प्रायः समाज में देखा जाता है कि मिर्च तीती है एवं नीम कड़वी है, इस प्रकार प्रयोग करते हैं, यह उचित नहीं है। आप ध्यान दें—**कटुरस के लक्षण**—'जो रस जीभ में रखने मात्र में घबराहट उत्पन्न करे, जीभ में चुभे या उसे कष्ट दे, जो दाह करता हुआ मुख, नासिका तथा आँखों से स्राव कराने वाला हो, उसे कटुरस कहते हैं'। (शा.सं.पू.खं. २।२०) ज़ैसे—सोंठ, काली मिर्च, पिप्पली को 'त्रिकटु' या 'कटुत्रय' कहते हैं। इन्हीं के गुण लाल मिर्चा में भरपूर पाये जाते हैं, अतः ये सभी द्रव्य कटु कहे जाते हैं। **तिक्तरस के लक्षण**—'जो रस जीभ में रखने मात्र से कष्ट दे अर्थात् अप्रिय लगे और जो दूसरे रसों के स्वाद को प्रतीत न होने दे, उसे तिक्तरस कहते हैं। यह मुख की तिक्तता को दूर करके लार को सुखाकर मन को प्रसन्न कर देता है'। (शा.सं.पू.खं. २।२१) तिक्त रस युक्त द्रव्यों में नीम, कुटकी आदि प्रमुख हैं।

रसैरसौ तुल्यफलस्तत्र द्रव्यं शुभाशुभम्। किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म पाकेन चापरम्॥ २२॥
गुणान्तरेण वीर्येण प्रभावेणैव किञ्चन।

रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव—विपाक का फल मूल (आहार) रस के समान ही फलदायक होता है, किन्तु उसमें भी द्रव्य के अपने विशिष्ट लक्षण इस प्रकार होते हैं—कोई द्रव्य दोषशमन रूप कर्म करने के कारण शुभ होता है और कोई द्रव्य दोषप्रकोपन रूप कर्म करने के कारण अशुभ होता है। उसमें भी

कोई द्रव्य मधुर आदि रस से कर्म करता है, तो कोई पाक (विपाक) से, कोई गुण से, कोई वीर्य से और कोई प्रभाव से ही कर्म करता है॥ २२॥

यद्यद्द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते॥ २३॥
अभिभूयेतरांस्तत्तत्कारणत्वं प्रपद्यते। विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते॥ २४॥

द्रव्य का स्वाभाविक बल—द्रव्य में रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव इनमें से जो बलवान् होकर रहता है, वही अपना कर्म करता है और वह दूसरों को दबाकर (पराजित कर) शुभ अथवा अशुभ कार्य करने में कारण होता है। परस्पर विपरीत गुणों का संयोग होने के कारण अधिकांश यह देखा जाता है कि बलवान् द्वारा अल्प बल वाला जीत लिया जाता है॥ २३-२४॥

रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति। बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्॥ २५॥

रस आदि का स्वाभाविक बल—रस की समानता होने पर कभी-कभी रस को विपाक जीत लेता है, रस और विपाक को वीर्य जीत लेता है तथा रस-विपाक-वीर्य को प्रभाव जीत लेता है। यह द्रव्यों का अथवा रस आदि का स्वाभाविक बल कहा जाता है॥ २५॥

रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्। दन्ती रसाद्यैस्तुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी॥
मधुकस्य च मृद्वीका, घृतं क्षीरस्य दीपनम्।

प्रभाव का वर्णन—रस एवं विपाक आदि की समानता होने पर भी उन-उन द्रव्यों का जो प्रमुख कर्म होता है, उसमें प्रभाव ही कारण है। जैसे—दन्ती (जमालगोटा नामक) द्रव्य रस तथा विपाक में चित्रक (चीता) द्रव्य के समान होती है, फिर भी यह विरेचक ही होता है। इसी प्रकार मुनक्का द्रव्य के रस आदि महुआ के समान होते हैं, तथापि मुनक्का मधुर एवं विरेचक होता है। घृत के रस, गुण आदि दूध के समान होते हैं, फिर भी दूध अग्निदीपन होता है॥ २६॥

वक्तव्य—इस विषय को विस्तारपूर्वक समझने के लिए आप च.सू. २६।६७ से ७२ तक के पद्यों का अवलोकन करें। शार्ङ्गधराचार्य ने भी इस विषय में प्रकाश डाला है अर्थात् द्रव्य में रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव रहते हैं, जो प्रयोगानुसार अपना-अपना कार्य करते हैं।

इति सामान्यतः कर्म द्रव्यादीनां, पुनश्च तत्॥ २७॥
विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यते।

द्रव्य आदि के कर्म—इस प्रकार इस अध्याय में द्रव्यों तथा द्रव्यगत रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव के कर्मों का सामान्य रूप से वर्णन कर दिया गया है। फिर भी द्रव्यों के कर्मों में अनेक प्रकार के भेद देखें जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में पञ्चमहाभूतों के लक्षण ही उसमें मूल कारण होते हैं। प्रत्येक द्रव्य की रचना में पञ्चमहाभूतों का संयोग होता है, किन्तु यह संयोग सबमें भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है; अतएव प्रत्येक द्रव्य एक-दूसरे द्रव्य से भिन्न होता है॥ २७॥

स्वादुर्गुरुश्च गोधूमो वातजिद्वातकृद्यवः॥ २८॥
उष्णा मत्स्याः पयः शीतं कटुः सिंहो न शूकरः।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने द्रव्यादिविज्ञानीयो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

भिन्नता के उदाहरण—गेहूँ तथा जौ ये दोनों द्रव्य स्वाद में मधुर तथा गुरु होने पर भी गेहूँ वातविकार का शमन करता है और जौ वातकारक होता है। मत्स्यमांस स्वादु रसयुक्त तथा गुरु गुणयुक्त होने पर भी

उष्ण कहा गया है और उसी के समान रस तथा गुण से युक्त दूध शीतवीर्य होता है। इसी प्रकार सिंह तथा सूअर का मांस मधुर एवं गुरु होता है, परन्तु विपाक की दृष्टि से सिंह का मांस कटु तथा सूअर का मांस मधुर होता है॥ २८॥

वक्तव्य—उक्त उदाहरणों का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य भले ही वह स्थावर अथवा जंगम भेद से किसी प्रकार का भी हो, वह विचित्र कारणों के विचित्र संयोग से उत्पन्न होता है। फलतः प्रत्येक के रस-गुण आदि समान होने पर भी उस-उस के वीर्य, विपाक तथा प्रभाव परस्पर भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। फिर भी हम यह कहने के लिए बाध्य हैं कि सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक होते हैं। यही कारण है कि 'प्रभाव' को अचिन्त्य शक्ति वाला कहा एवं माना गया है।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में द्रव्यादिविज्ञानीय नामक नवाँ अध्याय समाप्त॥ ९॥

दशमोऽध्यायः

अथातो रसभेदीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।

इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब यहाँ से हम रसभेदीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। जैसा कि इस विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—इसके पहले नवें अध्याय के १२वें श्लोक में 'रसान् भेदैरुत्तरत्रोपदेक्ष्यते' ऐसा कहा गया था, तदनुसार प्रस्तुत अध्याय में रसभेदों का वर्णन किया जा रहा है। जीभ द्वारा ग्रहण किये जाने वाले विषय का नाम ही रस है अर्थात् रस की उत्पत्ति का मूल आधार जल एवं पृथिवी है। देखें—च.सू. १।६४। वास्तव में रस के मूलभूत कारण हैं—जल तथा पृथिवी, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति का कारण पृथिवी तत्त्व है। इसी का समर्थन हमें उपनिषद् तथा वैशेषिक दर्शन में मिलता है। यथा—'रसो रसनेन्द्रियग्राह्यः, पृथिव्युदकवृत्तिः'। इति। और भी देखें—'आपो स्मृताः'। (च.सू. २५।१३) अर्थात् यह पुरुष रसज है, क्योंकि इसकी पुष्टि गर्भकाल में गर्भिणी के आहाररस से होती है और जल रस वाले होते हैं। अष्टांगहृदय में भी कहा गया है—'रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः। षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः'॥ (अ.हृ.सू.१।१४) अर्थात् रस छः होते हैं—१. मधुर, २. अम्ल, ३. लवण, ४. तिक्त, ५. कटु तथा ६. कषाय। इनका आधार द्रव्य होता है। ये स्वतन्त्र रूप से नहीं पाये जाते। ये यथापूर्व बलवान् होते हैं। जैसे—कषाय रस से कटुरस बलवान् होता है आदि।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. २६; च.वि. ८; सु.सू. ४२; सु.उ. ६३ तथा अ.सं.सू. १७ एवं १८ में देखें।

क्ष्माम्भोऽग्निक्ष्माम्बुतेजःखवाय्वग्न्यनिलगोनिलैः। द्वयोल्बणैः क्रमाद्भूतैर्मधुरादिरसोद्भवः॥ १॥

मधुर आदि रसों की उत्पत्ति—दो-दो महाभूतों की प्रधानता के कारण मधुर आदि रसों की उत्पत्ति होती है। यथा—पृथिवी एवं जल तत्त्वों की प्रधानता से **मधुररस,** अग्नि एवं पृथिवी तत्त्वों की प्रधानता से **अम्लरस,** जल एवं अग्नि तत्त्वों की प्रधानता से **लवणरस,** आकाश एवं वायु तत्त्वों की प्रधानता से **तिक्तरस,** अग्नि एवं वायु तत्त्वों की प्रधानता से **कटुरस** तथा पृथिवी एवं वायु तत्त्वों की प्रधानता से **कषायरस** की उत्पत्ति होती है॥ १॥

वक्तव्य—इसी का समर्थन चरक ने भी किया है। देखें—च.सू. २६।४०।

तेषां विद्याद्रसं स्वादुं यो वक्त्रमनुलिम्पति। आस्वाद्यमानो देहस्य ह्लादनोऽक्षप्रसादनः॥ २॥ प्रियः पिपीलिकादीनाम्—

मधुररस के लक्षण—उक्त छः रसों में मधुररस वह है, जो मुख को चारों ओर से लीप देता है। उसका स्वाद मिलते ही सम्पूर्ण शरीर का अधिष्ठाता मन प्रसन्न हो जाता है तथा सभी इन्द्रियाँ प्रसन्न हो जाती हैं। यह रस चिउँटी तथा मक्खियों का भी प्रिय होता है॥ २॥

—अम्लः क्षालयते मुखम्। हर्षणो रोमदन्तानामक्षिभ्रुवनिकोचनः॥ ३॥

अम्लरस के लक्षण—अम्ल (खट्टा) रस मुख को भीतर की ओर से मानो धो डालता है। इसे खाने से रोमांच तथा दन्तहर्ष हो जाता है। यह आँखों तथा भौंहों को संकुचित कर देता है॥ ३॥

लवणः स्यन्दयत्यास्यं कपोलगलदाहकृत्।

लवणरस के लक्षण—लवणरस का सेवन करने से मुख से लालास्राव होने लगता है और कपोल तथा गले के भीतरी भाग में जलन पैदा होने लगती है।

तिक्तो विशदयत्यास्यं रसनं प्रतिहन्ति च॥ ४॥

तिक्तरस के लक्षण—तिक्तरस का सेवन करने से मुख का भीतरी भाग विशद (स्वच्छ) हो जाता है तथा जीभ को कुछ समय के लिए यह अन्य रस ग्रहण करने के अयोग्य कर देता है॥ ४॥

उद्वेजयति जिह्वाग्रं कुर्वंश्चिमिचिमां कटुः। स्रावयत्यक्षिनासास्यं कपोलौ दहतीव च॥ ५॥

कटुरस के लक्षण—कटुरस (सोंठ, मरिच, पीपल या लाल मिर्चा) का सेवन जीभ के अगले भाग को उद्विग्न कर देता है अर्थात् जीभ इसके स्वाद से घबड़ा जाती है। इससे जीभ में चिमचिमाहट होने लगती है। इसका सेवन करने से आँख, नाक तथा मुख से स्राव निकलने लगता है और कपोलों (गालों) में दाह होने लगता है॥ ५॥

कषायो जडयेज्जिह्वां कण्ठस्रोतोविबन्धकृत्।

कषायरस के लक्षण—कषायरस (हरीतकी, आँवला आदि) का सेवन जीभ को जड़ (अन्य रस के सेवन में कुछ देर के लिए असमर्थ) कर देता है और कण्ठ (गला) के स्रोतस् को अवरुद्ध कर देता है अर्थात् उसमें ऐंठन पैदा कर देता है।

रसानामिति रूपाणि—

रसों के स्वरूप—यहाँ तक छहों रसों के परिचायक स्वरूपों का वर्णन कर दिया गया है।

—कर्माणि—

रसों के कर्म—अब इसके आगे उक्त रसों के कर्मों का वर्णन किया जायेगा।

—मधुरो रसः॥ ६॥

आजन्मसात्म्यात् कुरुते धातूनां प्रबलं बलम्। बालवृद्धक्षतक्षीणवर्णकेशेन्द्रियौजसाम्॥ ७॥
प्रशस्तो बृंहणः कण्ठ्यः स्तन्यसन्धानकृद्गुरुः। आयुष्यो जीवनः स्निग्धः पित्तानिलविषापहः॥
कुरुतेऽत्युपयोगेन स मेदःश्लेष्मजान् गदान्। स्थौल्याग्निसादसन्न्यासमेहगण्डार्बुदादिकान्॥ ९॥

मधुररस के कर्म—मधुररस माता के दूध के रूप में जन्मकाल से सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) होने के कारण रस आदि धातुओं को अत्यन्त बलदायक होता है। यह बालक, वृद्ध, क्षत (उरःक्षत आदि), क्षीण (धातुक्षीण), वर्ण, केश, इन्द्रियों तथा ओजस् के लिए हितकारक होता है। यह शरीर को पुष्ट करता है, स्वरयन्त्र के लिए हितकर है, दूध को बढाता है, टूटी अस्थियों को जोड़ता है तथा मद्यसन्धानकारक भी है; गुरु(देर में पचने वाला) है, आयुवर्धक है, जीवन है, स्निग्ध है, पित्त, वात तथा विष का नाशक है। इसका अधिक उपयोग करने से यह मेदोरोग तथा कफज रोगों को उत्पन्न करता है। यथा—स्थूलता, मन्दाग्नि, सन्यास, प्रमेह, गलगण्ड तथा अर्बुद आदि रोग हो जाते हैं॥ ६-९॥

अम्लोऽग्निदीप्तिकृत् स्निग्धो हृद्यः पाचनरोचनः। उष्णवीर्यो हिमस्पर्शः प्रीणनः क्लेदनो लघुः॥
करोति कफपित्तास्रं मूढवातानुलोमनः। सोऽत्यभ्यस्तस्तनोः कुर्याच्छैथिल्यं तिमिरं भ्रमम्॥
कण्डुपाण्डुत्ववीसर्पशोफविस्फोटतृड्ज्वरान् ।

अम्लरस के कर्म—अम्लरस का सेवन अग्निवर्धक, स्निग्ध, हृदय के लिए हितकर, पाचन, रोचन (रुचिकारक), उष्णवीर्य, स्पर्श में शीतल, प्रीणन (तृप्तिकारक), क्लेदकारक तथा लघुपाकी है। यह कफ, पित्त तथा रक्त वर्धक है; प्रतिलोम या मूढ़ वातदोष का अनुलोमन करता है। इसका अधिक सेवन करने से शरीर में शिथिलता, तिमिर नामक नेत्ररोग, चक्करों का आना, खुजली, पाण्डुरोग, वीसर्प, शोफ (सूजन), विस्फोट (फोड़े, शीतलारोग), प्यास का लगना तथा ज्वररोग को उत्पन्न करता है॥ १०-११॥

लवणः स्तम्भसङ्घातबन्धविध्मापनोऽग्निकृत्॥ १२॥
स्नेहनः स्वेदनस्तीक्ष्णो रोचनश्छेदभेदकृत्। सोऽतियुक्तोऽस्रपवनं खलतिं पलितं वलिम्॥ १३॥
तृट्कुष्ठविषवीसर्पान् जनयेत् क्षपयेद्बलम्।

लवणरस के कर्म—लवणरस का सेवन स्तम्भ (जकड़न) तथा संघातबन्ध (मल-मूत्र की रुकावट) विध्मापक अर्थात् विनाशक है तथा अग्नि (जठराग्नि) की वृद्धि करता है। यह स्नेहन तथा स्वेदन है, तीक्ष्ण गुणयुक्त है, रुचिकारक, मांस का छेदक एवं मल का भेदक है। इसे अधिक खाने से वातरक्त, खलति तथा पलित नामक कपालरोगों, वली (झुर्रियाँ), प्यास, कुष्ठ, विष एवं वीसर्प रोगों को पैदा करता है और बल को क्षीण करता है॥ १२-१३॥

वक्तव्य—चरक ने लवण के अधिक उपयोग का निषेध किया है। देखें—च.वि. १।१५। रक्तविकारों में इसको सेवन करने का निषेध है। यह बढ़े हुए मांस का छेदक है और व्रणशोथ का भेदक भी है तथा सभी रसों को उजागर (प्रकट) करने वाला भी है।

तिक्तः स्वयमरोचिष्णुररुचिं कृमितृड्विषम्॥ १४॥
कुष्ठमूर्च्छाज्वरोत्क्लेशदाहपित्तकफान् जयेत्। क्लेदमेदोवसामज्जशकृन्मूत्रोपशोषणः॥ १५॥
लघुर्मेध्यो हिमो रूक्षः स्तन्यकण्ठविशोधनः। धातुक्षयानिलव्याधीनतियोगात्करोति सः॥ १६॥

तिक्तरस के कर्म—तिक्तरस यद्यपि स्वयं अरुचिकर होता है, परन्तु यह ज्वर आदि के कारण उत्पन्न अरुचि को दूर करता है। यह कृमिरोग, तृष्णा, विष, कुष्ठ, मूर्च्छा, ज्वर, उत्क्लेश (जी मिचलाना), दाह (जलन), पित्तज तथा कफज विकारों का विनाश करता है। क्लेद (सड़न), मेदस्, वसा, पुरीष (मल) और मूत्र को सुखाता है। यह पाक में लघु, बुद्धिवर्धक, शीतवीर्य, रूक्ष, दूध को शुद्ध करने वाला तथा गले के विकारों का शोधक है। इसका अधिक सेवन करने से धातुक्षय तथा वातव्याधियों की उत्पत्ति हो जाती है॥ १४-१६॥

कटुर्गलामयोदर्दकुष्ठालसकशोफजित्। व्रणावसादनः स्नेहमेदःक्लेदोपशोषणः॥ १७॥
दीपनः पाचनो रुच्यः शोधनोऽन्नस्य शोषणः। छिनत्ति बन्धान् स्रोतांसि विवृणोति कफापहः॥
कुरुते सोऽतियोगेन तृष्णां शुक्रबलक्षयम्। मूर्च्छामाकुञ्चनं कम्पं कटिपृष्ठादिषु व्यथाम्॥ १९॥

कटुरस के कर्म—कटुरस गलरोग, उदर्द (कोठ, शीतपित्त), कुष्ठ, असलक (आमविकार) एवं शोथरोग का विनाश करता है। व्रणशोथ की कठोरता को शिथिल (ढीला) कर देता है; स्नेह, मेदस् एवं क्लेद (सड़न) को सुखाता है। यह जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, भोजन को पचाता है, भोजन के प्रति रुचि को बढ़ाता है; मुख, नासिका, नेत्र एवं शिर का स्रावण एवं रेचन विधियों से शोधन करता है, खाये हुए अन्न को सुखाता है अतएव खाने के बाद प्यास लगती है, अतिसारनाशक है, मल के बन्धन को काटता है, स्रोतों को फैलाता है तथा कफ का नाशक है। इस रस का अधिक प्रयोग करने से प्यास अधिक लगती है, शुक्र एवं बल का क्षय करता है। मूर्च्छा (बेहोशी), शरीर के अवयवों तथा सिराओं में सिकुड़न, कँपकँपी, कमर तथा पीठ में पीड़ा पैदा करता है॥ १७-१९॥

कषायः पित्तकफहा गुरुरस्रविशोधनः। पीडनो रोपणः शीतः क्लेदमेदोविशोषणः॥ २०॥
आमसंस्तम्भनो ग्राही रूक्षोऽति त्वक्प्रसादनः। करोति शीलितः सोऽति विष्टम्भाध्मानहृद्रुजः॥
तृट्कार्श्यपौरुषभ्रंशस्रोतोरोधमलग्रहान्।

कषायरस के कर्म—कषायरस पित्त तथा कफ को शान्त करता है, गुरु है, रक्त को शुद्ध करता है। कषायरस-प्रधान द्रव्यों का लेप लगाने से यह पके फोड़े का पीडन करता है और पूय निकल जाने पर रोपण करता है। यह शीतीवीर्य है, सड़न तथा मेदोधातु को सुखाता है, आमदोष को रोकता है तथा

मल को बाँधता है। यह अत्यन्त रूक्ष होता है, त्वचा को स्वच्छ करता है। इसका अधिक सेवन करने से विष्टम्भ, आध्मान (अफरा), हृदय में पीड़ा, प्यास, कृशता, शुक्रधातु का नाश, स्रोतों में रुकावट तथा मल-मूत्र में रुकावट होती है॥ २०-२१॥

घृतहेमगुडाक्षोडमोचचोचपरूषकम् ॥ २२॥
अभीरुवीरापनसराजादनबलात्रयम्। मेदे चतस्रः पर्णिन्यो जीवन्ती जीवकर्षभौ॥ २३॥
मधूकं मधुकं बिम्बी विदारी श्रावणीयुगम्। क्षीरशुक्ला तुगाक्षीरी क्षीरिण्यौ काश्मरी सहे॥ २४॥
क्षीरेक्षुगोक्षुरक्षौद्रद्राक्षादिर्मधुरो गणः।

मधुरस्कन्ध के द्रव्य—घृत, सोना, गुड़, अखरोट, केला, चोच (दालचीनी, नारियल, तालफल–वैद्यकशब्दसिन्धु), परूषक (फालसा), अभीरु (शतावरी), काकोली, कटहल, चिरौंजी, बलात्रय (बला, अतिबला, नागबला), दो मेदा (मेदा, महामेदा), चारपर्णिनी (शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी), जीवन्ती, जीवक, ऋषभक, महुआ, मुलेठी, बिम्बी (कुन्दरू), विदारीकन्द, श्रावणीयुगल (मुण्डी, बड़ीमुण्डी), क्षीरशुक्ला, वंशलोचन, दो क्षीरिणी (छोटी दुद्धी, बड़ी दुद्धी), गम्भार, दो सहा (सहा, महासहा), दूध, ईख, गोखरू, मधु, मुनक्का आदि—ये सब द्रव्य मधुरस्कन्ध के हैं॥ २२-२४॥

अम्लो धात्रीफलाम्लीकामातुलुङ्गाम्लवेतसम्॥ २५॥
दाडिमं रजतं तक्रं चुक्रं पालेवतं दधि। आम्रमाम्रातकं भव्यं कपित्थं करमर्दकम्॥ २६॥

अम्लस्कन्ध के द्रव्य—आँवला, इमली, मातुलिंग (प्रायः सभी नीबू विशेषकर बिजौरानीबू), अम्लवेत, दाड़िम, रजत (चाँदी), तक्र (मठा), चुक्र, पालेवत, दही, आम, आमड़ा, भव्य (कमरख), कैथ तथा करमर्दक (करौंदा)॥ २५-२६॥

वरं सौवर्चलं कृष्णं बिडं सामुद्रमौद्भिदम्। रोमकं पांसुजं शीसं क्षारश्च लवणो गणः॥ २७॥

लवणस्कन्ध के द्रव्य—सेंधानमक, सोंचरनमक, कालानमक, विडलवण (नौसादर), समुद्रीनमक, औद्भिद (रेह) नमक, रोमक (साँभर) नमक, पांशुज (धूल या मिट्टी का) नमक, सीसाधातु तथा सभी क्षार॥ २७॥

तिक्तः पटोली त्रायन्ती बालकोशीरचन्दनम्। भूनिम्बनिम्बकटुकातगरागुरुवत्सकम्॥ २८॥
नक्तमालद्विरजनीमुस्तमूर्वाटरूषकम्। पाठापामार्गकांस्यायोगुडूचीधन्वयासकम्॥ २९॥
पञ्चमूलं महद्व्याघ्र्यौ विशालाऽतिविषा वचा।

तिक्तस्कन्ध के द्रव्य—तीता परवल, त्रायमाणा, नेत्रबाला, खस, चन्दन, चिरायता, नीम, कुटकी, तगर, अगरु, कुटज, नक्तमाल (करंज), दो हल्दी (दारुहल्दी, हल्दी), नागरमोथा, मूर्वा, अडूसा, पाठा, अपामार्ग, कांस्यधातु, लोहधातु, गुरुच, धमासा, बृहत्पंचमूल (बिल्व, सोनापाठा, गम्भारी, पाढ़ल, अरणी), वनभण्टा, कण्टकारी, विशाला (इन्द्रायण), अतीस तथा बालवच॥ २८-२९॥

कटुको हिङ्गुमरिचकृमिजित्पञ्चकोलकम्॥ ३०॥
कुठेराद्या हरितकाः पित्तं मूत्रमरुष्करम्।

कटुस्कन्ध के द्रव्य—हींग, कालीमिर्च, वायविडंग, पञ्चकोल (पिप्पली, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, नागर = सोंठ), कुठेरक आदि, हरितक (देखें—अ.हृ.सू. ६।१०६), पित्त (मांस खाने वालों का प्रिय पदार्थ, जो मृग, बकरा आदि में पाया जाता है, वह अवयव-विशेष), गोमूत्र आदि सभी ग्राह्य मूत्र और अरुष्कर (भिलावा)॥ ३०॥

वर्गः कषायः पथ्याऽक्षं शिरीषः खदिरो मधु॥ ३१॥
कदम्बोदुम्बरं मुक्ताप्रवालाञ्जनगैरिकम्। बालं कपित्थं खर्जूरं बिसपद्मोत्पलादि च॥ ३२॥

कषायस्कन्ध के द्रव्य—हरड़, बहेड़ा, सिरीष, खदिर (बबूल, कीकर आदि), मधु, कदम्ब, गूलर, मोती, मूँगा, अंजन, गेरू, कच्चा कैथ, कच्चा खजूर, बिस (कमलकन्द), कमल तथा उत्पल (कमलभेद) आदि॥ ३१-३२॥

मधुरं श्लेष्मलं प्रायो जीर्णाच्छालियवादृते। मुद्गाद्गोधूमतः क्षौद्रात्सिताया जाङ्गलामिषात्॥ ३३॥

मधुररस का विशिष्ट वर्णन—प्रायः सभी मधुर रस वाले द्रव्य कफकारक होते हैं; केवल पुराने शालिधान्य, जौ, मूँग, गेहूँ, मधु, सफेद मिश्री तथा जांगल देश के प्राणियों के मांस को छोड़कर॥ ३३॥

प्रायोऽम्लं पित्तजननं दाडिमामलकादृते।

अम्लरस का विशिष्ट वर्णन—अनार (यहाँ अनार शब्द से पहाड़ों में पाये जाने वाले खट्टे दाड़िमों की ओर वाग्भट का संकेत है) एवं आँवला को छोड़कर प्रायः सभी अम्लद्रव्य पित्तकारक होते हैं।

अपथ्यं लवणं प्रायश्चक्षुषोऽन्यत्र सैन्धवात्॥ ३४॥

लवणरस का विशिष्ट वर्णन—सेंधानमक के अतिरिक्त सभी नमक नेत्रों के लिए अहितकर होते हैं॥ ३४॥

तिक्तं कटु च भूयिष्ठमवृष्यं वातकोपनम्। ऋतेऽमृतापटोलीभ्यां शुण्ठीकृष्णारसोनतः॥ ३५॥

तिक्त-कटुरसों का विशिष्ट वर्णन—गुरुच तथा तिक्त परबल के बिना प्रायः सभी तिक्त द्रव्य अवृष्य (वीर्यनाशक) तथा वातकारक होते हैं। सोंठ, पीपल, लहसुन को छोड़कर प्रायः सभी कटु द्रव्य अवृष्य तथा वातकारक होते हैं॥ ३५॥

कषायं प्रायशः शीतं स्तम्भनं चाभयां विना।

कषायरस का विशिष्ट वर्णन—हरड़ को छोड़कर प्रायः सभी कषाय द्रव्य शीतवीर्य तथा स्तम्भन-कारक होते हैं।

रसाः कट्वम्ललवणा वीर्येणोष्णा यथोत्तरम्॥ ३६॥
तिक्तः कषायो मधुरस्तद्वदेव च शीतलाः। तिक्तः कटुः कषायश्च रूक्षा बद्धमलास्तथा॥ ३७॥
पट्वम्लमधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्रमारुताः। पटोः कषायस्तस्माच्च मधुरः परमं गुरुः॥ ३८॥
लघुरम्लः कटुस्तस्मात् तस्मादपि च तिक्तकः।

रसों के द्विविध वीर्य—कटु, अम्ल तथा लवण रस वीर्य की दृष्टि से उत्तरोत्तर अधिक उष्ण होते हैं और तिक्त, कषाय तथा मधुर रस वीर्य की दृष्टि से उत्तरोत्तर अधिक शीत होते हैं।

रसों के रूक्ष एवं स्निग्ध गुण—तिक्त, कटु तथा कषाय रस वाले द्रव्य उत्तरोत्तर रूक्ष गुण वाले तथा मल को बाँधने वाले होते हैं। लवण, अम्ल एवं मधुर रस वाले द्रव्य उत्तरोत्तर स्निग्ध गुण वाले तथा मल, मूत्र एवं अपानवायु को निकालने वाले होते हैं।

रसों के गुरु एवं लघु गुण—लवणरस से कषायरस एवं कषायरस से मधुररस गुण में अधिक गुरु होता है। अम्लरस लघु होता है, इससे अधिक लघु कटुरस होता है और इससे भी अधिक लघु होता है तिक्तरस॥ ३६-३८॥

वक्तव्य—महर्षियों की विचारदृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म तथा व्यापक होती थी, अतएव उन्हें विविधता कदम-कदम पर दिखलायी देती थी और अपवाद भी, अस्तु। यहाँ तक के विवेचन से हमने रसों के गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव को समझा किन्तु इनके विपरीत भी कई स्थल ऐसे मिलते है जो उक्त सिद्धान्तों के विपरीत देखे जाते हैं। जैसे ऊपर रस का विवेचन किया गया है, वैसा ही विस्तृत क्षेत्र विपाक का भी है। इन गुत्थियों को सुलझाने के लिए च.सू. २६ का अध्ययन एवं मनन करें।

संयोगाः सप्तपञ्चाशत्कल्पना तु त्रिषष्टिधा॥ ३९॥
रसानां यौगिकत्वेन यथास्थूलं विभज्यते।

रसों के ६३ भेद—मधुर आदि छः रसों के परस्पर (एक-दूसरे के साथ) संयोग करने पर इनके स्थूल रूप से ५७ भेद होते हैं। पुनः इनमें छः रसों को जोड़ देने पर इनकी कल्पना दोषों को आधार मानकर करने से ६३ प्रकार की हो जाती है। इसे शास्त्रकार स्थूल गणना मानते हैं॥ ३९॥

वक्तव्य—अ.हृ.सू. १२ में देखें, वहाँ ६२ प्रकार के दोषभेदों का वर्णन किया गया है।

एकैकहीनास्तान् पञ्चदश यान्ति रसा द्विके॥ ४०॥
त्रिके स्वादुर्दशाम्लः षट् त्रीन् पटुस्तिक्त एककम्। चतुष्केषु दश स्वादुश्चतुरोऽम्लः पटुः सकृत्॥
पञ्चकेष्वेकमेवाम्लो मधुरः पञ्च सेवते। द्रव्यमेकं षडास्वादमसंयुक्ताश्च षड्रसाः॥ ४२॥

दो-दो रसों के १५ योग—एक-एक रस को कम करते हुए पाँच भागों में दो-दो रसों के संयोग से इस प्रकार इनके १५ भेद होते हैं—मधुररस के साथ अम्ल आदि ५ रसों के संयोग से ५, अम्लरस के साथ लवण आदि ४ रसों के संयोग से ४, लवणरस के साथ तिक्त आदि ३ रसों के संयोग से ३, तिक्तरस के साथ कटु आदि २ रसों के संयोग से २ तथा कटुरस के साथ कषाय १ रस के संयोग से १ (योग १५); त्रिक (तीन-तीन) रसों के संयोग से इनके २० भेद इस प्रकार होते हैं—मधुररस के साथ अन्य दो रसों के संयोग से १०, अम्लरस के साथ अन्य दो रसों के संयोग से ६, लवणरस के साथ अन्य दो रसों के संयोग से ३ और तिक्तरस के साथ अन्य दो रसों के संयोग से १ (योग २०); चतुष्क (चार-चार) रसों के संयोग से इनके १५ भेद इस प्रकार होते हैं—मधुररस के साथ अन्य तीन रसों के संयोग से १०, अम्लरस के साथ अन्य तीन रसों के संयोग से ४ और लवणरस के साथ अन्य तीन रसों के संयोग से १ (योग १५); पञ्चक (पाँच-पाँच) रसों के संयोग से इनके छः भेद इस प्रकार होते हैं—मधुररस के साथ अन्य चार रसों के संयोग से ५ और अम्लरस के साथ अन्य चार रसों के संयोग से १ (योग ६); षट्क (छः) रसों के संयोग से केवल एक भेद इस प्रकार होता है—मधुररस के साथ अन्य पाँच रसों के संयोग से १ और असंयुक्त अर्थात् अलग-अलग मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु एवं कषाय नामक रस ६; इस प्रकार इनका कुल ६३ योग होता है॥ ४०-४२॥

षट् पञ्चकाः, षट् च पृथग्रसाः स्युश्चतुर्द्विकौ पञ्चदशप्रकारौ।
भेदास्त्रिका विंशतिरेकमेव द्रव्यं षडास्वादमिति त्रिषष्टिः॥ ४३॥

विषयोपसंहार—पाँच-पाँच रसों के योग ६, अलग-अलग रस ६, चतुष्क रसयोग १५, द्विक रस योग १५, त्रिक रसयोग २० तथा षट्क रसयोग १ —इस प्रकार कुल ६३ प्रकार के भेद होते हैं॥ ४३॥

वक्तव्य—उक्त ६३ प्रकार के रससंयोगों का यहाँ स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

पंचक रससंयोग के ६ भेद—१. अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय रसों का संयोग (मधुररसहीन), २. मधुर, लवण, तिक्त, कटु, कषाय रसों का संयोग (अम्लरसहीन), ३. मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु, कषाय रसों का संयोग (लवणरसहीन), ४. मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय रसों का संयोग (तिक्तरसहीन), ५. मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कषाय रसों का संयोग (कटुरसहीन), ६. मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु रसों का संयोग (कषाय रसहीन);

पृथक् रसों की गणना ६—१. मधुर, २. अम्ल, ३. लवण, ४. तिक्त, ५. कटु तथा ६. कषाय;

चतुष्क रससंयोग के १५ भेद—१. मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त रसों का संयोग (कटुकषायरसहीन); २. मधुर, अम्ल, लवण, कटु रसों का संयोग (तिक्त-कषायरसहीन); ३. मधुर, अम्ल, लवण, कषाय रसों का संयोग (तिक्त-कटुरसहीन); ४. मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु रसों का संयोग (लवण-कषायरसहीन);

५. मधुर, अम्ल, तिक्त, कषाय रसों का संयोग (लवण-कटुरसहीन); ६. मधुर, अम्ल, कटु, कषाय रसों का संयोग (लवण-तिक्तरसहीन); ७. मधुर, लवण, तिक्त, कटु रसों का संयोग (अम्ल-कषायरसहीन); ८. मधुर, लवण, तिक्त, कषाय रसों का संयोग (अम्ल-कटुरसहीन); ९. मधुर, लवण, कटु, कषाय रसों का संयोग (अम्ल-तिक्तरसहीन); १०. मधुर, तिक्त, कटु, कषाय रसों का संयोग (अम्ल-लवणरसहीन); ११. अम्ल, लवण, तिक्त, कटु रसों का संयोग (मधुर-कषायरसहीन); १२. अम्ल, लवण, तिक्त, कषाय रसों का संयोग (मधुर-कटुरसहीन); १३. अम्ल, लवण, कटु, कषाय रसों का संयोग (मधुर-तिक्तरसहीन); १४. अम्ल, तिक्त, कटु, कषाय रसों का संयोग (मधुर-लवणरसहीन) और १५. लवण, तिक्त, कटु, कषाय रसों का संयोग (मधुर-अम्लरसहीन)।

द्विक रससंयोग के १५ भेद—१. मधुर तथा अम्ल रस का संयोग, २. मधुर तथा लवण रस का संयोग, ३. मधुर तथा तिक्त रस का संयोग, ४. मधुर तथा कटु रस का संयोग, ५. मधुर तथा कषाय रस का संयोग, ६. अम्ल तथा लवण रस का संयोग, ७. अम्ल तथा तिक्त रस का संयोग, ८. अम्ल तथा कटु रस का संयोग, ९. अम्ल तथा कषाय रस का संयोग, १०. लवण तथा तिक्त रस का संयोग, ११. लवण तथा कटु रस का संयोग, १२. लवण तथा कषाय रस का संयोग, १३. तिक्त तथा कटु रस का संयोग, १४. तिक्त तथा कषाय रस का संयोग और १५. कटु तथा कषाय रस का संयोग।

त्रिक रससंयोग के २० भेद—१. मधुर, अम्ल, लवण रसों का संयोग; २. मधुर, अम्ल, तिक्त रसों का संयोग; ३. मधुर, अम्ल, कटु रसों का संयोग; ४. मधुर, अम्ल, कषाय रसों का संयोग; ५. मधुर, लवण, तिक्त रसों का संयोग; ६. मधुर, लवण, कटु रसों का संयोग; ७. मधुर, लवण, कषाय रसों का संयोग; ८. मधुर, तिक्त, कटु रसों का संयोग; ९. मधुर, तिक्त, कषाय रसों का संयोग; १०. मधुर, कटु, कषाय रसों का संयोग; ११. अम्ल, लवण, तिक्त रसों का संयोग; १२. अम्ल, लवण, कटु रसों का संयोग; १३. अम्ल, लवण, कषाय रसों का संयोग; १४. अम्ल, तिक्त, कटु रसों का संयोग; १५. अम्ल, तिक्त, कषाय रसों का संयोग; १६. अम्ल, कटु, कषाय रसों का संयोग; १७. लवण, तिक्त, कटु रसों का संयोग; १८. लवण, तिक्त, कषाय रसों का संयोग; १९. लवण, कटु, कषाय रसों का संयोग और २०. तिक्त, कटु, कषाय रसों का संयोग।

षडास्वाद रससंयोग का १ भेद—१. मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय रसों का संयोग। इस प्रकार ६ + ६ + १५ + १५ + २० + १ = रसकल्पना के ६३ भेद किये गये हैं। इनका उपयोग चिकित्सा काल में किया जाता है।

ते रसानुरसतो रसभेदास्तारतम्यपरिकल्पनया च।
सम्भवन्ति गणनां समतीता दोषभेषजवशादुपयोज्याः ॥ ४४॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने रसभेदीयो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १०॥

रससंयोगों के असंख्य भेद—वे (उपर्युक्त) रसभेद रस तथा अनुरस के भेद से एवं तर-तम भाव की परिकल्पना से असंख्य हो जाते हैं। तथापि उन रससंयोग-भेदों का प्रयोग वात आदि दोषों का तथा हरीतकी आदि औषध-द्रव्यों के रस-अनुरस आदि का विचार करके यथोचित प्रकार से उपयोग करना चाहिए॥ ४४॥

वक्तव्य—रसानुरस—प्रत्येक द्रव्य में एक प्रधान रस तथा एकाधिक अनुरस रहते ही हैं। जैसे—हरीतकी का प्रधान रस कषाय है, शेष लवण रहित चार रस उसके अनुरस हैं। यथा—'हरीतकी पञ्चरसाऽलवणा तुवरा परम्'। और भी कहा गया है—'द्रव्यमेकरसं नास्ति, न रोगोऽप्येकदोषजः'। अस्तु।

तारतम्य—तर-तम के भाव को 'तारतम्य' कहते हैं। दो द्रव्यों में एक को उत्तम या अधम बतलाने के लिए 'तर' का प्रयोग होता है और वही अनेक में एक को बतलाने के लिए 'तम' का प्रयोग होता है। दूसरा प्रयोग इस प्रकार है—यह द्रव्य उससे गुरुतर है अथवा यह द्रव्य उन सबमें गुरुतम है। इसी प्रकार लघुतर, लघुतम प्रयोग भी होते हैं, तीसरा प्रयोग है—मधुर, मधुरतर, मधुरतम आदि।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में रसभेदीय नामक दसवाँ अध्याय समाप्त॥ १०॥

एकादशोऽध्यायः

अथातो दोषादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब हम यहाँ से दोषों, धातुओं तथा मलों के विशेष ज्ञान को देने वाले अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—रसभेदीय नामक अध्याय के समाप्त होने के बाद अब यहाँ दोषादिविज्ञानीय नामक अध्याय का आरम्भ किया जा रहा है। दोषादि शब्द में 'आदि' पद से धातु तथा मल का संग्रह किया गया है, क्योंकि धातु एवं मलों के दोष आधारस्वरूप होते हैं।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. १२, १७-१८, २८; सु.सू. १५ एवं अ.सं.सू. १९ में देखें।

दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य—

शरीर के आधार—वात आदि (पित्त-कफ) तीन दोष, रस से लेकर शुक्रपर्यन्त सात धातु तथा स्वेद (पसीना) आदि मल ये सब देह (शरीर) के सदा (जीवनभर) मूल (आधार) कहे जाते हैं।

—तं चलः। उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टावेगप्रवर्तनैः॥ १॥
सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च। अनुगृह्णात्यविकृतः, पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः॥ २॥
क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः। श्लेष्मा स्थिरत्वस्निग्धत्वसन्धिबन्धक्षमादिभिः॥ ३॥

प्रकृतिस्थ दोषों के कर्म—उस देह को प्रकृतिस्थ वायु सदा उत्साहशक्ति, श्वास, प्रश्वास, चेष्टा (शरीर सम्बन्धी व्यवहार—उठना, बैठना, चलना, फिरना आदि), मल-मूत्र आदि वेगों की प्रवृत्ति, रस आदि धातुओं की उचित गति, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की अपने-अपने विषयग्रहण की कुशलता से कृपा करता रहता है। इसी प्रकार प्रकृतिस्थ पित्त इस देह के उपर सदा पाचन, उष्णता, दर्शन (देखना), भूख, प्यास, भोजन के प्रति रुचि, प्रभा (कान्ति), मेधा (धारण करने की क्षमता वाली बुद्धि), बुद्धि, शूरता, शरीर सम्बन्धी मृदुता द्वारा अनुग्रह करता है। प्रकतिस्थ कफ देह को सदा स्थिरता, स्निग्धता, दृढ़ सन्धिबन्धन तथा क्षमा आदि द्वारा अनुगृहीत करता है॥ १-३॥

वक्तव्य—यह देह पञ्चमहाभूतों (पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) से निर्मित है। इनमें पृथिवी तत्त्व इस शरीर का आधार ही है और आकाश तत्त्व शरीर के रिक्त स्थानों का स्वरूप है। जैसे—कानों के तथा नाक के छिद्र एवं मुख-गुहा आदि आकाश तत्त्व के आशय हैं, इस दृष्टि से उक्त दोनों तत्त्व शरीर में प्रायः निष्क्रिय हैं। शेष तीन तत्त्व वायु, तेजस् तथा जल ये क्रमशः वात, पित्त, कफ धातुओं का कर्म करते हुए जीवनभर शरीर को धारण किये रहते हैं।

प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणपूरणे। गर्भोत्पादश्च धातूनां श्रेष्ठं कर्म क्रमात्स्मृतम्॥ ४॥

रस आदि धातुओं के कर्म—रस आदि सात धातुओं के क्रमशः ये प्रमुख कर्म हैं—१. रस का प्रीणन, २. रक्त का जीवन, ३. मांस का लेपन अर्थात् अस्थिसमूह का लेपन कर उसे स्थिर बनाये रखना, ४. मेदस् का स्नेहन (सम्पूर्ण शरीर को स्निग्ध बनाये रखना), ५. अस्थि का धारण करना, ६. मज्जा का अस्थियों की पूर्ति करना (हड्डियों के भीतर जो स्निग्ध पदार्थ पाया जाता है वही मज्जा है, उसके अभाव में अस्थियों तथा अस्थिसन्धियों में पीड़ा का अनुभव होने लगता है) तथा ७. शुक्र का गर्भोत्पादन कर्म होता है॥ ४॥

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार—१. रस—शरीर का प्रीणन तथा रक्त का पोषण करता है। २. रक्त—वर्ण की निर्मलता, मांस का पोषण तथा जीवन प्रदान करता है। ३. मांस—शरीर एवं मेदस् का पोषण करता है। ४. मेदस्—स्नेह-स्वेद उत्पन्न करता है, शरीर में दृढ़ता उत्पन्न कर अस्थियों का पोषण करता है। ५. अस्थियाँ—शरीर को धारण करती हैं। ६. मज्जा—प्रीति, स्नेह, बल, शुक्र का पोषण कर अस्थियों का भी पोषण करती है। ७. शुक्र—धैर्य, च्युति, प्रीति, देहबल, हर्षबीज (स्त्रियों में) तथा गर्भधारण कार्य में उपयोगी होता है। देखें—सु.सू. १५।४।

अवष्टम्भः पुरीषस्य मूत्रस्य क्लेदवाहनम्। स्वेदस्य क्लेदविधृतिः—

मलों के प्रमुख कर्म—पुरीष का कर्म—अवष्टभ (बल की रक्षा करना, मलाशय को स्वस्थ रखना, वायु तथा अग्नि का धारण करना)। **मूत्र का कर्म**—क्लेद को बहा देना। **स्वेद का कर्म**—शरीर में गीलापन बनाये रखना। इसी के कारण त्वचा का स्पर्श सुकोमल होता है।

वक्तव्य—इनका शरीर में रहना और यथासमय मात्रानुसार निकलना शरीर के लिए उपकारक होता है। कहा भी है—'मलायत्तं बलं पुंसां शुक्रायत्तं तु जीवितम्'। सुश्रुत ने कहा है—**'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्'**। (सु.सू. १५।३) अर्थात् प्रकृतिस्थ वात आदि दोषों का, रस आदि धातुजों का तथा पुरीष आदि मलों का शरीर में रहना ही शरीर का मूल (आधार) है। इसका सांगोपांग व्याख्यान सुश्रुत में यथास्थान देखें। संयोगवश गुण भी दोष हो जाते हैं और दोष भी गुण हो जाते हैं। शास्त्र एवं लोक का परिशीलन करें। एक सुभाषित—'तात वाग्भट! किं ब्रूयां विचित्रा कर्मणो गतिः। दुषधातुरिवात्यर्थं गुणो दोषाय कल्पते'॥

—वृद्धस्तु कुरुतेऽनिलः ॥ ५ ॥

कार्श्यकार्ष्ण्योष्णकामत्वकम्पानाहशकृद्ग्रहान्। बलनिद्रेन्द्रियभ्रंशप्रलापभ्रमदीनताः ॥ ६ ॥

वातवृद्धि के लक्षण—विविध कारणों से बढ़ा हुआ वातदोष कृशता, नख-नेत्र आदि में कालापन, उष्ण आहार-विहार की इच्छा का होना, कँपकँपी का होना, आनाह, पुरीष की स्वाभाविक गति में रुकावट, बलनाश, निद्रानाश, इन्द्रियों की शक्ति का क्षय या ह्रास, प्रलाप (अंट-संट बकना), चक्करों का आना तथा दीनता—इन लक्षणों को उत्पन्न करता है॥ ५-६॥

पीतविण्मूत्रनेत्रत्वक्क्षुत्तृड्दाहाल्पनिद्रताः। पित्तं—

पित्तवृद्धि के लक्षण—अनेक कारणों से बढ़ा हुआ पित्तदोष मल, मूत्र, नेत्र तथा त्वचा में पीलापन, भूख-प्यास की अधिकता, जलन का होना, नींद का कम आना—इन लक्षणों को पैदा कर देता है।

—श्लेष्माऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम् ॥ ७ ॥

श्वैत्यशैत्यश्लथाङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रताः।

कफवृद्धि के लक्षण—अनेक कारणों से बढ़ा हुआ कफदोष मन्दाग्नि, लालास्राव, आलस्य, गुरुता, पुरीष आदि में सफेदी, शीतता (जाड़ा लगना या शीतस्पर्श का अनुभव होना), अंगों में शिथिलता (ढीलापन), श्वास, कास तथा निद्रा की अधिकता होना—इन लक्षणों को उत्पन्न कर देता है॥ ७॥

वक्तव्य—यहाँ तक वात-पित्त-कफ के जिन लक्षणों का ऊपर वर्णन किया गया है, वे वात आदि दोषों के वृद्धि या प्रकोप के लक्षण हैं। इन्हें आप अ.हृ.नि. १।१४ से २२ तक देखें।

रसोऽपि श्लेष्मवत्—

रसवृद्धि के लक्षण—अनेक कारणों से बढ़ा हुआ रसधातु ऊपर कहे गये कफदोष की भाँति विकारों को उत्पन्न करता है।

—रक्तं विसर्पप्लीहविद्रधीन् ॥ ८ ॥

कुष्ठवातास्रपित्तास्रगुल्मोपकुशकामलाः। व्यङ्गाग्निनाशसम्मोहरक्तत्वङ्नेत्रमूत्रताः ॥ ९ ॥

रक्तवृद्धि के लक्षण—विविध कारणों से बढ़ा हुआ रक्तधातु विसर्परोग, प्लीहारोग, विद्रधिरोग, कुष्ठ, वातरक्त, पित्तजरोग, रक्तपित्तरोग, गुल्मरोग, उपकुश (दन्तवेष्टगत) रोग, कामलारोग, व्यङ्ग (क्षुद्ररोग), अग्निनाश (मन्दाग्नि), मूर्च्छा, त्वचा, नेत्र एवं मूत्र में लालिमा का होना—इन लक्षणों को उत्पन्न कर देता है॥ ८-९॥

मांसं गण्डार्बुदग्रन्थिगण्डोरुदरवृद्धिताः। कण्ठादिष्वधिमांसं च—

मांसवृद्धि के लक्षण—विविध कारणों से बढ़ा हुआ मांसधातु गण्डमाला या गलगण्ड, अर्बुद तथा ग्रन्थिशोथ को उत्पन्न करता है; गण्डों (गालों), ऊरुओं तथा उदरप्रदेश में वृद्धि कर देता है; इसके अतिरिक्त गले एवं गुद में अधिमांसों को उत्पन्न कर देता है।

—तद्वन्मेदस्तथा श्रमम्॥ १०॥

अल्पेऽपि चेष्टिते श्वासं स्फिक्स्तनोदरलम्बनम्।

मेदोवृद्धि के लक्षण—विविध कारणों से बढ़ा हुआ मेदोधातु मांसवृद्धि के समान विकारों को उत्पन्न करता है। थोड़ा-सा भी परिश्रम करने पर श्वास (साँस) फूलने लगता है। स्फिक् (चूतड़), स्तन तथा उदर इन अवयवों को लटका देता है॥ १०॥

अस्थ्यध्यस्थ्यधिदन्तांश्च—

अस्थिवृद्धि के लक्षण—विविध कारणों से बढ़ा हुआ अस्थिधातु अस्थि की वृद्धि करता है और संख्या से अधिक दाँतों को उत्पन्न कर देता है।

—मज्जा नेत्राङ्गगौरवम्॥ ११॥

पर्वसु स्थूलमूलानि कुर्यात्कृच्छ्राण्यरूंषि च।

मज्जावृद्धि के लक्षण—विविध कारणों से बढ़ा हुआ मज्जाधातु नेत्रों तथा शरीर में भारीपन पैदा कर देता है। शरीरसन्धियों (जोड़ों) में स्थूल मूल वाली तथा कष्टसाध्य फुन्सियों को पैदा कर देता है॥ ११॥

अतिस्त्रीकामतां वृद्धं शुक्रं शुक्राश्मरीमपि॥ १२॥

शुक्रवृद्धि के लक्षण—विविध कारणों से बढ़ा हुआ शुक्रधातु इस स्थिति में पुरुष स्त्री-सहवास की अत्यन्त इच्छा करता है और इससे शुक्राश्मरी की भी उत्पत्ति हो जाती है॥ १२॥

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार रस आदि धातुओं की वृद्धि होने पर निम्न लक्षण होते हैं—रसधातु के अधिक बढ़ने पर मिचली, लालास्राव होता है। रक्तधातु के अधिक बढ़ने पर अंगों तथा आँखों में लालिमा का आना एवं सिराओं का रक्त से भर जाना होता है। मांस के अधिक बढ़ने पर नितम्बों, गण्डस्थलों, ओष्ठों, जाँघों, बाहुओं, ऊरुओं तथा योनि में वृद्धि, शरीर में भारीपन आ जाता है। मेदोधातु के बढ़ने पर अंगों में चिकनापन, पेट तथा पसलियों में वृद्धि, कास, श्वास, हिचकी आदि रोगों का होना तथा शरीर से दुर्गन्ध का आना—ये लक्षण होते हैं। अस्थिधातु के बढ़ने पर चणकास्थियों तथा अधिदन्तों में वृद्धि हो जाती है। मज्जाधातु के बढ़ने पर सभी अंगों में विशेषकर आँखों में भारीपन आ जाता है। शुक्रधातु के बढ़ने पर शुक्राश्मरी हो जाती है तथा शुक्र की अतिप्रवृत्ति होती है। देखें—सु.सू. १५।१४। सुश्रुत के इस वर्णन को देखकर ऐसा लग रहा है कि महर्षि वाग्भट ने रक्तवृद्धि का वर्णन करने के प्रवाह में आकर रक्तदुष्टि का भी वर्णन कर डाला है। देखें—विसर्प, कुष्ठ, व्यंग आदि रोग के दूषित होने पर ये लक्षण देखे जाते हैं, न कि रक्तवृद्धि होने पर।

कुक्षावाध्मानमाटोपं गौरवं वेदनां शकृत्।

पुरीषवृद्धि के लक्षण—विविध कारणों से बढ़ा हुआ पुरीष (मल) कुक्षि (मलाशय) में आध्मान (अफरा), आटोप (गुड़गुड़ाहट), शरीर में भारीपन तथा वेदना को उत्पन्न करता है।

मूत्रं तु बस्तिनिस्तोदं कृतेऽप्यकृतसंज्ञताम्॥ १३॥

मूत्रवृद्धि के लक्षण—विविध कारणों से बढ़ा हुआ मूत्र बस्तिप्रदेश (मूत्राशय, मूत्रवहस्रोतस् तथा वृक्कों) में निस्तोद (चुभने की-सी पीड़ा) करता है। पेशाब (मूत्रत्याग) कर लेने पर भी ऐसा लगता है, मानो पेशाब नहीं किया हो॥ १३॥

स्वेदोऽतिस्वेददौर्गन्ध्यकण्डूः—

स्वेदवृद्धि के लक्षण—विविध कारणों से बढ़ा हुआ स्वेद (पसीना) शरीरभर में दुर्गन्ध तथा कण्डू (खुजली) पैदा कर देता है।

—एवं च लक्षयेत्। दूषिकादीनपि मलान् बाहुल्यगुरुतादिभिः॥ १४॥

अन्य मलवृद्धि के लक्षण—इसी प्रकार अन्य शारीरिक मलों की वृद्धि के लक्षण भी होते हैं—दूषिका (नेत्रमल), आदि शब्द से नासिकामल, कर्णमल का ग्रहण भी कर लेना चाहिए। इन मलों के बढ़ जाने से उन-उन मलमार्गों में भारीपन प्रतीत होता है। इस लक्षण को देखकर उनकी वृद्धि समझनी चाहिए॥ १४॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने ऊपर कहे गये मलों के अतिरिक्त आर्तव (मासिकधर्म), गर्भ तथा स्तन्य (स्तनों में होने वाले दूध) की भी गणना की है। देखें—सु.सू. १५।५। इनकी वृद्धि होने पर जो लक्षण होते हैं, उन्हें देखें—सु.सू. १५।१६। इसी के आगे इन बढ़े हुए दोष, धातु तथा मलों को प्रकृतिस्थ करने के लिए संशोधन, संशमन आदि चिकित्साविधियों का निर्देश किया है। उक्त दोष, धातु एवं मलों की वृद्धि किस प्रकार होती है, इसका उत्तर देते हुए सुश्रुत कहते हैं—'अपने कारणों को बढ़ाने वाले द्रव्यों का निरन्तर अधिक उपयोग करते रहने से' और इन बढ़े हुए दोष, धातु एवं मलों को प्रकृतिस्थ करने के लिए इनके प्रतिकूल द्रव्यों का क्रमशः सेवन करना चाहिए, क्योंकि 'सामान्यतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्'। यह सूत्र रूप में इनकी चिकित्सा का वर्णन है।

लिङ्गं क्षीणेऽनिलेऽङ्गस्य सादोऽल्पं भाषितेहितम्। संज्ञामोहस्तथा श्लेष्मवृद्ध्युक्तामयसम्भवः॥

वातदोष के क्षय-लक्षण—वातदोष के क्षीण होने पर अर्थात् उसके सम अवस्था से क्षीण होने पर शरीरावयवों में थोड़ी शिथिलता, बोलने तथा शारीरिक चेष्टाओं में कमी, संज्ञामोह (ठीक न समझ पाना) तथा कफदोष के बढ़ने से होने वाले रोगों की उत्पत्ति का होना—ये लक्षण होते हैं॥ १५॥

पित्ते मन्दोऽनलः शीतं प्रभाहानिः—

पित्तदोष के क्षय-लक्षण—पित्तदोष के क्षीण होने पर जठराग्नि की मन्दता, शीतता का अनुभव होना अथवा शरीर का शीतस्पर्श युक्त हो जाना तथा प्रभा (कान्ति) की कमी का होना—ये लक्षण होते हैं।

—कफे भ्रमः। श्लेष्माशयानां शून्यत्वं हृद्द्रवः श्लथसन्धिता॥ १६॥

कफदोष के क्षय-लक्षण—कफदोष के क्षीण होने पर भ्रम (चक्करों का आना), श्लेष्माशयों (सिर तथा उरस् आदि) में खालीपन का अनुभव होना, हृदय में कँपकँपी; पाठभेद—'हृद्गदः' के अनुसार हृदय सम्बन्धी रोग तथा सन्धियों में ढीलापन—ये लक्षण होते हैं॥ १६॥

रसे रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दासहिष्णुता।

रसधातु के क्षय-लक्षण—रसधातु के क्षीण होने पर शरीर में रूखापन, थकावट, शोष (सूखना), ग्लानि (हर्षक्षय) तथा शब्द के प्रति असहनशीलता (किसी की बात-चीत सुनने तथा सहने की इच्छा का न होना)—ये लक्षण होते हैं।॥ १६॥

रक्तेऽम्लशिशिरप्रीतिशिराशैथिल्यरूक्षताः ॥ १७॥

रक्तधातु के क्षय-लक्षण—रक्तधातु के क्षीण होने पर खट्टे पदार्थों तथा शीतल पदार्थों के सेवन करने की इच्छा, सिराओं में शिथिलता का हो जाना तथा शरीर में रूक्षता की प्रतीति होना—ये लक्षण होते हैं॥ १७॥

मांसेऽक्षग्लानिगण्डस्फिक्शुष्कतासन्धिवेदनाः ।

मांसधातु के क्षय-लक्षण—मांसधातु के क्षीण होने पर इन्द्रियों में दुर्बलता (निरुत्साहता), गालों तथा चूतड़ों का पिचक या सूख जाना और सन्धियों में पीड़ा का होना—ये लक्षण होते हैं।

मेदसि स्वपनं कट्याः प्लीह्नो वृद्धिः कृशाङ्गता॥ १८॥

मेदोधातु के क्षय-लक्षण—मेदोधातु के क्षीण होने पर कमर में संज्ञाशून्यता, प्लीहा का बढ़ जाना तथा शरीर का दुबला हो जाना—ये लक्षण होते हैं॥ १८॥

अस्थ्यस्थितोदः शदनं दन्तकेशनखादिषु।

अस्थिधातु के क्षय-लक्षण—अस्थिधातु के क्षीण होने पर हड्डियों में पीड़ा, दाँत, बाल एवं नखों का गिरना तथा टूटना—ये लक्षण होते हैं।

अस्थ्नां मज्जनि सौषिर्यं भ्रमस्तिमिरदर्शनम्॥ १९॥

मज्जाधातु के क्षय-लक्षण—मज्जाधातु के क्षीण होने पर हड्डियों में सुषिरता (खोखलापन), चक्करों का आना, आँखों के सामने अँधेरा छा जाना—ये लक्षण होते हैं॥ १९॥

शुक्रे चिरात् प्रसिच्येत शुक्रं शोणितमेव वा। तोदोऽत्यर्थं वृषणयोर्मेढ्रं धूमायतीव च॥ २०॥

शुक्रधातु के क्षय-लक्षण—शुक्रधातु के क्षीण होने पर स्त्री-सहवास काल में देर से शुक्र का निकल पाना अथवा शुक्र के स्थान में रक्तधातु का निकलना, वृषणों (अण्डकोषों) में अत्यन्त पीड़ा का होना, लिंग में से धुआँ-सा निकलना—ये लक्षण होते हैं॥ २०॥

पुरीषे वायुरन्त्राणि सशब्दो वेष्टयन्निव। कुक्षौ भ्रमति यात्यूर्ध्वं हृत्पार्श्वे पीडयन् भृशम्॥ २१॥

पुरीषक्षय के लक्षण—पुरीष के क्षीण होने पर वातदोष गुड़गुडाहट शब्द करता हुआ मानो अँतड़ियों को लपेटता हुआ पेट भर में घूमता है, हृदय एवं पसलियों में अत्यन्त पीड़ा करता हुआ ऊपर की ओर जाता है॥ २१॥

मूत्रेऽल्पं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विवर्णं सास्रमेव वा।

मूत्रक्षय के लक्षण—मूत्र के क्षीण होने पर मूत्र बहुत कम मात्रा में कष्ट के साथ निकलता है। उसका वर्ण विकारयुक्त होता है अथवा उसमें रक्त मिला होता है।

स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः॥ २२॥

स्वेदक्षय के लक्षण—स्वेद के क्षीण होने पर रोम (रोंये) झड़ने लगते हैं अथवा सूअर के बालों ... कड़े हो जाते हैं, त्वचा फटने लग जाती है॥ २२॥

मलानामतिसूक्ष्माणां दुर्लक्ष्यं लक्षयेत् क्षयम्। स्वमलायनसंशोषतोदशून्यत्वलाघवैः॥ २३॥

अन्य मलों के क्षय-लक्षण—कान आदि के मलों के क्षीण होने पर ये कान आदि के मल अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, अतः इनका क्षय सरलता से मालूम नहीं किया जा सकता। फिर भी उनके क्षयों को कान, आँख आदि, जिनसे वे निकला करते हैं, के सूख जाने से तथा उनमें होने वाले तोद (चुभन) से, शून्यता से तथा लाघव (हलकापन की प्रतीति) से जान लेना चाहिए॥ २३॥

दोषादीनां यथास्वं च विद्याद्वृद्धिक्षयौ भिषक्। क्षयेण विपरीतानां गुणानां वर्धनेन च॥ २४॥
वृद्धिं मलानां सङ्गाच्च क्षयं चाति विसर्गतः।

वृद्धि एवं क्षय निर्देश—वात आदि दोषों, रस आदि धातुओं तथा पुरीष आदि मलों की वृद्धि एवं क्षय को चिकित्सक इस प्रकार जानें—दोष आदि के विपरीत गुणों एवं कर्मों के क्षय से उनकी वृद्धि समझें और उनके विपरीत गुणों को बढ़ता हुआ देखकर उनका क्षय समझें। मलों के संग (भीतर रुक जाने) से मलों की वृद्धि समझें और मलों के अधिक निकल जाने से उन (मलों) का क्षय समझें॥ २४॥

मलोचितत्वाद्देहस्य क्षयो वृद्धेस्तु पीडनः॥ २५॥

पुरीषादि मलों का महत्त्व—पुरीष आदि मल शरीर के लिए उचित (उपयोगी) होते हैं। अतएव उन (मलों) के क्षय अथवा वृद्धि होने से अधिक कष्ट होता है॥ २५॥

वक्तव्य—आप अतिसाररोग में देखें—इसमें मल का क्षय होना आरम्भ होते ही हट्टा-कट्टा पुरुष भी देखते-देखते धराशायी हो जाता है। अतएव सुश्रुत ने कहा है—'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्'। (सु.सू. १५।३) इसका व्याख्यान वहीं देख लें।

तत्रास्थनि स्थितो वायुः, पित्तं तु स्वेदरक्तयोः। श्लेष्मा शेषेषु, तेनैषामाश्रयाश्रयिणां मिथः॥
यदेकस्य तदन्यस्य वर्धनक्षपणौषधम्। अस्थिमारुतयोर्नैवं, प्रायो वृद्धिर्हि तर्पणात्॥ २७॥
श्लेष्मणाऽनुगता तस्मात् सङ्क्षयस्तद्विपर्ययात्। वायुनाऽनुगतोऽस्माच्च वृद्धिक्षयसमुद्भवान्॥
विकारान् साधयेच्छीघ्रं क्रमाल्लङ्घनबृंहणैः।

वात आदि के विशिष्ट स्थान—अस्थियों में वातदोष, स्वेद एवं रक्त में पित्तदोष और शेष रस तथा मांस आदि धातुओं में कफदोष रहता है। अतएव वात आदि दोषों तथा रस आदि धातुओं में आश्रय एवं आश्रयी सम्बन्ध है। यही कारण है कि आश्रय (अस्थि आदि) एवं आश्रयी (वात आदि) की आपस में जो औषधि एक (आश्रय) को बढाती है, वह दूसरे आश्रयी (वातदोष) को भी बढ़ाती है। इसी प्रकार जो औषधि या आहार-विहार एक को क्षीण करती है, वह दूसरे को भी क्षीण करती है। परन्तु अस्थि आश्रय और वायु आश्रयी में उक्त लक्षण चरितार्थ नहीं होता, क्योंकि वृद्धि में तर्पण (तृप्ति) क्रिया की प्रधानता रहती है, वह क्रिया कफदोष के अनुकूल होती है। इसलिए वृद्धि के कारण होने वाले रोगों में लंघन अर्थात् अपतर्पण से और क्षय से उत्पन्न होने वाले रोगों में रोगशान्ति के लिए बृंहणक्रिया करनी चाहिए, जिससे शीघ्र ही विकारों की शान्ति हो सके॥ २६-२८॥

वायोरन्यत्र, तज्जांस्तु तैरेवोत्क्रमयोजितैः॥ २९॥

वातजरोग-प्रतिकार—वायुजनित विकारों में उक्त परिभाषा अनुकूल नहीं होती है। वातज रोगों अर्थात् वातवृद्धि से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा लंघन (अपतर्पण) से करनी चाहिए॥ २९॥

वक्तव्य—उक्त २६ से २८ तक के पद्यों का भाव स्पष्ट करने की दृष्टि से च.सू. २२ तथा २३ अध्यायों का अध्ययन करें। कहने का तात्पर्य यह है कि सन्तर्पणविधि से शरीर एवं रस आदि धातुओं की वृद्धि होती है। साथ ही वातदोष का क्षय होता है और अपतर्पण (लंघन) से सभी का क्षय होता है, किन्तु वातदोष की वृद्धि होती है। यही कारण है कि अस्थि आश्रय और वातदोष आश्रयी की चिकित्सा समान नहीं होती है। आगे चलकर श्रीवाग्भट ने अ.हृ.सू.१४।७ में इसी विषय की व्याख्या की है, उसे अवश्य देखें।

विशेषाद्रक्तवृद्ध्युत्थान् रक्तस्रुतिविरेचनैः। मांसवृद्धिभवान् रोगान् शस्त्रक्षाराग्निकर्मभिः॥ ३०॥
स्थौल्यकार्श्योपचारेण मेदोजानस्थिसङ्क्षयात्। जातान्क्षीरघृतैस्तिक्तसंयुतैर्बस्तिभिस्तथा॥ ३१॥
विड्वृद्धिजानतीसारक्रियया, विट्क्षयोद्भवान्। मेषाजमध्यकुल्माषयवमाषद्वयादिभिः॥ ३२॥
मूत्रवृद्धिक्षयोत्थांश्च मेहकृच्छ्रचिकित्सया। व्यायामाभ्यञ्जनस्वेदमद्यैः स्वेदक्षयोद्भवान्॥ ३३॥

वृद्धरक्तादि की चिकित्सा—विशेष कर के रक्तधातु की वृद्धि होने से उत्पन्न रोगों को रक्तस्रावण तथा विरेचन योगों से शान्त करें। मांसधातु की वृद्धि से होने वाले रोगों की चिकित्सा शस्त्रकर्म, क्षारकर्म तथा अग्निकर्म है। मेदोधातु की वृद्धि से उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा कृशताकारक योगों से करनी चाहिए।

(देखें—अ.हृ.सू.१४)। अस्थिधातु के क्षय होने से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा दूध-घी के निरन्तर सेवन से तथा तिक्तरसयुक्त बस्तियों के प्रयोग से करनी चाहिए।

मलों की वृद्धि एवं क्षय की चिकित्सा—पुरीष के बढने से पैदा हुए रोगों की चिकित्सा अतिसार की भाँति करें। पुरीषक्षय से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा भेड़ा तथा बकरा के मध्य काय के मांसभक्षण से अथवा कुल्माष (अध उबले जौ आदि धान्य) या माषद्वयों (माष तथा राजमाष) का अधिक सेवन करने से करे, क्योंकि ये सभी पुरीष को बढ़ाते हैं।

मूत्रवृद्धि के कारण उत्पन्न हुए रोगों को प्रमेहचिकित्सा-विधि से ठीक करें और मूत्रक्षय से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा मूत्रकृच्छ्रचिकित्सा के अनुसार करें।

स्वेदक्षय से पैदा हुए रोगों को व्यायाम, अभ्यंग, स्वेदन तथा मद्यपान आदि विधियों द्वारा ठीक करें। स्वेदवृद्धि के कारण उत्पन्न विकारों की चिकित्सा अ.हृ.अ. ३ ग्रीष्मऋतुचर्या में कहे गये शीतल उपचारों से ठीक करें॥ ३०-३३॥

वक्तव्य—ऊपर कहे गये पद्यों में प्रायः अनेक विषयों का समावेश कर दिया गया है, उनका विश्लेषण हम यहाँ करेंगे। ऊपर श्लोक ३१ के आगे कुछ संस्करणों में एक श्लोक और मिलता है। जिसका संग्रह निर्णयसागरीय प्रति की टिप्पणी में इस प्रकार किया गया है—'मज्जशुक्रोद्भवान् रोगान् भोजनैः स्वादुतिक्तकैः। वृद्धं शुक्रं व्यवायाद्यैर्यच्चान्यच्छुक्रशोषिकम्'॥ यहाँ 'शुक्रशोषिकम्' के स्थान पर 'शुक्रशोधनम्' पाठ जो अन्यत्र मिलता है, अधिक रुचिकर है। अर्थात् मज्जा एवं शुक्र वृद्धि सम्बन्धी रोगों में मधुर तथा शीतल भोजन और वमन-विरेचन रूपी शोधन दें। बढ़े हुए शुक्र को व्यायाम, मैथुन तथा शुक्रशोधक औषधोपचार से ठीक करें। इसी प्रकरण में किसी संस्करण में एक पंक्ति और इस प्रकार मिलती है—'प्रत्यनीकौषधं मज्जाशुक्रवृद्धिक्षये हितम्'। अर्थात् मज्जा तथा शुक्र की विशेष वृद्धि हो जाने पर इनकी चिकित्सा के लिए इनके विपरीत आहारविहार तथा औषधद्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। पाठक ध्यान दें—इतना पाठ बढ़ा देने पर सम्पूर्ण वृद्धि तथा क्षयों का परिगणन हो गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, अस्तु। इसका समाधान तो महर्षि वाग्भट द्वारा ३०वें पद्य के आरम्भ में प्रयुक्त 'विशेषात्' पद से ही हो जाता है, क्योंकि ऊपर विशेष वृद्धियों की चिकित्सा का वर्णन कर दिया गया है, सामान्य वृद्धियों की चिकित्सा उसी विधि से की जा सकती है। सुश्रुत ने सूत्ररूप में धातुक्षयों की चिकित्सा का निर्देश इस प्रकार किया है—'क्षय होने पर उस-उस धातु को बढ़ाने वाले द्रव्यों का उपयोग करे और धातुवृद्धि होने पर उनका यथोचित संशोधन करना चाहिए, जिससे उस धातु का अवश्य ही ह्रास हो सके। विशेष देखें—च.सू. २८।२४ से ३० तक तथा च.शा. ६।९ से ११ तक।

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः। तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः॥ ३४॥
पूर्वो धातुः परं कुर्याद्वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्।

धातुओं की वृद्धि-क्षय—अपने स्थान में स्थित रहने पर भी पाचकाग्नि के वे अंश, जो धातुओं में रहते हैं, उनके मन्द रहने से धातुओं की वृद्धि हो जाती है तथा उनके प्रदीप्त (प्रखर) रहने से धातुओं का क्षय हो जाता है।

वृद्धि-क्षय का कारण—इनमें पहला धातु अपनी सीमा से बढ़कर वह परधातु (अपने से बाद वाली धातु) को भी बढ़ा देता है और यदि वह (पूर्वधातु) क्षीण हो जाता है तो परधातु को भी क्षीण कर देता है॥३४॥

वक्तव्य—रस आदि धातुओं में स्थित अग्नितत्त्व जब मन्द हो जाता है तो उस धातु का समुचित पाक नहीं हो पाता, इस कारण से वह धातु बढ़ जाता है। जब धातुगत अग्नितत्त्व तेज हो जाता है तो उस धातु का अधिक पाक हो जाता है, अतः वह धातु घट जाता है। यह भी धातुओं की वृद्धि-क्षय का एक प्रमुख कारण होता है।

वृद्धि-क्षय का दूसरा स्वरूप—बढ़ा हुआ रसधातु रक्तधातु को बढ़ा सकता है या बढ़ा देता है, इसी प्रकार अन्य धातुओं को भी समझें। ऐसे ही क्षीण रसधातु रक्त को भी क्षीण कर सकता है या कर देता है। इसी क्रम से अन्य धातुओं को भी समझें। इन सभी धातुओं को तृप्त करने वाला 'अन्नपानरस' होता है। अतएव आगे कहा गया है—'तेषां क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते'। (सु.सू.—१४।२१) अर्थात् रक्त से लेकर शुक्र तक के धातुओं की क्षय-वृद्धि का निमित्त कारण रक्त है।

दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये मलान्॥ ३५॥
अधो द्वे, सप्त शिरसि, खानि स्वेदवहानि च। मला मलायनानि स्युर्यथास्वं तेष्वतो गदाः॥ ३६॥

दोष, धातु, मल एवं स्रोतों की दुष्टि—वात आदि दोष मधुर आदि छः रसों द्वारा दुष्ट होकर रस आदि सात धातुओं को दूषित कर देते हैं और वे दोनों (दोष एवं धातु) पुरीष आदि मलों को दूषित कर देते हैं। वे मल अपने-अपने मलमार्गों को दूषित कर देते हैं, जिनके फलस्वरूप उन स्थानों में विविध प्रकार के रोग हो जाते हैं।

मलायनों का परिचय—नीचे के भाग में दो (१. मल एवं २. मूत्रमार्ग), शिरःप्रदेश में सात (कानों के स्रोत २, नासारन्ध्र २, नेत्र २ तथा मुख १) तथा स्वेदवाही असंख्य रोमकूप॥ ३५-३६॥

वक्तव्य—'यथास्वं' अर्थात् जो जिसका स्थान है, उस-उस में उससे सम्बन्धित रोग होते हैं। वातज रोग वायु के, पित्तज रोग पित्त के तथा कफज रोग कफ के स्थानों (आशयों) में। रस आदि धातुओं के रोग उन-उन धातुओं में होते हैं। मलों के रोग अपने मलायनों में होते हैं।

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्। हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्॥ ३७॥
स्निग्धं सोमात्मकं शुद्धमीषल्लोहितपीतकम्। यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति॥
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।

ओजस् का वर्णन—रस से शुक्र-पर्यन्त समस्त धातुओं का सर्वश्रेष्ठ तेजस् 'ओजस्' है। वह हृदय में स्थित रहने पर भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। वह शरीर-स्थिति का आधार है। वह स्निग्ध, सोमगुणयुक्त, शुद्ध तथा लाल-पीला वर्ण वाला है। जिसका नाश होने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है और जिसके रहने पर मनुष्य जीवित रहता है। जिसके रहने के कारण विविध प्रकार के कान्ति, पराक्रम आदि भाव मनुष्य में देखे जाते हैं॥ ३७-३८॥

ओजः क्षीयेत कोपक्षुद्ध्यानशोकश्रमादिभिः॥ ३९॥
बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः। दुःच्छायो दुर्मना रूक्षो भवेत्क्षामश्च तत्क्षये॥
जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम्।

ओजःक्षय के कारण—क्रोध. भूख, चिन्ता, शोक तथा परिश्रम आदि कष्टों से ओजस् का क्षय हो जाता है।

ओजःक्षय के लक्षण—इसके क्षीण होने पर मनुष्य दूसरों से डरता है, दुर्बल हो जाता है, बार-बार अधिक चिन्ता करने लगता है, उसकी इन्द्रियाँ दुःखित हो जाती हैं, वह कान्ति रहित हो जाता है, उसका मन दुःखी हो जाता है, शरीर रूक्ष हो जाता है और वह कृश (दुबला) हो जाता है।

ओजःक्षय की चिकित्सा—इसमें जीवनीय गण में परिगणित द्रव्यों का सेवन, दूध का सेवन, मांसरस आदि बलवर्धक द्रव्यों का निरन्तर सेवन करते रहना चाहिए; यही इसकी उत्तम चिकित्सा है॥ ३९-४०॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने इसका वर्णन विस्तार से किया है। देखें—सु.सू.१५।१९ से ३१ तक तथा च.सू. १७।७३-७७। आगे चलकर सुश्रुत ने ओजस् को 'बल' संज्ञा दी है। देखें—'**त्रयो दोषा बलस्योक्ताः**'। (सु.सू. १५।२५) इसके पहले २०वें गद्य में भी इसे 'बल' कहा गया है।

'यन्नाशे नियतं नाशो'—जिस ओजस् के नाश से निश्चित रूप से मृत्यु हो जाती है। 'ओजस्' तत्त्व के न रहने पर जीवित पुरुष को **'जीवन्मृत'** कहा जा सकता है, क्योंकि ओजस् के बिना उसमें पुरुषत्व का अभाव हो जाता है। यदि मर गया तो फिर कहना ही क्या है! आज का जिज्ञासु छात्र शवच्छेद के समय उस मृत देह में यदि ओजोधातु को खोजता है तो उसकी भूल है, क्योंकि वह केवल ओजस्वी पुरुष में ही रहता है, दूसरों में नहीं। ओजस् के गुणों का वर्णन सुश्रुत-सू. १५।२१ में देखें।

ओजोवृद्धौ हि देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयः ॥ ४१ ॥

ओजोवृद्धि के लक्षण—जीवनीय द्रव्य आदि के सेवन करने से ओजस् की वृद्धि होने पर देह स्थित मन या देही प्रसन्न (सन्तुष्ट) रहता है, शरीर पुष्ट होकर बल (ओजस्) का उदय होता है॥ ४१ ॥

वक्तव्य—आचार्य शार्ङ्गधर ने ओजस् को शुक्र का उपधातु स्वीकार किया है। यही कारण है कि ऊपर ४१वें श्लोक में ओजःक्षय-चिकित्सा में जिन द्रव्यों के सेवन करने का महर्षि वाग्भट ने निर्देश दिया है, उनसे पहले शुक्रधातु की पुष्टि होती है, उसके साथ-ही-साथ ओजस् की भी पुष्टि होती है।

यदन्नं द्वेष्टि यदपि प्रार्थयेताविरोधि तु। तत्तत्त्यजन् समश्नंश्च तौ तौ वृद्धिक्षयौ जयेत्॥ ४२ ॥

वृद्धि-क्षय का चिकित्सासूत्र—जिस विरोधी अन्न (आहार) से मनुष्य द्वेष करता है अर्थात् जिस आहार का वह सेवन करना नहीं चाहता है, उसको छोड़ता हुआ उस-उस दोष, धातु एवं मल की वृद्धि को जीत लेता है अर्थात् उसे बढ़ने नहीं देता। जिस अविरोधी आहार का वह सेवन करना चाहता है और उसका सेवन करता हुआ मनुष्य उस-उस दोष, धातु, मल के क्षय पर वह विजय प्राप्त कर लेता है॥ ४२ ॥

कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीतसमानयोः। वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयन्त्यबुधास्तु न॥ ४३ ॥

द्वेष एवं प्रार्थना का कारण—बढ़े हुए दोष प्रायः अपने से विपरीत गुणवाले आहारों के सेवन की इच्छा को प्रकट करते हैं और क्षीणता को प्राप्त हुए दोष प्रायः समान गुण वाले आहारों का सेवन करने की इच्छा रखते हैं। इस वास्तविकता को शास्त्र को न जानने वाले पुरुष नहीं समझ पाते, बुद्धिमान् इसे समझ जाते हैं॥ ४३ ॥

वक्तव्य—उक्त परिभाषा के अन्तर्गत न केवल दोषों का ही समावेश होता है अपितु रस आदि धातुओं तथा पुरीष आदि मलों का भी समावेश कर लेना चाहिए। इस प्रसंग में च.शा. ६।९ गद्य को देखें। अर्थात् शरीरस्थ धातुएँ समान गुण अथवा समान गुणबहुल आहार-विहार के निरन्तर सेवन करने से बढ़ती हैं और इसके विपरीत अथवा विपरीत गुणबहुल आहार-विहार से क्षीण होती हैं। दूसरा कारण यह भी है—'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च, प्रवृत्तिरुभयस्य च'॥ (च.सू. १।४४) अर्थ स्पष्ट है। आप उक्त ४३वें पद्य का भाव इस प्रकार समझें—जब मानव भरपेट भोजन किया रहता है तब वह भोजन से द्वेष करता है और जब भोजन का क्षय हो जाता है, तब वह भोजन करने की इच्छा प्रकट करता है इत्यादि।

यथाबलं यथास्वं च दोषा वृद्धा वितन्वते। रूपाणि, जहति क्षीणाः, समाः स्वं कर्म कुर्वते॥ ४४ ॥

अवस्थानुसार दोषों के कर्म—बढ़े हुए दोष अपनी शक्ति के अनुसार अपने रूपों (लक्षणों) का विस्तार करते हैं। घटे हुए अर्थात् क्षीण दोष अपने लक्षणों (गुण-कर्मों) का त्याग करते हैं और सम दोष (इसी अध्याय के ४थे श्लोक के अनुसार) अपना-अपना कर्म करते रहते हैं॥ ४४॥

य एव देहस्य समा विवृद्ध्यै त एव दोषा विषमा वधाय।
यस्मादतस्ते हितचर्ययैव क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीयाः॥ ४५॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने दोषादिविज्ञानीयो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

दोषों को सम रखना—जो वात आदि दोष सम स्थिति पर रहने से शरीर की वृद्धि का कारण होते हैं, वे ही दोष विषम होने पर शरीर के विनाश के कारण होते हैं। अतएव हितकर आहार-विहार द्वारा दोषों की वृद्धि के समान ही दोषों के क्षय से भी रक्षा करनी चाहिए॥ ४५॥

वक्तव्य—समदोष की स्थिति ही उत्तम स्वास्थ्य के लिए हितकर होती है। अतः उत्तम स्वास्थ्य की इच्छा करने वाले पुरुष को ऐसा आहार-विहार करना चाहिए जिससे वात आदि दोष, रस आदि धातु तथा पुरीष आदि मल न बढ़ें और न घटें।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा रचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में दोषादिविज्ञानीय नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त॥ ११॥

द्वादशोऽध्यायः

अथातो दोषभेदीयाध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब हम यहाँ से दोषभेदीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—दोषविज्ञानीय अध्याय के बाद अब यहाँ दोषभेदीय अध्याय का आरम्भ किया जा रहा है। क्योंकि वात आदि दोषों के भेदों का वर्णन किये बिना दोषों के सम्बन्ध में उनकी विशेष चर्चा नहीं की जा सकती। ग्यारहवें अध्याय में दोषों के बारे में अनेक विषयों की चर्चा करनी थी, अतः वहाँ हमने दोषभेदों का वर्णन नहीं किया। अन्य संहिताओं में इस विषय का वर्णन कहाँ-कहाँ है, देखें।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. ११, १७, १९, २०, २८; च.शा. १ तथा च.चि. २८; सु.सू. २१, २४; सु.नि. १, ३; सु.उ. ६६ एवं अ.सं.सू. २०,२२ में देखें।

पक्वाशयकटीसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनेन्द्रियम्। स्थानं वातस्य, तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः॥ १॥

वात के प्रमुख स्थान—पक्वाशय (मलाशय), कमर, दोनों टाँगें, दोनों कान, अस्थियाँ तथा त्वचा ये वात के स्थान कहे गये हैं। इन सबमें पक्वाधान अर्थात् जठराग्नि द्वारा पुनः पके हुए आहार का स्थान मलाशय इसका प्रमुख स्थान है॥ १॥

वक्तव्य—यद्यपि शरीरस्थ वातदोष सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता है, फिर भी सामान्य-विशेष की दृष्टि से ऊपर वात के स्थानों का परिचय दिया गया है। अन्यत्र यह भी वर्णन मिलता है—'**हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः**'॥ ये सब भेद प्राचीन आचार्यों के विचार-भेद हैं और सभी तथ्यपूर्ण हैं। उक्त स्थानों पर वातदोष की विकृति का प्रभाव विशेषरूप से देखा जाता है।

नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः। दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य, नाभिरत्र विशेषतः॥ २॥

पित्त के प्रमुख स्थान—नाभि, आमाशय, स्वेद (पसीना), लसीका, रुधिर, रस, दृष्टि तथा त्वचा सामान्य रूप से ये पित्त के स्थान हैं। इन सबमें पित्त का प्रमुख स्थान नाभि है॥ २॥

वक्तव्य—यहाँ '**नाभि**' शब्द से ढोंढ़ी या धुन्नी का ग्रहण नहीं किया गया है, जो उदर के बाहर देखी जाती है। सुश्रुत में नाभि का परिचय इस प्रकार है—'**पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिः**'। (सु.शा. ६।२५) अर्थात् पक्वाशय एवं आमाशय के बीच में सिराओं का उत्पत्तिस्थान नाभि नामक मर्म है। इसी को 'क्षुद्रान्त्र' भी कहते हैं। **लसीका**—'यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतं लसीकाशब्दं लभते'। (च.शा. ७।१५) अर्थात् लसीका की स्थिति त्वचा के भीतर मानी है। यही कारण है कि त्वचा के रगड़ जाने से उससे जो लसीला द्रव पदार्थ निकलता है, उसे **लसीका** कहते हैं।

स्पर्शनम्—यहाँ त्वचा को केवल पित्त का स्थान कहा गया है। आप ध्यान दें—सुश्रुत ने '**सप्त त्वचो भवन्ति**' (सु.शा. ४।४) अर्थात् सात त्वचाएँ होती हैं कहा है और चरक ने '**शरीरे षट् त्वचः**' (च.शा. ७।४) अर्थात् छः त्वचाएँ होती हैं, स्वीकार किया है। इन दोनों आचार्यों के मतभेद की चर्चा हम शारीरस्थान में करेंगे। सुश्रुत ने पहली त्वचा का नाम **अवभासिनी** रखा है, इसमें भ्राजक नामक पित्त

रहता है और पाँचवीं त्वचा का नाम 'वेदनी' है, इसी को स्पर्शनेन्द्रिय भी कहते हैं। वास्तव में वात का स्थान यही है, इसी से शीत-उष्ण स्पर्श का ज्ञान होता है।

उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः। मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य, सुतरामुरः॥ ३॥

कफ के प्रमुख स्थान—उरस् (छाती), कण्ठ, सिर, क्लोम, पर्व (सन्धियाँ), आमाशय, रसधातु, मेदोधातु, घ्राण (नासिका) तथा जीभ ये सब कफ के स्थान हैं। प्रमुख रूप से कफ का स्थान उरस् है॥ ३॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने शरीरसंख्याव्याकरण नामक ५वें अध्याय के ५वें गद्य में जो त्वचा से स्रोतों तक के अवयवों की गणना की है, उसमें हृदय तथा फुफ्फुस आदि का समावेश किया गया है। अष्टाङ्गहृदय में इसका वर्णन शारीरस्थान अध्याय ३ में देखें। ये सब कफ के स्थान हैं।

प्राणदिभेदात्पञ्चात्मा वायुः—

वात के पाँच भेद—प्राण, उदान, व्यान, समान तथा अपान भेद से यह वात पाँच प्रकार का होता है।

—प्राणोऽत्र मूर्धगः। उरःकण्ठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक्॥ ४॥
ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिःश्वासान्नप्रवेशकृत् ।

पाँच वातों का वर्णन—उक्त पाँच वातों में प्राण नामक वायु शिरःप्रदेश में गतिशील रहता है। कण्ठ तथा उरःप्रदेश में उदानवायु विचरण करता हुआ बुद्धि, हृदय, सभी इन्द्रियों एवं मन को धारण करता है। यह ष्ठीवन (थूकना तथा लालास्राव), छींक, उद्गार, निःश्वास तथा अन्नप्रवेश (मुख से अन्न को भीतर) की ओर ढकेलना कर्मों को करता है॥ ४॥

वक्तव्य—चरक ने 'उत्तमाङ्ग' शिरःप्रदेश का वर्णन इस प्रकार किया है—'प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च। यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते'॥ (च.सू. १७।१२) अर्थात् जहाँ प्राणियों के प्राण तथा सभी इन्द्रियाँ आश्रित रहती हैं और जो सभी अंगों में उत्तम अंग है, उसे सिर कहते हैं। सुश्रुत ने जत्रु के ऊपरी भाग में स्थित गरदन सहित अंगों को सिर कहा है और यह ३७ मर्मों का अधिष्ठान है। देखें—**'जत्रुण····अधिपतिरिति'**। (सु.शा. ६।६)

उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत्॥ ५॥
वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णस्मृतिक्रियः ।

उदानवायु का वर्णन—उदानवायु का प्रमुख स्थान उरस् (छाती) है। वह वायु नासिका (नाक), नाभि (इसका परिचय श्लोक २ के वक्तव्य में ऊपर दिया गया है) तथा गल (कण्ठ) प्रदेश में विचरण करता रहता है। वाक्प्रवृत्ति (वाणी का निकलना), प्रयत्न (कर्म करने के प्रति उत्साह), ऊर्जा (शक्ति), बल. वर्ण और स्मृति ये सब क्रियाएँ उसी वायु के अधीन हैं॥ ५॥

व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः॥ ६॥
गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः। प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम्॥

व्यानवायु का वर्णन—व्यानवायु का प्रमुख स्थान हृदय है। यह वायु सम्पूर्ण शरीर में विचरण करता रहता है, क्योंकि यह अत्यन्त वेगवान् होता है। गति (घूमते रहना), अपक्षेपण (अंगों को नीचे की ओर ले जाना), उत्क्षेपण (ऊपर की ओर ले जाना), निमेष (आँख बन्द करना), उन्मेष (आँख खोलना), आदि शब्द से जँभाई आदि का ग्रहण—ये सभी क्रियाएँ व्यानवायु के अधीन होती हैं॥ ६-७॥

वक्तव्य—व्यानवायु के जिन कर्मों की यहाँ चर्चा की गयी है, उनसे भी महत्त्वपूर्ण वर्णन शारीरस्थान ३।६८ में इनका किया है, उसका अवलोकन अवश्य कर लें।

समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः। अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति॥ ८॥

समानवायु का वर्णन—समानवायु पाचकाग्नि के समीप रहता है। यह कोष्ठप्रदेश में चारों ओर घूमता रहता है। यह आमाशय से अन्न को लेता है, फिर उसे पचाता है, उसकी विवेचना करता है और उस पके हुए आहार में से रस, मल तथा मूत्र को अलग-अलग करके उन्हें यथास्थान छोड़ देता है॥ ८॥

अपानोऽपानगः श्रोणिबस्तिमेढ्रोरुगोचरः । शुक्रार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः॥ ९॥

अपानवायु का वर्णन—अपानवायु प्रधानरूप से अपान (गुद) प्रदेश में रहता है। सामान्य रूप से कमर, बस्ति (मूत्राशय एवं मूत्रवाही स्रोतों), मेहन (मूत्रमार्ग) तथा ऊरुओं में पाया जाता है और यही शुक्र, आर्तव, मल, मूत्र, गर्भाशय से गर्भ को समय पर बाहर निकालना भी इसी का कार्य है॥ ९॥

पित्तं पञ्चात्मकं—

पित्त के पाँच भेद—पित्त के पाँच भेद इस प्रकार हैं—१. पाचक, २. रंजक, ३. साधक, ४. आलोचक तथा ५. भ्राजक।

—तत्र पक्वामाशयमध्यगम्। पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात्॥ १०॥
त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनलशब्दितम्। पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा॥ ११॥
तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्। करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम्॥ १२॥

पाचक पित्त का वर्णन—उक्त पाँच पित्तों में जो पित्त पक्वाशय तथा आमाशय के मध्यभाग (क्षुद्रान्त्र) में गतिशील होता है और जो पञ्चमहाभूतात्मक होने पर भी तैजस् (आग्नेय) गुण की प्रधानता के कारण जिसने अपना द्रव स्वरूप छोड़ कर कठिन (अग्नि) रूप धारण कर लिया है और पाचन आदि कर्मों को करने के कारण जो अग्नि संज्ञा को धारण कर लिया है। जो खाये हुए आहार को पचाता है तथा सार (रस) एवं किट्ट (मल-मूत्र) को विभाजित करता है। वहाँ रहकर रञ्जक आदि पित्तों को जो शक्ति प्रदान करके उनके ऊपर कृपा करता है, उसे 'पाचक पित्त' कहते हैं॥ १०-१२॥

आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रसरञ्जनात्।

रञ्जक पित्त का वर्णन—जो पित्त आमाशय में रहता है, वह रस को रंग देने के कारण रञ्जक पित्त कहा जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार—'स खलु आप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति'। (सु.सू. १४।४) अर्थात् शरीर का पोषक रसधातु ही यकृत्-प्लीहा में पहुँचकर लालिमा को प्राप्त हो जाता है। और भी देखें—**'यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा'**। (सु.सू. २१।१०) अर्थात् जो पित्त यकृत्-प्लीहा में रहता है, उसका नाम 'रञ्जक पित्त' है। इस दृष्टि से महर्षि वाग्भट का यह पाठ 'आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं' समुचित प्रतीत नहीं होता। यहाँ वाग्भट का उक्त कथन आधुनिक विचारों से प्रभावित है, ऐसा लगता है। देखें—यह आमाशयाश्रय पित्त 'हाइड्रोक्लोरिक अम्ल' नामक वह आमाशयिक रस है जो पित्त की भाँति खाये हुए आहार को पचाने में सहायक होता है और उसके मिश्रण से यकृत्-प्लीहा में पहुँचने पर वही रस राग को पाकर रक्त का रूप धारण कर लेता है। यही चरितार्थता है वाग्भट के उक्त वचनों की।

बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात् ॥ १३॥
साधकं हृद्गतं पित्तं—

साधक पित्त का वर्णन—जो पित्त हृदय में रहता है, उसे 'साधक पित्त' कहते हैं। यह पित्त बुद्धि, मेधा, अभिमान (अहंकार) आदि द्वारा इच्छित पदार्थों की सिद्धि करता है॥ १३॥

—रूपालोचनतः स्मृतम्। दृक्स्थमालोचकं—

आलोचक पित्त का वर्णन—जो पित्त दृष्टिमण्डल में रहता है, उसे आलोचक पित्त कहते हैं। यह पित्त रूप (स्वरूप, आकार या वर्ण) को देखने में उपयोगी (सहायक) होता है।

—त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वचः ॥ १४॥

भ्राजक पित्त का वर्णन—जो पित्त सबसे बाहरी अतएव प्रथम (अवभासिनी) त्वचा में रहता है वह त्वचा को कान्तियुक्त करता है, इसीलिए इसे 'भ्राजक पित्त' कहते हैं॥ १४॥

वक्तव्य—त्वचागत द्रव में जो पीलापन दिखलायी देता है, यही भ्राजक पित्त है। इसी से त्वचा में चमकीलापन दिखलायी देता है।

श्लेष्मा तु पञ्चधा—

कफ का वर्णन—शरीर में कफ भी पाँच प्रकार का होता है—१. अवलम्बक, २. क्लेदक, ३. बोधक, ४. तर्पक तथा ५. श्लेषक—ये उसके नाम हैं।

—उरस्थः स त्रिकस्य स्ववीर्यतः। हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा॥ १५॥
कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम्। अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा—

अवलम्बक कफ का वर्णन—जो कफ उरःप्रदेश में रहता है वह अपनी शक्ति से त्रिकास्थि का तथा आहार से हृदय का अवलम्बन (सहारा) करता है और वहीं (हृदय में) रहकर जलकर्म द्वारा आमाशय आदि दूसरे कफस्थानों की भी सहायता (अवलम्बन) करता है, अतएव इसे 'अवलम्बक' कहा जाता है॥ १५॥

वक्तव्य—'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः'। (सु.सू. १।२२) के अनुसार शरीर में स्थित जल तत्त्व 'कफ' की संज्ञा है। इसी को श्लेष्मा भी कहते हैं। देखें—सु.सू. २१।१४। इस प्रकार ये वात-पित्त-कफ क्रमशः यहाँ वायु, अग्नि एवं जल तत्त्वों के प्रतिनिधि हैं; इन्हीं से शरीर की उत्पत्ति होती है। देखें—'वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भव हेतवः'। (सु.सू. २१।३) ध्यान रहे, जलतत्त्व में कुछ अंश पृथिवी तत्त्व का भी होता है, अतएव इसमें स्थिरता तथा गुरुता बनी रहती है।

—यस्त्वामाशयसंस्थितः॥ १६॥

क्लेदकः सोऽन्नसङ्घातक्लेदनात्—

क्लेदक कफ का वर्णन—जो कफ आमाशय में रहकर अपना कार्य करता है वह अन्न (आहार-समूह) को गीला करता है, अतः इसे 'क्लेदक' कहते हैं॥ १६॥

—रसबोधनात्। बोधको रसनास्थायी—

बोधक कफ का वर्णन—जो कफ रसना (जीभ) में रहता है वह वहाँ रहकर मधुर आदि रसों का बोध कराता है, अतएव उसे 'बोधक' कहते हैं।

—शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात्॥ १७॥

तर्पकः—

तर्पक कफ का वर्णन—जो कफ सिर (मस्तिष्क) में रहता है वह सभी ज्ञानेन्द्रियों का तर्पण करता है अर्थात् इन्द्रियों को अपने सहयोग से तृप्त करता है, अतएव इसे 'तर्पक' कहते हैं॥ १७॥

—सन्धिसंश्लेषाच्छ्लेषकः सन्धिषु स्थितः।

श्लेषक कफ का वर्णन—जो कफ शरीर के सन्धिस्थलों में रहता है वह सन्धियों को सटाता है, अतः उसे 'श्लेषक' कहते हैं।

वक्तव्य—यहाँ एक-एक वात, पित्त, कफ के पाँच-पाँच नाम रखकर जो उनका परिचय दिया गया है, वह उनके कार्यक्षेत्रों के नाम हैं। जैसे एक ही व्यक्ति सम्बन्ध-विशेष से पिता, चाचा, मामा, भाई

आदि कहा जाता है; ऐसे ही कार्यभेद से उसके भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं, वैसी ही उक्त संज्ञाएँ वात आदि दोषों की भी निर्धारित की गयी हैं।

इति प्रायेण दोषाणां स्थानान्यविकृतात्मनाम्॥ १८॥
व्यापिनामपि जानीयात्कर्माणि च पृथक्पृथक्।

उपसंहार—यहाँ तक अविकृत अर्थात् प्रकृतिस्थ वात, पित्त तथा कफ नामक दोषों और उनके पाँच-पाँच भेदों के प्रमुख स्थानों एवं उनके कार्यों का वर्णन कर दिया गया है। यद्यपि उक्त वात आदि दोष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होते हैं, फिर भी उनके उक्त कर्मों के कारण उनके मानवशरीर में भिन्न-भिन्न स्थानों को समझ लेना चाहिए॥ १८॥

उष्णेन युक्ता रूक्षाद्या वायोः कुर्वन्ति सञ्चयम्॥ १९॥
शीतेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धादयो गुणाः।

वात के चय, कोप, शम का वर्णन—उष्णवीर्य से युक्त रूक्ष आदि गुण वातदोष का संचय करते हैं, शीतवीर्य से युक्त रूक्ष आदि गुण वातदोष को प्रकुपित करते हैं और उष्णवीर्य से युक्त स्निग्ध आदि गुण वातदोष का शमन करते हैं॥ १९॥

वक्तव्य—रूक्ष आदि गुण—रूक्ष, शीत, खर, सूक्ष्म, चल तथा विशद इन गुणों वाले पदार्थों का सेवन करने से वातदोष की वृद्धि होती है, क्योंकि **'वृद्धिः समानैः सर्वेषाम्'** अथवा **'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'** आदि अनेक प्रमाण हैं। यह वृद्धि संचय तथा प्रकोप रूप से दो प्रकार की होती है। ध्यान दें—यदि रूक्ष आदि (उपर्युक्त) गुणों वाले द्रव्यों का सेवन उष्णवीर्य वाले द्रव्यों के साथ किया जायेगा तो उसका संचय तो होगा किन्तु प्रकोप नहीं होगा, इसका ध्यान सर्वत्र रखें।

शीतेन युक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते॥ २०॥
उष्णेन कोपं, मन्दाद्याः शमं शीतोपसंहिताः।

पित्त के चय, कोप, प्रशम का वर्णन—शीतवीर्य से युक्त तीक्ष्ण आदि गुण वाले पदार्थ पित्तदोष का संचय करते हैं, उष्णवीर्य से युक्त तीक्ष्ण आदि गुण वाले पदार्थ पित्तदोष को प्रकुपित करते हैं और शीतवीर्य से युक्त मन्द आदि गुण वाले पदार्थ पित्तदोष का शमन करते हैं॥ २०॥

वक्तव्य—तीक्ष्ण आदि गुण—तीक्ष्ण, स्निग्ध, उष्ण, लघु, विस्र, सर तथा द्रव गुण वाले अम्ल, लवण तथा कटु रस वाले। उक्त गुणों वाले पदार्थों का सेवन यदि शीतवीर्य पदार्थों के साथ किया जाता है, तो पित्त का संचय होता है, किन्तु शीतवीर्य पदार्थों के कारण पित्त का प्रकोप नहीं होने पाता।

शीतेन युक्ताः स्निग्धाद्याः कुर्वते श्लेष्मणश्चयम्॥ २१॥
उष्णेन कोपं, तेनैव गुणा रूक्षादयः शमम्।

कफ के चय, कोप, प्रशम का वर्णन—शीतवीर्य से युक्त स्निग्ध आदि गुणवाले पदार्थ कफदोष का संचय करते हैं। उष्णवीर्य से युक्त स्निग्ध आदि गुण वाले पदार्थ कफदोष का प्रकोप करते हैं और उष्णवीर्य से युक्त रूक्ष आदि गुण वाले पदार्थ कफदोष का शमन करते हैं॥ २१॥

वक्तव्य—स्निग्ध आदि गुण—स्निग्ध, शीत, गुरु, मन्द, श्लक्ष्ण, मृत्स्न, स्थिर, मृदु, मधुर तथा पिच्छिल गुण वाले पदार्थों का सेवन करने से कफदोष का संचय तो होता है, किन्तु उसका प्रकोप नहीं होता, क्योंकि शीतवीर्य द्रव्यों के प्रभाव से कफदोष जमा रहता है और इसके विपरीत उष्णवीर्य वाले पदार्थों का सेवन करने से कफदोष पिघल कर कुपित हो जाता है।

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु॥ २२॥

विपरीतगुणेच्छा च—

दोषों के चय का वर्णन—इसके पहले इसी अध्याय में वात आदि दोषों के स्थानों का वर्णन किया जा चुका है। जब वात आदि दोषों की वृद्धि अपने ही स्थानों में होती है, उसे आयुर्वेदीय परिभाषा के अनुसार चय या संचय कहा जाता है। इस स्थिति में जिन कारणों से उक्त दोषों की वृद्धि हुई है, उन कारणों के प्रति विशेष करके द्वेष हो जाता है और उक्त कारणों के विपरीत कारणों (आहार-विहारों) के प्रति इच्छा अर्थात् उनके सेवन करने के प्रति रुचि बलवती होती है॥ २२॥

—कोपस्तून्मार्गगामिता। लिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसम्भवः॥ २३॥
स्वस्थानस्थस्य समता विकारासम्भवः शमः।

दोषों के प्रकोप का वर्णन—वात आदि दोषों का जो उन्मार्ग (विलोम) गमन होता है, उसे 'कोप' या 'प्रकोप' कहते हैं। दोषों का प्रकोप होने पर उन-उन के लक्षण दिखलायी देते हैं। मनुष्य को अस्वस्थता का अनुभव होने लगता है, फिर रोग-विशेष की उत्पत्ति हो जाती है और जब वात आदि दोष अपने-अपने स्थान में रहते हैं तब रोगों की उत्पत्ति नहीं होती। इसी को समता (साम्यावस्था) अथवा 'शम' कहते हैं॥ २३॥

चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु॥ २४॥
वर्षादिषु तु पित्तस्य, श्लेष्मणः शिशिरादिषु।

चय, कोप, प्रशम का वर्णन—अब कालस्वभाव के अनुसार वात आदि दोषों के चय, प्रकोप और प्रशम का परिचय दिया जा रहा है—ग्रीष्म ऋतु में वातदोष का चय, वर्षा ऋतु में प्रकोप और शरद् ऋतु में प्रशम होता है। वर्षा ऋतु में पित्तदोष का चय, शरद् ऋतु में प्रकोप तथा हेमन्त ऋतु में प्रशम होता है। शिशिर ऋतु में कफदोष का चय, वसन्त ऋतु में प्रकोप एवं ग्रीष्म ऋतु में प्रशम होता है॥ २४॥

चीयते लघुरूक्षाभिरोषधीभिः समीरणः॥ २५॥
तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति। अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम्॥ २६॥
पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः। चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः॥
तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति।

चय आदि का विशेष वर्णन—ग्रीष्म ऋतु में लघु एवं रूक्ष गुणों वाली औषधियों के सेवन करने से लघु तथा रूक्ष गुण-प्रधान शरीर में लघु एवं रूक्ष गुण वाले वातदोष का संचय तो हो जाता है, परन्तु ग्रीष्म ऋतु की उष्णता के कारण वह वातदोष प्रकुपित नहीं होता। वर्षा ऋतु में जल तथा औषधियों का विपाक अम्ल होता है, अतः अम्लविपाक वाले पित्त का संचय हो जाता है, किन्तु वर्षा काल की शीतता के कारण वह कुपित नहीं होता। हेमन्त ऋतु में स्निग्ध एवं शीतल जल तथा औषधियों से स्निग्ध तथा शीत गुण वाले कफ का संचय तो हो जाता है, किन्तु काल एवं शरीर के समान गुण वाला होने पर भी जमा हुआ कफदोष प्रकुपित नहीं हो पाता॥ २५-२७॥

वक्तव्य—इस प्रसंग में 'ओषधीभिः' पद का प्रयोग 'आहार' के अर्थ में हुआ है। आप देखें—**'नानौषधिभूतं जगति किञ्चिद् विद्यते'** इस सूक्ति से सम्पूर्ण द्रव्य या पदार्थ औषधि हैं। यहाँ सुश्रुत की निम्न सूक्ति का भी अवश्य स्मरण कर लेना चाहिए—'सञ्चयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्। व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक्'॥ (सु.सू. २१।३६) अर्थात् जो दोषों के संचय, प्रकोप तथा प्रसर काल को, स्थानसंश्रय को तथा रोगव्यक्ति के भेदों (पूर्वरूप, रूप) को जानता है, वास्तव में वही चिकित्सक है।

इति कालस्वभावोऽयमाहारादिवशात् पुनः॥ २८॥
चयादीन् यान्ति सद्योऽपि दोषाः कालेऽपि वा न तु।

कालस्वभाव का वर्णन—यह सब काल (ऋतु) का स्वभाव है अथवा उसका प्रभाव है और यह आहार-विहार के प्रभाव से तत्काल या असमय में भी वात आदि दोषों का चय (संचय), प्रकोप अथवा प्रशम हो जाता है और कभी उक्त कालों में वात आदि दोषों का चय, कोप, प्रशम नहीं भी होता॥ २८॥

वक्तव्य—इन विषयों का विस्तृत वर्णन—सु.सू. ६ सम्पूर्ण में देखें।

व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम्॥ २९॥
निवर्तते तु कुपितो मलोऽल्पाल्पं जलौघवत्।

दोषों की व्याप्ति एवं निवृत्ति—कुपित हुआ दोष पैरों से लेकर चोटी तक अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में सहसा (एकाएक) फैल जाता है, परन्तु जब वह शान्त होता है तो धीरे-धीरे पानी के बहाव की भाँति। वास्तव में यह स्थिति वातज विकारों की ही होती है, अन्य की नहीं॥ २९॥

नानारूपैरसङ्ख्येयैर्विकारैः कुपिता मलाः॥ ३०॥
तापयन्ति तनुं तस्मात्तद्धेत्वाकृतिसाधनम्। शक्यं नैकैकशो वक्तुमतः सामान्यमुच्यते॥ ३१॥

निदान, रूप, चिकित्सा वर्णन—अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुए अनेक लक्षणों वाले वात आदि दोष अनगिनत रोगों द्वारा शरीर को पीड़ित कर देते हैं, अतएव प्रत्येक रोग के निदान, आकृति (पूर्वरूप तथा रूप) तथा साधन (चिकित्सा) का वर्णन यहाँ (सूत्रस्थान में) नहीं किया जा सकता, इसलिए यहाँ उनका सामान्य वर्णन कर दिया गया है॥ ३०-३१॥

दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्। यथा पक्षी परिपतन् सर्वतः सर्वमप्यहः॥ ३२॥
छायामत्येति नात्मीयां यथा वा कृत्स्नमप्यदः। विकारजातं विविधं त्रीन् गुणान्नातिवर्तते॥ ३३॥
तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्तमपि सर्वदा। विकारजातं त्रीन्दोषान्—

रोगों की उत्पत्ति के कारण—सभी प्रकार के रोगों की उत्पत्ति के एक मात्र कारण वात आदि दोष ही हैं। जैसे—पक्षी दिनभर चारों ओर उड़ता हुआ भी अपनी छाया का अतिक्रमण नहीं कर पाता, अथवा (दूसरा उदाहरण देते हैं—) यह विकार-समूह अनेक प्रकार का होता हुआ भी सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों का अतिक्रमण नहीं कर पाता; उसी प्रकार शरीर में स्थित वात आदि दोषों, रस आदि धातुओं तथा पुरीष आदि मलों की विषमता से उत्पन्न यह विकार (रोग) समूह वात आदि दोषों का भी अतिक्रमण नहीं कर सकता॥ ३२-३३॥

—तेषां कोपे तु कारणम्॥ ३४॥
अर्थैरसात्म्यैः संयोगः कालः कर्म च दुष्कृतम्। हीनातिमिथ्यायोगेन भिद्यते तत्पुनस्त्रिधा॥ ३५॥

दोषों के प्रकोप का कारण—उक्त वात आदि दोषों के कारण हैं—असात्म्य (प्रतिकूल) अर्थों (विषयों) के साथ इन्द्रियों का संयोग, काल (शीत, उष्ण आदि का प्रभाव) तथा दुष्कृत कर्मों का प्रभाव। फिर इन कारणों के भी तीन भेद होते हैं—हीनयोग, अतियोग और मिथ्यायोग॥ ३४-३५॥

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने इस सम्पूर्ण विषय को इस प्रकार कहा है—'सर्वेषां····व्याधिरिति'। (सु.सू. २४।४) अर्थात् सब रोगों के मूल कारण वात, पित्त, कफ ही हैं। क्योंकि सभी रोगों में वात आदि दोषों के लक्षण दिखलायी देते हैं तथा तदनुसार चिकित्सा करने से लाभ होता है। शास्त्र भी इस बात का समर्थन करता है। जिस प्रकार महत् आदि २४ तत्त्व जगत् रूप में स्थित होते हुए भी सत्त्व, रजस्, तमस् तत्त्वों से अलग नहीं होते, वैसे ही रोगों की भी स्थिति है। दोषों द्वारा रसादि धातुओं के दूषित होने से रस आदि की दूष्य संज्ञा हो जाती है। दोषज रोगों में यह रसज तथा यह रक्तज रोग है, इस प्रकार का व्यवहार होता ही है।

हीनोऽर्थेनेन्द्रियस्याल्पः संयोगः स्वेन नैव वा। अतियोगोऽतिसंसर्गः सूक्ष्मभासुरभैरवम्॥ ३६॥

अत्यासन्नातिदूरस्थं विप्रियं विकृतादि च। यदक्ष्णा वीक्ष्यते रूपं मिथ्यायोगः स दारुणः॥ ३७॥
एवमत्युच्चपूत्यादीनिन्द्रियार्थान् यथायथम्। विद्यात्—

हीनयोग आदि का वर्णन—चक्षु (नेत्र) आदि इन्द्रियों का अपने रूप आदि विषयों के साथ थोड़ा संयोग अथवा संयोग का अभाव 'हीनयोग' कहा जाता है, अधिक योग को 'अतियोग' कहते हैं। चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जो अतिसूक्ष्म, अधिक चमकीला, अतिभयानक, अतिसमीपस्थ, अतिदूरस्थ, अतिअप्रिय या अधिक विकार युक्त जो रूप देखा जाता है, वह चक्षुरिन्द्रिय का मिथ्यायोग कहा जाता है। यह अत्यन्त हानिकारक होता है। इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के भी अतियोग, हीनयोग, मिथ्यायोग की कल्पना कर लेनी चाहिए॥ ३६-३७॥

—कालस्तु शीतोष्णवर्षाभेदात् त्रिधा मतः॥ ३८॥

स हीनो हीनशीतादिरतियोगोऽतिलक्षणः। मिथ्यायोगस्तु निर्दिष्टो विपरीतस्वलक्षणः॥ ३९॥

काल का वर्णन—काल तीन प्रकार का होता है—१. शीतकाल, २. उष्णकाल तथा ३. वर्षाकाल। जिस काल में उस ऋतु के थोड़े लक्षण दिखलायी पड़ते हैं, वह उस काल का हीनयोग है, जिसमें उस काल के अधिक लक्षण होते हैं, वह उस काल का अतियोग है और जिसमें उस काल के स्वाभाविक लक्षणों से विपरीत लक्षण होते हैं, वह उस काल का 'मिथ्यायोग' है॥ ३८-३९॥

कायवाक्चित्तभेदेन कर्मापि विभजेत् त्रिधा। कायादिकर्मणो हीना प्रवृत्तिर्हीनसंज्ञकः॥ ४०॥
अतियोगोऽतिवृत्तिस्तु, वेगोदीरणधारणम्। विषमाङ्गक्रियारम्भपतनस्खलनादिकम्॥ ४१॥
भाषणं सामिभुक्तस्य रागद्वेषभयादि च। कर्म प्राणातिपातादि दशधा यच्च निन्दितम्॥ ४२॥
मिथ्यायोगः समस्तोऽसाविह वाऽमुत्र वा कृतम्।

कर्म का वर्णन—कर्म तीन प्रकार का होता है—१. कायकर्म, २. वाक्कर्म तथा ३. चित्तकर्म। कायकर्म आदि की स्वल्प वृत्ति का नाम 'हीनयोग', उसकी अत्यधिक प्रवृत्ति का नाम 'अतियोग' एवं पुरीष आदि के वेगों को प्रेरित करना अथवा इनके वेगों को रोकना, हाथ-पैर आदि अंगों से विषम कर्म या कर्मों को करना, गिरना, फिसल जाना आदि कायकर्मों का मिथ्यायोग कहा गया है। आधा आहार निगला जा रहा हो, उस समय का बोलना वाक्कर्म का 'मिथ्यायोग' है। राग, द्वेष, भय तथा शोक आदि भाव 'चित्तकर्म' के 'मिथ्यायोग' हैं। प्राणातिपात (आत्महत्या) आदि कर्म, जिनका वर्णन अ.हृ.सू. २।२२ में किया गया है, वे सब इस लोक अथवा उस लोक में किया गया काय, वाक् तथा चित्त के कर्मों का मिथ्यायोग है॥ ४०-४२॥

वक्तव्य—इस विषय की चर्चा च.सू. ११, च.नि.१, च.शा. १।९८ में द्रष्टव्य है।

निदानमेतद्दोषाणां, कुपितास्तेन नैकधा॥ ४३॥
कुर्वन्ति विविधान् व्याधीन् शाखाकोष्ठास्थिसन्धिषु।

उपसंहार एवं रोगमार्ग—यह वात आदि दोषों के हीनयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग का निदान कह दिया गया है। ये वात आदि दोष कुपित हो जाने पर अनेक प्रकार के शाखागत, कोष्ठगत तथा अस्थिसन्धिगत रोगों को उत्पन्न कर देते हैं॥ ४३॥

वक्तव्य—'शाखाकोष्ठास्थिसन्धिषु'—इनको महर्षि पुनर्वसु ने रोगमार्ग कहा है। देखें—'**त्रयो रोगमार्गा····मार्ग आभ्यन्तरः**'। (च.सू. ११।४८) अर्थात् ये तीन रोगमार्ग हैं, जिनसे विविध प्रकार के रोगों का शरीर के भीतर प्रवेश होता है। इस प्रकरण में रक्त आदि धातुओं तथा त्वचा को भी शाखा संज्ञा प्रदान की गयी है।

शाखा रक्तादयस्त्वक् च बाह्यरोगायनं हि तत्॥ ४४॥
तदाश्रया मषव्यङ्गगण्डालज्यर्बुदादयः। बहिर्भागाश्च दुर्नामगुल्मशोफादयो गदाः॥ ४५॥

बाहरी रोगमार्ग—इस प्रसंग में रक्त आदि धातुओं तथा त्वचा का नाम भी 'शाखा' है, यह बाह्य रोगमार्ग है। इस रोगमार्ग में आश्रित मष (मषक, मस्से, तिल आदि), व्यंग (झाँई), गण्ड (घेघा), अलजी, अर्बुद आदि रोग और शरीर के बाह्यमार्ग में अर्श, गुल्म, व्रण तथा शोथ आदि भी होते हैं॥ ४४-४५॥

अन्तःकोष्ठो महास्रोत आमपक्वाशयाश्रयः। तत्स्थानाः च्छर्द्यतीसारकासश्वासोदरज्वराः॥
अन्तर्भागं च शोफार्शोगुल्मवीसर्पविद्रधिः।

आभ्यन्तर रोगमार्ग—आभ्यन्तर (भीतरी) रोगमार्ग के पर्यायवाचक शब्द इस प्रकार हैं—अन्तः, कोष्ठ, महास्रोतस्, आमाशय तथा पक्वाशय (इन दोनों के बीच में स्थित क्षुद्रान्त्र भी)। ये छर्दि (वमन), अतिसार, कास, श्वास, उदररोग तथा ज्वर आदि रोगों की उत्पत्ति के स्थान हैं। भीतरी शोथ, अर्श, गुल्म, विसर्प और विद्रधि का भी स्थान है। इसे आभ्यन्तर रोगमार्ग कहते हैं॥ ४६॥

शिरोहृदयबस्त्यादिमर्माण्यस्थ्नां च सन्धयः॥ ४७॥

तन्निबद्धाः शिरास्नायुकण्डराद्याश्च मध्यमः। रोगमार्गः स्थितास्तत्र यक्ष्मपक्षवधार्दिताः॥ ४८॥
मूर्धादिरोगाः सन्ध्यस्थित्रिकशूलग्रहादयः।

मध्यम रोगमार्ग—सिर, हृदय, बस्ति आदि मर्म और अस्थियों की सन्धियाँ एवं इनसे सम्बन्धित सिरा, स्नायु और कण्डराएँ आदि ये सभी 'मध्यम रोगमार्ग' हैं। इनमें होने वाले रोग राजयक्ष्मा, पक्षाघात, अर्दित (मुखप्रदेश का लकवा) आदि वातविकार, शिरोरोग, हृदयरोग आदि, सन्धिशूल, अस्थिशूल, त्रिकशूल तथा ग्रह (जकड़न) आदि रोग हैं॥ ४७-४८॥

स्रंसव्यासव्यधस्वापसादरुक्तोदभेदनम् ॥ ४९॥

सङ्गाङ्गभङ्गसङ्कोचवर्तहर्षणतर्षणम् । कम्पपारुष्यसौषिर्यशोषस्पन्दनवेष्टनम्॥ ५०॥
स्तम्भः कषायरसता वर्णः श्यावोऽरुणोऽपि वा। कर्माणि वायोः—

वातदोष के कर्म—स्रंस (शरीर के किसी अंग का अपने स्थान से खिसक जाना), व्यास (फैल जाना), व्यध (बिंधने की जैसी पीड़ा का होना), स्वाप (अंग-विशेष का सुन्न हो जाना), साद (अवसाद), रुक् (पीड़ा), तोद (सुई चुभने की-सी पीड़ा), भेदन (फटने की-सी पीड़ा), संग (रुकावट), अंगों का टूटना या टूटने की-सी पीड़ा का होना, संकोच (सिकुड़ जाना), वर्त (घूमना या ऐंठना—आवर्त, परिवर्त, विवर्त आदि इसी के रूप हैं), हर्षण (रोमांच), तर्षण (तृषा या प्यास का लगना), कम्प (कँपकँपी), पारुष्य (खुरदरापन), सौषिर्य (खोखलापन), शोष (सूखना), स्पन्दन (फड़कना), वेष्टन (लपेटना), स्तम्भ (जकड़ जाना), मुख में कसैलेपन का अनुभव होना और उस स्थान का वर्ण श्याव (काला) या अरुण वर्ण का हो जाना—ये सभी वातदोष के कर्म हैं॥ ४९-५०॥

—पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः॥ ५१॥

स्वेदः क्लेदः स्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः। कटुकाम्लौ रसौ वर्णः पाण्डुरारुणवर्जितः॥ ५२॥

पित्तदोष के कर्म—दाह, लालिमा, उष्णता का अनुभव, पकना या पकाना, स्वेद (पसीना), क्लेद (सड़न), स्राव, कोथ (दुर्गन्धित सड़न), सदन (अवसाद), मूर्च्छा, मद (नशा की स्थिति), मुख में कटु तथा अम्ल रस का अनुभव होना तथा पित्तदोष से युक्त स्थान का वर्ण पाण्डु तथा अरुण से रहित अतएव अन्य वर्णों वाला होना—ये लक्षण होते हैं॥ ५१-५२॥

श्लेष्मणः स्नेहकाठिन्यकण्डूशीतत्वगौरवम्। बन्धोपलेपस्तैमित्यशोफापक्त्यतिनिद्रताः॥ ५३॥
वर्णः श्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता।

कफदोष के कर्म—स्निग्धता (चिकनापन), कठोरता, खुजली का होना, हाथ-पैरों में शीत का अनुभव होना, भारीपन, बन्ध (स्रोतों में रुकावट), उपलेप (जीभ के ऊपर मैल की पर्त का जमना),

चिपचिपाहट, सूजन, पाक का न होना, नींद का अधिक आना (यही कारण है कि कफप्रकृति के प्राणी अधिक सोते हैं; जैसे—भैंस), वर्ण सफेद, रस मधुर एवं नमकीन और किसी भी कार्य को देर से करना॥ ५३॥

इत्यशेषामयव्यापि यदुक्तं दोषलक्षणम्॥ ५४॥

दर्शनाद्यैरवहितस्तत्सम्यगुपलक्षयेत्। व्याध्यवस्थाविभागज्ञः पश्यन्नार्तान् प्रतिक्षणम्॥ ५५॥

दोषलक्षण निर्वचन का हेतु—यहाँ तक वात-पित्त-कफदोषों के लक्षण कहे गये हैं, जो उन-उन के सभी रोगों में पाये जाते हैं। शास्त्रनिर्देशानुसार रोगों की अवस्था के विभागों (भेदों) को जानने वाला चिकित्सक प्रतिक्षण देखता हुआ सावधान होकर उक्त दोषों का परीक्षण—दर्शन, स्पर्शन आदि विधियों से रोगी के शरीर में करे॥ ५४-५५॥

अभ्यासात्प्राप्यते दृष्टिः कर्मसिद्धिप्रकाशिनी। रत्नादिसदसज्ज्ञानं न शास्त्रादेव जायते॥ ५६॥

चिकित्सा में अभ्यास का महत्त्व—चिकित्साविधि को तथा वात आदि दोषों के लक्षणों को बार-बार ध्यानपूर्वक देखने से चिकित्सा में सफलता दिलाने वाली दृष्टि प्राप्त की जा सकती है। इसी दृष्टि से कर्म (चिकित्सा) में सिद्धि मिलती है। यह वह दृष्टि है जिससे जौहरी देखते ही पहचान लेता है कि यह रत्न ठीक है या दोषयुक्त। यह ज्ञान केवल शास्त्र के अध्ययन से प्राप्त नहीं होता॥ ५६॥

वक्तव्य—शास्त्रकार का यह पारम्परिक निर्देश चिकित्सक होने की इच्छा वाले व्यक्ति के लिए कहा गया है। महर्षि सुश्रुत का भी यही मत है—'अधिगत''प्रवेष्टव्या'। (सु.सू. १०।३) अर्थात् बार-बार शास्त्रों तथा चिकित्सा-कर्मों का अभ्यास करने के बाद ही चिकित्सक को विशिखा (कर्मभूमि) में प्रवेश करना चाहिए। और भी देखें—'उभयज्ञो हि भिषग् राजार्हो भवति'। (सु.सू. ३।४७) तथा 'यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने। आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा'॥ (सु.सू. ३।५३) दोनों ही उद्धरणों के अर्थ स्पष्ट हैं। ये सभी लक्षण सुयोग्य चिकित्सक के हैं।

दृष्टापचारजः कश्चित्कश्चित्पूर्वापराधजः। तत्सङ्कराद्भवत्यन्यो व्याधिरेवं त्रिधा स्मृतः॥ ५७॥

रोगों के तीन भेद—रोगों के भेदों की चर्चा प्रस्तुत है—१. जो देखकर मिथ्या आहार-विहार के सेवन करने से होता है, वह प्रथम, २. जो पूर्वजन्म के अपराधों से होता है, वह दूसरा और ३. जो उक्त दोनों कारणों के संयोग से होता है, वह तीसरा भेद है॥ ५७॥

यथानिदानं दोषोत्थः कर्मजो हेतुभिर्विना। महारम्भोऽल्पके हेतावातङ्को दोषकर्मजः॥ ५८॥

रोगों का परिचय—प्रथम प्रकार के रोग को 'दोषोत्थ' (वात आदि दोषों से उत्पन्न) कहते हैं। यह रोग अपने निदान के अनुसार होता है। दूसरे प्रकार का रोग 'कर्मज' होता है। इसमें दोषज रोग की भाँति कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं होता। तीसरे प्रकार के रोग का नाम है—'कर्मदोषज'। यह रोग थोड़ा-सा भी कारण होने पर बहुत कष्टदायक होता है॥ ५८॥

विपक्षशीलनात्पूर्वः कर्मजः कर्मसङ्क्षयात्। गच्छत्युभयजन्मा तु दोषकर्मक्षयात्क्षयम्॥ ५९॥

त्रिविध रोग-चिकित्सा—प्रथम 'दोषोत्थ रोग' विपक्षशीलन से अर्थात् जिन आहार-विहारों का सेवन करने से रोग की उत्पत्ति हुई हो, उनके विपरीत पदार्थों का सेवन करने से तथा तदनुरूप चिकित्सा करने से शान्त हो जाता है। दूसरा 'कर्मज रोग' कर्मों के क्षीण हो जाने पर शान्त हो जाता है और तीसरा 'कर्मदोषज रोग' दोष तथा कर्म का क्षय होने पर शान्त हो जाता है॥ ५९॥

वक्तव्य—शास्त्रानुकूल विधिवत् चिकित्सा करने से भी जो रोगी रोगमुक्त न हो रहा हो, उस समय उक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखना चाहिए और रोगी के परिजनों को भी समझाना चाहिए कि इसके ठीक न होने में यह प्रधान कारण है।

द्विधा स्वपरतन्त्रत्वाद्व्याधयोऽन्त्याः पुनर्द्विधा।

रोगों के दो भेद—स्वतन्त्र तथा परतन्त्र भेद से रोग पुनः दो प्रकार के होते हैं। इनमें परतन्त्र रोग भी दो प्रकार के होते हैं।

पूर्वजाः पूर्वरूपाख्या, जाताः पश्चादुपद्रवाः॥ ६०॥

रोगभेदों के नाम—परतन्त्र रोग के दो भेद— १. पूर्वज और २. पश्चात्जात। पूर्वरूपों को ही पूर्वज रोग कहते हैं और जो रोग के अन्त में उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'उपद्रव' (पश्चात्जात) नाम से कहा जाता है।। ६०॥

यथास्वजन्मोपशयाः स्वतन्त्राः स्पष्टलक्षणाः।

स्वतन्त्र रोग—स्वतन्त्र रोग वे हैं, जो अपने-अपने निदानोक्त कारणों से पैदा होते हैं और तदनुकूल चिकित्सा करने पर शान्त हो जाते हैं। इस प्रकार के रोगों के लक्षण भी स्पष्ट होते हैं।

विपरीतास्ततोऽन्ये तु—

परतन्त्र रोग—परतन्त्र रोग स्वतन्त्र कहे जाने वाले रोगों से विपरीत होते हैं।

—विद्यादेवं मलानपि॥ ६१॥

मलों का विचार—इसी प्रकार प्रत्येक रोग में विकारों को पैदा करने वाले मलों (दोषों) को भी समझ लेना चाहिए॥ ६१॥

तांल्लक्षयेदवहितो विकुर्वाणान् प्रतिज्वरम्।

दोषों का विचार—इसी प्रकार दोषों का भी स्वतन्त्र-परतन्त्र भेद से 'प्रतिज्वरम्' अर्थात् प्रत्येक रोग में सावधानी से विचार करने का प्रयत्न करना चाहिए।

वक्तव्य—जिसे महर्षि वाग्भट ने स्वतन्त्र तथा परतन्त्र की संज्ञा दे रखी है, उसे भगवान् पुनर्वसु ने च.वि. ६।११ में अनुबन्ध्य (प्रधान) तथा परतन्त्र रोग को अनुबन्ध (अप्रधान) कहा है। देखा जाता है कि कहीं कोई दोष प्रधान होता है और दूसरा अप्रधान। यह रोग की प्रकृति के अनुसार सर्वत्र होता रहता है। यथा—'न रोगोऽप्येकदोषजः'।

तेषां प्रधानप्रशमे प्रशमोऽशाम्यतस्तथा॥ ६२॥
पश्चाच्चिकित्सेत्तूर्णं वा बलवन्तमुपद्रवम्।

चिकित्सा-सूत्र—इनमें प्रधान दोष अथवा प्रधान रोग की शान्ति हो जाने पर अप्रधान (गौण) की शान्ति स्वयं ही हो जाती है। यदि किसी कारण दोष या रोग की शान्ति न हुई हो तो उसकी शीघ्र चिकित्सा करे अथवा कोई बलवान् उपद्रव (रोगोत्तरकालीन रोग) की भी चिकित्सा करे॥ ६२॥

व्याधिक्लिष्टशरीरस्य पीडाकरतरो हि सः॥ ६३॥

उपद्रवचिकित्सा-निर्देश—प्रधान रोग के अन्त में जो रोग उत्पन्न होता है, उसे 'उपद्रव' कहते हैं। यह 'उपद्रव' प्रधान रोग से पीड़ित हुए शरीर वाले रोगी को और भी अधिक पीड़ित कर देता है॥ ६३॥

वक्तव्य—उपद्रवो एवं उपसर्गों के परिचय के लिए देखें—च.चि. २१।४० तथा सु.सू. ३५।१८।

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन। न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥

रोगनामनिर्धारण-विचार—वर्तमान रोग को किस नाम से कहा जाय, इस विषय में अनजान चिकित्सक को लज्जित नहीं होना चाहिए। क्योंकि सभी रोगों का नाम-निर्धारण करना तन्त्रकार के लिए सम्भव नहीं है॥ ६४॥

वक्तव्य—ऐसे अवसरों पर त्रिदोष-सिद्धान्त को आधार मानकर चिकित्सा करनी चाहिए।

स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः। स्थानान्तराणि च प्राप्य विकारान् कुरुते बहून्॥ ६५॥

दोषों का रोगकर्तृत्व—वही दोष (वात आदि में से कोई एक) निदान (कारण) भेद से तथा शरीर के अलग-अलग अवयवों में आश्रित होकर अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देता है॥ ६५॥

तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च। बुद्ध्वा हेतुविशेषांश्च शीघ्रं कुर्यादुपक्रमम्॥ ६६॥

चिकित्साविधि-निर्देश—इसलिए रोग की प्रकृति (वात आदि मूल कारण), स्थान-विशेषों तथा विशेष कारणों (आहार-विहार) आदि को भलीभाँति समझकर तदनुसार शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए॥ ६६॥

वक्तव्य—यहाँ दिये गये ६४ से ६६ तक के ये तीन पद्य अविकलरूप से च.सू. १८।४४-४६ से लिये गये हैं। इसके आगे ४७वें श्लोक में भगवान् पुनर्वसु ने कहा है—जो चिकित्सक रोग के मूल कारणों को समझकर बुद्धिपूर्वक तथा शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट विधि से चिकित्सा करता है, वह कभी असफल नहीं होता है। वास्तव में इन निर्देशों का स्मरण चिकित्साकाल में अवश्य कर लेना चाहिए। 'विकारनामाऽकुशलो' (ऊपर श्लोक ६४) का युक्तिसंगत समाधान करते हुए भगवान् पुनर्वसु कहते हैं—'तत्र व्याधयोऽपरिसङ्ख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वात्; दोषास्तु खलु परिसङ्ख्येया भवन्ति, अनतिबहुत्वात्'। (च.वि. ६।५) अतएव सभी रोगों का नाम-निर्धारण करना सम्भव नहीं है। अतः दोषानुसार तथा लक्षणानुसार चिकित्सा करने से अवश्य स्वास्थ्यलाभ होता है।

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः। सत्त्वं सात्म्यं तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः॥ ६७॥
सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे। यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित्॥

दूष्य आदि ज्ञान-निर्देश—जो चिकित्सक रस-रक्त आदि धातुओं तथा मल-मूत्र आदि दूष्यों, अनूप, जांगल आदि देशों और आमाशय, पक्वाशय आदि शरीर सम्बन्धी देशों, रोगबल तथा रोगी का बल, शीत, उष्ण आदि काल, लंघन, वमन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण आदि का काल, मन्द, तीक्ष्ण, विषम आदि अनल (अग्नि) की स्थिति, वात आदि प्रकृति, बाल, यौवन आदि वयस्, सत्त्व (मनस्), सात्म्य (अनुकूलता) तथा आहार और अनेक प्रकार की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अवस्थाओं का समुचित विचार कर दोषों के अनुसार औषध का प्रयोग करता है, वह चिकित्सक कभी भी चिकित्सा-कार्य में चूकता नहीं है॥ ६७-६८॥

गुर्वल्पव्याधिसंस्थानं सत्त्वदेहबलाबलात्। दृश्यतेऽप्यन्यथाकारं तस्मिन्नवहितो भवेत्॥ ६९॥

रोग की गुरुता-लघुता का विचार—कभी-कभी रोगी के सत्त्व (मनस्) तथा शरीर के सबल अथवा निर्बल होने के कारण गुरु अथवा लघु रोग के लक्षण विपरीत (उलटे-पुलटे) दिखलायी पड़ जाते हैं। ऐसी स्थिति में चिकित्सक को सावधान रहना चाहिए॥ ६९॥

गुरुं लघुमिति व्याधिं कल्पयंस्तु भिषग्ब्रुवः। अल्पदोषाकलनया पथ्ये विप्रतिपद्यते॥ ७०॥

भिषग्ब्रुव की निन्दा--भिषग्ब्रुव (जो भिषक् न होते हुए भी अपने को भिषक् कहा करता है, वह चिकित्सक) गुरु रोग को लघु समझकर अर्थात् इसमें अधिक दोष नहीं है, अतः वह चिकित्सा करते समय भूल कर बैठता है॥ ७०॥

वक्तव्य—उक्त ६९ तथा ७० श्लोकों के विषय को समझने के लिए आप च.वि. ७।५-७ पद्यों का आशय समझने का प्रयत्न करें। वहाँ यह स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उक्त प्रकार की भूल मूर्ख चिकित्सक ही कर सकता है, न कि विद्वान् चिकित्सक।

ततोऽल्पमल्पवीर्यं वा गुरुव्याधौ प्रयोजितम्। उदीरयेत्तरां रोगान् संशोधनमयोगतः॥ ७१॥
शोधनं त्वतियोगेन विपरीतं विपर्यये। क्षिणुयान्न मलानेव केवलं वपुरस्यति॥ ७२॥

भूल का दुष्परिणाम—उक्त चिकित्सकीय प्रमाद से गुरु (महान्) रोग में थोड़ी मात्रा में अथवा अल्पशक्तिशाली दी गयी संशोधन औषधि पूर्णरूप से संशोधन नहीं करा सकती अथवा अल्पमात्रा में संशोधन करने के कारण रोग को और अधिक बढ़ा देती है। इसके विपरीत लघु लक्षणों वाले रोग में अधिक मात्रा में उग्र वीर्य वाली संशोधन (वमन-विरेचनकारक) औषधि का प्रयोग करा देने के कारण उसका अतियोग हो जाता है। इससे न केवल कफ एवं पुरीष आदि मलों का ही क्षय नहीं होता, अपितु ये औषधियाँ रोगी के शरीर को भी क्षीण कर देती हैं॥ ७१-७२॥

अतोऽभियुक्तः सततं सर्वमालोच्य सर्वथा। तथा युञ्जीत भैषज्यमारोग्याय यथा ध्रुवम्॥ ७३॥

चिकित्सक का कर्तव्य—अतः चिकित्सा-कर्म में लगे हुए चिकित्सक को चाहिए कि वह पूर्वापर (आगे-पीछे) का भलीभाँति विचार कर औषध (विशेषकर संशोधन औषध) का प्रयोग उस प्रकार करे, जिससे औषधप्रयोग लाभदायक हो॥ ७३॥

वक्तव्य—इस विषय पर चरक के विचार इस प्रकार हैं—'ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाऽविशति योगिवत्। आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगान् चिकित्सति'॥ (च.वि. ४।१२) अर्थात् जो चिकित्सक अपने शास्त्रीय ज्ञान से प्रज्ज्वलित बुद्धि रूपी दीपक को लेकर योगी की भाँति रोगी के अन्तरात्मा में प्रवेश नहीं कर जाता वह रोगी के रोगों की चिकित्सा नहीं कर सकता। यह सत्य है।

वक्ष्यन्तेऽतःपरं दोषा वृद्धिक्षयविभेदतः।

दोषभेदों का वर्णन—अब इसके आगे वात आदि दोषों के वृद्धि तथा क्षय भेदों का सहारा लेकर वर्णन किया जायेगा।

पृथक् त्रीन् विद्धि—

दोषवृद्धि के तीन भेद— १. वातवृद्ध, २. पित्तवृद्ध तथा ३. कफवृद्ध।

—संसर्गस्त्रिधा, तत्र तु तान्नव॥ ७४॥

संसर्ग के तीन भेद— १. वातपित्तवृद्ध, २. वातकफवृद्ध तथा ३. पित्तकफवृद्ध। इस प्रकार संसर्ग के तीन भेद कहे गये हैं। इस संसर्ग में नौ दोषभेदों को अपने प्रमाण से अधिक समझें॥ ७४॥

त्रीनेव समया वृद्धया षडेकस्यातिशायने।

संसर्ग के छः भेद—एक दोष की अधिक वृद्धि के छः भेद— १. वातवृद्ध पित्तवृद्धतर, २. पित्तवृद्ध वातवृद्धतर, ३. वातवृद्ध कफवृद्धतर, ४. कफवृद्ध वातवृद्धतर, ५. पित्तवृद्ध कफवृद्धतर, ६. कफवृद्ध पित्तवृद्धतर। उक्त संसर्ग ३ तथा ६ भेदों को मिला देने से ये ९ भेद हो जाते हैं।

त्रयोदश समस्तेषु—

समस्त दोषवृद्धि के १३ भेद—इनके भेदों में दो-दो दोषों की वृद्धि तथा १-१ की अतिवृद्धि होने पर ६ भेद, तुल्यवृद्धि तथा तर-तम भेद से ६ और १ भेद के जोड़ने से ये १३ भेद होते हैं, जिन्हें आगे कहा जायेगा। उनका क्रम यह है।

—षड् द्वयेकातिशयेन तु॥ ७५॥

१३ भेदों के उदाहरण—इस दृष्टि से दो दोषों के अतिशय से तीन भेद और एक दोष के अतिशय से भी तीन भेद होते हैं, इस प्रकार ६ भेद हुए— १. कफवृद्ध, वात-पित्त अधिक वृद्ध; २. पित्तवृद्ध, वात-कफ अधिक वृद्ध; ३. वातवृद्ध, पित्त-कफ अधिक वृद्ध; ४. पित्त-कफवृद्ध, वात अधिक वृद्ध; ५. वात-कफवृद्ध, पित्त अधिक वृद्ध; ६. वात-पित्तवृद्ध, कफ अधिक वृद्ध॥ ७५॥

एकं तुल्याधिकैः—

एक भेद का निर्देश— १. वातवृद्ध, पित्तवृद्ध, कफवृद्ध।

वक्तव्य—उक्त तेरह भेद सन्निपातज विकारों में देखे जाते हैं।

—षट् च तारतम्यविकल्पनात्।

पुनः छः भेद—दोषों के तर-तम भेदों के विकल्प से पुनः छः भेद होते हैं। यथा— १. वातवृद्ध, पित्तवृद्धतर, कफवृद्धतम। २. वातवृद्ध, कफवृद्धतर, पित्तवृद्धतम। ३. पित्तवृद्ध, कफवृद्धतर, वातवृद्धतम। ४. पित्तवृद्ध, वातवृद्धतर, कफवृद्धतम। ५. कफवृद्ध, वातवृद्धतर, पित्तवृद्धतम। ६. कफवृद्ध, पित्तवृद्धतर, वातवृद्धतम।

पञ्चविंशतिमित्येवं वृद्धैः—

वृद्धदोषों का योग—इस प्रकार ऊपर कही गयी विधि से वृद्ध (बढ़े हुए) दोषभेदों की २५ संख्या होती है।

—क्षीणैश्च तावतः ॥ ७६ ॥

क्षीणदोषों का योग—इस प्रकार ऊपर कही गयी विधि से क्षीण (घटे हुए) दोषभेदों की संख्या भी २५ होती है॥ ७६॥

वक्तव्य—ऊपर दिये गये दोषभेदों में **'वृद्ध'** शब्द के स्थान पर 'क्षीण' शब्द को जोड़ देने से आप स्वयं क्षीण दोषभेदों का आकलन कर लेंगे। अतः ग्रन्थवृद्धि के भय से यहाँ क्षीण भेदों को नहीं दिया गया। इस प्रकार यहाँ तक कुल मिलाकर ५० दोषभेदों का वर्णन कर दिया गया है।

एकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् ते—

वृद्धि-सम-क्षयभेद से छः—एक-एक दोषों के वृद्धि, सम तथा क्षय भेद से निम्नलिखित ६ भेद होते हैं। यथा— १. वातवृद्ध, पित्तसम, कफक्षीण; २. पित्तवृद्ध, वातसम, कफक्षीण; ३. कफवृद्ध, पित्तसम, वातक्षीण; ४. कफवृद्ध, वातसम, पित्तक्षीण; ५. वातवृद्ध, कफसम, पित्तक्षीण; ६. पित्तवृद्ध, कफसम, वातक्षीण।

—पुनश्च षट्। एकक्षयद्वन्द्ववृद्ध्या सविपर्यययाऽपि ते ॥ ७७ ॥

क्षय-वृद्धिभेद से पुनः छः भेद—एक दोष का क्षय तथा दो दोषों की वृद्धि जहाँ विपर्यय गति से देखी जाती है, वहाँ ये छः भेद इस प्रकार होते हैं— १. वातक्षीण, पित्त-कफवृद्ध; २. पित्तक्षीण, वात-कफवृद्ध; ३. कफक्षीण, वात-पित्तवृद्ध। १. वात-पित्तक्षीण, कफवृद्ध; २. वात-कफक्षीण, पित्तवृद्ध; ३. पित्त-कफक्षीण, वातवृद्ध ॥ ७७ ॥

भेदा द्विषष्टिर्निर्दिष्टाः—

बासठ दोषभेद—यहाँ तक ५० + ६ + ६ = ६२ भेदों की उक्त प्रकार से गणना कर दी गयी है।

—त्रिषष्टः स्वास्थ्यकारणम्।

तिरसठवाँ भेद—तिरसठवाँ भेद स्वास्थ्य का कारण माना गया है। वह इस प्रकार है—**वातपित्त-कफसम।**

वक्तव्य—यहाँ तक जो दोषभेद गिनाये गये हैं, उनमें ६२ भेद तो वे हैं जो रोगों की उत्पत्ति के कारण होते हैं और ६३वाँ भेद वह है, जो मानव को नीरोग अथवा स्वस्थ बनाये रखने में कारण होता है। यहाँ कुल मिलाकर दो प्रकार के दोषभेद कहे गये हैं—विषम दोषभेद ६२ और सम दोषभेद १; इस प्रकार इनकी संख्या ६३ होती है। अर्थात् आयुर्वेदशास्त्र का मूल उद्देश्य है—'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्'। वात आदि दोषों को समान स्थिति में बनाये रखना। इसी को प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा

गया है—'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते'॥ अष्टांगहृदय-सूत्रस्थान १।२० में कहा गया है—'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता'। दोषभेदों का वर्णन देखें—च.सू. १७।४१ से ४४ तक।

संसर्गाद्रसरुधिरादिभिस्तथैषां दोषांस्तु क्षयसमताविवृद्धिभेदैः।
आनन्त्यं तरतमयोगतश्च यातान् जानीयादवहितमानसो यथास्वम्॥७८॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने दोषभेदीयो नान द्वादशोऽध्यायः॥१२॥

दोषों के अनन्त भेद—उपर्युक्त दोषभेदों का रस-रक्त आदि धातुओं तथा पुरीष आदि मलों के साथ संसर्ग हो जाने से और उनके क्षय, समता एवं वृद्धि के भेदों से, तर-तम के संयोगों से उक्त वात आदि दोषों के असंख्य भेद हो सकते हैं। चिकित्सक का कर्तव्य है कि उन भेदों-उपभेदों को भी सावधान होकर ठीक प्रकार से समझने का प्रयत्न करे॥७८॥

वक्तव्य—यहाँ जिस प्रकार दोषों के भेदों की चर्चा की गयी है, इसी प्रकार अष्टांगहृदय-सूत्रस्थान के १०वें अध्याय में मधुर आदि रसों के विविध संयोगों की चर्चा की गयी है। उसे भी चिकित्सा की दृष्टि से देखें। रसभेदों की संख्या भी इसी प्रकार अनगिनत हो सकती है।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में दोषभेदीय नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातो दोषोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब यहाँ से हम दोषोपक्रमणीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—उपक्रमण का अर्थ है—चिकित्सा। इसके पहले अध्याय में विकारयुक्त अर्थात् घटे-बढ़े हुए वात आदि दोषों, रस आदि धातुओं तथा पुरीष आदि मलों की शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए, कहा गया है। अतः उनकी चिकित्सा करने के दृष्टिकोण से प्रस्तुत अध्याय का यहाँ उपक्रम किया जा रहा है। अथवा उक्त विषय को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं—लक्षणस्कन्ध का वर्णन करने के बाद अब यह औषधस्कन्ध प्रस्तुत है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.चि. ३०; सु.उ. ६४ तथा अ.सं.सू. २१ एवं २३ में देखें।

वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधनं मृदु। स्वाद्वम्ललवणोष्णानि भोज्यान्यभ्यङ्गमर्दनम्॥ १॥
वेष्टनं त्रासनं सेको मद्यं पैष्टिकगौडिकम्। स्निग्धोष्णा बस्तयो बस्तिनियमः सुखशीलता॥ २॥
दीपनैः पाचनैः सिद्धाः स्नेहाश्चानेकयोनयः। विशेषान्मेद्यपिशितरसतैलानुवासनम्॥ ३॥

वातदोष-चिकित्सा—स्नेह-प्रयोग (पान), स्वेदन (पसीना लाने के उपाय), हलका संशोधन (वमन, विरेचन आदि), मधुर, अम्ल, लवण रस तथा उष्ण भोजनों का प्रयोग, अभ्यंग (उबटन), मर्दन (मुट्ठी, चम्पी, दबाना आदि), वेष्टन (पट्टी आदि से बाँधना), त्रासन (डराना-धमकाना), सेंक, मद्य का सेवन, उसमें भी पीठी और गुड़ से निर्मित मद्य का सेवन, स्निग्ध तथा उष्ण बस्तियों का नियमानुसार सेवन करना, सुखपूर्वक समय बिताना (व्यर्थ की दौड़-धूप से वातदोष बढ़ जाता है, अतः आराम करना), अग्निवर्धक तथा पाचनकारक द्रव्यों द्वारा तैयार किये गये अनेक प्रकार के स्नेहों का सेवन करना, विशेष रूप से सूअर, भैंसा आदि मेदस्वी प्राणियों के मांस तथा मांसरस का सेवन अथवा वातहर तैलों (नारायण तैल, एरण्ड तैल आदि) की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें॥ १-३॥

पित्तस्य सर्पिषः पानं स्वादुशीतैर्विरेचनम्। स्वादुतिक्तकषायाणि भोजनान्यौषधानि च॥ ४॥
सुगन्धिशीतहृद्यानां गन्धानामुपसेवनम्। कण्ठे गुणानां हाराणां मणीनामुरसा धृतिः॥ ५॥
कर्पूरचन्दनोशीरैरनुलेपः क्षणे क्षणे। प्रदोषश्चन्द्रमाः सौधं हारि गीतं हिमोऽनिलः॥ ६॥
अयन्त्रणसुखं मित्रं पुत्रः सन्दिग्धमुग्धवाक्। छन्दानुवर्तिनो दाराः प्रियाः शीलविभूषिताः॥ ७॥
शीताम्बुधारागर्भाणि गृहाण्युद्यानदीर्घिकाः। सुतीर्थविपुलस्वच्छसलिलाशयसैकते॥ ८॥
साम्भोजजलतीरान्ते कायमाने द्रुमाकुले। सौम्या भावाः पयः सर्पिर्विरेकश्च विशेषतः॥ ९॥

पित्तदोष-चिकित्सा—घृतपान, मधुर तथा शीतवीर्य द्रव्यों द्वारा विरेचन कराना, मधुर, तिक्त तथा कषाय रस-प्रधान भोजनों एवं औषधों का प्रयोग, सुगन्धित, शीतल तथा हृदय को प्रिय लगने वाले गन्धों का समीप से सेवन करना, गले में कण्ठियों, हारों तथा मणियों को (हृदय में) धारण करें। कपूर, चन्दन, खस का बार-बार अनुलेप लगायें। वास्तव में ये लेप सूख जाने पर कष्टकारक होते हैं, अतः सूखे हुए लेप को हटाकर तब ताजा लेप उन-उन अवयवों पर लगायें। प्रदोष (सायंकाल) का समय, चन्द्रमा, सौध (चूना पुता हुआ भवन—यह कुछ दिन शीतल रहता है) में निवास, मनोहर गीत, शीतल वायु, अयन्त्रणसुखमित्र

(ऐसा मित्र जो मनचाहा सुख दे सके), मधुर तथा तोतली बोली बोलने वाला पुत्र, मन के अनुरूप व्यवहार करने वाली, प्रिय, सुशील तथा सुशोभित स्त्रियाँ, शीतल जल की धाराओं वाले फुहारों से युक्त घर, बगीचे, बावड़ियाँ, सुन्दर घाट वाले, विस्तृत, साफ-सुथरे जल वाले जलाशय के समीप बालू से बने हुए ऊँचे स्थान पर बैठना, खिले हुए कमलों से युक्त तालाब के तट पर जहाँ घास-फूँस का घर बनाया गया हो और जो चारों ओर हरे-भरे पेड़ों से घिरा हुआ हो ऐसे स्थानों पर निवास करना, सभी मन को प्रसन्न करने वाले भावों (रहन-सहन की व्यवस्था) से युक्त स्थान पर विहार करना; विशेष करके दूध तथा घी का सेवन करना और विरेचन कराना—ये पित्तदोष की चिकित्सा है॥ ४-९॥

वक्तव्य—अयन्त्रणसुखं मित्रम्—मित्र का पास में रहना सुखद होता है और उसकी बात को मानना यन्त्रणा जैसा कष्ट नहीं देती। कायमानम्—अन्यत्र इसका अर्थ है—शरीर के बराबर और यहाँ 'तृणादिरचितागारम्'। प्रदोषः—यह समय चन्द्रमा के न रहने पर भी सुखद एवं शीतल होता है।

श्लेष्मणो विधिना युक्तं तीक्ष्णं वमनरेचनम्। अन्नं रूक्षाल्पतीक्ष्णोष्णं कटुतिक्तकषायकम्॥ १०॥
दीर्घकालस्थितं मद्यं रतिप्रीतिः प्रजागरः। अनेकरूपो व्यायामश्चिन्ता रूक्षं विमर्दनम्॥ ११॥
विशेषाद्वमनं यूषः क्षौद्रं मेदोघ्नमौषधम्। धूमोपवासगण्डूषा निःसुखत्वं सुखाय च॥ १२॥

कफदोष-चिकित्सा—इसमें विधिपूर्वक तीक्ष्ण वमन तथा विरेचन का प्रयोग करें। आहार—रूक्ष, मात्रा में थोड़ा, तीक्ष्ण (मरिच आदि द्रव्य), उष्णवीर्य वाले पदार्थ; कटु, तिक्त, कषाय रस से युक्त पदार्थों का सेवन करें; पुराना मद्य, स्त्री-सहवास में प्रीति, रात में अधिक जागना, विविध प्रकार का व्यायाम (परिश्रम वाले कार्य), चिन्तन (फिकर) करना, रूक्ष पदार्थों (सोंठ आदि) को शरीर पर मलना, विशेष करके इसमें वमन कराना, दालों का यूष (रस), मधु, मेदोनाशक चिकित्सा, धूमपान, उपवास, गण्डूष धारण करना तथा सुखसाधनों का त्याग करना—ये सब सुखद होते हैं॥ १०-१२॥

वक्तव्य—महर्षि वाग्भट के उक्त विवेचन का मूल आधार च.सू. २०।१२ से १९ तक है, इन्हें देखें। विशेष रूप से वातज विकारों में बस्तिप्रयोग, पित्तज विकारों में विरेचन और कफज विकारों में वमन-प्रयोग चिकित्सा के मूल आधार हैं। 'उपक्रम' का अर्थ है—चिकित्सा। देखें—मेदिनी-कोष।

उपक्रमः पृथग्दोषान् योऽयमुद्दिश्य कीर्तितः। संसर्गसन्निपातेषु तं यथास्वं विकल्पयेत्॥ १३॥

विषयोपसंहार—यहाँ जो यह वात आदि दोषों की चिकित्सा का निर्देश किया गया है, इसे संसर्गज (द्वन्द्वज) रोगों तथा सन्निपातज रोगों में दोषानुसार देखकर प्रयोग करना चाहिए॥ १३॥

ग्रैष्मः प्रायो मरुत्पित्ते वासन्तः कफमारुते। मरुतो योगवाहित्वात्, कफपित्ते तु शारदः॥ १४॥

चिकित्सा-निर्देश—वातज एवं पित्तज रोगों में प्रायः ग्रीष्म-ऋतुचर्या में कहे गये आहार-विहारों का सेवन, कफज तथा वातज रोगों में वसन्त-ऋतुचर्या का सेवन करें। क्योंकि वात या वायु योगवाही होता है अर्थात् वह उष्णकाल में उष्ण और शीतकाल में शीत हो जाता है। कफज और पित्तज रोगों में शरद्-ऋतुचर्या में कहे गये पदार्थों का सेवन करें॥ १४॥

चय एव जयेद्दोषं कुपितं त्वविरोधयन्। सर्वकोपे बलीयांसं शेषदोषाविरोधतः॥ १५॥

चिकित्सा का समय—जब दोषों का संचय होता है, उसी समय उनको शान्त कर देना चाहिए। यदि उस समय कोई दोष कुपित हुआ हो तो संचित दोष को शान्त करते समय उसके साथ विरोध न करते हुए कुपित दोष की भी चिकित्सा कर लेनी चाहिए। यदि सब दोष कुपित हुए हों तो उनमें जो बलवान् दोष हो उसकी पहले शान्ति करनी चाहिए, किन्तु ध्यान रहे कि शेष दोषों के साथ उस चिकित्साक्रम का विरोध नहीं होना चाहिए॥ १५॥

प्रयोगः शमयेद्व्याधिमेकं योऽन्यमुदीरयेत्। नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्॥ १६॥

शुद्ध प्रयोग का परिचय—जो औषध-प्रयोग (चिकित्सा) एक रोग अथवा एक दोष को शान्त करता है और दूसरे रोग या दोष को उभाड़ देता है, वह प्रयोग विशुद्ध (उत्तम) नहीं कहा जा सकता है। शुद्ध प्रयोग तो वह है जो एक रोग या दोष को शान्त तो कर दे, किन्तु दूसरे रोग को न उभाड़े॥ १६॥

वक्तव्य—इस दृष्टि से प्रचलित चिकित्सा-पद्धतियों की ओर देखिये, क्या इतना उदार सिद्धान्त किसी अन्य पद्धति का है? आयुर्वेद के अतिरिक्त अन्य पद्धतियाँ तो रोग के तात्कालिक लाभ तक ही मात्र अपना कर्तव्य समझती हैं, अस्तु।

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्यादहिताचरणादपि। कोष्ठाच्छाखास्थिमर्माणि द्रुतत्वान्मारुतस्य च॥
दोषा यान्ति—

दोषों का स्थानान्तर गमन—व्यायाम अथवा शारीरिक श्रम करने से, जठराग्नि की तीक्ष्णता से, अहित-कर आहार-विहार करने से तथा वातदोष के शीघ्रगामी होने से उक्त वात आदि दोष कोष्ठ (नामक आभ्यन्तर रोगमार्ग में) से शाखा (नामक बाह्य रोगमार्ग) में अथवा अस्थि (मध्यम रोगमार्ग) में पहुँच जाते हैं॥ १७॥

—तथा तेभ्यः स्रोतोमुखविशोधनात्। वृद्ध्याऽभिष्यन्दनात्पाकात्कोष्ठं वायोश्च निग्रहात्॥ १८॥

दोषों का कोष्ठगमन—और स्रोतों के मुखों की शुद्धि हो जाने से, उनकी वृद्धि होने से, अभिष्यन्द होने से, पाक होने से अथवा वातदोष के निग्रह (अवरोध) से बाह्य तथा मध्यम रोगमार्ग से कोष्ठ की परिधि में दोष पहुँच जाते हैं॥ १८॥

तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिणः।

पुनः रोगोत्पादन—जब तक दोष कोष्ठप्रदेश में रहते हैं कोई रोग-विशेष को उत्पन्न नहीं करते, किन्तु वे पुनः विकारोत्पादक हेतुओं (निदानों) की प्रतीक्षा करते रहते हैं। अपने अनुरूप कारणों को पाकर वे रोगोत्पत्ति कर देते हैं।

ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि॥ १९॥

अन्य स्थानों में दोषप्रकोप—वे वात आदि दोष काल, देश, अपथ्य आहार-विहार द्वारा बल (शक्ति) पाकर अतएव प्रबल होकर दूसरे-दूसरे दोषों के आशयों में जाकर भी कुपित होकर रोगों को उत्पन्न कर देते हैं॥ १९॥

तत्रान्यस्थानसंस्थेषु तदीयामबलेषु तु। कुर्याच्चिकित्साम्—

चिकित्सा-निर्देश—इस स्थिति में यदि दूसरे दोष के आशय में स्थित दोष यदि दुर्बल हो तो उस स्थान में स्थित दोष सम्बन्धी चिकित्सा करनी चाहिए। यदि दोष बलवान् हो तो पहले उसी दोष की चिकित्सा करनी चाहिए।

—स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु॥ २०॥

आगन्तुं शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा।

यदि वह दोष अपनी शक्ति से निर्दिष्ट स्थान (आशय) वाले दोष को दबाकर स्थित हो तो उस (बलवान्) दोष की चिकित्सा करे। अथवा स्थानीय मूल दोष की चिकित्सा करके तब आगन्तुज (दूसरे स्थान से आये हुए) दोष की चिकित्सा करनी चाहिए॥ २०॥

प्रायस्तिर्यग्गता दोषाः क्लेशयन्त्यातुरांश्चिरम्॥ २१॥
कुर्यान्न तेषु त्वरया देहाग्निबलवित् क्रियाम्।

तिर्यग्गत दोष-चिकित्सा—प्रायः तिर्यक् (तिरछे अर्थात् मध्यम रोग) मार्गों में गये हुए दोष चिरकाल तक रोगियों को कष्ट देते रहते हैं, अतः शरीरबल एवं अग्निबल को जानने वाला चिकित्सक शीघ्रता से इनकी चिकित्सा न करे अर्थात् धीरे-धीरे इनकी चिकित्सा करे॥ २१॥

शमयेत्तान् प्रयोगेण सुखं वा कोष्ठमानयेत्॥ २२॥
ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांश्च यथासन्नं विनिर्हरेत्।

चिकित्सा-विधि—तिर्यग्गत दोषों के लंघन या पाचन आदि विधियों से अथवा स्नेहन तथा स्वेदन विधियों से सरलता से उन दोषों को कोष्ठ की ओर ले आये और जब वे दोष कोष्ठ में आ जाते हैं, तो उन्हें विरेचन विधि से बाहर निकालने का प्रयास करे॥ २२॥

स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढताः ॥ २३॥
आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलसङ्गारुचिक्लमाः। लिङ्गं मलानां सामानां, निरामाणां विपर्ययः॥

साम-निराम दोषों के लक्षण—स्रोतों में रुकावट, शारीरिक बल का क्षीण होना, शरीर में भारीपन, वातदोष का प्रतिलोम होना, आलस्य (शक्ति रहने पर भी काम करने की इच्छा का न होना), भोजन का न पचना, बार-बार थूक का आना, पुरीष आदि मलों के निकलने में रुकावट, अरुचि और क्लम (सुस्ती)—ये लक्षण आमदोषयुक्त वात आदि दोषों के होते हैं और इनके विपरीत लक्षण निरामदोषों के होते हैं॥ २३-२४॥

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥ २५॥

आम का वर्णन—ऊष्मा (अग्नि) का बल घट जाने से जिस रसधातु का भलीभाँति पाक नहीं हो पाता और जो आमाशय में वात आदि दोषों से दूषित हो जाता है, उस रस को 'आम' कहते हैं॥ २५॥

वक्तव्य—इस विषय को विस्तृत रूप से समझने के लिए सुश्रुत-उत्तरतन्त्र अध्याय ५६ का सम्पूर्ण अवलोकन करें।

अन्ये दोषेभ्य एवाति दुष्टेभ्योऽन्योऽन्यमूर्च्छनात्। कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सम्भवम्॥

आम-सम्बन्धी मतान्तर—कुछ आचार्यों का मत है कि अत्यन्त दुष्ट वात आदि दोषों का आपस में मिश्रण होने से उस प्रकार 'आम' की उत्पत्ति हो जाती है, जैसे कोदों नामक धान्य में से विष की॥ २६॥

आमेन तेन सम्पृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः। सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः॥ २७॥

सामदोष एवं सामरोग—उक्त 'आम' से युक्त वात आदि दोष एवं रस आदि सातों धातु दूषित होने पर 'साम' अर्थात् आमदोषयुक्त कहे जाते हैं। उन दोषों तथा दूष्यों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले ज्वर आदि रोग भी 'साम' कहे जाते हैं। यथा—आमज्वर, आमातिसार आदि॥ २७॥

सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान् न निर्हरेत्। लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव॥
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वतः।

सामदोषों की चिकित्सा—सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए सामदोषों को निकालने का प्रयत्न न करे, क्योंकि वे दोष रस आदि धातुओं में विलीन (मिले-जुले) रहते हैं और बाहर निकलने के लिए उन्मुख नहीं होते, ऐसी स्थिति में उन्हें न निकाले और वे दोष भी उस प्रकार नहीं निकल पाते, जैसे कच्चे फल में से रस नहीं निकलता। ऐसी स्थिति में यदि उन दोषों को निकालने का प्रयास किया जायेगा तो वे आश्रय (उस-उस शरीरावयव) के ही विनाशक हो सकते हैं॥ २८॥

पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान्॥ २९॥
शोधयेच्छोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम्।

दोषनिर्हरण-विधि—अतः उन आमदोषों को निकालने के लिए उन्हें पाचन, दीपन, स्नेहन एवं स्वेदन प्रयोगों के द्वारा परिष्कृत (शोधन योग्य) करके शोधन योग्य काल (ऋतु) में यथासन्न (जिस ओर से आकर दोष रुके हों) और यथाबल (रोग तथा रोगी की शक्ति के अनुसार) शोधनविधियों से उनका शोधन करें॥ २९॥

हन्त्याशु युक्तं वक्त्रेण द्रव्यमामाशयान्मलान्॥ ३०॥
घ्राणेन चोर्ध्वजत्रूत्थान् पक्वाधानाद्गुदेन च।

आसन्न दोष का निर्हरण—इस स्थिति में प्रयोग किया गया शोधनकारक औषधद्रव्य आमाशय में स्थित दोषों (मलों) को वमन विधि से मुख द्वारा निकाल देता है। नासिका के छिद्रों द्वारा जत्रु के ऊपरी भाग में स्थित विकारों को निकाल देता है। पक्वाशयगत मलों को शोधन औषध गुदमार्ग से निकाल देता है॥ ३०॥

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि मुख द्वारा प्रयुक्त औषधद्रव्य वमन द्वारा, नासिका द्वारा प्रयुक्त रेचकनस्य नासिका के छिद्रों द्वारा दोष-निर्हरण करता है और निरूहणबस्ति द्वारा दिये गये औषधद्रव्य पक्वाशयस्थित दोषों को गुदमार्ग से निकाल देते हैं। यही तात्पर्य 'यथासन्न' शब्द का है।

उत्क्लिष्टानध ऊर्ध्वं वा न चामान् वहतः स्वयम्॥ ३१॥
धारयेदौषधैर्दोषान् विधृतास्ते हि रोगदाः।

दोषनिर्हरण-निर्देश—बाहर निकलने के लिए ऊपर तथा नीचे से प्रवृत्त अथवा गुदमार्ग से स्वयमेव बहते हुए आमदोषों को स्तम्भन औषधों का प्रयोग करके न रोकें, क्योंकि रोके गये वे आमदोष अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देते हैं॥ ३१॥

प्रवृत्तान् प्रागतो दोषानुपेक्षेत हिताशिनः॥ ३२॥
विबद्धान् पाचनैस्तैस्तैः पाचयेन्निर्हरेत वा।

दोषनिर्हरण-विवेक—अतएव हित भोजन करने वाले रोगी के स्वयं प्रवृत्त हुए दोषों की पहले उपेक्षा करें अर्थात् उन्हें प्रवृत्त होने (निकल जाने) दें और जो आमदोष शरीर में रुके हुए हों, उन्हें उचित पाचनकारक औषधद्रव्यों से पचायें अथवा उनको निकालने का प्रयत्न न करें। उक्त ३१ तथा ३२वें पद्य में प्रयुक्त **'दोष'** शब्द का अर्थ—**मल** है॥ ३२॥

श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात्॥ ३३॥
ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत्।

शोधन का काल—श्रावण, कार्तिक, चैत्र ये मास साधारण (सम-शीतोष्ण) होते हैं, अतएव इन मासों में क्रम से ग्रीष्म, वर्षा, हिम (हेमन्त) ऋतु में संचित वात, पित्त तथा कफ दोषों को शीघ्र शोधन द्रव्यों के प्रयोगों से निकाल डालें॥ ३३॥

अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः॥ ३४॥
सन्धौ साधारणे तेषां दुष्टान् दोषान् विशोधयेत्।

सहेतुक शोधन काल—उक्त कालों में शोधन कराने का कारण-निर्देश—ग्रीष्मकाल में गर्मी अधिक होती है, वर्षाकाल में वर्षा अधिक होती है और हेमन्त ऋतु में शीत अधिक पड़ता है, अतः ऋतुसन्धि में तथा उक्त साधारण काल में ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त ऋतुओं में दूषित हुए दोषों का शोधन करना चाहिए॥ ३४॥

स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य, व्याधौ व्याधिवशेन तु॥ ३५॥

शोधन का दृष्टिकोण—उक्त दोषशोधन का निर्देश सामान्य रूप से स्वस्थ पुरुष के लिए कहा गया है, क्योंकि समय पर संचित दोषों का निर्हरण हो जाने से उसका स्वास्थ्य बना रहेगा। रुग्णावस्था में तो रोग की स्थिति के अनुसार दोषों का निर्हरण करना पड़ता है॥ ३५॥

कृत्वा शीतोष्णवृष्टीनां प्रतीकारं यथायथम्। प्रयोजयेत्क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्॥ ३६॥

शोधन की विशिष्ट विधि—रुग्णावस्था में शीत, उष्ण, वर्षा के कारण होने वाली बाधाओं का प्रतीकार करके यथोचित विधि से वमन-विरेचन (संशोधनों) का प्रयोग कराना ही चाहिए। इसमें क्रियाकाल को हाथ से न जाने दें॥ ३६॥

युञ्ज्यादनन्नमन्नादौ मध्येऽन्ते कवलान्तरे। ग्रासे ग्रासे मुहुः सान्नं सामुद्गं निशि चौषधम्॥ ३७॥

औषध-सेवन के १० काल—औषध का प्रयोग निम्नलिखित समयों में करें— १. अनन्न, इसमें केवल औषध का सेवन करें; जैसे—लंघन काल में। २. अन्न खाने से पहले अर्थात् औषध खाने के बाद भोजन करना। ३. अन्न (आहार) के बीच में, जैसे—भोजन के बीच-बीच में जल पिया जाता है। ४. अन्न के अन्त में। ५. कवल (कौर-ग्रास) के बीच में; यह दो प्रकार से होता है— १. कौर के बीच में डालकर अथवा २. दो कौरों के बीच में; जैसे—पहला कौर खाया फिर औषध, फिर दूसरा कौर। ६. प्रत्येक ग्रास के साथ। ७. मुहुः—दिनभर में अनेक बार। ८. सान्नं—अन्न के साथ मिलाकर। ९. सामुद्गं—अन्न से सम्पुटित करके। १०. निशि—सोते समय॥ ३७॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने औषध-सेवन के दस कालों का वर्णन इस प्रकार किया है—'अत ऊर्ध्वं दशौषध-कालान् वक्ष्यामः। तत्राभक्तं प्राग्भक्तमधोभक्तं मध्येभक्तमन्तराभक्तं सभक्तं सामुद्गं मुहुर्मुहुर्ग्रासग्रासान्तरं चेति दशौषधकालाः'॥ (सु.उ. ६४।६५) इसकी व्याख्या इसी क्रम में ८३ तक सुश्रुत में ही देखें। आचार्य शार्ङ्गधर ने औषध-सेवन के पाँच कालों का ही उल्लेख किया है। आचार्यों के अपने-अपने दृष्टिकोण हैं। देखें—शा.सं.पू.खं. २।२ से १२ तक और च.चि. ३०।२९७ से ३०३ तक।

कफोद्रेके गदेऽनन्नं बलिनो रोगरोगिणोः। अन्नादौ विगुणेऽपाने, समाने मध्य इष्यते॥ ३८॥
व्यानेऽन्ते प्रातराशस्य, सायमाशस्य तूत्तरे। ग्रासग्रासान्तयोः प्राणे प्रदुष्टे मातरिश्वनि॥ ३९॥
मुहुर्मुहुर्विषच्छर्दिहिध्मातृट्श्वासकासिषु। योज्यं सभोज्यं भैषज्यं भोज्यैश्चित्रैररोचके॥ ४०॥
कम्पाक्षेपकहिध्मासु सामुद्गं लघुभोजिनाम्। ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु स्वप्नकाले प्रशस्यते॥ ४१॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने दोषोपक्रमणीयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

रोगानुसार औषध-सेवनकाल—यहाँ रोगानुसार उक्त दस औषध-सेवनकालों का प्रयोग निर्देश किया जा रहा है—(१) अनन्न औषध का प्रयोग कफदोष का प्रकोप होने पर, बलवान् रोग में तथा बलवान् रोगी में किया जाता है। (२) अन्न के आदि में अपानवायु की गति विलोम होने पर औषध दी जाती है। (३) भोजन के मध्य में औषध का प्रयोग समानवायु की विकृति में किया जाता है। (४) भोजन के अन्त में औषध का प्रयोग दिन के भोजन के अन्त में व्यानवायु के विकृत होने पर और रात्रि के भोजन के अन्त में उदानवायु के विकृत होने पर किया जाता है। (५) ग्रास के अन्त में सेवन की गयी औषधि प्राणवायु की विकृति में दी जाती है। (६) ग्रास में मिलाकर दी गयी औषधि भी प्राणवायु की विकृति में लाभप्रद होती है। (७) बार-बार औषध-प्रयोग विषविकार, वमन, हिचकी, तृषा (प्यास का अधिक लगना), श्वास तथा कास रोगों में लाभप्रद होता है। (८) सभोज्यं (भोजन-पदार्थों में मिलाकर) किया गया औषध-प्रयोग अरोचक रोग में करना चाहिए, वे भोजन विविध प्रकार के तथा रुचिकारक हों। (९) सामुद्ग औषध-प्रयोग कम्परोग, आक्षेपक और हिध्मा (हिचकी) में करना चाहिए। इन रोगियों को लघु भोजन करने वाला होना चाहिए। (१०) निशि (सोते समय) में किया गया औषध-प्रयोग जत्रुअस्थि (Collar bone) के ऊपरी भाग में होने वाले कान, नाक आदि के रोगों में लाभप्रद होता है॥ ३८-४१॥

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में दोषोपक्रमणीय नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त॥ १३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अथातो द्विविधोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब यहाँ से हम द्विविध उपक्रमणीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—दोषोपक्रमणीय अध्याय के बाद द्विविधोपक्रमणीय अध्याय का वर्णन करने में दोनों के बीच सामान्य तथा विशेष का सम्बन्ध है। पहले वाले अध्याय में सर्वसामान्य चिकित्सा का वर्णन किया गया था, अब इसमें दो प्रकार की चिकित्साओं का विशेष वर्णन किया जा रहा है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू.२१, २२, २३; सु.सू. १५, सु.चि. १।११ से १३; सु.उ. ३९ श्लोक १०२-१०५; अ.सं.सू. २४ में देखें।

उपक्रम्यस्य हि द्वित्वाद्द्विधैवोपक्रमो मतः।

चिकित्सा के दो भेद—उपक्रम्य (रोग) दो प्रकार का होता है— १. साम और २. निराम। अतएव इन दोनों की चिकित्सा भी विधिभेद से दो प्रकार की होती है।

एकः सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः॥ १॥
बृंहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ। बृंहणं यद्बृहत्त्वाय लङ्घनं लाघवाय यत्॥ २॥
देहस्य—

सन्तर्पण तथा अपतर्पण—उन दो चिकित्साओं का नाम है— १. सन्तर्पण और २. अपतर्पण। इन्हीं के पर्याय हैं— १. बृंहण और २. लंघन (उपवास करना)। बृंहण-चिकित्सा उसे कहते हैं जिससे शरीर हृष्ट एवं पुष्ट हो जाय और लंघन उसे कहते हैं जिससे शरीर हलका हो जाय॥ १-२॥

—भवतः प्रायो भौमापमितरच्च ते।

तत्त्वों की प्रधानता—बृंहण-चिकित्सा में पृथिवी तत्त्व तथा जल तत्त्व की प्रधानता होती है और लंघन-चिकित्सा में शेष तीन तत्त्वों (अग्नि, वायु एवं आकाश तत्त्व) की प्रधानता होती है।

स्नेहनं रूक्षणं कर्म स्वेदनं स्तम्भनं च यत्॥ ३॥
भूतानां तदपि द्वैध्याद्द्वितयं नातिवर्तते।

स्नेहन आदि का वर्णन—स्नेहन, रूक्षण, स्वेदन तथा स्तम्भन ये चारों कर्म भी सन्तर्पण तथा अपतर्पण भेद से दो प्रकार के होते हैं। क्योंकि पृथिवी आदि पाँच महाभूत भी सन्तर्पण तथा अपतर्पण भेद से दो प्रकार के होते हैं॥ ३॥

शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम्॥ ४॥

प्रत्येक के दो भेद—सन्तर्पण का पर्याय बृंहण है और अपतर्पण का पर्याय लंघन है। यह लंघन भी शोधन एवं शमन भेद से दो प्रकार का कहा गया है॥ ४॥

यदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं च तत्। निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः॥ ५॥

शोधन कर्म एवं उसके भेद—शोधन-चिकित्सा वह है, जो शरीर स्थित दोषों (मलों) को बाहर निकाल देती है। यह शोधन-चिकित्सा पाँच प्रकार की होती है। जैसे— १. निरूहणबस्ति, २. वमन, ३. विरेचन, ४. शिरोविरेचन (नस्य) तथा ५. रक्तस्रावण॥ ५॥

न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा॥ ६॥
पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः।

शमन के लक्षण एवं भेद—जो चिकित्सा बढ़े हुए वात आदि दोषों का शोधन न करे, समदोषों की वृद्धि भी न करे और विषम दोषों को सम करे, उसे 'शमन-चिकित्सा' कहते हैं। यह सात प्रकार की होती है। यथा— १. पाचन (आमदोषों को पचाने वाली), २. दीपन (जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली), ३. क्षुत् (भूखा रहना, उपवास या लंघन करना), ४. तृट् (प्यासा रहना), ५. व्यायाम (किसी प्रकार का शारीरिक परिश्रम करना), ६. आतप (धूप में रहना या आग सेंकना) तथा ७. मारुत (शुद्ध वायु का सेवन करना)॥ ६॥

बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च॥ ७॥

बृंहण के लक्षण—बृंहण नामक जो शोधन-प्रकार है, वह लंघन से अधिक उपयोगी होता है, क्योंकि बृंहण द्रव्यों को भी शोधन कहते हैं। अतः वे द्रव्य, जो स्वतन्त्र वातदोष तथा पित्तयुक्त वातदोष का शमन करते हैं, वे बृंहण कहे जाते हैं॥ ७॥

बृंहयेद्व्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान्। भाराध्वोरःक्षतक्षीणरूक्षदुर्बलवातलान्॥ ८॥
गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् ग्रीष्मेऽपरानपि।

सन्तर्पण योग्य रोग-रोगी—ज्वर आदि रोगों से, मद्यपान करने से, अधिक स्त्री-सहवास करने से अथवा शोक से जो कृश हो गये हों उनकी; अधिक भार ढोने से, रास्ता चलने से अथवा उरःक्षत से जो क्षीण हो गये हों उनकी; रूक्ष शरीर वालों की, दुर्बलों की, वातरोगियों की, गर्भवती की, प्रसूता की, बालकों तथा वृद्धों की एवं ग्रीष्म ऋतु में सभी की बृंहण (सन्तर्पण) चिकित्सा करनी चाहिए॥ ८॥

मांसक्षीरसितासर्पिर्मधुरस्निग्धबस्तिभिः ॥ ९॥
स्वप्नशय्यासुखाभ्यङ्गस्नाननिर्वृतिहर्षणैः ।

सन्तर्पण-चिकित्सा के उपादान—मांस, दूध, मिश्री, घी, मधुररस-प्रधान पदार्थ (मुनक्का, किशमिश, बादाम, काजू, चिरौंजी आदि), मधुर एवं स्निग्ध पदार्थों द्वारा निर्मित बस्तियों का प्रयोग, सुखद शय्या में सुखपूर्वक सोना, अभ्यंग (उबटन), स्नान, निश्चिन्तता तथा प्रसन्न रहना॥ ९॥

मेहामदोषातिस्निग्धज्वरोरुस्तम्भकुष्ठिनः ॥ १०॥
विसर्पविद्रधिप्लीहशिरःकण्ठाक्षिरोगिणः। स्थूलांश्च लङ्घयेन्नित्यं शिशिरे त्वपरानपि॥ ११॥

अपतर्पण योग्य रोग-रोगी—प्रमेह, आमदोष (आमज्वर, आमातिसार तथा आमवात आदि), अतिस्निग्ध, ज्वररोगी, ऊरुस्तम्भ, कुष्ठरोगी, विसर्प, विद्रधि, प्लीहरोगी, शिरोरोगी, गलरोगी, नेत्ररोगी (आमाभिष्यन्द) तथा स्थूलता रोग से पीड़ितों की शिशिर ऋतु में और इस प्रकार के अन्य रोगियों की भी अपतर्पण चिकित्सा करनी चाहिए॥ १०-११॥

तत्र संशोधनैः स्थौल्यबलपित्तकफाधिकान्। आमदोषज्वरच्छर्दिरतीसारहृदामयैः॥ १२॥
विबन्धगौरवोद्गारहृल्लासादिभिरातुरान्। मध्यस्थौल्यादिकान् प्रायः पूर्वं पाचनदीपनैः॥ १३॥
एभिरेवामयैरार्तान् हीनस्थौल्यबलादिकान्। क्षुत्तृष्णानिग्रहैर्दोषैस्त्वार्तान् मध्यबलैर्दृढान्॥ १४॥
समीरणातपायासैः किमुताल्पबलैर्नरान्।

शोधन-शमन के योग्य रोग-रोगी—पहले पद्यों में शोधन तथा शमन भेद से दो प्रकार का लंघन (हलका करने का उपाय) कहा गया है। यहाँ शोधन का विवेचन किया जा रहा है—संशोधन-चिकित्सा

विधि से अधिक स्थूलता (मोटापा) से पीड़ित, अधिक बलवान्, अधिक पित्त तथा कफ वालों की चिकित्सा करनी चाहिए।

आमदोष, ज्वर, वमन, अतिसार, हृद्रोग, विबन्ध, भारीपन, उद्गार (डकार), जी मिचलाना आदि रोगों से पीड़ितों की तथा मध्यम कोटि की स्थूलता, मध्यमबल, मध्यम पित्त तथा कफ वाले रोगियों की पहले पाचन तथा दीपन नामक चिकित्साविधियों से चिकित्सा करें।

उक्त आमदोष आदि रोगों से पीड़ित किन्तु हीन कोटि की स्थूलता, बल आदि वालों की चिकित्सा भूख-प्यासनिग्रह नामक अपतर्पणों से करें।

मध्यम कोटि के बल वाले उपर्युक्त आमदोष आदि रोगों से पीड़ित किन्तु बलवान् रोगियों की चिकित्सा वातसेवन, आतप (धूप) सेवन तथा व्यायाम आदि अपतर्पणों से करें।

अल्प बल वाले आमदोष आदि ऊपर कहे गये रोगों से पीड़ित अल्प बल वाले रोगियों की चिकित्सा वातसेवन, धूपसेवन तथा व्यायाम आदि अपतर्पणों से करें॥ १२-१४॥

वक्तव्य—यहाँ सन्तर्पण तथा अपतर्पण विधियों से चिकित्सा का निर्देश किया गया है। इस प्रसंग में ऊपर कहे गये रोगों एवं रोगियों में से कुछ रोग-रोगी वे हैं जिन्हें शोधन नामक अपतर्पण और कुछ को शमन नामक अपतर्पण का प्रयोग कराया जाता है। चिकित्सा काल में इस ओर भी ध्यान देना चाहिए।

न बृंहयेल्लङ्घनीयान्—

सन्तर्पण का निषेध—लंघन (अपतर्पण) कराने के योग्य (प्रमेहरोगी, आमदोष युक्त आदि) रोगियों को बृंहण (सन्तर्पण) योगों का प्रयोग न करायें।

—बृंह्यांस्तु मृदु लङ्घयेत्॥ १५॥
युक्त्या वा देशकालादिबलतस्तानुपाचरेत्।

अपतर्पण-निर्देश—जो व्यक्ति सन्तर्पण के योग्य हैं, उनको अपतर्पण (लंघन) दिया जा सकता है। अथवा उनकी देश, काल आदि (सात्म्य) का विचार करके चिकित्सा की जा सकती है॥ १५॥

वक्तव्य—कब कहाँ क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इस सम्बन्ध में भगवान् पुनर्वसु के निर्देशों पर ध्यान दें—च.सि. २।२५-२७ अर्थात् जो शास्त्र में बतलाया गया है बुद्धिमान् चिकित्सक को वैसा ही करना है, किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं करना चाहिए। अपितु उसे चाहिए कि स्वयं भी तर्क-वितर्क करके अपने कर्तव्य का निश्चय करे, क्योंकि देश, काल तथा रोग बल एवं रोगी के बल के अनुसार कभी ऐसी भी अवस्था आ जाती है, जिसमें अकार्य भी करना पड़ता है और कार्यविधि को भी छोड़ना पड़ जाता है। जैसे—छर्दि, हृद्रोग तथा गुल्मरोगों में वमन कराना सामान्य रूप से निषिद्ध है, किन्तु जहाँ-जहाँ इनकी स्वतन्त्र चिकित्सा कही गयी है वहाँ परिस्थिति-विशेष में वमन कराने का विधान मिलता है। इसी प्रकार कुष्ठरोगी के लिए बस्तिकर्म निषिद्ध है, परन्तु अवस्था-विशेष में निरूहणबस्ति देने का विधान किया गया है।

बृंहिते स्याद्बलं पुष्टिस्तत्साध्यामयसङ्क्षयः॥ १६॥

सन्तर्पण के लाभ—भलीभाँति सन्तर्पण-विधि के हो जाने पर शरीर बलवान् एवं पुष्ट हो जाता है और सन्तर्पण-विधि द्वारा साध्य रोगों का क्षय भी हो जाता है॥ १६॥

विमलेन्द्रियता सर्गो मलानां लाघवं रुचिः। क्षुत्तृट्सहोदयः शुद्धहृदयोद्गारकण्ठता॥ १७॥
व्याधिमार्दवमुत्साहस्तन्द्रानाशश्च लङ्घिते।

अपतर्पण के लाभ—भलीभाँति अपतर्पण के हो जाने पर इन्द्रियों में निर्मलता, मल-मूत्र आदि का सुख से निकलना, शरीर में हलकापन, भोजन के प्रति रुचि का होना, भूख तथा प्यास का साथ-साथ

लगना, हृदय, उद्गार (डकार) तथा कण्ठप्रदेश का शुद्ध होना, रोगों का घट जाना, उत्साह की वृद्धि एवं तन्द्रा का नाश—ये लक्षण होते हैं॥ १७॥

अनपेक्षितमात्रादिसेविते कुरुतस्तु ते॥ १८॥
अतिस्थौल्यातिकार्श्यादीन्, वक्ष्यन्ते ते च सौषधाः।

योग, अतियोग, हीनयोग—अनपेक्षित (जितनी आवश्यकता नहीं है उतने) सन्तर्पणकारक द्रव्यों का सेवन करने से अतिस्थूलता (मोटापा) आदि रोग हो जाते हैं तथा अधिक अपतर्पणकारक द्रव्यों या विधियों का सेवन करने से अत्यन्त कृशता आदि रोग हो जाते हैं। आगे इन रोगों का चिकित्सा सहित वर्णन किया जायेगा॥ १८॥

रूपं तैरेव च ज्ञेयमतिबृंहितलङ्घिते॥ १९॥

उनके लक्षण—उक्त अतिस्थूलता तथा अतिकृशता आदि लक्षणों द्वारा क्रमशः यह जान लेना चाहिए कि अतिस्थूल में अतिसन्तर्पण तथा अतिकृश में अतिअपतर्पण हो गया है॥ १९॥

अतिस्थौल्यापचीमेहज्वरोदरभगन्दरान्। कासंसन्न्यासकृच्छ्रामकुष्ठादीनतिदारुणान्॥ २०॥

अतिस्थूलता आदि रोग—अतिसन्तर्पण (बृंहण) के कारण होने वाले रोगों के नाम—अतिस्थूलता (मोटापा), अपची, प्रमेह, ज्वर, उदररोग, भगन्दर, कास, संन्यास, मूत्रकृच्छ्र, आमवात, कुष्ठ आदि अत्यन्त कष्टदायक रोग हो जाते हैं॥ २०॥

तत्र मेदोऽनिलश्लेष्मनाशनं सर्वमिष्यते।

चिकित्सा-सूत्र—उक्त स्थूलता आदि रोगों में मेदोधातु, वातदोष तथा कफदोष को नष्ट करने वाले आहार-विहारों तथा औषधों का प्रयोग करना चाहिए।

कुलत्थजूर्णश्यामाकयवमुद्गमधूदकम् ॥ २१॥
मस्तुदण्डाहतारिष्टचिन्ताशोधनजागरम्। मधुना त्रिफलां लिह्याद्गुडूचीमभयां घनम्॥ २२॥
रसाञ्जनस्य महतः पञ्चमूलस्य गुग्गुलोः। शिलाजतुप्रयोगश्च साग्निमन्थरसो हितः॥ २३॥
विडङ्गं नागरं क्षारः काललोहरजो मधु। यवामलकचूर्णं च योगोऽतिस्थौल्यदोषजित्॥ २४॥

विशेष चिकित्सा—खान-पान—कुलथी (गहत या धौत), ज्वार, सावाँ, जौ, मूँग, मधु मिला हुआ जल, दही का पानी, मठा, आसव, अरिष्ट, चिन्ता करना, शोधन (वमन-विरेचन) और रात्रि में जागना—इनका सेवन करना चाहिए।

औषध-प्रयोग—त्रिफलाचूर्ण को, गुरुच का स्वरस, केवल हरीतकी के चूर्ण को अथवा नागरमोथा के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर चाटना चाहिए।

रसाञ्जन (रसवत) का, बिल्वादि महापञ्चमूल (बेल, अरणी, सोनापाठा, गम्भार, पाढ़ल) का, शुद्ध गुग्गुल का अथवा शुद्ध शिलाजीत का सेवन अरणी की छाल के क्वाथ (काढ़ा) के साथ बहुत समय तक करना चाहिए।

विडंगादि योग—वायविडंग, सोंठ, जौखार अथवा कोई भी क्षार, कालायस भस्म, जौ का चूर्ण और आँवला का चूर्ण—इन सबको मधु के साथ मिलाकर सेवन करने से अतिस्थूलता का विनाश होता है॥ २१-२४॥

व्योषकट्वीवराशिग्रुविडङ्गातिविषास्थिराः। हिङ्गुसौवर्चलाजाजीयवानीधान्यचित्रकाः॥ २५॥
निशे बृहत्यौ हपुषा पाठा मूलं च केम्बुकात्। एषां चूर्णं मधु घृतं तैलं च सदृशांशकम्॥
सक्तुभिः षोडशगुणैर्युक्तं पीतं निहन्ति तत्। अतिस्थौल्यादिकान् सर्वान् रोगानन्यांश्च तद्विधान्॥
हृद्रोगकामलाश्वित्रश्वासकासगलग्रहान्। बुद्धिमेधास्मृतिकरं सन्नस्याग्नेश्च दीपनम्॥ २८॥

व्योषादि योग-फलश्रुति—व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), कट्वी (कुटकी), वरा (हरड़, बहेड़ा, आँवला), सहजन के बीज, वायविडंग, अतीस, शालपर्णी, हींग, सोंचरनमक, जीरा. अजवाइन, धनियाँ,

चीता, हल्दी, दारुहल्दी की छाल, कण्टकारी, वनभण्टा, हपुषा, पाठा और करेमू की जड़—इन सब द्रव्यों का कपड़छन किया हुआ समानभाग चूर्ण १ तोला; मधु, घृत तथा तिलतैल १-१ तोला और जौ का सत्तू १६ तोला लेकर भलीभाँति मिलाकर जल में घोलकर प्रतिदिन पीना चाहिए। इसका सेवन अतिस्थूलता आदि रोगों तथा सन्तर्पण सेवन के कारण उत्पन्न होने वाले और इस प्रकार के अन्य रोगों को नष्ट करता है। हृद्रोग, कामला, श्वित्र, श्वास, कास तथा गलग्रह (देखें—च.सू. १८।२२) रोगों को नष्ट करता है। बुद्धि, मेधा तथा स्मृतिवर्धक एवं मन्द अग्नि को प्रदीप्त करता है॥ २५-२८॥

अतिकार्श्यं भ्रमः कासस्तृष्णाधिक्यमरोचकः। स्नेहाग्निनिद्रादृक्श्रोत्रशुक्रौजःक्षुत्स्वरक्षयः॥
बस्तिहृन्मूर्धजङ्घोरुत्रिकपार्श्वरुजा ज्वरः। प्रलापोर्ध्वानिलग्लानिच्छर्दिपर्वास्थिभेदनम्॥
वर्चोमूत्रग्रहाद्याश्च जायन्तेऽतिविलङ्घनात्।

कृशता आदि रोग—अधिक लंघन अथवा अधिक अपतर्पण करने से अधिक कृशता, भ्रम (चक्करों) का आना, कास, प्यास का अधिक लगना तथा भोजन के प्रति अरुचि का होना—ये लक्षण होते हैं। स्नेह, जठराग्नि, निद्रा, दृष्टि, श्रोत्र, शुक्र, ओजस्, भूख तथा स्वर का क्षय हो जाता है। बस्ति (मूत्राशय), हृदय, मूर्धा, जंघा, ऊरु, त्रिक् (स्फिक्सक्थ्नोः पृष्ठवंशास्थ्नोर्यः सन्धिस्तत् त्रिकं मतम्।) तथा पसलियों में पीड़ा, ज्वर, प्रलाप, ऊपर की ओर को वातदोष का प्रकोप होना, ग्लानि (हर्षक्षय), वमन, पर्वों (पोरों) तथा अस्थियों में फटने की-सी पीड़ा का होना, मल एवं मूत्र की प्रवृत्ति में रुकावट आदि विकार अधिक लंघन करने से हो जाते हैं॥ २९-३०॥

कार्श्यमेव वरं स्थौल्यात् न हि स्थूलस्य भेषजम्॥ ३१॥
बृंहणं लङ्घनं वाऽलमतिमेदोऽग्निवातजित्।

स्थूलता से कृशता श्रेष्ठ—स्थूल होने से कृश होना अच्छा है, क्योंकि स्थूलता की कोई सरल चिकित्सा नहीं है। क्योंकि स्थूलता रोग में मेदोधातु, जठराग्नि एवं वातदोष अधिक बढ़ जाते हैं, इनको घटाने (कम करने) के लिए न बृंहण-चिकित्सा ही समर्थ है और न लंघन ही समर्थ हैं॥ ३१॥

वक्तव्य—चरक ने स्थौल्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है—'स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यं समोपकरणौ हितौ'। (च.सू. २१।१७) अर्थात् स्थूल पुरुष की सद्यःफलदायक कोई चिकित्सा नहीं है। देखें—यदि जठराग्नि और बढ़े हुए वातदोष की शान्ति के लिए हम सन्तर्पण द्रव्यों का प्रयोग करते हैं, तो इससे मेदोधातु अधिक बढ़ जायेगा। यदि हम अपतर्पण-चिकित्सा करते हैं तो यह मेदस्वी पुरुष उसे सहन नहीं कर सकता, अतएव कहा गया है—'स्थूल होने की अपेक्षा कृश होना ही अच्छा है'। कृश रोगी को यथास्थिति में लाना सरल है, स्थूल को अपेक्षाकृत कृश करना कठिन होता है। यह अपने लिए तथा दूसरों के लिए बोझ होने के साथ-ही-साथ भूभार भी होता है। इसलिए चरक ने इसकी गणना 'अष्टौ निन्दितीयाध्याय' में की है। तथापि इनकी चिकित्सा का वर्णन इसी के आगे किया जा रहा है।

मधुरस्निग्धसौहित्यैर्यत्सौख्येन च नश्यति॥ ३२॥
क्रशिमा स्थविमाऽत्यन्तविपरीतनिषेवणैः।

कृशता-चिकित्सा—मधुर तथा घी-तेल से बने हुए आहारों को सदा भरपेट खाते रहने से तथा सुखमय जीवन बिताने से कृशता दूर हो जाती है।

स्थूलता-चिकित्सा—स्थूलता जिन कारणों से उत्पन्न हुई है, उनके सर्वथा विपरीत आहार-विहारों का चिरकाल तक सेवन करने से दूर की जा सकती है। इसी को आयुर्वेदशास्त्र ने 'निदान-परिवर्जन' चिकित्सा भी कहा है॥ ३२॥

योजयेद्बृंहणं तत्र सर्वं पानान्नभेषजम्॥ ३३॥

कृशता-चिकित्सा—इसमें पान (पेय—दूध आदि), अन्न (आहार—स्निग्ध पदार्थ, खीर अथवा मांस आदि) तथा भेषज (असगन्ध आदि) बृंहण पदार्थों का नियमित सेवन करे॥ ३३॥

अचिन्तया हर्षणेन ध्रुवं सन्तर्पणेन च। स्वप्नप्रसङ्गाच्च कृशो वराह इव पुष्यति॥ ३४॥

चिन्ता (सोच-फिकर) न करने से, प्रसन्न रहने से, सन्तर्पण पदार्थों का निरन्तर सेवन करते रहने से और अधिक सोने से कृश मनुष्य सूअर की भाँति मोटा हो जाता है॥ ३४॥

न हि मांससमं किञ्चिदन्यद्देहबृहत्त्वकृत्। मांसादमांसं मांसेन सम्भृतत्वाद्विशेषतः॥ ३५॥

मांस की महत्ता—बृंहण (सन्तर्पण) कारक द्रव्यों में मांस के समान ऐसा कोई द्रव्य नहीं है, जो शरीर को शीघ्र मोटा कर सके। उसमें भी कच्चा मांस को खाने वाले प्राणियों का अपना मांस भी मांस को खाने के कारण ही मोटा होता है, अतः इस प्रकार के प्राणियों का मांस और भी अधिक मांसवर्धक होता है॥ ३५॥

गुरु चातर्पणं स्थूले विपरीतं हितं कृशे। यवगोधूममुभयोस्तद्योग्याहितकल्पनम्॥ ३६॥

स्थूलता एवं कृशता की चिकित्सा—स्थूलता में गुरु (देर में पचने वाले) पदार्थों का आधा पेट भोजन करना हितकारक होता है और कृशता में लघु पदार्थों का सन्तर्पण (भरपेट खाना) लाभकर होता है। जौ तथा गेहूँ के विविध पदार्थों की स्थूल एवं कृश के योग्य कल्पना करके दिये गये आहार दोनों के लिए लाभदायक होते हैं॥ ३६॥

वक्तव्य—यद्यपि चाणक्य ने कहा है कि—'मांसान्मांसं प्रवर्धते'। यह सत्य है, परन्तु निरामिषभोजी समाज भी स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट देखा जाता है और निरामिषभोजी आमिषभोजियों की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक सुखी जीवन बिताते हैं।

भगवान् पुनर्वसु ने जो लंघन तथा बृंहण की परिभाषा दी है, वह अत्यन्त निर्भ्रान्त है। देखें—'यत् किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्। बृहत्वं यच्छरीरस्य जनयेत् तच्च लङ्घनम्'॥ (च.सू. २२।९) अर्थात् जो आहार-विहार तथा औषधोपचार शरीर में हलकापन उत्पन्न करता है, उसे लंघन कहते हैं और जो गुरुता (भारीपन) पैदा करता है, उसे 'बृंहण' कहते हैं।

दोषगत्याऽतिरिच्यन्ते ग्राहिभेद्यादिभेदतः। उपक्रमा न ते द्वित्वाद्भिन्ना अपि गदा इव॥ ३७॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने द्विविधोपक्रमणीयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

यद्यपि दोषों की गतिभेद के अनुसार ग्राही एवं भेदी आदि भेदों से चिकित्सा के भी अनेक भेद होते हैं और तदनुसार उनकी व्यवस्था भी की जाती है; फिर भी वे सभी चिकित्सा सम्बन्धी भेद सन्तर्पण एवं अपतर्पण के भीतर उसी प्रकार आ जाते हैं जैसे रोगों के अनेक भेद होने पर भी वे साम तथा निराम भेद से दो प्रकार के ही होते हैं॥ ३७॥

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
निर्मला हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में
द्विविधोपक्रमणीय नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त॥ १४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातः शोधनादिगणसङ्ग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से शोधनादिगणसंग्रह नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—द्विविधोपक्रमणीय नामक अध्याय का वर्णन करने के बाद अब यहाँ से शोधनादिगणसंग्रह नामक अध्याय का आरम्भ किया जा रहा है। इसके पूर्व अध्याय में अनेक प्रकार की चिकित्सा-विधियों का वर्णन सूत्र रूप में किया गया था। अब इस प्रकरण में शोधन आदि कर्म के उपयोगी औषधगणों के संग्रह की चर्चा की जायेगी।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. ४; सु.सू. ३७, ३८, ३९ एवं अ.सं.सू. १४, १५, १६ में देखें।

मदनमधुकलम्बानिम्बबिम्बीविशालात्रपुसकुटजमूर्वदेवदालीकृमिघ्नम् ।
विदुलदहनचित्राः कोशवत्यौ करञ्जः कणलवणवचैलासर्षपाश्च्छर्दनानि॥ १॥

वमनकारक द्रव्य—मैनफल, मुलेठी, लम्बा (कटुतुम्बी), निम्ब (नीम), बिम्बी (कड़वी तुण्डिकेरी), इन्द्रायण, त्रपुस (काली निशोथ, अन्यत्र खीरा), कुटज, मूर्वा, देवदाली (बन्दालडोडा), वायविडंग, जलवेतस, चित्रक, कड़ुआ परबल, कोशातकी, राजकोशातकी, करञ्ज, पिप्पली, लवण, बालवच, इलायची तथा सफेद (पीली) सरसों॥ १॥

वक्तव्य—ऊपर निर्दिष्ट औषधद्रव्यों को वमनकारक कहा गया है, किन्तु इनमें कतिपय द्रव्य ऐसे हैं, जिनके स्वतन्त्र गुण वामक नहीं हैं! जैसे—मधुक (मुलेठी), एला (इलायची) तथा त्रपुस का अर्थ जिन्होंने 'खीरा' किया है, वह भी। इसके बाद एक प्रकाश की किरण दिखलायी पड़ी, वह है—सुश्रुत की अमृतोपम वाणी—'समस्तं वर्गमर्धं वा यथालाभमथापि वा। प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञो यथोद्दिष्टेषु कर्मसु'॥ (सु.सू. ३७।३४) अर्थ स्पष्ट है। इस गण में कहे गये द्रव्यों के स्वतन्त्र गुणों के विवेचन की आवश्यकता नहीं पड़ती, अपितु इनका प्रयोग मिलाकर किया जाता है, क्योंकि यह सुश्रुत का सिद्धान्त-वाक्य मिश्रक वर्ग का है। मदनद्रव्य वमनकारक द्रव्यों में अग्रणी है, अतएव इस गण में उसकी सर्वप्रथम गणना की गयी है।

निकुम्भकुम्भत्रिफलागवाक्षीस्नुक्शङ्खिनीनीलिनितिल्वकानि ।
शम्याककम्पिल्लकहेमदुग्धा दुग्धं च मूत्रं च विरेचनानि॥ २॥

विरेचनकारक द्रव्य—दन्ती (जमालगोटा) की जड़, निसोत की जड़, त्रिफला, इन्द्रायण की जड़, थूहर का दूध, शंखिनी, नील के बीज, तिल्वक (लोध की छाल), अमलतास की गुद्दी, कबीला, स्वर्णक्षीरी, दूध तथा मूत्र (गोमूत्र) आदि द्रव्य विरेचक होते हैं॥ २॥

वक्तव्य—'तिल्वकरम्यककाम्पिल्यकपाटलीत्वचः'। (अ.सं.सू. १४।३) उक्त विषय को अ.हृ.सू. १५।२ में देखें। वृद्धवाग्भट ने कबीला की त्वचा का प्रयोग विरेचनार्थ लेने का निर्देश दिया है, उस विषय का संशोधन हृदय में किया गया है। इसका ग्राह्य अंग सामान्य रूप से फलरज है। इसकी त्वचा का प्रयोग कुष्ठ में किया जाता है। परिचय—'इष्टिकाचूर्णसङ्काशः चन्द्रिकाढ्योऽल्परेचनः। सौराष्ट्रदेशे वृक्षस्य फलरेणुः कपिल्लकः'॥ देखें—शिवदत्त-निघण्टु। इतना होने पर भी वृद्धवाग्भट का निर्देश परीक्षणीय है।

मदनकुटजकुष्ठदेवदालीमधुकवचादशमूलदारुरास्नाः ।
यवमिशिकृतवेधनं कुलत्था मधु लवणं त्रिवृता निरूहणानि॥ ३॥

निरूहणोपयोगी द्रव्य—मैनफल, कुटज की छाल, कूठ, बन्दालडोडा, मुलेठी, बालवच, दशमूल (दोनों पञ्चमूल), देवदारु, रासना, जौ, सौंफ या सोया, कृतवेधन (धामार्गव तरोई), कुलथी के बीज, मधु, लवण और निसोत—इन द्रव्यों का उपयोग निरुहणबस्ति के लिए करना चाहिए॥ ३॥

वेल्लापामार्गव्योषदार्वीसुराला बीजं शैरीषं बार्हतं शैग्रवं च।
सारो माधूकः सैन्धवं तार्क्ष्यशैलं त्रुटयौ पृथ्वीका शोधयन्त्युत्तमाङ्गम्॥ ४॥

शिरोविरेचनोपयोगी द्रव्य—वायविडंग, अपामार्ग, व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), दारुहल्दी, सफेद राल, सिरीष के बीज, वनभण्टा के बीज, सहजन के बीज, महुआ का सार, सेंधानमक, तार्क्ष्यशैल (सूखा रसाञ्जन), छोटी तथा बड़ी इलायची और पृथ्वीका (हिंगुपत्री)—ये द्रव्य शिरोविरेचक होते हैं। ये रूक्ष विरेचक द्रव्य हैं। इनकी नस्य देने से सिर के भीतर जमा हुआ कफ बाहर निकल आता है॥ ४॥

भद्रदारु नतं कुष्ठं दशमूलं बलाद्वयम्। वायुं वीरतरादिश्च विदार्यादिश्च नाशयेत्॥ ५॥

वातनाशक द्रव्य—देवदारु, तगर, कूठ, दशमूल (दोनों पञ्चमूल), बला, अतिबला, वीरतर आदि गण (आगे २४वाँ श्लोक देखें) तथा विदार्यादि गण (आगे ९-१०वाँ श्लोक देखें) ये द्रव्य वातनाशक हैं॥ ५॥

दूर्वाऽनन्ता निम्बवासाऽऽत्मगुप्ता गुन्द्राऽभीरुः शीतपाकी प्रियङ्गुः।
न्यग्रोधादिः पद्मकादिः स्थिरे द्वे पद्मं वन्यं सारिवादिश्च पित्तम्॥ ६॥

पित्तनाशक द्रव्य—दूब, जवासा, नीम, अडूसा, केवाँच, गुन्द्रा (पटेरक), शतावरी, शीतपाकी (काकणन्तिका-भेद), प्रियंगु (श्यामा), न्यग्रोधादि गण (श्लोक ४१), पद्मकादि गण (श्लोक १२), शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, कमल, नागरमोथा तथा सारिवादि गण (श्लोक ११)—इनका सेवन पित्तदोषनाशक होता है॥ ६॥

आरग्वधादिरर्कादिर्मुष्ककाद्योऽसनादिकः। सुरसादिः समुस्तादिर्वत्सकादिर्बलासजित्॥ ७॥

कफनाशक द्रव्य—आरग्वधादि गण (श्लोक १७), अर्कादि गण (श्लोक २८), मुष्ककादि गण (श्लोक ३२), असनादि गण (श्लोक १९), सुरसादि गण (पद्य ३०), मुस्तादि गण (पद्य ४०) एवं वत्सकादि गण (पद्य ३३) इन गणों में वर्णित द्रव्य कफनाशक होते हैं॥ ७॥

जीवन्ती काकोल्यौ मेदे द्वे मुद्गमाषपर्ण्यौ च। ऋषभकजीवकमधुकं चेति गणो जीवनीयाख्यः॥

जीवनीय गण—जीवन्ती, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, ऋषभक, जीवक तथा मुलेठी—ये दस द्रव्य जीवनी शक्ति को बढ़ाने वाले हैं॥ ८॥

विदारिपञ्चाङ्गुलवृश्चिकालीवृश्चीवदेवाह्वयशूर्पपर्ण्यः ।
कण्डूकरी जीवनह्रस्वसंज्ञे द्वे पञ्चके गोपसुता त्रिपादी॥ ९॥
विदार्यादिरयं हृद्यो बृंहणो वातपित्तहा। शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासहरो गणः॥ १०॥

विदार्यादि गण—विदारीकन्द, एरण्ड, मेढ़ासिंगी, पुनर्नवा, देवदारु, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, केवाँच, जीवनपञ्चमूल (अ.हृ.सू. ६।१७०), लघुपञ्चमूल (अ.हृ.सू. ६।१६९), सारिवा तथा हंसराज—ये द्रव्य विदार्यादिगण के कहे गये हैं। यह गण हृदय के लिए हितकर, शरीर को पुष्ट करने वाला, वात तथा पित्त-दोषनाशक, शोष, गुल्म, अंगमर्द, ऊर्ध्वश्वास तथा कास रोगों का विनाशक है॥ ९-१०॥

सारिवोशीरकाश्मर्यमधूकशिशिरद्वयम्। यष्टी परूषकं हन्ति दाहपित्तास्रतृड्ज्वरान्॥ ११॥

सारिवादि गण—सारिवा, खस, गम्भार, महुआ, सफेदचन्दन, लालचन्दन, मुलेठी तथा फालसा—ये द्रव्य सारिवादि गण के हैं। इन द्रव्यों का प्रयोग करने से दाह, पित्तज रोग, रक्तज रोग, तृषा (प्यास) तथा ज्वर का नाश हो जाता है॥ ११॥

पद्मकपुण्ड्रौ वृद्धितुगर्ध्यः शृङ्ग्यमृता दश जीवनसंज्ञाः।
स्तन्यकरा घ्नन्तीरणपित्तं प्रीणनजीवनबृंहणवृष्याः॥ १२॥

पद्मकादि गण—पद्मकाष्ठ, पुण्ड्र (प्रपौण्डरीक), वृद्धि (महाश्रावणी), वंशलोचन, ऋद्धि, काकड़ासिंगी, गुरुच तथा जीवनीय गण के दस द्रव्य (देखें—पद्य ८वाँ)—इसे पद्मकादि गण कहते हैं। यह दूध को बढ़ाता है, वातज, पित्तज रोगों को नष्ट करता है, तृप्तिकारक है, जीवनीय शक्ति को बढ़ाता है, शरीर को पुष्ट करता है तथा वीर्यवर्धक है॥ १२॥

परूषकं वरा द्राक्षा कट्फलं कतकात् फलम्। राजाह्वं दाडिमं शाकं तृण्मूत्रामयवातजित्॥ १३॥

परूषकादि गण—फालसा, त्रिफला, दाख या मुनक्का, कायफल (काफल), निर्मली के बीज, खिरनी के फल, दाड़िम (अनार) तथा सागवान के फल—इनका प्रयोग प्यास लगने में, मूत्रज तथा वातज विकारों का शमन करता है॥ १३॥

अञ्जनं फलिनी मांसी पद्मोत्पलरसाञ्जनम्। सैलामधुकनागाह्वं विषान्तर्दाहपित्तनुत्॥ १४॥

अञ्जनादि गण—काला सुरमा, सफेद सुरमा (इन दोनों को स्रोतोञ्जन तथा सौवीराञ्जन भी कहते हैं), फलिनी (प्रियंगु), जटामांसी, कमल, नीलकमल, रसवत, बड़ी इलायची, मुलेठी और नागकेसर—इनका प्रयोग विषविकार, अन्तर्दाह (भीतरी जलन) तथा पित्तविकारों का शमन करता है॥ १४॥

पटोलकटुरोहिणीचन्दनं मधुस्रवगुडूचिपाठान्वितम्।
निहन्ति कफपित्तकुष्ठज्वरान् विषं वमिमरोचकं कामलाम्॥ १५॥

पटोलादि गण—परबल, कुटकी, सफेदचन्दन, मधुस्रव (मुरंगी), गुरुच तथा पाठा—यह गण कफज रोग, पित्तज रोग, कुष्ठरोग, ज्वर, विषविकार, वमन, अरोचक तथा कामला रोगों का शमन करता है॥ १५॥

वक्तव्य—मधुस्रव शब्द के 'वैद्यकशब्दसिन्धु' में अनेक पर्याय इस प्रकार मिलते हैं—मधुक वृक्ष, मोरटलता, मूर्वा, चोरमूर्वा, हंसपदी, पिण्डखजूर का वृक्ष, जीवन्ती, मधुयष्टि, जटामांसी, लाल लज्जालु।

गुडूचीपद्मकारिष्टधानकारक्तचन्दनम्। पित्तश्लेष्मज्वरच्छर्दिदाहतृष्णाघ्नमग्निकृत्॥ १६॥

गुडूच्यादि गण—गुरुच, पद्मकाष्ठ, नीम की छाल, धनियाँ तथा लालचन्दन—यह गण पित्तज विकार, कफज विकार, ज्वर, वमन, दाह, प्यास का लगना; इन विकारों को दूर करता है एवं जठराग्नि को प्रज्वलित करता है॥ १६॥

आरग्वधेन्द्रयवपाटलिकाकतिक्तानिम्बामृतामधुरसास्रुववृक्षपाठाः।
भूनिम्बसैर्यकपटोलकरञ्जयुग्मसप्तच्छदाग्निसुषवीफलबाणघोण्टाः॥ १७॥
आरग्वधादिर्जयति छर्दिकुष्ठविषज्वरान्। कफं कण्डूं प्रमेहं च दुष्टव्रणविशोधनः॥ १८॥

आरग्वधादि गण—अमलतास, इन्द्रजौ (कुटजबीज), पाढ़ल, करंज, नीम, गुरुच, मूर्वा, स्रुववृक्ष (या स्रुवतरु—विकंकत वृक्ष), पाठा, चिरायता, कटसरैया, परबल, लताकरंज, करंज (कंजू या डिठोरी), छतिवन, चित्रक, कलौंजी, मैनफल, सहचर तथा सुपारी; यह गण वमन, कुष्ठ, विषविकार, ज्वर, कफज रोग, खुजली तथा प्रमेहरोग को नष्ट करता है एवं दूषित व्रण को शुद्ध करता है॥ १७-१८॥

असनतिनिशभूर्जश्वेतवाहप्रकीर्याः खदिरकदरभण्डीशिंशिपामेषशृङ्ग्यः।
त्रिहिमतलपलाशा जोङ्गकः शाकशालौ क्रमुकधवकलिङ्गच्छागकर्णाश्वकर्णाः॥ १९॥

असनादिर्विजयते श्वित्रकुष्ठकफक्रिमीन्। पाण्डुरोगं प्रमेहं च मेदोदोषनिबर्हणः॥ २०॥

असनादि गण—विजयसार, तिनिश, भोजपत्र, अर्जुन, डिठोरी, खैरसार, श्वेतसार, सिरस, शीशम, मेढ़ासिंगी, सफेदचन्दन, लालचन्दन, दारुहल्दी, ताड़, पलाश, अगुरु, सागवान, सालवृक्ष, सुपारी, धव, इन्द्रजौ, अजकर्ण एवं अश्वकर्ण—यह गण श्वित्र (सफेद कोढ़), कुष्ठरोग, कफज रोग, क्रिमिरोग, पाण्डुरोग, प्रमेह तथा मेदोदोष (मोटापा) इन विकारों को नष्ट करता है॥ १९-२०॥

वरुणसैर्यकयुग्मशतावरीदहनमोरटबिल्वविषाणिकाः ।
द्विबृहतीद्विकरञ्जजयाद्वयं बहलपल्लवदर्भरुजाकराः॥ २१॥

वरुणादिः कफं मेदो मन्दाग्नित्वं नियच्छति। आढ्यवातं शिरःशूलं गुल्मं चान्तः सविद्रधिम्॥

वरुणादि गण—वरुण (वरना), लाल फूल वाली कटसरैया, सफेद फूल वाली कटसरैया, शतावर, चित्रक, मूर्वा, बेल, काकड़ासिंगी, कण्टकारी, वनभण्टा, करंज, पूतिकरंज, अरणी, हर्रे, सहजन, दर्भ (कुशभेद) तथा रुजाकर (हिन्ताल)—यह गण कफज विकार, मेदोविकार, मन्दाग्नि, ऊरुस्तम्भ, शिरःशूल, गुल्मविकार तथा विद्रधि (भीतर की ओर मुँह वाला फोड़ा) को नष्ट करता है॥ २१-२२॥

ऊषकस्तुत्थकं हिङ्गु कासीसद्वयसैन्धवम्। सशिलाजतु कृच्छ्राश्मगुल्ममेदःकफापहम्॥ २३॥

ऊषकादि गण—ऊषक (कल्लर), तूतिया (औषध-प्रयोग में इसे भून कर लिया जाता है), हींग, हरा कासीस, सेंधानमक तथा शिलाजीत—यह गण मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी (पथरी), गुल्म, मेदोविकार एवं कफज विकार को शान्त करता है॥ २३॥

वेल्लन्तरारणिकबूकवृषाश्मभेदगोकण्टकेत्कटसहाचरबाणकाशाः ।
वृक्षादनीनलकुशद्वयगुण्ठगुन्द्राभल्लूकमोरटकुरण्टकरम्भपार्थाः ॥ २४॥

वर्गो वीरतराद्योऽयं हन्ति वातकृतान् गदान्। अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजाहरः॥ २५॥

वीरतर्वादि गण—वीरतरु, अग्निमन्थ (अरणि), बूक (ईश्वरमल्लिका), अडूसा, पाषाणभेद, गोखरू, इत्कर, सहचर, बाण (नीले फूल वाली कटसरैया), काश, वन्दा, नलसर (नरकट), कुश, दर्भ (डाभ), गुण्ठ (कुन्द्र), गुन्द्रा (पटेरक), भल्लूक (सोनापाठा), मोरट (क्षीरमोरट), कुरण्ट (सिलियारा), करम्भ (उत्तम अरणि) और पार्थ (सुवर्चला—हुलहुल)—यह गण वातज विकारों, अश्मरी (पथरी), शर्करा, मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्राघात की पीड़ा का शमन करता है॥ २४-२५॥

रोध्रशाबरकरोध्रपलाशा जिङ्गिणीसरलकट्फलयुक्ताः।
कुत्सिताम्बकदलीगतशोकाः सैलवालुपरिपेलवमोचाः॥ २६॥

एष रोध्रादिको नाम मेदःकफहरो गणः। योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशनः॥ २७॥

रोध्रादि गण—लोध, पठानीलोध, पलाश, जिंगिणी (काला सेमल), सरल (चीड़ वृक्ष), कायफल, रासना, कदम्ब, केला, अशोक, ऐलवालुक, मोथा एवं मोच (सलई)—यह गण मेदोदोष, कफज रोग, योनिविकारनाशक, मलस्तम्भक, वर्ण को उज्ज्वल करने वाला तथा विषविकार को नष्ट करता है॥ २६-२७॥

अर्कालर्कौ नागदन्ती विशल्या भार्ङ्गी रास्ना वृश्चिकाली प्रकीर्या।
प्रत्यक्पुष्पी पीततैलोदकीर्या श्वेतायुग्मं तापसानां च वृक्षः॥ २८॥

अयमर्कादिको वर्गः कफमेदोविषापहः। कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद्व्रणशोधनः॥ २९॥

अर्कादि गण—आक (मदार), अलर्क (सफेद फूल वाला मदार), नागदमन, कलिहारी, भारंगी, रासना, ऊँटकटारा, करंज, अपामार्ग (चिरचिटा), मालकाँगुनी, डिठौरी, दोनों श्वेता (किणही, पालिन्दी) तथा तापसवृक्ष (इंगुदी)—यह गण कफज विकार, मेदोरोग, विषविकार, क्रिमिरोग तथा कुष्ठरोग नाशक है; विशेष करके यह दुष्टव्रणों का शोधक है॥ २८-२९॥

सुरसयुगफणिज्जं कालमाला विडङ्गं खरबुसवृषकर्णीकट्फलं कासमर्दः।
क्षवकसरसिभार्ङ्गीकार्मुकाः काकमाची कुलहलविषमुष्टीभूस्तृणो भूतकेशी॥ ३०॥
सुरसादिर्गणः श्लेष्ममेदःकृमिनिषूदनः। प्रतिश्यायारुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः॥ ३१॥

सुरसादि गण—सफेद तुलसी, काली तुलसी, मरुवा, कालमाला (कुठेरक), वायविडंग, खरबुस (तुलसी), मूसाकर्णी, कायफल, कासमर्द (कसौंदी), नकछिंकनी, जलधनियाँ, भारंगी, कार्मुका (रक्तमंजरी), मकोय या गुड़फला, कुलहल (भूकदम्ब), कुचिला, सुगन्धितृण तथा जटामांसी—यह गण कफज विकार, मेदोरोग, क्रिमिज रोग, प्रतिश्याय, भोजन के प्रति अरुचि, श्वास एवं कास रोग का शमन करता है; विशेषकर यह व्रणशोधक होता है॥ ३०-३१॥

मुष्ककस्नुग्वराद्वीपिपलाशधवशिंशिपाः। गुल्ममेहाश्मरीपाण्डुमेदोऽर्शःकफशुक्रजित्॥ ३२॥

मुष्ककादि गण—मोखा, सेहुण्ड, त्रिफला, चित्रक, पलाश, धव तथा शीशम—यह गण गुल्म, प्रमेह, अश्मरी (पथरी), पाण्डुरोग, मेदोरोग, बवासीर, कफज विकार एवं शुक्र (वीर्य) सम्बन्धी दोषों को दूर करता है॥ ३२॥

वत्सकमूर्वाभार्ङ्गीकटुका मरीचं घुणप्रिया च गण्डीरम्।
एला पाठाऽजाजी कट्वङ्गफलाजमोदसिद्धार्थवचाः॥ ३३॥
जीरकहिङ्गुविडङ्गं पशुगन्धा पञ्चकोलकं हन्ति। चलकफमेदःपीनसगुल्मज्वरशूलदुर्नाम्नः॥

वत्सकादि गण—कुटज, मूर्वा, भारंगी, कुटकी, कालीमरिच, अतीस, थूहर, इलायची, पाठा, जीरा, सोनापाठा, मैनफल, अजवाइन, पीली सरसों, बालवच, कालाजीरा, हींग, वायविडंग, अजमोद और पंचकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक तथा सोंठ)—यह गण वातज विकार, कफज विकार, मेदोरोग, पीनस, गुल्म, ज्वर, शूल एवं बवासीर रोगों को नष्ट करता है॥ ३३-३४॥

वचाजलददेवाह्वनागरातिविषाभयाः। हरिद्राद्वययष्ट्याह्वकलशीकुटजोद्भवाः॥ ३५॥
वचाहरिद्रादिगणावामातीसारनाशनौ। मेदःकफाढ्यपवनस्तन्यदोषनिबर्हणौ॥ ३६॥

वचादि गण—बालवच, नागरमोथा, देवदारु, सोंठ, अतीस तथा हरीतकी (हरड़ या हर्रे)।

हरिद्रादि गण—हल्दी, दारुहल्दी (किरमोड़ा की छाल), मुलहठी, पृष्ठपर्णी तथा इन्द्रजौ।

उक्त दोनों गण के ये द्रव्य आमातिसार, मेदोरोग, कफजरोग, आढ्यवात (ऊरुस्तम्भ) एवं स्तन्यदोषों को नष्ट करते हैं॥ ३५-३६॥

प्रियङ्गुपुष्पाञ्जनयुग्मपद्माः पद्माद्रजो योजनवल्ल्यनन्ता।
मानद्रुमो मोचरसः समङ्गा पुन्नागशीतं मदनीयहेतुः॥ ३७॥
अम्बष्ठा मधुकं नमस्करी नन्दीवृक्षपलाशकच्छुराः।
रोध्रं धातकिबिल्वपेशिके कट्वङ्गः कमलोद्भवं रजः॥ ३८॥
गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ। सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानामपि रोपणौ॥ ३९॥

प्रियंग्वादि गण—प्रियंगु (गोंदनी) या प्रियंगुपुष्प (प्रियंगु के फूल), पुष्प (जस्ता का लावा या फूल, जिसे जयपुरी सफेदा भी कहते हैं), अञ्जनयुग्म (काला तथा सफेद सुरमा), पद्मा (पद्मचारिणी), कमल का केसर, मजीठ, जवासा, सेमल, सेमल की गोंद, नमस्कारी (लज्जावन्ती), नागकेशर, सफेदचन्दन तथा धाय के फूल।

अम्बष्ठादि गण—अम्बष्ठा (पाठा), मुलहठी, लज्जावन्ती, पारसपीपल, पलाश, धमासा, लोध, धाय के फूल, बेल की गिरी, सोनापाठा एवं कमल का केसर।

उक्त दोनों गण पक्वातीसार को नष्ट करते हैं, अस्थिभंग को जोड़ते हैं, पित्तज विकारों में हितकर होते हैं तथा व्रणरोपण (फोड़ा के घाव को भरने वाले) होते हैं॥ ३७-३९॥

मुस्तावचाग्निद्विनिशाद्वितिक्ताभल्लातपाठात्रिफलाविषाख्याः ।
कुष्ठं त्रुटी हैमवती च योनिस्तन्यामयघ्ना मलपाचनाश्च॥ ४०॥

मुस्तादि गण—नागरमोथा, बालवच, चित्रक, हल्दी, दारुहल्दी, द्वितिक्ता (कुटकी, यवतिक्ता), भिलावा, पाठा, त्रिफला, विषाख्या (अतिविषा = अतीस), कूठ, इलायची तथा सफेद वच—यह गण योनिरोग तथा स्तन्यरोग को नष्ट करता है और यह मल का पाचन करता है॥ ४०॥

न्यग्रोधपिप्पलसदाफलरोध्रयुग्मं जम्बूद्वयार्जुनकपीतनसोमवल्काः।
प्लक्षाम्रवञ्जुलपियालपलाशनन्दीकोलीकदम्बविरलामधुकं मधूकम्॥ ४१॥
न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः सङ्ग्राही भग्नसाधनः। मेदःपित्तास्रतृड्दाहयोनिरोगनिबर्हणः॥ ४२॥

न्यग्रोधादि गण—बरगद, पीपल, गूलर, लोध, पठानीलोध, जम्बूद्वय (जामुन, कठजामुन), अर्जुन, आमड़ा, कायफल (काफल), पाकर (पिल्खन), आम, वेत, चिरौंजी, पलाश, पारसपीपल, बेर, कदम्ब, तेंदू, मुलेठी तथा महुआ—यह गण व्रण का शोधन एवं रोपण, ग्राही, टूटी हुई अस्थि को जोड़ने वाला, मेदोरोग, पित्तज रोग, रक्तविकार, तृषा, दाह तथा योनिरोगों का विनाशक है॥ ४१-४२॥

एलायुग्मतुरुष्ककुष्ठफलिनीमांसीजलध्यामकं
स्पृक्काचोरकचोचपत्रतगरस्थौणेयजातीरसाः ।
शुक्तिर्व्याघ्रनखोऽमराह्वमगुरुः श्रीवासकः कुङ्कुमं
चण्डागुग्गुलुदेवधूपखपुराः पुन्नागनागाह्वयम्॥ ४३॥
एलादिको वातकफौ विषं च विनियच्छति। वर्णप्रसादनः कण्डूपिटिकाकोठनाशनः॥ ४४॥

एलादि गण—एलायुग्म (बड़ी इलायची, छोटी इलायची), लोहवान या कृत्रिम गोंद या रूमी मस्तगी, कूठ, गन्धप्रियंगु, जटामांसी, नेत्रबाला, सुगन्धितृण, स्पृक्का (देवी), ग्रन्थिपर्ण, दालचीनी, तेजपत्ता, तगर, थुनेर, बोल, सीप, नाखूना, देवदारु, अगुरु, श्रीवासक (गन्धाविरोजा), केशर, चण्डा (चोर नामक गन्धद्रव्य—वै.श.सि.), गुग्गुल, राल, कुन्दरू, गोंद, लाल नागकेसर तथा नागकेसर—यह गण वातज विकार, कफज विकार तथा विषज विकार को नष्ट करता है; वर्ण को स्वच्छ करता है, खुजली, पिडका तथा कोठ रोग को भी नष्ट करता है॥ ४३-४४॥

श्यामादन्तीद्रवन्तीक्रमुककुटरणाशङ्खिनीचर्मसाह्वा-
स्वर्णक्षीरीगवाक्षीशिखरिरजनकच्छिन्नरोहाकरञ्जाः ।
बस्तान्त्री व्याधिघातो बहलबहुरसस्तीक्ष्णवृक्षात् फलानि
श्यामाद्यो हन्ति गुल्मं विषमरुचिकफौ हृद्रुजं मूत्रकृच्छ्रम्॥ ४५॥

श्यामादि गण—काली निसोत, दन्ती (जमालगोटा), द्रवन्ती (मूसाकर्णी), सुपारी, सफेद निसोत, यवतिक्ता (कालमेघ), सातला, सत्यानाशी, इन्द्रायण, अपामार्ग, कबीला, गुरुच, करंज, बस्तान्त्री (वृषगन्धा), अमलतास, बहल (बहुफल), बहुरस (ईख) तथा पीलु—यह गण गुल्मरोग, विषज विकार, भोजन के प्रति अरुचि, कफज विकार, हृद्रोग तथा मूत्रकृच्छ्ररोग को नष्ट करता है॥ ४५॥

त्रयस्त्रिंशदिति प्रोक्ता वर्गास्तेषु त्वलाभतः। युञ्ज्यात्तद्विधमन्यच्च द्रव्यं जह्यादयौगिकम्॥ ४६॥

द्रव्यग्रहण-निर्देश—यहाँ तक तैंतीस द्रव्यवर्ग अर्थात् द्रव्यगण कहे गये हैं। इन गणों में परिगणित यदि कोई द्रव्य किसी कारण न मिल सके, तो वहाँ उसके समान गुण-धर्मों वाला दूसरा द्रव्य ले लेना

चाहिए और यदि उस गण में कोई ऐसा द्रव्य हो जो रोग की दृष्टि से अयोग्य हो तो उसे निकाल देना चाहिए॥ ४६॥

वक्तव्य—प्राचीन संहिताकारों ने इस प्रकार गणों का वर्णन कर मात्रा एवं दिशा निर्देश किया है। जो द्रव्य नहीं मिलता उसके स्थान पर प्रायः उसके समान गुण वाला द्रव्य लें। जो अनुपयोगी द्रव्य हो उसे हटा दें अथवा दूसरा कोई द्रव्य उपयोगी प्रतीत हो रहा हो तो उसे जोड़ दें। यह सब 'वृद्धवैद्योपदेशतः' अर्थात् उस-उस विषय में विशेष अनुभवी वैद्य को ही यहाँ 'वृद्ध' कहा है, न केवल आयु से बड़े को। इसकी चर्चा अन्यत्र भी की गयी है, जैसे—च्यवनप्राश के निर्माण अष्टवर्ग में वैकल्पिक द्रव्यों का निर्देश मिलता है। इस मत का समर्थन भगवान् पुनर्वसु ने च.वि. ८।१४९ में किया है, इसका अवलोकन करें।

एते वर्गा दोषदूष्याद्यपेक्ष्य कल्कक्वाथस्नेहलेहादियुक्ताः।
पाने नस्येऽन्वासनेऽन्तर्बहिर्वा लेपाभ्यङ्गैर्घ्नन्ति रोगान् सुकृच्छ्रान्॥ ४७॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने शोधनादिगणसङ्ग्रहो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

प्रयोग-विधियाँ—इस अध्याय में कहे गये वर्गों (गणों) का वात आदि दोषों, रस-रक्त आदि दूष्यों तथा मल-मूत्र आदि मलों के अनुरूप विचार करके इन्हें कल्क (चटनी), क्वाथ (काढ़ा), स्नेहपाक, लेह (अवलेह) आदि के रूप में तैयार करके पीने, सूँघने, अनुवासन तथा निरूहण बस्ति के रूप में भीतरी प्रयोग अथवा लेप, अभ्यंग आदि बाहरी प्रयोगों द्वारा कष्टसाध्य रोगों को भी नष्ट किया जा सकता है॥ ४७॥

वक्तव्य—महर्षि वाग्भट ने उक्त गणों का संग्रह सु.सू. ३८ एवं ३९ से किया है। द्रव्यों के संग्रह में इन्होंने कहीं कुछ द्रव्य छोड़ दिये हैं और कहीं कुछ बढ़ा दिये हैं, यह अधिकार संग्रहकर्ता को प्राप्त है। अच्छा होता यदि वे औषध-द्रव्यों के रख-रखाव की विधि का भी उल्लेख कर देते, किन्तु वह नहीं किया है, अतः आप स्वयं देख लें—सु.सू. ३८।८१। सुश्रुत ने जो भेषजागार की विधि बतलायी है, उसे भी देखें—सु.सू. ३६।१७ और इसके अनुसार आप भी अपना भेषजागार बनायें। इसमें औषधद्रव्यों का संग्रह करके रखें।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
निर्मला हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में
शोधनादिगणसंग्रह नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त॥ १५॥

षोडशोऽध्याय:

अथातः स्नेहविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से स्नेहनविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि इस विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—शोधन आदि गणों के पश्चात् अब यहाँ स्नेहाध्याय का आरम्भ किया जा रहा है। क्योंकि शास्त्रीय परम्परा के अनुसार शोधन-चिकित्सा स्नेहन तथा स्वेदन करने के पश्चात् ही की जाती है, इसीलिए यहाँ स्नेहन तथा स्वेदन का उपक्रम किया जा रहा है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. १३; सु.चि. ३१ एवं अ.सं.सू. २५ में देखें।

गुरुशीतसरस्निग्धमन्दसूक्ष्ममृदुद्रवम्। औषधं स्नेहनं प्रायो, विपरीतं विरूक्षणम्॥ १॥

स्नेहन एवं रूक्षण वर्णन—जो औषधद्रव्य गुरु, शीत, सर, स्निग्ध, मन्द, सूक्ष्म, मृदु एवं द्रव होता है वह प्रायः स्नेहन होता है। जो औषध उक्त गुणों के विपरीत होता है, वह प्रायः **रूक्षण** होता है॥ १॥

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु ने चरकसंहिता-सूत्रस्थान २२।११, १५-१६ में स्नेहन एवं रूक्षण द्रव्यों का वर्णन किया है। स्नेह के सेवन की अनुशंसा सुश्रुत ने भी चिकित्सास्थान ३१।३ में की है, इन स्थलों का अवलोकन कर लें।

सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम्। तत्रापि चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात्॥ २॥
माधुर्यादविदाहित्वाज्जन्माद्येव च शीलनात्।

चार प्रकार के स्नेह—घी, मज्जा, वसा तथा तेल—ये चारों स्नेहों में उत्तम माने गये हैं।

घृत की प्रधानता—उक्त चार प्रकार के स्नेहों में घी सर्वश्रेष्ठ होता है, क्योंकि यह संस्कार के अनुकूल कार्य करता है। यह मधुर होता है, यह विदाहकारक नहीं होता। इसका सेवन जन्मकाल से ही किया जाता है॥ २॥

वक्तव्य—उक्त स्नेहों का स्थावर-जंगम भेद से वर्गीकरण—तिलतैल, सार्षप तैल, एरण्ड तैल आदि स्थावर स्नेह कहे जाते हैं। घी, वसा, मज्जा की योनि जंगम है, क्योंकि इनकी प्राप्ति जीवित तथा मृत प्राणियों से होती है। घी नामक स्नेह की उत्तमता का कारण एक और भी है कि इसका सेवन जन्मकाल से आरम्भ हो जाता है अथवा कर दिया जाता है। इसके लिए आप देखें—सु.शा. १०।१२, १३, १५ तथा ६८, ६९, ७०। इसके सेवन से शरीर, मेधा, बल एवं बुद्धि बढ़ती है।

पित्तघ्नास्ते यथापूर्वमितरघ्ना यथोत्तरम्॥ ३॥

स्नेहों के प्रमुख गुण—ये चारों स्नेह अन्त से आरम्भ की ओर उत्तम पित्तशामक होते हैं तथा उत्तरोत्तर कफ एवं वात दोष का शमन करने में उत्तम होते हैं॥ ३॥

घृतात्तैलं गुरु वसा तैलान्मज्जा ततोऽपि च।

उत्तरोत्तर गुरुता—घी से तेल, तेल से वसा तथा वसा से मज्जा ये उत्तरोत्तर पाचन में गुरु होते हैं।

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतो महान्॥ ४॥

स्नेहयोगों के नाम—उक्त स्नेहों की गुरुता के अनुसार घी और तेल इन दो स्नेहों का नाम 'यमक' है। घी, तेल तथा वसा इन तीन स्नेहों का नाम 'त्रिवृत' है और घी, तेल, वसा एवं मज्जा इन चार स्नेहों का नाम 'महान्' है॥४॥

वक्तव्य—इन स्नेहों के उक्त नाम यहाँ सर्वथा पारिभाषिक हैं, अन्यत्र 'यमक' अलंकार, 'त्रिवृत्' तीन बार लपेटा हुआ और 'महान्' की तो बात ही क्या है, उसे तो सभी जानते हैं।

स्वेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तचिन्तकाः। वृद्धबालाबलकृशा रूक्षाः क्षीणास्त्ररेतसः॥५॥
वातार्तस्यन्दतिमिरदारुणप्रतिबोधिनः। स्नेह्याः—

स्नेहन-योग्य व्यक्ति—जो स्नेहन तथा संशोधन के योग्य हैं, जो मद्यपान, स्त्रीसहवास तथा व्यायाम करने में आसक्त हैं, जो चिन्तन करने में लगे रहते हैं, जो वृद्ध, बालक तथा कृश हैं, रूक्ष शरीरं वाले हैं, जिनका रक्तधातु एवं शुक्रधातु क्षीण हो गया है, जो वातविकार से पीड़ित हैं, अभिष्यन्द (नेत्ररोग विशेष) तथा तिमिर रोग से पीड़ित हैं, जिन्हें आँखों को खोलने या जागने में कष्ट होता है—ये सभी स्नेहन के योग्य होते हैं॥५॥

वक्तव्य—स्वेदन के योग्यों का परिचय १७वें अध्याय में तथा संशोधन के योग्यों का परिचय १८वें अध्याय में आगे देखें।

—न त्वतिमन्दाग्नितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बलाः॥६॥
ऊरुस्तम्भातिसाराऽऽमगलरोगगरोदरैः। मूर्च्छाच्छर्द्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्च पीडिताः॥७॥
अपप्रसूता युक्ते च नस्ये बस्तौ विरेचने।

स्नेहन के अयोग्य व्यक्ति—जो अत्यन्त मन्द अग्निवाले अथवा तीक्ष्ण अग्निवाले, जो अत्यन्त मोटे या दुर्बल हैं, जो ऊरुस्तम्भ, अतिसार, आमाजीर्ण, गलरोग, दूषीविष, उदररोग, मूर्च्छा, वमन, अरुचि, कफज रोग, तृष्णा, मदात्यय, गर्भस्राव या गर्भपात वाली स्त्री, जिन्हें अभी-अभी नस्यकर्म, बस्तिकर्म तथा विरेचन कर्म कराया गया हो, इन सबको स्नेहन नहीं कराना चाहिए॥६-७॥

तत्र धीस्मृतिमेधादिकाङ्क्षिणां शस्यते घृतम्॥८॥

घृतस्नेह के योग्य व्यक्ति—बुद्धि, स्मृति तथा मेधावृद्धि को चाहने वाले व्यक्तियों को घृतस्नेहन देना उत्तम होता है॥८॥

ग्रन्थिनाडीकृमिश्लेष्ममेदोमारुतरोगिषु। तैलं लाघवदाढर्यार्थिक्रूरकोष्ठेषु देहिषु॥९॥

तैलस्नेह के योग्य व्यक्ति—ग्रन्थिरोग (मा.नि. ३८।११ से १७ तक), नाड़ीव्रण, क्रिमिरोग, कफज विकार, मेदोविकार तथा वातज विकार वालों के लिए, शरीर में लघुता (हलका एवं फुर्तीलापन) चाहने वालों तथा क्रूरकोष्ठ वालों (जिन्हें सामान्य विरेचक औषध-द्रव्यों से विरेचन नहीं होता उनके) लिए लाभदायक होता है॥९॥

वातातपाध्वभारस्त्रीव्यायामक्षीणधातुषु। रूक्षक्लेशक्षमात्यग्निवातावृतपथेषु च॥१०॥
शेषौ—

वसा-मज्जास्नेह के योग्य व्यक्ति—वातदोष के कारण जिसके रस-रक्त आदि धातु क्षीण हो गये हों, आतप (धूप) सेवन से, अधिक मार्ग चलने से, बोझा ढोने से, स्त्री-सहवास करने से तथा व्यायाम करने से जिसके धातु क्षीण हो गये हों, जो शरीर से रूक्ष हों, जो कष्ट सहन कर सकने में समर्थ हों, जिनकी जठराग्नि अत्यन्त तीक्ष्ण हो, जिनके स्रोतस् वातदोष द्वारा घिरे हों, उनके लिए शेष (घी-तेल से रहित) वसा-मज्जा नामक स्नेह लाभदायक होते हैं॥१०॥

—वसा तु सन्ध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासु च। तथा दग्धाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि॥ ११॥

वसास्नेह का प्रयोगक्षेत्र—जिसकी सन्धियों (जोड़ों), अस्थियों, मर्मों में अथवा कोष्ठ (आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताशय, हृदय तथा उण्डुक) में पीड़ा हो रही हो; जो आग से जल गया हो; जो किसी प्रकार के आघात से प्रताड़ित हो, जिसकी योनि (गर्भाशय) खिसक कर बाहर आ गयी हो; इसी को योनिभ्रंश भी कहते हैं और जिसके कान एवं सिर में पीड़ा हो उनके लिए वसा का सेवन अधिक लाभदायक होता है॥ ११॥

तैलं प्रावृषि, वर्षान्ते सर्पिरन्यौ तु माधवे।

ऋतुभेद से स्नेहन-निर्देश—प्रावृट् ऋतु (आषाढ़-श्रावण) में तेल का, शरद् ऋतु में घी का और वसन्त ऋतु में वसा तथा मज्जा का सेवन करना चाहिए।

ऋतौ साधारणे स्नेहः शस्तोऽह्नि विमले रवौ॥ १२॥

दिन में स्नेहसेवन-निर्देश—साधारण ऋतुओं में अर्थात् जिन दिनों जाड़ा, गर्मी, वर्षा सामान्य हो ऐसे दिनों में जब सूर्य का प्रकाश स्वच्छ हो तब दिन में स्नेह का प्रयोग करे॥ १२॥

तैलं त्वरायां शीतेऽपि—

शीतकाल में तैल-प्रयोग—यदि चिकित्सा के लिए किसी स्नेहपान की आवश्यकता हो तो अन्य कालों के साथ शीतकाल में भी तैल का प्रयोग किया जा सकता है।

—घर्मेऽपि च घृतं निशि।

रात्रि में घृतपान-विधान—यदि गर्मी के दिनों में तत्काल स्नेहपान कराने की आवश्यकता हो तो रात में भी घृतपान किया जा सकता है।

निश्येव पित्ते पवने संसर्गे पित्तवत्यपि॥ १३॥

कारण-भेद से रात्रि में घृतपान—न केवल गर्मियों में ही रात को घृतपान करना चाहिए अपितु पित्त के प्रकुपित होने से उत्पन्न पित्तज विकारों में तथा वात के प्रकुपित होने से वातज विकारों में यदि वह स्नेहसाध्य हो तो रात में भी घृतपान कराया जा सकता है॥ १३॥

निश्यन्यथा वातकफाद्रोगाः स्युः पित्ततो दिवा।

स्नेहसेवन-विचार—ऊपरनिर्दिष्ट घृत-तैल सेवनकालों के विपरीत शीतकाल की रात्रियों में घृतपान करने से वातज तथा कफज रोग हो सकते हैं और उष्णकाल के दिनों में तैलपान करने से पित्तज विकार हो सकते हैं।

वक्तव्य—घृत अथवा तैलपान कराते समय रोगी की प्रकृति, देश, काल आदि का भी विचार कर लें।

युक्त्याऽवचारयेत्स्नेहं भक्ष्याद्यन्नेन बस्तिभिः॥ १४॥
नस्याभ्यञ्जनगण्डूषमूर्द्धकर्णाक्षितर्पणैः ।

स्नेहसेवन की युक्ति—स्नेह का सेवन युक्ति से (मात्रा, काल, क्रिया, भूमि, देह, दोष तथा स्वभाव का विचार करके) करना चाहिए।

स्नेहसेवन-प्रकार—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य अथवा पेय चतुर्विध आहार के साथ करें या उसमें मिलाकर करें। तीन प्रकार की बस्तियों (निरूह, अनुवासन तथा उत्तर बस्ति) का प्रयोग करें। नस्य, अभ्यंग, गण्डूष, शिरोबस्ति, कर्णपूरण तथा अक्षितर्पण के रूप में करें॥ १४॥

रसभेदैककत्वाभ्यां चतुःषष्टिर्विचारणाः॥ १५॥
स्नेहस्यान्याभिभूतत्वादल्पत्वाच्च क्रमात्स्मृताः।

स्नेह की विचारणाएँ—उपर्युक्त भेदों के अनुसार स्नेह की विचारणाएँ चौंसठ प्रकार की स्वीकार की गयी है। अ.हृ.सू. अध्याय १० में मधुर आदि रसों के जो ६३ भेद बतलाये गये हैं, उन एक-एक रसभेद के साथ स्नेह को मिलाकर सेवन करने से स्नेह की भी ६३ प्रविचारणाएँ तो हो जाती हैं। नस्य अथवा अभ्यंग में प्रयुक्त शुद्ध स्नेह का एक भेद और जोड़ देने से इसके ६४ भेद हो जाते हैं। दूसरे विद्वान् बस्ति आदि में प्रयुक्त स्नेह का एक भेद मानते हैं॥ १५॥

वक्तव्य—'प्रविचारणा' को कल्पनापूर्वक भेद कहा है। आचार्य चक्रपाणि ने इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है—''प्रविचार्यति अवचार्यते अनुकल्पेन उपयुज्यते अनयेति प्रविचारणाः ओदनादयः'। (च.सू. १३।२५ की टीका में) इस प्रसंग में चक्रपाणि का यह विचार युक्तिसंगत प्रतीत होता है। यही कारण है कि चरक ने २४ प्रकार की प्रविचारणाओं को ही स्वीकार किया है, न कि ६४ प्रकार की, अस्तु।

यथोक्तहेत्वभावाच्च नाच्छपेयो विचारणा॥ १६॥

विचारणा—ऊपर कहे गये कारणों के न होने से अच्छपेय (केवल स्नेहपान या शुद्ध स्नेहपान) को विचारणा नहीं कहा गया है॥ १६॥

स्नेहस्य कल्पः स श्रेष्ठः स्नेहकर्माशुसाधनात्।

अच्छपेय के लाभ—इस प्रकार के अच्छपेय को स्नेहपान का उत्तम कल्प माना जाता है, क्योंकि इस विधि से किया गया स्नेहपान शीघ्र ही शरीर को स्निग्ध (स्नेहगुणसम्पन्न) कर देता है।

वक्तव्य—भोजन में मिलाकर सेवन किया गया स्नेह प्रायः मल के साथ निकल जाता है, इसका आप भी स्वयं अनुभव करें। इसके विपरीत अच्छपेय में प्रयुक्त स्नेह पच जाता है। इसका प्रयोग करने के पहले यह देख लें कि जिसे स्नेहपान कराया जा रहा है, उसकी जठराग्नि प्रदीप्त है या नहीं, क्योंकि मन्दाग्नि वाले व्यक्ति को इसका प्रयोग न करायें। भगवान् पुनर्वसु ने अच्छपेय की उत्तम मात्रा की इस प्रकार प्रशंसा की है—**'तस्याः·····चेतसाम्'**। (च.सू. १३।३३-३४) **उत्तम मात्रा के गुण**—विधिपूर्वक सेवन की गयी स्नेह की यह मात्रा शीघ्र ही रोगों को शान्त करती है। यह तीनों रोगमार्गों में जाती हुई वहाँ के दोषों को नष्ट करती है। यह बल को बढ़ाती है और शरीर, इन्द्रियों एवं मन को पुनः ताजा कर देती है। अतएव इसे **'दोषानुकर्षिणी'** कहा है।

द्वाभ्यां चतुर्भिरष्टाभिर्यामैर्जीर्यन्ति याः क्रमात्॥ १७॥

ह्रस्वमध्योत्तमा मात्रास्तास्ताभ्यश्च ह्रसीयसीम्। कल्पयेद्वीक्ष्य दोषादीन् प्रागेव तु ह्रसीयसीम्॥

स्नेहमात्रा-विचार—स्नेहपान की मात्रा तीन प्रकार की होती है—१. लघु, २. मध्यम तथा ३. उत्तम। स्नेह की जो मात्रा दो पहर (६ घण्टे) तक में पच जाती है, उसे ह्रस्व या लघु मात्रा कहते हैं। जो चार पहर (१२ घण्टे) तक में पचती है, उसे मध्यम कहते हैं और जो मात्रा आठ पहर (२४ घण्टे) तक में पचती है, उसे उत्तम मात्रा कहते हैं।

चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह दोष, देश तथा काल आदि का विचार कर उक्त तीनों मात्राओं से भी छोटी एक मात्रा की कल्पना करके पहले सबसे छोटी उस मात्रा का प्रयोग करे॥ १७-१८॥

वक्तव्य—इस अल्पमात्रा के औचित्य का विचार करते हुए वृद्धवाग्भट इसके सम्बन्ध में कहते हैं—अ.सं.सू. २५।२३, २५।

ह्यस्तने जीर्ण एवान्ने स्नेहोऽच्छः शुद्धये बहुः।

शोधनार्थ स्नेहमात्रा—संशोधन-चिकित्सा के लिए अच्छस्नेह की उत्तम मात्रा का प्रयोग उस समय करे, जब कल का खाया हुआ भोजन भलीभाँति पच गया हो।

शमनः क्षुद्वतोऽनन्नो मध्यमात्रश्च शस्यते॥ १९॥

शमनार्थ स्नेहमात्रा—शमन-चिकित्सा के लिए अच्छस्नेह की मध्यम मात्रा का प्रयोग उस समय करे जब भलीभाँति भूख लगी हो। इसे अन्न के साथ कभी न लें॥ १९॥

बृंहणो रसमद्याद्यैः सभक्तोऽल्पः—

बृंहणार्थ स्नेहपान-विधि—इसका प्रयोग शरीर को पुष्ट करने के लिए इस प्रकार किया जाता है—स्नेह की थोड़ी मात्रा को मांसरस में मिलाकर सेवन करे और उसके बाद नियमानुसार मद्यपान करे।

—हितः स च। बालवृद्धपिपासार्तस्नेहद्विण्मद्यशीलिषु॥ २०॥
स्त्रीस्नेहनित्यमन्दाग्निसुखितक्लेशभीरुषु। मृदुकोष्ठाल्पदोषेषु काले चोष्णे कृशेषु च॥ २१॥

बृंहण स्नेहपान के योग्य व्यक्ति—यह अल्पमात्रा में प्रयुक्त बृंहण स्नेहपान बालक, वृद्ध, प्यास से पीड़ित, स्नेहपान न करना चाहने वाले, सदा मद्यपान करने वाले, स्त्री-सहवास करने वाले, प्रतिदिन भोजन के साथ स्नेह का सेवन करने वाले, मन्दाग्नि वाले, सुखी जीवन बिताने वाले, क्लेश (कष्ट) से डरने वाले, मृदुकोष्ठ वाले अर्थात् जिन्हें सामान्य विरेचक पदार्थों से भी विरेचन हो जाता है, अल्पदोषों वाले तथा कृश पुरुषों के लिए और उष्णकाल में सबके लिए हितकर होता है॥ २०-२१॥

वक्तव्य—स्नेहपान या स्नेहसेवन विधिभेद से तीन प्रकार का होता है— १. बृंहणस्नेह, २. शमनस्नेह तथा ३. शोधनस्नेह। यद्यपि इनका आशय नाम मात्र से स्पष्ट हो जाता है, फिर भी संक्षेप में यहाँ तीनों का परिचय प्रस्तुत है— १. बृंहणस्नेह का वर्णन ऊपर दिये गये २०-२१ श्लोकों में है, वैसे भी प्रतिदिन दाल में डालकर, रोटियों में चुपड़कर, दाल, शाक आदि को छौंककर जो अल्पमात्रा में स्नेह का प्रयोग होता है, वह बृंहणस्नेह है। २. शमनस्नेह उसे कहते हैं, जो दोषों को शान्त करने के लिए प्रयुक्त होता है और ३. शोधनस्नेह उसे कहते हैं, जिसका प्रयोग दोषों को निकालने के लिए किया जाता है।

प्राङ्मध्योत्तरभक्तोऽसावधोमध्योर्ध्वदेहजान्। व्याधीञ्जयेद्बलं कुर्यादङ्गानां च यथाक्रमम्॥ २२॥

स्नेहसेवन का प्रभाव—उक्त त्रिविध स्नेहमात्रा भोजन के पहले खाने या पीने से शरीर के निचले भाग के रोगों को, भोजन के बीच में खाने-पीने से शरीर के मध्यभाग के रोगों को और भोजन के अन्त में खाने-पीने से शरीर के ऊपरी भाग के रोगों को नष्ट करता है तथा उन्हीं अवयवों को बलवान् भी करता है॥ २२॥

वार्युष्णमच्छेऽनु पिबेत् स्नेहे तत्सुखपक्तये। आस्योपलेपशुद्ध्यै च, तौवरारुष्करे न तु॥ २३॥
जीर्णाजीर्णविशङ्कायां पुनरुष्णोदकं पिबेत्। तेनोद्गारविशुद्धिः स्यात्ततश्च लघुता रुचिः॥ २४॥

विविध स्नेहों के अनुपान—अच्छस्नेह का सेवन करने के बाद अनुपान के रूप में उष्ण जल पीना चाहिए। ऐसा करने से वह स्नेह सुख से पच जाता है तथा इससे स्नेहपान के कारण मुख में होने वाली चिपचिपाहट भी दूर हो जाती है। किन्तु उक्त उष्णजलपान का नियम तुवरक (चालमोगरा) तथा भिलावा के स्नेह का सेवन करने में नहीं करें अर्थात् इनका सेवन करने के बाद अनुपान के रूप में शीतल जल पीना चाहिए। यदि सेवन किया गया स्नेह पचा या नहीं पचा ऐसी शंका हो तो बाद में फिर उष्णजल पीने के लिए दिया जा सकता है। इस प्रकार गरम पानी पीने से शुद्ध (निर्दोष) डकार आते हैं, शरीर में हलकापन तथा भोजन के प्रति रुचि बढ़ती है॥ २३-२४॥

वक्तव्य—सुप्रसिद्ध वातनाशक एवं विरेचक एरण्डतैल का अनुपान भी उष्ण जल या गरम दूध ही माना गया है। इसके विपरीत घी-तेल में बने पकवानों को खाने के बाद जो प्यास लगती है, उसमें शीतल जल का ही सेवन करना चाहिए।

भोज्योऽन्नं मात्रया पास्यन् श्वः पिबन् पीतवानपि। द्रवोष्णमनभिष्यन्दि नातिस्निग्धमसङ्करम्॥

स्नेहपानार्थ आहार-विचार—जब कल स्नेहपान कराना हो तो उसके एक दिन पहले, जिस दिन स्नेहपान किया जाय उस दिन और स्नेहपान करने के एक दिन बाद भी ऐसा भोजन करना चाहिए जो उचित मात्रा में हो, अधिक पतला, अधिक गरम तथा जो अभिष्यन्दी न हो, अधिक स्नेहमिश्रित न हो और अनेक प्रकार का मिला हुआ भोजन नहीं करना चाहिए॥ २५॥

उष्णोदकोपचारी स्याद्ब्रह्मचारी क्षपाशयः। न वेगरोधी व्यायामक्रोधशोकहिमातपान्॥ २६॥
प्रवातयानयानाध्वभाष्यात्यासनसंस्थितीः। नीचात्युच्चोपधानाहःस्वप्नधूमरजांसि च॥ २७॥
यान्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपि त्यजेत्।

स्नेहपानार्थ विहार-विचार—जितने दिनों तक स्नेहपान किया जाय उतने दिनों में और उतने ही अगले दिनों में स्नान करने में, पीने में तथा अन्य कार्यों में भी गरम पानी का ही प्रयोग करना चाहिए, वह ब्रह्मचारी रहे, रात्रि में ही शयन करे, मल-मूत्र आदि के वेगों को न रोके, व्यायाम, क्रोध, शोक, शीत, धूप (घाम), झोंके की हवा, ऊटपटांग सवारियों में बैठकर यात्रा न करे, न अधिक रास्ता चले, अधिक भाषण न करे, अधिक न बैठे, अधिक देर तक खड़ा न रहे, अधिक नीचा या अधिक ऊँचा सिरहाना न रखे, दिन में सोना, धुआँ, धूलि में रहना या साँस लेना छोड़ दें॥ २६-२७॥

सर्वकर्मस्वयं प्रायो व्याधिक्षीणेषु च क्रमः॥ २८॥

सर्वत्र त्याज्य कर्म—ऊपर कहे गये आहार-विहारों को न केवल स्नेहपान में ही अपितु स्वेदन, वमन, विरेचन आदि में भी छोड़ देना चाहिए और यही क्रम व्याधिक्षीणों (रोग के कारण जो कृश हो गये हों उन) में भी त्यागने का ध्यान रखना चाहिए॥ २८॥

उपचारस्तु शमने कार्यः स्नेहे विरिक्तवत्।

शमन-स्नेहपान में उपचार—शमनस्नेह के सेवनकाल में जिसे विरेचन करा दिया गया हो, उसके समान उपचार (आहार-विहार) करना चाहिए। इसे देखें—आगे अ.हृ.सू. १८।२८-२९ में।

त्र्यहमच्छं मृदौ कोष्ठे क्रूरे सप्तदिनं पिबेत्॥ २९॥
सम्यक्स्निग्धोऽथवा यावदतः सात्म्यीभवेत् परम्।

स्नेहपान की अवधि—मृदुकोष्ठ वाले व्यक्ति को अच्छस्नेह का सेवन तीन दिन तक करना चाहिए और क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्ति को (अच्छस्नेह का सेवन) सात दिन तक करना चाहिए। अथवा जब तक कोष्ठ भलीभाँति स्निग्ध न हो जाय तब तक पीना चाहिए। उसके बाद भी स्नेहपान करते रहने पर उसका स्नेहन सम्बन्धी लाभ नहीं मिलता, क्योंकि उसके बाद वह सात्म्य (अभ्यस्त) हो जाता है॥ २९॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने स्नेहपान की अवधि का वर्णन इस प्रकार किया है— **पिबेत्'·····सेवितः'**॥ (सु.चि. ३१।३६) अर्थात् स्नेह को तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन, छः दिन, अधिक-से-अधिक सात दिन तक सेवन करना चाहिए। इसके आगे सेवन किया गया स्नेह सात्म्य हो जाता है। यही मत भगवान् पुनर्वसु का भी है—**स्नेहस्य'····रात्रकौ'**॥ (च.सू. १३।५१)

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्॥ ३०॥
स्नेहोद्वेगः क्लमः सम्यक्स्निग्धे, रूक्षे विपर्ययः। अतिस्निग्धे तु पाण्डुत्वं घ्राणवक्त्रगुदस्रवाः॥

सम्यक् स्निग्ध पुरुष के लक्षण—वातदोष की अनुकूलता, जठराग्नि का प्रदीप्त हो जाना, मल का स्निग्ध हो जाना, मल की गाँठों का ढीला पड़ जाना, स्नेहपान के प्रति अरुचि का होना तथा मन में थकावट की प्रतीति का होना—ये लक्षण होते हैं।

रूक्ष रहने (सम्यक् स्निग्ध न होने) पर उसके विपरीत लक्षण देखे जाते हैं।

अतिस्निग्ध के लक्षण—शरीर में पीलापन का होना, नासिका, मुख तथा गुदद्वार से स्राव का होना ये लक्षण होते हैं। इस स्राव में उक्त अवयव के मलों के साथ स्नेह भी निकलता है॥ ३०-३१॥

अमात्रयाऽहितोऽकाले मिथ्याहारविहारतः। स्नेहः करोति शोफार्शस्तन्द्रास्तम्भविसंज्ञताः॥
कण्डूकुष्ठज्वरोत्क्लेशशूलानाहभ्रमादिकान् ।

मिथ्या स्निग्ध के लक्षण—किसको कितनी स्नेहमात्रा देनी चाहिए, इसका विचार किये बिना प्रयुक्त स्नेह, जो जिसके लिए निषिद्ध स्नेह है उसका सेवन करने से, अकाल में (किसको ग्रीष्मकाल में, किसको शीतकाल में कौन-सा स्नेहपान करना चाहिए, इसका विवरण इसी अध्याय में पहले दिया जा चुका है), मिथ्या आहार-विहार करने पर सेवन किया गया स्नेहपान—शोथ, अर्श (बवासीर), हृदयस्तम्भ, बेहोशी, कण्डू (खुजली), कुष्ठरोग, ज्वर, मिचली, शूल, आनाह, भ्रम, बलक्षय, जड़ता, स्वरभेद आदि अष्टांगसंग्रह में कहे गये रोगों को उत्पन्न कर देता है। इसी को 'स्नेहव्यापद्' कहते हैं॥ ३२॥

क्षुत्तृष्णोल्लेखनस्वेदरूक्षपानान्नभेषजम् ॥ ३३॥
तक्रारिष्टखलोद्दालयवश्यामाककोद्रवम् । पिप्पलीत्रिफलाक्षौद्रपथ्यागोमूत्रगुग्गुलु॥ ३४॥
यथास्वं प्रतिरोगं च स्नेहव्यापदि साधनम्।

स्नेहव्यापद् की चिकित्सा—भूखा रहना, प्यासा रहना, उल्लेखन (वमन कराना), स्वेदन, रूक्षपान, रूक्ष भोजन तथा रूक्ष औषधद्रव्यों का सेवन, तक्र (मठा) एवं विविध प्रकार के अरिष्टों को पीना, तिल अथवा सरसों की खली का सेवन, जौ, सावाँ, कोदों, पिप्पली, त्रिफला, शहद, हरड़, गोमूत्र, गुग्गुल आदि का श्लोक ३२ में कहे गये रोगों के अनुसार उक्त औषध-द्रव्यों का स्नेहव्यापद्रोग में प्रयोग करना चाहिए॥ ३३-३४॥

वक्तव्य—अतिमात्रा में प्रयुक्त स्नेह के कारण उत्पन्न रोगों की यह रूक्षण चिकित्सा अथवा 'निदानपरिवर्जन-चिकित्सा' है।

विरूक्षणे लङ्घनवत्कृतातिकृतलक्षणम्॥ ३५॥

विरूक्षण-निर्देश—ऊपर कहे गये उपचारों द्वारा जब शरीर में रूक्षता उत्पन्न होती है, तो चिकित्सक को ध्यान देना चाहिए। इसमें भी लंघन के समान कृत (सुयोग) तथा अतिकृत (अतियोग) के लक्षण देखे जाते हैं॥ ३५॥

वक्तव्य—लंघन के सुयोग तथा अतियोग के लक्षणों के लिए देखें—अ.हृ.सू. १४।

स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक् स्वेदमाचरेत्। स्निग्धस्त्र्यहं स्थितः कुर्याद्विरेकं, वमनं पुनः॥ ३६॥
एकाहं दिनमन्यच्च कफमुत्क्लेश्य तत्करैः।

स्वेदन आदि के प्रयोग—सम्यक् स्नेहन होने के बाद स्वेदन कराना चाहिए। स्वेदन कराते समय स्नेहयुक्त, द्रव एवं उष्ण आहार का तथा जांगलदेशीय मृग आदि प्राणियों के मांसरस का सेवन उस व्यक्ति को कराना चाहिए। स्नेहन कराने के तीन दिन बाद विरेचन कराना चाहिए। विरेचन कराने के एक दिन बाद अर्थात् एक दिन रुककर अगले दिन उस व्यक्ति को तिल, माष आदि से निर्मित कफकारक पेया आदि पिलाकर कफ को उभाड़ कर तब वमन कराना चाहिए, जिससे कफ का निर्हरण हो जाय॥ ३६॥

मांसला मेदुरा भूरिश्लेष्माणो विषमाग्नयः॥ ३७॥
स्नेहोचिताश्च ये स्नेह्यास्तान् पूर्वं रूक्षयेत्ततः। संस्नेह्य शोधयेदेवं स्नेहव्यापन्न जायते॥ ३८॥

स्नेहन के पूर्व रूक्षण-विधि—जो मनुष्य मांसल (मोटे) हों, जो मेदस्वी हों अर्थात् जिनका मेदोधातु बढ़ा हो, जो अधिक कफ वाले हों, जिनकी जठराग्नि विषम हो और जिन्हें स्नेह सात्म्य हो ऐसे पुरुषों को यदि स्नेहन कराना हो तो इन्हें पहले रूक्षण-प्रयोग करायें और रूक्षण-विधि के सम्पन्न हो जाने पर

तब इन्हें स्नेहन दें और उसके बाद संशोधन (वमन या विरेचन) करायें। इस प्रकार करने से उक्त प्रकार के व्यक्तियों में भी स्नेहव्यापद् (स्नेहसेवन के कारण होने वाले रोग) नहीं होते॥ ३७-३८॥

अलं मलानीरयितुं स्नेहश्चासात्म्यतां गतः।

असात्म्य स्नेह की शक्ति—असात्म्यता को प्राप्त स्नेह ही मलों को अपने स्थान से बाहर निकलने के लिए प्रेरित करने में समर्थ हो जाता है।

बालवृद्धादिषु स्नेहपरिहारासहिष्णुषु॥ ३९॥
योगानिमाननुद्वेगान् सद्यःस्नेहान् प्रयोजयेत्।

सद्यःस्नेहन का निर्देश—बालक, वृद्ध तथा सुकुमार आदि जो स्नेहविधि के प्रयोगकाल में परिहार (छोड़ने योग्य—शीतल जलपान) को सहन न कर सकें, उन्हें इन नीचे कहे गये योगों का प्रयोग कराना चाहिए, क्योंकि ये योग सद्यः (तत्काल) स्नेहन भी करते हैं और इनके सेवन से किसी प्रकार की घबड़ाहट भी नहीं होती है॥ ३९॥

प्राज्यमांसरसास्तेषु, पेया वा स्नेहभर्जिता॥ ४०॥
तिलचूर्णश्च सस्नेहफाणितः, कृशरा तथा। क्षीरपेया घृताढ्योष्णा, दध्नो वा सगुडः सरः॥ ४१॥
पेया च पञ्चप्रसृता स्नेहैस्तण्डुलपञ्चमैः। सप्तैते स्नेहनाः सद्यः, स्नेहाश्च लवणोल्बणाः॥ ४२॥

सात सद्यःस्नेहन योग— १. अधिक घी मिला हुआ मांसरस, २. अधिक घी डालकर छौंकी गयी पेया, ३. तिलचूर्ण (कल्क) तथा राब घी मिला हुआ, ४. घी डाली गयी खिचड़ी, ५. घी डाली गयी गरम खीर, ६. गुड़ मिलायी गयी दही की मलायी और ७. घी, तेल, वसा, मज्जा एवं चावल ये प्रत्येक एक-एक प्रसृत अर्थात् दो-दो पल (१ प्रसृत = दो पल = ८ तोला) मिलाकर पकायी गयी पेया—ये सात योग सद्यः (शीघ्र ही) स्नेहन कराने वाले हैं। इन सभी स्नेहों में पर्याप्त लवण मिलाकर देना चाहिए॥ ४०-४२॥

तद्ध्यभिष्यन्द्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च।

लवण के गुण—वह लवण अभिष्यन्दी है, रूक्षतारहित है अतएव स्निग्ध है, सूक्ष्म है, उष्ण है तथा व्यवायी (सम्पूर्ण शरीर में फैलने वाला) होता है।

गुडानूपामिषक्षीरतिलमाषसुरादधि ॥ ४३॥
कुष्ठशोफप्रमेहेषु स्नेहार्थं न प्रकल्पयेत्।

स्नेहन-योगों का निषेध—गुड़, अनूपदेशज प्राणियों का मांस, दूध, तिल, उड़द द्वारा निर्मित बड़े आदि खाद्य पदार्थ, सुरा और दही—ये पदार्थ स्नेहन में कारण होते हैं। इनका प्रयोग कुष्ठरोग, शोथरोग तथा प्रमेहरोग में स्नेहन कराने के लिए नहीं कराना चाहिए॥ ४३॥

त्रिफलापिप्पलीपथ्यागुग्गुल्वादिविपाचितान् ॥ ४४॥
स्नेहान् यथास्वमेतेषां योजयेदविकारिणः।

कुष्ठादि के योग्य स्नेह—इन उपर्युक्त कुष्ठ आदि रोगों में स्नेहन के लिए त्रिफला, पिप्पली, हरीतकी तथा गुग्गुलु आदि के संयोग से पकाये गये स्नेहों का प्रयोग करें। क्योंकि ये स्नेह उक्त रोगों में हानिकारक नहीं होते ॥ ४४॥

क्षीणानां त्वामयैरग्निदेहसन्धुक्षणक्षमान्॥ ४५॥

क्षीण पुरुषों के योग्य स्नेह—जीर्णज्वर आदि रोगों के कारण क्षीण हुए पुरुषों को स्नेहन देने के लिए उन स्नेहों का प्रयोग करना चाहिए जो स्नेह जठराग्नि को प्रदीप्त करने तथा शरीर को पुष्ट करने में समर्थ हों॥ ४५॥

दीप्तान्तराग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः स्नेहोपसेवी पुरुषः प्रदिष्टः॥ ४६॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने स्नेहविधिर्नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

स्नेह-सेवन से लाभ—स्नेहों का निरन्तर सेवन करने से जठराग्नि प्रदीप्त रहती है, कोष्ठ के अन्तर्गत सभी अवयव शुद्ध रहते हैं, रस-रक्त आदि सातों धातु ताजे बने रहते हैं, अतएव मानव बल तथा वर्ण (कान्ति) से युक्त बना रहता है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ रहती हैं। स्नेहसेवन करने वाले पर वृद्धता का प्रभाव शीघ्र नहीं पड़ता तथा वह शतायु होता है॥ ४६॥

वक्तव्य—स्नेहसेवन-प्रकरण में उन निर्धनों पर भी आयुर्वेद ने ध्यान दिया है, नहीं तो वे बेचारे कहाँ से घी-तेल लाते। आप ध्यान दें—'यात्यामाशयमाहारः पूर्वं प्राणानिलेरितः। वह्नेर्बलेन माधुर्यं स्निग्धतां याति तद्रसः॥ पुष्णाति धातूनखिलान् सम्यक् पक्वोऽमृतोपमः'॥ (शा.सं.पू.खं. ६।४ से ८) अर्थात् आहार रस का समुचित पाक हो जाने पर वह रस स्वभाव से मधुर एवं स्निग्ध हो जाता है, तदनन्तर वह सभी धातुओं का पोषण करता है। यह है ईश्वर की कृपा।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
निर्मला हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में
स्नेहविधि नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त॥ १६॥

सप्तदशोऽध्यायः

अथातः स्वेदविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से स्वेदविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—इसके पहले अध्याय में शरीरशोधन-विधि को ध्यान में रखकर स्नेहन-विधि का सांगोपांग वर्णन किया गया, अब इस अध्याय में स्वेदविधि का वर्णन किया जायेगा। क्योंकि शरीर के स्निग्ध होने पर दोषों को मृदु करने के लिए स्वेदन किया जाता है। अतएव स्वेदन-विधि का समुचित ज्ञान कराने के लिए प्रस्तुत अध्याय की प्रस्तावना की जा रही है।

भगवान् पुनर्वसु ने चरक-सूत्रस्थान अध्याय १४ में १३ प्रकार की स्वेदन विधियों का विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु महर्षि वाग्भट ने उन भेदों का अन्तर्भाव आगे कहे जाने वाले चार प्रकार के स्वेदभेदों में कर दिखाया है। यह स्वेदनकर्म सम्पूर्ण शरीर पर किया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर किसी अंग-विशेष पर भी किया जाता है। इसकी चरम उपलब्धि है—सम्पूर्ण शरीर से अथवा अंग-विशेष से पसीना निकालना। इससे रोमकूपों के बन्द हुए मुख (द्वार) खुल जाते हैं।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. १४; सु.चि. ३२ एवं अ.सं.सू. २६ में देखें।

स्वेदस्तापोपनाहोष्मद्रवभेदाच्चतुर्विधः ।

स्वेद के चार भेद—स्वेद या स्वेदन के चार भेद होते हैं। यथा— १. तापस्वेद, २. उपनाहस्वेद, ३. ऊष्मस्वेद तथा ४. द्रवस्वेद।

वक्तव्य—महर्षि वाग्भट चतुर्विध स्वेदन के वर्णन में पूर्ण रूप से सुश्रुत से प्रभावित थे। चरकोक्त स्वेदन भेद इस प्रकार हैं— १. संकर, २. प्रस्तर, ३. नाड़ी, ४. परिषेक, ५. अवगाहन, ६. जेन्ताक, ७. अश्मघन, ८. कर्षू, ९. कुटी, १०. भू, ११. कुम्भ, १२. कूप तथा १३. होलाक। इन १३ स्वेदविधियों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—**तापस्वेद में**—जेन्ताक, कर्षू, कुटी, कूप तथा होलाक ५ को, **ऊष्मस्वेद तथा उपनाहस्वेद में**—संकर, प्रस्तर, अश्मघन, नाड़ी, कुम्भ तथा भूस्वेद ६ को और **द्रवस्वेद में**—परिषेक तथा अवगाहन २ को।

तापोऽग्नितप्तवसनफालहस्ततलादिभिः ॥ १ ॥

तापस्वेद—उक्त चारों भेदों में से प्रथम तापस्वेद का परिचय प्रस्तुत है—यह वह स्वेदन-विधि है जिसमें आग में तपाये गये वस्त्र, फाल (रुई या केवल रुई से बनाये गये वस्त्रों का ग्रहण किया गया है) तथा हाथ-पैर के तलुओं आदि को आग में तपाकर स्वेदन किया जाता है॥ १ ॥

उपनाहो वचाकिण्वशताह्वादेवदारुभिः। धान्यैः समस्तैर्गन्धैश्च रास्नैरण्डजटामिषैः ॥ २ ॥
उद्रिक्तलवणैः स्नेहचुक्रतक्रपयःप्लुतैः। केवले पवने, श्लेष्मसंसृष्टे सुरसादिभिः ॥ ३ ॥
पित्तेन पद्मकाद्यैस्तु साल्वणाख्यैः पुनःपुनः।

उपनाहस्वेद—बालवच, किण्व (सुराबीज), सौंफ या सोया, देवदार, जौ, गेहूँ आदि धान्य, नालुका (मोटी तज) आदि सुगन्धित द्रव्य, रासना, रेड़ की जड़ तथा मांस को लेकर पर्याप्त नमक मिलाकर स्नेह

(घी) आदि स्निग्धद्रव्य, चुक्र, तक्र और दूध इन सबको पकाकर केवल वातविकारों में बाँधा जाता है। यदि वातदोष के साथ कफदोष भी मिला हो तो सुरसादि गण की औषधियों के उपनाह का प्रयोग करना चाहिए और यदि वातदोष के साथ पित्तदोष मिला हो तो पद्मकादि गण तथा साल्वण नामक योगों द्वारा निर्मित उपनाहों का बार-बार प्रयोग करना चाहिए॥ २-३॥

वक्तव्य—उक्त उपनाहस्वेद में कहे गये कुछ द्रव्य इधर-उधर से लिये गये हैं, अतः उनका निर्देश हम यहाँ कर रहे हैं—'समस्तैर्गन्धैश्च' इसे वृद्धवाग्भट ने अ.सं.सू. २६।५ में सर्वगन्ध कहा है, देखें। 'सुरसादि गण' को देखें—अ.हृ.सू. १५।३०। 'पद्मकादि गण' को देखें—अ.हृ.सू. १५।१२ तथा 'साल्वण'—सु.चि. ४।१४-१५ में देखें। यहाँ **'उपनाह'** का अर्थ है—उक्त द्रव्यों के साथ बाँधना। इसी को **'पुल्टिस'** भी कहते हैं।

स्निग्धोष्णवीर्यैर्मृदुभिश्चर्मपट्टैरपूतिभिः ॥ ४॥
अलाभे वातजित्पत्रकौशेयाविकशाटकैः। बद्धं रात्रौ दिवा मुञ्चेन्मुञ्चेद्रात्रौ दिवाकृतम्॥ ५॥

बन्धनद्रव्य-निर्देश—ऊपर कहे गये द्रव्यों का पतला हलुआ-सा बनाकर वेदना वाले अंग पर लगाकर स्निग्ध तथा उष्णवीर्य वाले मुलायम चमड़े की पट्टियों, जो दुर्गन्धित न हों, से बाँधें। यदि उक्त प्रकार की चमड़े की पट्टी सुलभ न हो तो वातनाशक एरण्ड आदि के पत्ते उस पर रखकर रेशमी अथवा ऊनी पट्टियों से बाँधे। दिन में बाँधे हुए इस बन्धन को रात में खोलें और रात में बाँधे हुए को दिन में खोलें अर्थात् यह बन्धन १२ घण्टा बँधा रहे॥ ४-५॥

ऊष्मा तूत्कारिकालोष्टकपालोपलपांसुभिः। पत्रभङ्गेन धान्येन करीषसिकतातुषैः॥ ६॥
अनेकोपायसन्तप्तैः प्रयोज्यो देशकालतः।

ऊष्मस्वेद—उत्कारिका (गरम-गरम रोटी या लपसी आदि) से, मिट्टी के ढेले से, कपाल (फूटे हुए घड़े के टुकड़ों) से, पत्थर के टुकड़ों से, पांसु (धूल, मिट्टी या बालू) से, पत्रभंग (भूमि पर पत्तों को जलाकर, उस पर पुनः पत्तों को बिछाकर लेटने) से; उड़द, धान आदि को उबाल कर उसके ऊपर लेटने से; करीष (गोबर), सिकता (बालू) तथा तुष (भूसी) को जलाकर या गरम कर उसके ऊपर बिछाई हुई चारपायी पर लेटने से, इनके अतिरिक्त विविध विधियों से ताप देकर यह स्वेदन किया जाता है। इसका प्रयोग देश-काल के अनुसार ही करें॥ ६॥

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इसके भेदों की गणना इस प्रकार की है— १. पिण्ड, २. संस्तर, ३. नाड़ी, ४. घनाश्मा, ५. कुम्भी, ६. कूप, ७. कुटी तथा जेन्ताक। देखें—अ.सं.सू. २६।७। इसी के आगे वहाँ इनकी प्रयोगविधियाँ भी दी हैं।

शिग्रुवारणकैरण्डकरञ्जसुरसार्जकात् ॥ ७॥
शिरीषवासावंशार्कमालतीदीर्घवृन्ततः। पत्रभङ्गैर्वचाद्यैश्च मांसैश्चानूपवारिजैः॥ ८॥
दशमूलेन च पृथक् सहितैर्वा यथामलम्। स्नेहवद्भिः सुराशुक्तवारिक्षीरादिसाधितैः॥ ९॥
कुम्भीर्गलन्तीर्नाडीर्वा पूरयित्वा रुजार्दितम्। वाससाऽऽच्छादितं गात्रं स्निग्धं सिञ्चेद्यथासुखम्॥

द्रवस्वेद—सहजन, वारणक (कंटककरंज), एरण्ड, करंज, तुलसी, वनतुलसी, सिरस, अडूसा, बाँस, आक, मालती तथा सोनापाठा—इन द्रव्यों के पत्रसमूह अथवा वातनाशक अन्य वृक्षों के पत्रसमूह अथवा वचादि गण (अ.हृ.सू. १५।३५) के पत्रसमूह अथवा वचा आदि वे द्रव्य जो ऊपर उपनाहस्वेद (श्लोक ३) में कहे गये हैं अथवा सूअर आदि अनूप देश में होने वाले प्राणियों के मांस अथवा मछली आदि पानी में होने वाले प्राणियों के मांस या दशमूल के द्रव्यों को दोषानुसार अलग-अलग लेकर अथवा सबको एक साथ लेकर सुरा, सिरका, जल, दूध में पकाकर उसमें तैल-घी आदि स्नेह मिलाकर उसे छान लें। फिर

इसे घड़ा में या झंझर (सुराही) में या नाली (पिचकारी) आदि में भरकर रोगयुक्त अंग पर अभ्यंग करने के बाद कपड़े से उस अंग को ढककर गुन-गुने उस द्रव का सेचन करें॥ ७-१०॥

वक्तव्य—श्लोक २ से १४ तक उष्ण अर्थात् आग्नेय स्वेदों की चर्चा है, इसके विपरीत अनाग्नेय स्वेद भी होते हैं, उनका वर्णन आगे २८वें श्लोक में किया जायेगा। द्रवस्वेदों में अवगाहन, सेचन, परिषेक आदि विधियाँ कही गयी हैं। गरम पानी से स्नान करना भी 'द्रवस्वेद' ही है, किन्तु उष्ण जल से सिर को नहीं धोना चाहिए।

तैरेव वा द्रवैः पूर्णं कुण्डं सर्वाङ्गगेऽनिले। अवगाह्यातुरस्तिष्ठेदर्शःकृच्छ्रादिरुक्षु च॥ ११॥
निवातेऽन्तर्बहिःस्निग्धो जीर्णान्नः स्वेदमाचरेत्।

अवगाहन-स्वेदविधि—उक्त द्रवस्वेद-विधि में वर्णित द्रव्यों के क्वाथजल को कुण्ड (टब) में भर दें। स्पर्श करने योग्य उस जल में रोगी को बैठायें या लेटा दें। यह सर्वाङ्गव्यापी स्वेदन है। इसका प्रयोग वातविकारों, अर्शरोग तथा मूत्रकृच्छ्र रोगों में कराना चाहिए॥ ११॥

स्वेदन-विधि—स्नेहपान-विधि द्वारा भीतर से स्नेहन किया हुआ और अभ्यंग आदि विधियों से बाहर से स्नेहन किया हुआ पुरुष भोजन के पच जाने पर वातरहित स्थान में अर्थात् जहाँ हवा का सीधा प्रवेश न हो रहा हो (ऐसे घर के भीतर) स्वेदन करे।

व्याधिव्याधितदेशर्तुवशान्मध्यवरावरम् ॥ १२॥

स्वेदन-विधिभेद—रोग, रोगी, देश और ऋतु (काल) इन सबका विचार कर तदनुसार उत्तम, मध्यम अथवा अवर (अधम) कोटि का यथायोग्य स्वेदन कराना चाहिए॥ १२॥

कफार्तो रूक्षणं रूक्षो, रूक्षः स्निग्धं कफानिले।

दोषभेद से स्वेदन—अन्यत्र स्नेहन करने के बाद स्वेदन करने का निर्देश है, अतः कफज रोग से पीड़ित रोगी बिना स्नेहन किये अर्थात् रूखा रहकर रूक्षताकारक द्रव्यों से स्वेदन करे। इस रूक्षस्वेदन को 'तापस्वेद' भी कहते हैं। रूक्षरोगी कफज तथा वातज रोगों में रूक्ष तथा स्निग्ध द्रव्यों द्वारा द्रवस्वेदन करे। पित्तज विकारों में स्वयं स्वेद होने से स्वेदन की आवश्यकता ही नहीं होती है।

आमाशयगते वायौ कफे पक्वाशयाश्रिते॥ १३॥
रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः।

स्थानभेद से स्वेदन—वातदोष जब आमाशय में पहुँचा हो और कफदोष पक्वाशय में स्थित हो तो उस समय सबसे पहले रूक्ष स्वेदन करें, फिर स्निग्ध स्वेदन करें और जब वातदोष मलाशय में स्थित हो तो पहले स्निग्ध स्वेदन, फिर रूक्ष स्वेदन करें। यह स्थान के विचार से निर्णय लिया गया है॥ १३॥

अल्पं वङ्क्षणयोः, स्वल्पं दृङ्मुष्कहृदये न वा॥ १४॥

अन्यत्र स्वेदन-निर्देश—दोनों वंक्षणों (पेडू और जाँघ के बीच का भाग) में अल्प (अवर श्रेणी का) स्वेदन करना चाहिए। दृष्टि (नेत्रों), अण्डकोषों तथा हृदयप्रदेश पर थोड़ा-सा स्वेदन करें अथवा न करें॥ १४॥

शीतशूलक्षये स्विन्नो जातेऽङ्गानां च मार्दवे। स्याच्छनैर्मृदितः स्नातस्ततः स्नेहविधिं भजेत्॥

स्वेदन का सम्यक् योग—जब सर्दी लगना रुक जाय तथा शूल की शान्ति हो जाय और जकड़े हुए अंग (शरीर के अवयव) सुकोमल हो जायें तब समझें कि भलीभाँति स्वेदन हो चुका है। इस क्रिया के पश्चात् धीरे-धीरे शरीर को मसलना चाहिए, फिर गुनगुने जल से स्नान करे, तदनन्तर स्नेहपान या स्नेहन-विधि करे॥ १५॥

पित्तास्रकोपतृण्मूर्च्छास्वराङ्गसदनभ्रमाः। सन्धिपीडा ज्वरः श्यावरक्तमण्डलदर्शनम्॥ १६॥
स्वेदातियोगाच्छर्दिश्च, तत्र स्तम्भनमौषधम्। विषक्षाराग्न्यतीसारच्छर्दिमोहातुरेषु च॥ १७॥

स्वेदन का अतियोग—इससे पित्तविकार, रक्तविकार, प्यास का लगना, बेहोशी होना, स्वर तथा शरीर में ढीलापन, चक्करों का आना, जोड़ों में पीड़ा का होना, ज्वर, काले एवं लाल चकत्तों का दिखलायी पड़ना तथा छर्दि (वमन) का होना—ये लक्षण होते हैं। इस स्थिति में स्तम्भन-चिकित्सा करनी चाहिए। विषजनित विकारों, क्षारविकारों, अग्निविकारों में, अतिसार, वमन तथा मूर्च्छा रोगों में भी स्तम्भन-चिकित्सा करनी चाहिए॥ १६-१७॥

स्वेदनं गुरु तीक्ष्णोष्णं प्रायः, स्तम्भनमन्यथा। द्रवस्थिरसरस्निग्धरूक्षसूक्ष्मं च भेषजम्॥ १८॥
स्वेदनं, स्तम्भनं श्लक्ष्णं रूक्षसूक्ष्मसरद्रवम्। प्रायस्तिक्तं कषायं च मधुरं च समासतः॥ १९॥

स्वेदन द्रव्य—प्रायः गुरु, तीक्ष्ण एवं उष्णवीर्य वाले द्रव्य स्वेदनकारक होते हैं। इनके विपरीत गुण-धर्म वाले द्रव्य स्तम्भनकारक होते हैं; यथा—लघु, मृदु एवं शीतवीर्य वाले द्रव्य। द्रव, स्थिर, सर, स्निग्ध, रूक्ष तथा सूक्ष्म द्रव्य स्वेदनकारक होते हैं।

स्तम्भन द्रव्य—श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, सर एवं द्रव द्रव्य प्रायः स्तम्भनकारक होते हैं। रसों के विचार से स्तम्भन द्रव्य—तिक्त, कषाय तथा मधुर रस वाले द्रव्य प्रायः स्तम्भन होते हैं। रसों के विचार से स्वेदन द्रव्य—उक्त रसों के विपरीत (लवण, अम्ल तथा कटु) रस वाले द्रव्य स्वेदन होते हैं॥ १८-१९॥

वक्तव्य—वास्तव में जिन द्रव्यों के प्रयोग से शरीर से पसीना निकले वे स्वेदन हैं और जिनके प्रयोग से पसीना निकलना रुक जाय वे स्तम्भन हैं। जैसे—उष्ण जल में अवगाहन करना या उष्ण जल से स्नान करना स्वेदन हैं, इसके विपरीत शीतल जल से स्नान करना या शीतल हवा का सेवन करना आदि उपाय स्तम्भन हैं।

स्तम्भितः स्याद्बले लब्धे यथोक्तामयसङ्क्षयात्।

स्तम्भन के समुचित प्रयोग के लक्षण—बल की प्राप्ति होना तथा इसी अध्याय के १६वें श्लोक में कहे गये पित्तज, रक्तज विकार आदि का क्षीण हो जाना—ये स्तम्भन के लक्षण होते हैं।

स्तम्भत्वक्स्नायुसङ्कोचकम्पहृद्वाग्घनुग्रहैः ॥ २०॥
पादौष्ठत्वक्करैः श्यावैरतिस्तम्भितमादिशेत्।

स्तम्भन के अतियोग के लक्षण—शरीर में अकड़न या जकड़न, त्वचा एवं स्नायुओं में संकोच, कम्पन, हृदय, वाणी तथा हनु की गति में रुकावट, पैरों, होठों, त्वचा, हाथों एवं नखों में नीलापन का दिखलायी देना॥ २०॥

वक्तव्य—इस स्थिति में पुनः देश-काल के अनुसार उष्णोपचार करने चाहिए।

न स्वेदयेदतिस्थूलरूक्षदुर्बलमूर्च्छितान्॥ २१॥
स्तम्भनीयक्षतक्षीणक्षाममद्यविकारिणः । तिमिरोदरवीसर्पकुष्ठशोषाढ्यरोगिणः॥ २२॥
पीतदुग्धदधिस्नेहमधून् कृतविरेचनान् । भ्रष्टदग्धगुदग्लानिक्रोधशोकभयार्दितान्॥ २३॥
क्षुत्तृष्णाकामलापाण्डुमेहिनः पित्तपीडितान्। गर्भिणीं पुष्पितां सूतां, मृदु चात्ययिके गदे॥ २४॥

स्वेदन के अयोग्य रोगी एवं रोग—अत्यन्त मोटे, अत्यन्त रूक्ष शरीर वाले, अत्यन्त कमजोर, मूर्च्छारोग से पीड़ित, स्तम्भन के योग्य व्यक्ति की (इनका वर्णन इसी अध्याय के श्लोक १५, १६ तथा १९ में आया है), क्षत (उरःक्षत अथवा घाव लगने से पीड़ित), क्षीण (धातुक्षय आदि से पीड़ित), क्षाम (कृश), मद्यविकार वाले (मदात्यय आदि मदजनित रोगों से पीड़ित), तिमिररोगी, उदररोगी, विसर्परोगी, कुष्ठरोगी,

शोष (राजयक्ष्मा), आढ्य (वातरक्त) रोगी, जिन्होंने दूध, दही, स्नेह तथा शहद को तत्काल पिया हो, जिन्हें अभी विरेचन कराया गया हो, भ्रष्टगुद (जिसकी काँच निकल गयी हो), दग्धगुद (जिसका गुदप्रदेश क्षार या अग्नि से जल गया हो), मानसिक क्लेश से युक्त तथा क्रोध, शोक, भय, भूख, प्यास से पीड़ित; कामलारोगी, पाण्डुरोगी, प्रमेहरोगी, पित्तज रोगों से पीड़ित, गर्भिणी, रजस्वला तथा प्रसूता (जिसने हाल में ही शिशु को जन्म दिया हो)—इनको स्वेदन का प्रयोग न करायें। आवश्यक होने पर रोग की स्थिति में मृदु स्वेदन कराया जा सकता है॥ २१-२४॥

वक्तव्य—वाग्भट की प्रतिज्ञानुसार जब हम उनकी पूर्ववर्ती संहिताओं का अवलोकन करते हैं, तो हमें 'सूता' या 'प्रसूता' के लिए स्वेदन का निषेध चरक में नहीं मिलता। आप भी देखें—च.सू. १४।१६-१९। इसके विपरीत 'सूतिकां'''सूतिकायाः'॥ (च.शा. ८।४८) में 'पिप्पल्यादि गण' द्वारा पकायी गयी स्नेहयुक्त यवागू का सेवन तथा उसे उष्णोदक द्वारा स्नान कराना निर्दिष्ट है। ये दोनों ही विधियाँ स्वेदन ही हैं। अब आप सश्रुत के दृष्टिकोण को भी देखें। आपने जिन्हें अस्वेद्य कहा है, उनका परिगणन यहाँ किया जा रहा है—पाण्डुरोगी, प्रमेहरोगी, रक्तपित्तरोगी, क्षयरोगी, क्षाम (कृश), अजीर्णरोगी, उदररोगी, विष से पीड़ित, प्यासा, वमन से पीड़ित, गर्भिणी, मद्यपान किया हुआ तथा अतिसाररोगी—इन्हें स्वेदन नहीं देना चाहिए। देखें—सु.चि. ३२।२५। इसमें 'सूता' को स्वेदन के अयोग्य नहीं कहा है। इसी के पहले सुश्रुत ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—**'सम्यक् प्रजाता काले या पश्चात् स्वेद्या विजानता'**। (सु.चि. ३२।१८) इसके पहले सुश्रुत ने सु.शा. १०।१६-१८ में प्रसूता की जो परिचर्या दी है, वह स्नेहन तथा स्वेदन के भावों को व्यक्त करती है। लोकाचार में भी सद्यःप्रसूता स्त्रियों को स्वेदन का प्रयोग कराया ही जाता है।

निष्कर्ष—प्राचीन महर्षियों के वचन सारवान् होते हैं। उक्त समस्त ऊहापोह करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वेदन के उन भावों का आचार्य ने यहाँ निषेध किया है, जिन्हें सुकोमलांगी प्रसूताओं को अवश्य त्याग देना चाहिए। वे भाव हैं—नियुद्ध (बाहुयुद्ध या पैदल लड़ाई करना अर्थात् आयास-जनित समस्त कार्य), भारवहन, मार्गचलन आदि उन कष्टसाध्य कार्यों को न करे, जिनसे पसीना होता हो। यही आशय वृद्धवाग्भट का भी प्रतीत होता है।

श्वासकासप्रतिश्यायहिध्माध्मानविबन्धिषु । स्वरभेदानिलव्याधिश्लेष्मामस्तम्भगौरवे॥ २५॥
अङ्गमर्दकटीपार्श्वपृष्ठकुक्षिहनुग्रहे। महत्त्वे मुष्कयोः खल्यामायामे वातकण्टके॥ २६॥
मूत्रकृच्छ्रार्बुदग्रन्थिशुक्राघाताढ्यमारुते । स्वेदं यथायथं कुर्यात्तदौषधविभागतः॥ २७॥

स्वेदन के योग्य—श्वास, कास, प्रतिश्याय (जुकाम), हिध्मा (हिक्का या हिचकी), अफरा, विबन्ध (कब्जियत), स्वरभेद (गला बैठना), वातज रोग, कफज रोग, आमरसजनित रोग, हनुस्तम्भ, भारीपन, अंगों में मसलने की-सी पीड़ा का होना, कटिग्रह, पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कुक्षिग्रह (आँतों की गति में रुकावट), हनुग्रह, अण्डवृद्धि, खल्ली, अन्तरायाम या बाह्यायाम, वातकण्टक, मूत्रकृच्छ्र, अर्बुदरोग, ग्रन्थिरोग, शुक्राघात तथा आढ्यवात (ऊरुस्तम्भ)—इन रोगों में उस-उस रोग का नाश करने वाली औषधियों द्वारा तैयार किये गये द्रव्यों से स्वेदन कराना चाहिए॥ २५-२७॥

स्वेदो हितस्त्वनाग्नेयो वाते मेदःकफावृते।

अनाग्नेय स्वेद—प्रायः सभी स्वेदन अग्नि के संयोग से सम्पन्न कराये जाते हैं। कुछ स्वेदन ऐसे हैं, जिनमें अग्नि का प्रयोग नहीं होता। इस प्रकार के स्वेदों का प्रयोग मेदोधातु तथा कफदोष से आवृत (घिरे हुए) वातदोष से होने वाले (ऊरुस्तम्भ आदि) रोगों में किया जाता है।

निवातं गृहमायासो गुरुप्रावरणं भयम्॥ २८॥
उपनाहाहवक्रोधा भूरिपानं क्षुधाऽऽतपः।

दसविध अनाग्नेय स्वेद— १. निवात घर में रहना, २. आयास (विविध प्रकार के परिश्रमसाध्य कार्यों को करते रहना), ३. गुरुप्रावरण (मोटे कम्बल अथवा रजाई आदि को ओढ़े रहना), ४. भय (यह भी पसीना लाने का एक उपाय है), ५. उपनाह (ऊन की पट्टी से या साधारण पट्टी से कसकर बाँधे रहना), ६. आहव (लड़ाई या कुश्ती करना), ७. क्रोध करना, ८. अधिक मात्रा में मादक पदार्थों का सेवन करना, ९. भूखा रहना तथा १०. आतप (धूप का सेकना) ॥ २८ ॥

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु ने भी दसविध अनग्निस्वेदन का वर्णन इस प्रकार किया है—'व्यायाम उष्णसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा। बहुपानं भयक्रोधावुपनाहाहवातपाः' ॥ (च.सू. १४।६४) इसका अर्थ भी वाग्भट के उक्त २८वें श्लोक के समान है।

ज्वर में भूखा रहना या लंघन करना इस विधि से कुछ दिन बाद स्रोतों के खुल जाने पर पसीना निकलने लगता है; यही क्षुधा द्वारा स्वेदन होने का प्रमाण है। स्वेदन के भलीभाँति हो जाने के बाद किस प्रकार का आहार-विहार करना चाहिए, इसके लिए देखें—अष्टांगसंग्रह-सू. २६।३६

स्नेहक्लिन्नाः कोष्ठगा धातुगा वा स्रोतोलीना ये च शाखास्थिसंस्थाः ।
दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निर्ह्रियन्ते ॥ २९ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने स्वेदविधिर्नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

स्वेदन का फल—कोष्ठगत दोष, रस-रक्त आदि धातुओं में गये हुए या व्याप्त दोष, स्रोतों में विलीन (सटे हुए) दोष एवं शाखाओं (त्वचा, बाहुओं, सक्थियों) में तथा अस्थियों में स्थित दोष स्नेहन-विधि द्वारा चिकने किये गये तदनन्तर स्वेदन-विधि से पिघलाये जाने पर कोष्ठ में पहुँचा दिये जाते हैं। तदनन्तर वमन-विरेचन रूप संशोधन-विधियों से उन्हें सुखपूर्वक भलीभाँति बाहर निकाला जा सकता है ॥ २९ ॥

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
निर्मला हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में
स्नेहविधि नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्याय:

अथातो वमनविरेचनविधिमध्यायं व्याख्यास्याम:।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय:।

अब हम यहाँ से वमन-विरेचनविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—सत्रहवें अध्याय के अन्तिम पद्य में कहा है कि स्नेहन तथा स्वेदन विधियों द्वारा कोष्ठ में लाये गये या पहुँचाये गये दोषों को संशोधन-विधियों से बाहर किया जायेगा। अत: प्रस्तुत अध्याय में उन दोषों को निकालने के लिए वमन तथा विरेचन विधियों का विस्तार से वर्णन किया जा रहा है। भगवान् पुनर्वसु ने वमन-विरेचन की व्याख्या इस प्रकार की है—'तत्र·····लभते'॥ (च.क. १।४) अर्थात् मुखभाग से दोषों का जो निर्हरण किया जाता है, उसे वमन कहते हैं और निचले (गुद) भाग से जो दोषों का निर्हरण किया जाता है, उसे विरेचन कहते हैं अथवा शरीर के दोषों को निकालने के कारण दोनों (वमन तथा विरेचन) की विरेचन संज्ञा है। यही मत सुश्रुत का भी है। देखें—सु.चि. ३३।४।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. १५ एवं १६; च.सि. १, २, ६; सु.चि. ३३, ३९; अ.सं.सू. २७ में देखें।

कफे विदध्याद्वमनं संयोगे वा कफोल्बणे। तद्वद्विरेचनं पित्ते—

वमन-विरेचन व्यवस्था—कफदोष की वृद्धि होने पर तथा कफजनित रोगों में अथवा कफदोष की प्रधानता जिस दोष (वात-पित्त) के साथ हो, तो इन सभी में वमन कराना चाहिए। इसी प्रकार पित्तदोष की वृद्धि होने पर तथा पित्तजनित रोगों में अथवा पित्तदोष की प्रधानता जिस दोष के साथ हो, तो इन सभी विकारों में विरेचन कराना चाहिए।

—विशेषेण तु वामयेत्॥ १॥

नवज्वरातिसाराध:पित्तासृग्राजयक्ष्मिण: । कुष्ठमेहापचीग्रन्थिश्लीपदोन्मादकासिन:॥ २॥
श्वासहृल्लासवीसर्पस्तन्यदोषोर्ध्वरोगिण: ।

वमन-निर्देश—विशेष करके निम्नलिखित रोगों में वमन कराने का निर्देश दिया गया है—नवज्वर की मुक्ति हो जाने पर, अतिसार में, नीचे के मार्ग से होने वाले रक्तपित्तरोग में, राजयक्ष्मारोग में, कुष्ठरोग में, अपचीरोग में, ग्रन्थिरोग में, श्लीपदरोग में, उन्माद में, कास में, श्वास में, हृल्लास (जी मिचलाना) में, विसर्परोग में, दुग्धदोष में एवं ऊर्ध्वजत्रु में होने वाले रोगों में॥ १-२॥

वक्तव्य—उक्त रोगों में वमन का विधान इसलिए किया गया है कि इनमें कफ की प्रधानता होती ही है, यदि कभी किसी रोग में ऐसा न देखा जाय तो वमन न करायें। वमन तथा विरेचन विधियों में पहले वमन कराने का निर्देश इसलिए दिया गया है कि वमन द्वारा कफ के निकल जाने पर विरेचन-विधि सरलता से की जा सकती है और यदि बिना वमन कराये गये विरेचन कराया जाता है, तो वह बढ़ा हुआ कफ विरेचन कराते समय ग्रहणी को ढक देता है, जिससे भलीभाँति विरेचन नहीं हो पाता है। अत: विरेचन कराने के पहले वमन करा लेना चाहिए।

अवाम्या गर्भिणी रूक्ष: क्षुधितो नित्यदु:खित:॥ ३॥
बालवृद्धकृशस्थूलहृद्रोगिक्षतदुर्बला: । प्रसक्तवमथुप्लीहतिमिरक्रिमिकोष्ठिन:॥ ४॥
ऊर्ध्वप्रवृत्तवाय्वस्रदत्तबस्तिहतस्वरा: । मूत्राघात्युदरी गुल्मी दुर्वमोऽत्यग्निरर्शस:॥ ५॥
उदावर्तभ्रमाष्ठीलापार्श्वरुग्वातरोगिण: । ऋते विषगराजीर्णविरुद्धाभ्यवहारत:॥ ६॥

वमन के अयोग्य व्यक्ति—गर्भवती, रुक्षकोष्ठ, भूखा, सदा दुःखी रहने वाला अर्थात् पुराना रोगी, बालक, वृद्ध, कृश, स्थूल (मोटा), हृदयरोगी, उरःक्षत का रोगी अथवा जिसे घाव लगा हो, दुर्बल, जिसे स्वयं उलटियाँ हो रही हों, प्लीहारोगी, तिमिररोगी, जिसके कोष्ठ (मलाशय) में क्रिमि हों, ऊर्ध्ववातरोग में, ऊपर की ओर प्रवृत्त रक्तपित्तरोग में, जिसे अभी बस्ति-प्रयोग कराया गया हो, स्वरभेदरोग में, मूत्राघात में, उदररोग में, गुल्मरोग में, दुर्बल रोगी में, तीक्ष्णाग्निरोगी में, अर्शरोगी में, उदावर्तरोगी में, भ्रमरोगी में, अष्ठीलारोगी में, पार्श्वशूल में तथा वातरोगी में वमन का प्रयोग नहीं कराना चाहिए।

यदि उक्त रोगियों को विषविकार, गरविकार, अजीर्णविकार अथवा विरुद्ध आहार सम्बन्धी कोई विकार हो तो इस स्थिति में इन्हें भी वमन कराना चाहिए॥ ३-६॥

वक्तव्य—ऊपर 'उदावर्त' शब्द का प्रयोग हुआ है, इससे पुरीषोदावर्त, मूत्रोदावर्त तथा वातोदावर्त रोगों का ग्रहण भी कर लेना चाहिए। 'उत् = ऊर्ध्वम्, आवर्तः = उदावर्तः'।

प्रसक्तवमथोः पूर्वे प्रायेणामज्वरोऽपि च। धूमान्तैः कर्मभिर्वर्ज्याः, सर्वैरेव त्वजीर्णिनः॥ ७॥

वमन आदि कर्मों का निषेध—ऊपर कहे गये 'प्रसक्त वमथु' से पहले गर्भिणी से लेकर दुर्बल पर्यन्त रोगियों को और प्रायः आमज्वर के रोगी को न केवल वमन कर्म का अपितु विरेचन से लेकर धूमपान पर्यन्त सभी कर्मों का निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त अजीर्णरोग से पीड़ित रोगियों के लिए तो वमन से लेकर गण्डूष तक के सभी कर्मों का निषेध किया गया है। आमाजीर्ण में केवल उपवास एवं पाचनकर्म ही प्रशस्त हैं॥ ७॥

वक्तव्य—धूमान्त कर्म—वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन, नस्य एवं धूमपान। सर्वैरेव—इसकी सीमा में ऊपर कहे गये कर्मों के अतिरिक्त गण्डूष तथा कवल का ग्रहण भी होता है।

विरेकसाध्या गुल्मार्शोविस्फोटव्यङ्गकामलाः। जीर्णज्वरोदरगरच्छर्दिप्लीहहलीमकाः॥ ८॥
विद्रधिस्तिमिरं काचः स्यन्दः पक्वाशयव्यथा। योनिशुक्राश्रया रोगाः कोष्ठगाः कृमयो व्रणाः॥
वातास्रमूर्ध्वगं रक्तं मूत्राघातः शकृद्ग्रहः। वाम्याश्च कुष्ठमेहाद्याः—

विरेचन के योग्य रोग—गुल्म, अर्शोरोग, विस्फोट, व्यंग, कामला, जीर्णज्वर, उदररोग, गरविषविकार, वमन, प्लीहरोग, हलीमक, विद्रधि, तिमिर, काच, अभिष्यन्द, मलाशय सम्बन्धी रोग, योनिव्यापद्, शुक्रविकार, उदरगत क्रिमिरोग, व्रण, वातरक्त, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त, मूत्राघात, शकृद्ग्रह (मलावरोध) तथा वमन कराने के योग्य रोगों में कुष्ठ एवं प्रमेह आदि रोग॥ ८-९॥

—न तु रेच्यो नवज्वरी॥ १०॥

अल्पाग्न्यधोगपित्तास्रक्षतपाय्वतिसारिणः। सशल्यास्थापितक्रूरकोष्ठातिस्निग्धशोषिणः॥

विरेचन के अयोग्य रोग—नवज्वर, मन्दाग्नि, अधोगामी रक्तपित्त, गुदप्रदेश का क्षत, अतिसाररोग, जिसके शरीर में कहीं शल्य धँसा हो, जिसे निरूहणबस्ति दी गयी हो, क्रूर कोष्ठवाला, जिसे अत्यन्त स्नेहद्रव्यों का प्रयोग कराया गया हो तथा शोषरोग से पीड़ित इनको विरेचन नहीं कराना चाहिए॥ १०-११॥

अथ साधारणे काले स्निग्धस्विन्नं यथाविधि। श्वोवम्यमुत्क्लिष्टकफं मत्स्यमाषतिलादिभिः॥
निशां सुप्तं सुजीर्णान्नं पूर्वाह्णे कृतमङ्गलम्। निरन्नमीषत्स्निग्धं वा पेयया पीतसर्पिषम्॥ १३॥
वृद्धबालाबलक्लीबभीरून् रोगानुरोधतः। आकण्ठं पायितान्मद्यं क्षीरमिक्षुरसं रसम्॥ १४॥
यथाविकारविहितां मधुसैन्धवसंयुताम्। कोष्ठं विभज्य भैषज्यमात्रां मन्त्राभिमन्त्रिताम्॥ १५॥
''ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः। ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु वः॥ १६॥
रसायनमिवर्षीणाममराणामिवामृतम्। सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते॥ १७॥
ॐनमो भगवते भैषज्यगुरवे वैडूर्यप्रभराजाय। तथागतायार्हते सम्यक्सम्बुद्धाय। तद्यथा—
ॐभैषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये समुद्गते स्वाहा॥''

प्राङ्मुखं पाययेत्—

वमनकारक औषधद्रव्य एवं प्रयोगविधि—ऊपर कहे गये पद्यों द्वारा कौन वमन-विरेचन के योग्य हैं और कौन अयोग्य हैं, इसका भलीभाँति निर्णय कर लेने के बाद साधारण (समशीतोष्ण) काल में विधिपूर्वक स्नेहन एवं स्वेदन कराकर अगले दिन जिसे वमन कराना हो, उसे एक दिन पहले मछली का मांस, उड़द तथा तिल के भक्ष्यों को खिलाकर उसके कफदोष को उभाड़ कर उसे रात्रि में सुला दें। प्रातःकाल उसके उठ जाने पर उसे देखें, रात्रि में खाया हुआ भोजन पच गया हो तो इष्टदेव का स्मरण एवं पूजन कर मंगलाचार करके उसे बिना कुछ अन्न खिलाये उसका स्नेहन करके पेया के साथ घी पिलायें। यदि वह व्यक्ति वृद्ध, बालक, दुर्बल, क्लीब है अथवा वमन के कष्ट से डरने वाला है तो उसे रोग के अनुसार मद्य (शराब), दूध, गन्ने का रस अथवा मांसरस भरपेट पिला दें। उसके बाद रोग के अनुसार उसका कोष्ठ मृदु है या क्रूर है, इसका विचार करके मधु तथा सेंधानमक मिलाकर किसी वमनकारक औषध को **'ब्रह्मदक्षाश्वि·····'** इत्यादि मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर रोगी का पूर्व की ओर मुख कराकर उसे औषध पिला दें॥ १२-१७॥

> **मन्त्रार्थ**—'ब्रह्मा, दक्षप्रजापति, अश्विनीकुमार, रुद्र, इन्द्र, भूमि, चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि, औषधिसमूह सहित समस्त ऋषिगण, पंच महाभूत आप सब की रक्षा करें। जिस प्रकार महर्षि च्यवन आदि महर्षियों के लिए रसायन, देवताओं के लिए जैसे अमृत और जैसे उत्तम नागों के लिए सुधा (विष) हितकर होता है, उसी प्रकार यह औषध तुम्हारे लिए हितकर हो'।

वक्तव्य—'ब्रह्मरुद्राश्वि····ते'। (च.क. १।१४) ये दोनों श्लोक महर्षि वाग्भट ने अविकलरूप से चरक से लिये हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या का अवलोकन 'चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी' से प्रकाशित **चन्द्रिका** व्याख्यायुक्त चरकसंहिता-उत्तरार्ध में देखें।

—पीतो मुहूर्तमनुपालयेत्। तन्मनाः—

वमन की प्रतीक्षा—इस प्रकार वमनकारक औषध को पीकर उसी की ओर मन लगाकर कुछ देर तक वमन होने की प्रतीक्षा करें।

—जातहृल्लासप्रसेकश्च्छर्दयेत्ततः॥ १८॥
अङ्गुलिभ्यामनायस्तो नालेन मृदुनाऽथवा। गलताल्वरुजन् वेगानप्रवृत्तान् प्रवर्तयन्॥ १९॥
प्रवर्तयन् प्रवृत्तांश्च जानुतुल्यासने स्थितः। उभे पार्श्वे ललाटं च वमतश्चास्य धारयेत्॥ २०॥
प्रपीडयेत्तथा नाभिं पृष्ठं च प्रतिलोमतः।

वमनकारक यत्न—जब जी मिचलाने लगे, मुख से लार गिरने लगे तब वमन करें। यदि वमन भलीभाँति न हो रहा हो तो बिना बल लगाये दो अँगुलियों को मुख में डालकर अथवा कोमल एरण्ड की पत्ती की नली को मुख में डालकर गला तथा तालु प्रदेश को बिना पीड़ित करते हुए जो वमन के वेग नहीं आ रहे हैं उन्हें प्रवृत्त करें और जो वेग प्रवृत्त हैं उन्हें भी अधिक प्रवृत्त करें, जिससे पूर्ण रूप से वमन हो जाय। ये सभी क्रिया-कलाप जानुभर ऊँचे आसन (कुर्सी आदि) पर बैठकर करने चाहिए। जब वमन के वेग आ रहे हों, उस समय उसका सहायक (परिचारक) उसकी दोनों पसलियों तथा सिर को दबाता रहे और वमन करने वाले की नाभि तथा पीठ को दबाता रहे॥ १८-२०॥

कफे तीक्ष्णोष्णकटुकैः पित्ते स्वादुहिमैरिति॥ २१॥
वमेत् स्निग्धाम्ललवणैः संसृष्टे मरुता कफे।

वमन में औषध-प्रयोग—कफजनित रोगों में तीक्ष्ण, उष्णवीर्य तथा कटुरस वाले औषधद्रव्यों से वमन कराना चाहिए, पित्तजनित रोगों में मधुर तथा शीतवीर्य द्रव्यों से और वातजनित रोगों में स्निग्ध, अम्ल एवं लवण रसयुक्त द्रव्यों से तैयार किये गये वामक द्रव्यों का प्रयोग करें॥ २१॥

पित्तस्य दर्शनं यावच्छेदो वा श्लेष्मणो भवेत्॥ २२॥

वमन की अवधि—वमन के सम्यग् योग का लक्षण यह है कि जब तक उसमें पित्त के दर्शन न हो जायें। यह पित्त देखने में हरा या पीला दिखता है और स्वाद में खट्टा या कड़ुआ होता है तथा कफ कट-कट कर या लच्छे के रूप मे दिखलायी पड़े, यही पित्तदोष तथा कफदोष के निर्हरण की अन्तिम अवधि है। इन लक्षणों को देखकर वमन का सम्यक् योग समझ लेना चाहिए॥ २२॥

हीनवेगः कणाधात्रीसिद्धार्थलवणोदकैः। वमेत्पुनःपुनः—

हीनयोग में औषध-प्रयोग—यदि वमन के वेग कम मात्रा में आ रहे हों तो पिप्पली, आँवला, पीली सरसों तथा नमक को पीसकर जल में मिलाकर या क्वाथ बनाकर पीयें। इसको पीकर बार-बार तब तक वमन करे जब तक पित्तदोष अथवा कफदोष के दर्शन न हो जायें।

—तत्र वेगानामप्रवर्तनम्॥ २३॥

प्रवृत्तिः सविबन्धा वा केवलस्यौषधस्य वा। अयोगस्तेन निष्ठीवकण्डूकोठज्वरादयः॥ २४॥

वमन का हीनयोग—वमनकारक औषध का पान करने पर भी वमन का न होना अथवा रुक-रुककर होना अथवा केवल पिलाये गये औषधद्रव्यों का ही निकल जाना—ये लक्षण वमन के अयोग में होते हैं। इसके कारण मुख से लार का चूना, शरीर में खुजली का होना, चकत्तों का निकलना तथा ज्वर आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं॥ २३-२४॥

निर्विबन्धं प्रवर्तन्ते कफपित्तानिलाः क्रमात्।

(मनःप्रसादः स्वास्थ्यं चावस्थानं च स्वयं भवेत्। वैपरीत्यमयोगानां न चातिमहती व्यथा॥)

सम्यग्योगे—

वमन का सम्यक् योग—वमन का सम्यक् (ठीक-ठीक) योग (प्रयोग) हो जाने पर कफ, पित्त तथा वात दोषों की प्रवृत्ति स्वयं क्रम से होती है और मन का प्रसन्न होना, स्वस्थता, स्वयं स्थिरता का अनुभव होना, वमन के अयोगों में होने वाले लक्षणों से विपरीत लक्षणों की उत्पत्ति तथा विशेष कष्ट का न होना—ये लक्षण होते हैं। यहाँ दोषों का क्रम परिवर्तन दिख रहा है, उसका आधार वमन होने की अपनी प्रक्रिया है।

—अतियोगे तु फेनचन्द्रकरक्तवत्॥ २५॥

वमितं क्षामता दाहः कण्ठशोषस्तमो भ्रमः। घोरा वाय्वामया मृत्युर्जीवशोणितनिर्गमात्॥ २६॥

वमन का अतियोग—वमन का अतियोग हो जाने पर वमन में झाग निकलने लगता है, उसमें कुछ चमक तथा रक्त के कण दिखलायी पड़ते हैं, वमनकर्ता को दुर्बलता, दाह, गला का सूखना, आँखों के सामने अँधेरा दिखलायी देना, चक्करों का आना, अत्यन्त कष्टदायक वातव्याधियाँ पैदा हो जाती हैं और वमन में जीवरक्त के निकलने के कारण रोगी की मृत्यु भी हो जाती है॥ २५-२६॥

सम्यग्योगेन वमितं क्षणमाश्वास्य पाययेत्। धूमत्रयस्यान्यतमं स्नेहाचारमथादिशेत्॥ २७॥

वमन के पश्चात् कर्म—समुचित विधि से जिसे भलीभाँति वमन हो गये हों, उसे कुछ समय तक आश्वस्त कराकर अथवा आराम करा कर तीन प्रकार के धूमपानों में से कोई एक धूमपान कराये (इसके निर्णय का भार चिकित्सक पर होता है) और इसके बाद उसे स्नेहपान कराना चाहिए अथवा उसे स्नेहपान करने का आदेश देना चाहिए॥ २७॥

वक्तव्य—उक्त पद्य में आचार्य ने सूत्र रूप में धूमपान तथा स्नेहपान करने का संकेत किया है। इनका विवरण यहाँ दिया जा रहा है। **धूमपान** तीन प्रकार का होता है— १. स्नैहिक धूमपान, २. वैरेचनिक धूमपान तथा ३. उपशमनीय धूमपान। इनमें पहला धूमपान वातरोगों में हितकारक होता है, दूसरा वातकफज विकारों में और तीसरा केवल कफज विकारों को दूर करता है। इसका विवरण आगे २१वें अध्याय में विस्तार से देखें। **स्नेहाचार**—इसका वर्णन पिछले १६वें अध्याय में कर दिया गया है। आप देखें—श्लोक २६ से ३० तक।

ततः सायं प्रभाते वा क्षुद्वान् स्नातः सुखाम्बुना। भुञ्जानो रक्तशाल्यन्नं भजेत्पेयादिकं क्रमम्॥

स्नान एवं भोजनविधि—भलीभाँति वमन हो जाने के बाद उसी दिन सांयकाल अथवा दूसरे दिन प्रातःकाल समुचित प्रकार से भूख लगने पर गुनगुने जल से स्नान करके पेया आदि के क्रम से लालशालि के चावलों द्वारा निर्मित भोजन करे॥ २८॥

वक्तव्य—इस विषय पर सुश्रुत का दृष्टिकोण—**'ततोऽपराह्ने·····भोजयेत्तम्'**। (सु.चि. ३३।११) अर्थात् वमन अथवा विरेचन कराने से शरीर के शुद्ध हो जाने पर गरम जल से स्नान कराकर कुलथी, मूँग या अरहर की दाल के यूष (जूस) के साथ अथवा जांगल प्राणियों के मांसरस से तथा लाल शालि-चावलों के योग से बनायी गयी पेया, विलेपी आदि को खिलाये। यहाँ जो वाग्भट ने रक्तशालिधान्य का ग्रहण किया है, इस सम्बन्ध में भगवान् पुनर्वसु ने कहा है—'लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमाः'। (च.सू. २५।३८) अर्थात् लालशालि के चावल स्वस्थ तथा रोगी दोनों के लिए हितकर होते हैं।

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम्।
क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान् प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः॥ २९॥

पेया आदि क्रम-निर्देश—प्रधान, मध्य तथा अवर भेद से शरीर-शुद्धि तीन प्रकार की होती है। सामान्य रूप से दो अन्नकाल (भोजन के समय) होते हैं— १. प्रातःकाल तथा २. सायंकाल। वमन-विरेचन से शुद्ध किये गये पुरुष के आहार-भेद छः होते हैं— १. पेया, २. विलेपी, ३. अकृतयूष, ४. कृतयूष, ५. अकृत-मांसरस तथा ६. कृतमांसरस। **प्रधानशुद्धि-विधि** से शुद्ध पुरुष ३-३ अन्नकालों में ऊपर कही गयी पेया, विलेपी आदि का सेवन करता हुआ इस कल्प के पूरा होने पर अर्थात् १८वें दिन के बाद स्वाभाविक रूप से भोजन करे। **मध्यशुद्धि-विधि** से शुद्ध पुरुष २-२ अन्नकालों में उक्त पेया आदि का सेवन कर लेने पर १२वें दिन के बाद स्वाभाविक भोजन करे और **अवरशुद्धि-विधि** से शुद्ध पुरुष १-१ अन्नकाल में पेया आदि का छः दिनों तक सेवन करने के बाद स्वाभाविक भोजन करे॥ २९॥

वक्तव्य—आचार्य वाग्भट ने उक्त श्लोक को चरकसंहिता-सिद्धिस्थान १।११ से लिया है। पेया, विलेपी, यवागू, यूष आदि का वर्णन शार्ङ्गधरसंहिता म.खं. २।१६४-१७४ में भी देखें। **'अकृत'** उन्हें कहा जाता है, जिन्हें न छोंका जाता है और न जिनमें सोंठ, नमक आदि मसाले डाले जाते। इसके विपरीत गुणों वाले भोजन को **'कृत'** कहते हैं।

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण।
महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तराग्निः॥ ३०॥

पेया आदि से लाभ—जैसे अग्निकण को तृण (घास-फूस) तथा गोमय (गोहरी, कण्डा, वनोपल) आदि के संयोग से सुलगाने (प्रज्वलित करने) से वह अग्नि महान् (पहले की तुलना में बड़ा), स्थिर तथा सब पदार्थों को पकाने या पचाने वाला होता है; ठीक वैसे ही पेया, विलेपी आदि सुपचभक्ष्यों के सेवन करने से जठराग्नि भी सशक्त (खाये हुए भोजन को पचाने में समर्थ) हो जाता है॥ ३०॥

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ।
दशैव ते द्वित्रिगुणाविरेके प्रस्थस्तथा स्याद्द्विचतुर्गणश्च॥ ३१॥

वमन-विरेचन के वेग एवं परिमाण—जघन्य (हीन), मध्यम तथा प्रवर (प्रधान) भेद से क्रमशः ४, ६ एवं ८ वेग वमनों में होते हैं तथा विरेचनों में वे वेग क्रमशः १०, २० तथा ३० होते हैं। इन विरेचनों में निकलने वाले मल का क्रमशः भार जघन्य विरेचन में १ प्रस्थ, मध्यम विरेचन में २ प्रस्थ तथा प्रवर विरेचन में ४ प्रस्थ बतलाया गया है॥ ३१॥

पित्तावसानं वमनं विरेकादर्द्धं, कफान्तं च विरेकमाहुः।

वमन-विरेचन की अवधि एवं मान—पित्त के निकलने तक वमन कराना चाहिए। इस वमन द्रव का मान विरेचनों में निकले मल के भार से आधा होना चाहिए। इसमें भी जघन्य, मध्य, प्रवर भेद से भार का निर्धारण कर लेना चाहिए और विरेचन को तब पूर्ण समझें जब उसके अन्त में कफ निकल जाय।

द्वित्रान् सविट्कानपनीय वेगान् मेयं विरेके, वमने तु पीतम्॥ ३२॥

भारमापन-विधि—यह भार तौलने की प्रक्रिया मल के दो अथवा तीन वेगों के निकल जाने के बाद में करनी चाहिए। वमन में पहले पिलाये या पीये गये मद्य आदि द्रव पदार्थों अथवा वमनकारक क्वाथ की मात्रा को छोड़ कर ही तौलना चाहिए॥ ३२॥

वक्तव्य—श्रीवाग्भट ने च.सि. १।१४ से उक्त श्लोक को अविकल उद्धृत किया है। चरक में भलीभाँति कराये गये विरेचन के ये लक्षण दिये हैं—'स्रोतों की शुद्धि, इन्द्रियों की निर्मलता, शरीर में हलकापन, उत्साहशक्ति की प्राप्ति, अग्नि का प्रदीप्त होना, नीरोगता, क्रमशः मल, पित्त, कफ तथा अपानवायु का निकलना'॥ देखें—च.सि. १।१७। ध्यान दें—कभी-कभी पित्तान्त एवं कफान्त में भले ही भ्रम हो जाय परन्तु सम्यक् वान्त तथा सम्यक् विरिक्त के जो लक्षण कहे गये हैं, उनके दर्शन होने पर वमन-विरेचन का सम्यक् योग हो गया है, ऐसा समझें।

अथैनं वामितं भूयः स्नेहस्वेदोपपादितम्। श्लेष्मकाले गते ज्ञात्वा कोष्ठं सम्यग्विरेचयेत्॥ ३३॥

वमन के बाद विरेचन—वमन कराने के बाद पुनः विधिपूर्वक स्नेहन-स्वेदन कराकर श्लेष्मकाल (प्रातःकाल) के बीत जाने पर रोगी अथवा स्वस्थ पुरुष के कोष्ठ (मृदु, मध्य, क्रूर भेद से) का विचार करके विरेचनोपयोगी औषधि का प्रयोग करा कर उसे विरेचन कराये॥ ३३॥

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु ने वमन के बाद विरेचन कराने की विधि का समुचित वर्णन च.सू. १५।१७ में किया है, प्रसंगवश इसका अवलोकन कर लें।

बहुपित्तो मृदुः कोष्ठः क्षीरेणापि विरिच्यते।

मृदुकोष्ठ का वर्णन—जिस पुरुष के शरीर में पित्तदोष की प्रधानता होती है, उसे 'मृदुकोष्ठ' वाला कहते हैं। ऐसे पुरुषों को गरमा-गरम दूध पीने मात्र से विरेचन हो जाता है।

प्रभूतमारुतः क्रूरः कृच्छ्राच्छ्यामादिकैरपि॥ ३४॥

क्रूरकोष्ठ का वर्णन—जिस पुरुष के शरीर में वातदोष की प्रधानता होती है, उसे 'क्रूरकोष्ठ' वाला कहते हैं। ऐसे पुरुषों को काली निशोथ, जो तीक्ष्ण विरेचक होती है, के प्रयोग से भी बड़े कष्ट के साथ विरेचन हो पाता है॥ ३४॥

कषायमधुरैः पित्ते विरेकः, कटुकैः कफे। स्निग्धोष्णलवणैर्वायौ—

दोषानुसार विरेचन—पित्तज विकारों में कषाय तथा मधुर रस-प्रधान द्रव्यों द्वारा विरेचन देना चाहिए। कफज विकारों में कटुरस-प्रधान द्रव्यों से विरेचन दें और वातज विकारों में स्निग्ध तथा उष्णवीर्य द्रव्यों में लवण मिलाकर विरेचन देना चाहिए।

—अप्रवृत्तौ तु पाययेत्॥ ३५॥

उष्णाम्बु, स्वेदयेदस्य पाणितापेन चोदरम्।

विरेचक-उपाय—यदि उक्त औषध-प्रयोग करने पर भी विरेचन न हो रहा हो तो उसे गुनगुना जल पिलाना चाहिए और हाथों को सेंक कर उसके पेट को सेकें। इन उपायों से विरेचन हो जाता है॥ ३५॥

उत्थानेऽल्पे दिने तस्मिन्भुक्त्वाऽन्येद्युः पुनः पिबेत्॥ ३६॥

अदृढस्नेहकोष्ठस्तु पिबेदूर्ध्वं दशाहतः। भूयोऽप्युपस्कृततनुः स्नेहस्वेदैर्विरेचनम्॥ ३७॥

यौगिकं सम्यगालोच्य स्मरन्पूर्वमतिक्रमम्।

पुनःविरेचन-प्रयोग—इस विधि से यदि अल्पमात्रा में भी विरेचन हो तो उस रात्रि में उसे थोड़ा-सा हलका आहार (दलिया, खिचड़ी आदि) खिलाकर दूसरे दिन फिर उसे विरेचक औषधि पिलायी जाय। उदरप्रदेश का भलीभाँति स्नेहन न होने के कारण यदि विरेचन न हुआ हो तो उसे फिर दस दिन के बाद विरेचन कराने के लिए औषध-सेवन करायें। इसके पूर्व स्नेहन-स्वेदन का प्रयोग भी अवश्य करें। इस बार भी औषधयोग का समुचित विधान तथा उसे अभिमन्त्रित कर तभी उसका सेवन करना चाहिए॥ ३६-३७॥

हृत्कुक्ष्यशुद्धिररुचिरुत्क्लेशः श्लेष्मपित्तयोः॥ ३८॥
कण्डूविदाहः पिटिकाः पीनसो वातविड्ग्रहः। अयोगलक्षणम्—

हीनयोग (अयोग) के लक्षण—हृदय एवं उदर की ठीक प्रकार से शुद्धि का न होना, अतएव भारीपन की प्रतीति, अरुचि, कफ तथा पित्त के उभड़ जाने से जी मिचलाने की जैसी प्रतीति का होना, खुजली, जलन, शरीर में पिड़काओं की उत्पत्ति, पीनस (प्रतिश्याय), अपानवायु, मूत्र एवं पुरीष की प्रवृत्ति में रुकावट का होना—ये लक्षण होते हैं॥ ३८॥

—योगो वैपरीत्ये यथोदितात्॥ ३९॥

समयोग के लक्षण—ऊपर कहे गये हीनयोग के लक्षणों से विपरीत लक्षणों का होना समयोग कहा जाता है। यह तन्त्रकार द्वारा सूत्ररूप में निर्देश है॥ ३९॥

विट्पित्तकफवातेषु निःसृतेषु क्रमात्स्रवेत्। निःश्लेष्मपित्तमुदकं श्वेतं कृष्णं सलोहितम्॥ ४०॥
मांसधावनतुल्यं वा मेदःखण्डाभमेव वा। गुदनिःसरणं तृष्णा भ्रमो नेत्रप्रवेशनम्॥ ४१॥
भवन्त्यतिविरिक्तस्य तथाऽतिवमनामयाः।

अतियोग के लक्षण—इस प्रकार के विरेचन में पहले पुरीष (मल), फिर पित्त, कफ तथा अपान-वायु के निकल जाने पर भी कफ एवं पित्त रहित मलद्वार से सफेद, काला तथा लाल अथवा मांस को धोने से जैसा वर्ण जल का हो जाता है, वैसा जल निकलने लगता है अथवा मेदस् के टुकड़ों का स्राव होता है, गुदभ्रंश (काँच का निकलना), बार-बार प्यास का लगना, चक्करों का आना, आँखों का भीतर की ओर को धँस जाना तथा विरेचन के अतियोग होने पर वमन के अतियोग के लक्षण भी दिखलायी देने लगते हैं॥ ४०-४१॥

वक्तव्य—वमन के अतियोग के लक्षण इसी अध्याय के २६वें श्लोक में देखें। अष्टांगहृदय-सूत्रस्थान अध्याय ८ में आमविष के लक्षणों से वमन तथा विरेचन के अतियोग लक्षणों का मिलान करें। इसी 'आमविष' के कारण ही विसूचिका की उत्पत्ति होती है।

सम्यग्विरिक्तमेनं च वमनोक्तेन योजयेत्॥ ४२॥
धूमवर्ज्येन विधिना—

समयोग में पश्चात्कर्म—विरेचन-विधि का सम या सम्यक् योग हो जाने पर धूमपान-विधि के बिना वमनोत्तर विधि के उपचारों से इसे जोड़ें अर्थात् इसे स्नेहाचार करायें॥ ४२॥

—ततो वमितवानिव। क्रमेणान्नानि भुञ्जानो भजेत्प्रकृतिभोजनम्॥ ४३॥

समयोग में भोजन-विधि—स्नेहन कराने के बाद समुचित वमन कराये गये पुरुष के समान लाल शालिचावलों की पेया, विलेपी आदि का भोजनकाल में सेवन करता हुआ वह बाद में स्वाभाविक भोजन का सेवन करें॥ ४३॥

मन्दवह्निमसंशुद्धमक्षामं दोषदुर्बलम्। अदृष्टजीर्णलिङ्गं च लङ्घयेत्पीतभेषजम्॥ ४४॥

लंघन-निर्देश—विरेचन कराने के बाद यदि अग्नि मन्द पड़ गया हो, भलीभाँति संशोधन न हो सका हो, रोगी दुर्बल न हो, दोषों की वृद्धि से दुर्बलता आ गयी हो अथवा अपच के लक्षण दिखलायी दे रहे हों तो इन सभी स्थितियों में विरेचक औषध का पान किये हुए रोगी पुरुष को लंघन करायें॥ ४४॥

स्नेहस्वेदौषधोत्क्लेशसङ्गैरिति न बाध्यते।

लंघन का फल—लंघन या उपवास करने से स्नेहन तथा स्वेदन विधियों का सेवन करने के कारण जी मिचलाने से तथा मल-मूत्र आदि मलों की रुकावट से उत्पन्न होने वाली किसी प्रकार की बाधा से पीड़ित नहीं होता।

संशोधनास्रविस्रावस्नेहयोजनलङ्घनैः ॥ ४५ ॥
यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात् क्रमं पेयादिमाचरेत्।

पेया आदि की आवश्यकता—वमन, विरेचन, रक्तस्रावण, स्नेहपान तथा लंघन करने के बाद प्रायः जठराग्नि मन्द पड़ जाती है, अतः पेया आदि का आचरण (सेवन) करना चाहिए॥ ४५॥

स्रुताल्पपित्तश्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकम्॥ ४६॥
पेयां न पाययेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः।

पेया-सेवन का निषेध—जिसका पित्त तथा कफ थोड़ा-सा निकला हो, जो मद्यपान का अभ्यासी हो, जो वातपित्तज विकारों से पीड़ित हो—इन सभी को पेया का सेवन न करायें। इनके लिए तर्पण (सन्तर्पण) चिकित्सा लाभदायक होती है॥ ४६॥

वक्तव्य—च.सू.अ. २३ सम्पूर्ण में तथा अष्टांगहृदय १४।८-९ में इस विषय को देखें।

अपक्वं वमनं दोषान् पच्यमानं विरेचनम्॥ ४७॥
निर्हरेद्वमनस्यातः पाकं न प्रतिपालयेत्।

वमन-विरेचन की प्रतीक्षा—वमनकारक औषधद्रव्य सेवन करने के पश्चात् बिना पचे ही दोषों को निकाल देते हैं और विरेचनकारक औषधद्रव्य पचते हुए अर्थात् कुछ देर से दोषों को निकालते हैं। अतएव वमनकारक औषधद्रव्य की देर तक प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए॥ ४७॥

वक्तव्य—उक्त ४७वाँ श्लोक श्रीवाग्भट ने च.क. १२।६२ से अविकल रूप में उद्धृत करने पर भी '**दोष**' के स्थान पर '**दोषान्**' पाठभेद किया है।

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यः स्वयम्॥ ४८॥
विरिच्यते भेदनीयैर्भोज्यैस्तमुपपादयेत्।

वमन-विरेचन की चिकित्सा—यदि उदर सम्बन्धी दोष अधिक हों और रोगी दुर्बल हो, ऐसी स्थिति में दोषों का पाक हो जाने के कारण औषधद्रव्यों के प्रयोग किये बिना यदि स्वयमेव विरेचन हो रहे हों तो उसे मलभेदक आहारों का प्रयोग कराना चाहिए॥ ४८॥

वक्तव्य—स्वयमेव होने वाले वमन या विरेचन को तत्काल रोकने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिए, अपितु उनकी गतिविधि की प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि वे दोष निकल जाने पर स्वयं शान्त हो जाते हैं, तो इसे ईश्वर की कृपा समझें। यदि इनका क्रम चालू रह जाता है तो इनकी चिकित्सा करें।

दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्पदोषः कृशो नरः॥ ४९॥
अपरिज्ञातकोष्ठश्च पिबेन्मृद्वल्पमौषधम्।

मृदु विरेचन का निर्देश—जो सम्प्रति दुर्बल हो, जिसे पहले संशोधन कराया जा चुका हो, जिसके उदरप्रदेश में थोड़ा दोष शेष रह गया हो, जो मनुष्य कृश हो और जिसके कोष्ठ के सम्बन्ध में भलीभाँति जानकारी न हो कि यह व्यक्ति क्रूर कोष्ठ वाला है या मृदु कोष्ठ वाला है, उसे वमन या विरेचन कारक पहले मृदु औषध अल्प मात्रा में दें॥ ४९॥

वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम्॥ ५०॥
हरेद्बहूंश्चलान्दोषानल्पानल्पान् पुनःपुनः।

औषध-प्रयोग में सावधानी—वमन या विरेचनकारक औषधि को थोड़ा-थोड़ा बार-बार पीना अच्छा (समझदारी) है और एक साथ अधिक मात्रा में औषध का सेवन करना हानिकारक हो सकता

है। अतएव अधिक दोषों को अथवा स्वयं निकलने वाले दोषों को थोड़ा-थोड़ा बार-बार निकल जाने देना चाहिए॥५०॥

दुर्बलस्य मृदुद्रव्यैरल्पान् संशमयेत्तु तान्॥५१॥

दुर्बल के दोषों पर विचार—दुर्बल (कमजोर) पुरुष के थोड़े दोषों को मृदुविरेचक द्रव्यों द्वारा यथासम्भव शमन-चिकित्सा द्वारा शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए॥५१॥

क्लेशयन्ति चिरं ते हि हन्युर्वैनमनिर्हृताः।

दोषनिर्हरण की आवश्यकता—यदि स्वल्पमात्रा में बचे हुए वे दोष शोधन-विधि से नहीं निकाले जाते तो वे उस पुरुष को चिरकाल तक कष्ट देते रहते हैं अथवा इसे मार डालते हैं।

वक्तव्य—इसी विषय को दृष्टि में रखकर भगवान् पुनर्वसु ने भी कहा है—'दुर्बलोऽपि महादोषो विरेच्यो बहुशोऽल्पशः। मृदुभिर्भेषजैर्दोषा हन्युर्ह्येनमनिर्हृताः'॥ (च.क. १२।६९)

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः॥५२॥
सन्धुक्षिताग्निं विजितकफवातं च शोधयेत्।

पुनः शोधन-निर्देश—मन्दाग्नि तथा क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्तियों को जवाखार तथा लवण मिले हुए घी का सेवन कराकर उनकी जठराग्नि को प्रदीप्त करे और उसके कफ एवं वात दोष पर विजय प्राप्त करें, तदनन्तर उनका संशोधन करें॥५२॥

रूक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशीलिनाम्　　॥५३॥
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यति। तेभ्यो बस्तिं पुरा दद्यात्ततः स्निग्धं विरेचनम्॥५४॥
शकृन्निर्हृत्य वा किञ्चित्तीक्ष्णाभिः फलवर्तिभिः। प्रवृत्तं हि मलं स्निग्धो विरेको निर्हरेत्सुखम्॥

विरेचन में विविध विचार—जिनका कोष्ठ रूक्ष (रूखा) है, वातदोष अवरुद्ध है, जिनका कोष्ठ क्रूर है, जो निरन्तर व्यायाम किया करते हैं तथा जिनकी जठराग्नि प्रदीप्त है; इस प्रकार के व्यक्तियों को दी गयी विरेचनकारक औषधि बिना अपना कार्य (विरेचन) किये ही पच जाती है। ऐसे पुरुषों को विरेचक औषध देने से पहले अनुवासनबस्ति का प्रयोग कराना चाहिए अथवा तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यों द्वारा बनायी गयी फलवर्ति का गुद में प्रवेश कराये। इससे जब थोड़ा मल निकल जाय तब स्निग्ध विरेचन देना चाहिए, इस विधि से मल सुखपूर्वक निकल आता है॥५३-५५॥

विषाभिघातपिटिकाकुष्ठशोफविसर्पिणः। कामलापाण्डुमेहार्तान्नातिस्निग्धान् विशोधयेत्॥

शोधन के अयोग्य रोगी—विषविकार, अभिघात, पिडका, कुष्ठ, शोथ, विसर्प, कामला, पाण्डुरोग तथा प्रमेहरोग से पीड़ित व्यक्तियों को थोड़ा-सा स्नेहन कराकर तभी विरेचन-औषधि का प्रयोग कराना चाहिए। विरेचन देने के पहले स्नेहन कराना आवश्यक है किन्तु जिन्हें स्नेहन-प्रयोग कराया गया है, उन्हें रूक्ष विरेचन देना हितकर होता है॥५६॥

सर्वान् स्नेहविरेकैश्च, रूक्षैस्तु स्नेहभावितान्।

शोधन के भेद—जिनका थोड़ा-सा स्नेहन किया गया है, विष-सेवन से पीड़ित जो थोड़े रूक्ष हैं इनका स्नेहयुक्त विरेचक औषधों द्वारा शोधन करना चाहिए और जिनका भलीभाँति स्नेहन किया गया हो उनका रूक्ष विरेचक पदार्थों द्वारा शोधन करना चाहिए।

कर्मणां वमनादीनां पुनरप्यन्तरेऽन्तरे॥५७॥
स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत, स्नेहमन्ते बलाय च।

स्नेहन-स्वेदन प्रयोग—वमन तथा विरेचन जब कराये जा रहे हों उस काल में इनके बीच-बीच में बार-बार स्नेहन एवं स्वेदन प्रयोग कराते रहने चाहिए। ऐसा न सोच लें कि प्रारम्भ में तो स्नेहन-स्वेदन करा दिये थे, वे ही पर्याप्त हैं। प्रत्येक प्रकार की चिकित्सा-विधि के अन्त में रोगी का बल बढ़े, इस सदिच्छा से उसे स्नेहन कराना चाहिए॥५७॥

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने स्नेह को जीवनोपयोगी बतलाते हुए इस प्रकार कहा है—'स्नेहसारोऽयं पुरुषः·····योज्यः'। (सु.चि. ३१।३) अर्थात् यह पुरुष स्नेह के सहारे ही स्वस्थ रह पाता है और प्राणों का भी मुख्य आधार स्नेह ही है। प्रायः रोग भी स्नेहसाध्य होते हैं, अतः स्नेह का प्रयोग पीने, अनुवासन, शिरोविरेचन, शिरोबस्ति, उत्तरबस्ति, नस्य, कर्णपूरण (कान में डालने), शरीर पर मालिश करने तथा भोजन के साथ किया जाता है।

मलो हि देहादुत्क्लेश्य ह्रियते वाससो यथा॥५८॥
स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लिष्टः शोध्यते शोधनैर्मलः।

मलों का उत्क्लेशन—जिस प्रकार कपड़ा पर जमी हुई मैल को स्नेहन (स्नेह तथा क्षार प्रधान पदार्थ साबुन) तथा स्वेदन (गरम पानी) द्वारा उभाड़ कर निकाला जाता है, उसी प्रकार शरीर स्थित मलों को स्नेहन एवं स्वेदन विधियों से उत्क्लेशन (उभाड़) कर वमन एवं विरेचन नामक शोधनों से बाहर निकाल दिया जाता है॥५८॥

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः॥५९॥
दारु शुष्कमिवानामे शरीरं तस्य दीर्यते।

स्नेहन-स्वेदन के लाभ—स्नेहन तथा स्वेदन का अभ्यास (निरन्तर सेवन) किये बिना जो रोगी संशोधन का प्रयोग करता है, उसका शरीर उस प्रकार फट जाता है जैसे स्नेहन तथा स्वेदन किये बिना झुकाने का प्रयत्न करने पर सूखी लकड़ी टूट या फट जाती है॥५९॥

वक्तव्य—सामान्य रूप से स्नेहन-स्वेदन किये कराये बिना वमन तथा विरेचन होते भी हैं और कराये भी जाते हैं। यहाँ जो प्रमुख रूप से स्नेहन-स्वेदन की चर्चा है, वह पञ्चकर्म-विधि को ध्यान में रखकर ही की गयी है।

बुद्धिप्रसादं बलमिन्द्रियाणां धातुस्थिरत्वं ज्वलनस्य दीप्तिम्।
चिराच्च पाकं वयसः करोति संशोधनं सम्यगुपास्यमानम्॥६०॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने वमनविरेचनविधिर्नामाष्टादशोऽध्यायः॥१८॥

संशोधन से लाभ—शास्त्रोक्त विधि द्वारा सेवन किया गया संशोधन (वमन-विरेचन) बुद्धि को निर्मल करता है, इन्द्रियों को बल प्रदान करता है, रस-रक्त आदि धातुओं में स्थिरता ला देता है, ज्वलन (जठराग्नि) को प्रदीप्त कर देता है और चिरकाल तक वृद्धावस्था को समीप नहीं आने देता। ये ही भाव जीवन में अपेक्षित होते हैं॥६०॥

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु ने संशोधन-विधियों की प्रशंसा इस प्रकार की है—'दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः। जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः'॥ (च.सू. १६।२०) अर्थात् लंघन एवं पाचन विधियों से शान्त किये वात आदि दोष कभी-कभी फिर भी कुपित हो जाते हैं, किन्तु संशोधन-विधि से जिनका निर्हरण कर दिया जाता है, उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती। यही संशोधन-विधि की प्रमुखता है।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
निर्मला हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में
वमन-विरेचनविधि नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अथातो बस्तिविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से बस्तिविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—इसके पहले १८वें अध्याय में वमन-विरेचन विधियों से मलों के निर्हरण-विधि का वर्णन किया गया था। बस्ति के प्रयोग से भी मल का निर्हरण किया जाता है, अतएव यहाँ वमन-विरेचन के वर्णन करने के बाद तदनुरूप बस्तिविधि का उपदेश किया जा रहा है।

वस्ति या बस्ति शब्द पर विचार—अमरकोश की रामाश्रमी टीका में **'वस्ति'** शब्द की निरुक्ति—'वस निवासे' तथा 'वस आच्छादने' धातुओं से की गयी है। यहाँ वस धातु से 'वसेस्तिः' (उ. ४।१८०) सूत्र के अनुसार 'ति' प्रत्यय का योग होने से उक्त शब्द की निष्पत्ति हुई है। इसका अर्थ है—'वसति मूत्रम् अत्र', जो सर्वथा प्रसंगोचित अर्थ है। तदाकार इस यन्त्र के होने के कारण इसे भी **'वस्तियन्त्र'** कहा जाता है।

बस्ति—वी.एस. आप्टे ने अपने कोश में 'बस्त + घञ्' = बकरा, ऐसा विवरण दिया है। जहाँ बस्ति के लिए अनेक प्राणियों के चर्म आदि को लेने का विधान किया है, वहाँ अन्त में उल्लिखित 'बस्त' का ग्रहण कर उसके नाम के अनुसार इसका नाम 'बस्ति' स्वीकार कर लेना अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता। देखें बस्ति-निर्माण के लिए उपयोगी चर्म—सु.चि. ३५।१३ तथा च.सि. ३।१०-११। इसके बाद भी चरक-सुश्रुत आदि संहिताओं में वस्ति शब्द में 'व' के स्थान पर 'ब' का ही प्रयोग अधिकांश देखा जाता है। आचार्य पुरुषोत्तमदेव ने स्वरचित **'वर्णदेशना'** नामक ग्रन्थ में ब, व; न, ण; य, ज; श, स आदि के औचित्य पर संक्षेप में विचार किया है, आप भी उसका अनुशीलन करें।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सि. १, २, ३; सु.चि. ३५, ३७ तथा ३८; अ.सं.सू. २८ में देखें।

वातोल्बणेषु दोषेषु वाते वा बस्तिरिष्यते। उपक्रमाणां सर्वेषां सोऽग्रणीस्त्रिविधस्तु सः॥ १॥
निरूहोऽन्वासनं बस्तिरुत्तरः—

बस्ति का प्रयोग—वात-प्रधान दोषों में अथवा केवल वातदोष में भी बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। बस्ति को सभी उपक्रमों (चिकित्साविधियों) में अग्रगण्य (प्रमुख) माना जाता है। यह विधिभेद से तीन प्रकार की होती है— १. निरूह या निरूहण या आस्थापन, २. अन्वासन (अनुवासन) तथा ३. उत्तरबस्ति॥ १॥

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु ने बस्ति-प्रयोग की उपयोगिता को देखकर अपना तथा दूसरों का मत इस प्रकार उपस्थापित किया है—'तस्मात् चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके'॥ (च.सि. १४०) अर्थ स्पष्ट है।

—तेन साधयेत्। गुल्मानाहखुडप्लीहशुद्धातीसारशूलिनः॥ २॥
जीर्णज्वरप्रतिश्यायशुक्रानिलमलग्रहान्। वर्ध्माश्मरीरजोनाशान् दारुणांश्चानिलामयान्॥ ३॥

बस्ति-प्रयोग से लाभ—निरूहणबस्ति के प्रयोग से गुल्म, आनाह, खुडरोग (वातरक्तरोग—वै. निघण्टु), प्लीहविकार, शुद्धातिसार (आमदोषरहित अतिसार), शूल, जीर्णज्वर, प्रतिश्याय, शुक्रग्रह (शुक्र की रुकावट या शुक्रोदावर्त), वातग्रह, मलग्रह, वृद्धिरोग, अश्मरी (पथरी हो जाने पर कभी-कभी जो मूत्र में रुकावट आ जाती है), रजोरोध तथा वातज भीषण रोग शान्त हो जाते हैं॥ २-३॥

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने बस्तियों को दो भागों में बाँटा है। यथा— १. निरूहण तथा २. स्नेहन। आस्थापन और निरूह ये नैरूहिक बस्ति के पर्यायवाची नाम हैं। इसी का भेद है—माधुतैलिकबस्ति और इसके पर्याय हैं—यापनाबस्ति, युक्तरथबस्ति एवं सिद्धबस्ति। शरीर से दोषों को निकालने अथवा शरीर का रोहण करने के कारण इसे निरूहणबस्ति कहते हैं। आयु (यौवन) को स्थिर रखने के कारण इसी को आस्थापनबस्ति कहते हैं। माधुतैलिकबस्ति का वर्णन आगे निरूहण-चिकित्सा प्रसंग में कहा जायेगा। यथाप्रमाण कही हुई बस्ति के परिमाण में से चौथा भाग निकालने पर स्नेहबस्ति का ही भेद अनुवासनबस्ति नाम से कहा जाता है। शरीर के भीतर रह जाने पर भी जो दूषित नहीं होती अथवा जिसका प्रयोग प्रतिदिन किया जा सकता है, अतएव इसे 'अनुवासनबस्ति' कहते हैं। इसी का एक भेद है—'मात्राबस्ति'। इसमें आधे से भी आधी मात्रा ली जाती है। इसमें किसी प्रकार के परिहार की आवश्यकता नहीं होती है। देखें—सु.चि. ३५।१८।

बस्ति-परिचय—अनुवासनबस्ति की परिभाषा तो ऊपर दी गयी है। यथा—'अनुवसन् अपि न दुष्यति' अथवा 'अनुदिवसं दीयते इति अनुवासनः'। अर्थ ऊपर दिया है। यह अनुवासनबस्ति की उत्तम परिभाषा है। **यापनाबस्ति**—जिन बस्तियों के प्रयोग से मानव तथा स्त्री को दीर्घकाल तक युवा-युवती बनाये रखा जा सके, उन्हें 'यापनाबस्ति' कहते हैं। **युक्तरथबस्ति**—आचार्य चक्रपाणि ने उक्त बस्ति का परिचय इस प्रकार दिया है—घोड़े जुते हुए रथ में बैठकर तत्काल जाने वाले व्यक्ति को भी किसी प्रकार की तैयारी किये बिना भी यह बस्ति दी जा सकती है और देने के बाद किसी प्रकार का परहेज भी इसमें नहीं करना पड़ता, यही उक्त नाम की सार्थकता है। **मात्राबस्ति**—'षट्पली तु भवेच्छ्रेष्ठा मध्यमा त्रिपली भवेत्। कनीयस्यध्यर्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने'॥ अर्थात् चौबीस पल में से चतुर्थांश (६ पल) स्नेह लेने से अनुवासनबस्ति की उत्तम मात्रा होती है। तीन पल की मध्यम मात्रा और डेढ़ पल की कनीयसी मात्रा होती है। **भगवान् पुनर्वसु का कथन है**—'निरूहपादांशसमेन तैलम्' अर्थात् चौबीस पल निरूहद्रव्य के होने पर छः पल स्नेह की मात्रा चतुर्थांश होती है, यह उत्तम मात्रा है। इसी क्रम में मध्यम तथा कनीयसी मात्रा को भी समझें। **आचार्य गयी के अनुसार**— ६ पल स्नेहबस्ति में, ३ पल अनुवासनबस्ति में और १½ पल मात्राबस्ति में स्नेह की मात्रा होनी चाहिए। **उत्तरबस्ति**—जो बस्ति स्त्री अथवा पुरुष के मूत्रमार्ग में दी जाती है, उसे उत्तरबस्ति कहते हैं। इसके भी निरूहण तथा अनुवासन नाम से दो भेद होते हैं।

अनास्थाप्यास्त्वतिस्निग्धः क्षतोरस्को भृशं कृशः। आमातिसारी वमिमान् संशुद्धो दत्तनावनः॥
श्वासकासप्रसेकार्शोहिध्माध्मानाल्पवह्नयः। शूनपायुः कृताहारो बद्धच्छिद्रोदकोदरी॥ ५॥
कुष्ठी च मधुमेही च मासान् सप्त च गर्भिणी।

निरूहण के अयोग्य—जिसे अधिक स्नेहपान कराया गया हो, उरःक्षत का रोगी, अत्यन्त कृश (दुर्बल), आमज अतिसार का रोगी, छर्दि (वमन) का रोगी, वमन-विरेचन कराने के तत्काल बाद, जिसे नस्य का प्रयोग कराया गया हो, श्वासरोगी, कासरोगी, प्रसेक (कफदोष की वृद्धि के कारण जिसके मुख से लार निकल रही हो) का रोगी, अर्शोरोगी, हिचकी का रोगी, आध्मान, मन्दाग्नि, जिसके गुदप्रदेश में सूजन हो, जिसने तत्काल भोजन किया हो, बद्धगुदोदर, छिद्रोदर तथा जलोदर का रोगी, कुष्ठरोगी, मधुमेह का रोगी और जिसके गर्भ को सात मास हो गये हों ऐसी स्त्री को भी आस्थापन (निरूहण) बस्ति का प्रयोग नहीं कराना चाहिए॥ ४-५॥

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु ने च.सि. २।१४ में जिन रोगियों को अनास्थाप्य कहा है, उनका परिगणन तो श्रीवाग्भट ने उक्त श्लोकों में प्रायः कर दिया है, किन्तु जिन्हें चरक ने सि. २।१४-१५वें गद्य द्वारा कहा है उनका उल्लेख नहीं किया। अस्तु, उन्हें आप चरक के उक्त सन्दर्भ में देख लें। जिसे श्रीवाग्भट ने **'मासान् सप्त च गर्भिणी'** कहा है, उसके स्थान पर चरक में **'आमप्रजाता'** पाठ है, आप ऐसी स्थिति में भी निरूहणबस्ति का प्रयोग न करें।

आस्थाप्या एव चान्वास्या विशेषादतिवह्नयः॥ ६॥

रूक्षाः केवलवातार्ताः—

निरूहण एवं अनुवासन के योग्य—जो व्यक्ति आस्थापन (निरूहण) बस्ति के योग्य होते हैं वे ही अनुवासनबस्ति के योग्य भी होते हैं। विशेष करके जिनकी जठराग्नि अत्यधिक तीव्र हो, जो रूक्षशरीर वाले हों और जो केवल वातदोष से पीड़ित हों उन्हें अनुवासनबस्ति का प्रयोग कराना चाहिए॥ ६॥

—नानुवास्यास्त एव च। येऽनास्थाप्यास्तथा पाण्डुकामलामेहपीनसाः॥ ७॥
निरन्नप्लीहविड्भेदिगुरुकोष्ठकफोदराः । अभिष्यन्दिभृशस्थूलकृमिकोष्ठाढ्यमारुताः॥ ८॥
पीते विषे गरेऽपच्यां श्लीपदी गलगण्डवान्।

निरूहण एवं अनुवासन के अयोग्य—जो रोगी आस्थापन (निरूहण) बस्ति के अयोग्य होते हैं, वे अनुवासनबस्ति के भी अयोग्य होते हैं, क्योंकि दोनों बस्तियों का प्रयोग साथ-साथ किया जाता है। उनकी गणना पाण्डुरोगी, कामलारोगी, प्रमेह, पीनस, निरन्न (जिसने लंघन किया हो या भूखा हो), प्लीहा-रोगी, अतिसार, पेट का भारीपन, कफोदर, अभिष्यन्द, कृश, स्थूल, जिसके पेट में क्रिमि हों, ऊरुस्तम्भ, विषपान कर लेने पर, गर-विषयुक्त, अपची, श्लीपद (फीलपाँव) तथा गलगण्ड का रोगी—ये सभी अनुवासनबस्ति-प्रयोग के योग्य नहीं होते हैं॥ ७-८॥

तयोस्तु नेत्रं हेमादिधातुदार्वस्थिवेणुजम्॥ ९॥
गोपुच्छाकारमच्छिद्रं श्लक्ष्णर्जु गुलिकामुखम्।

बस्तिनेत्र-परिचय—उन दोनों (निरूहण एवं अनुवासन) बस्तियों के नेत्रों को सोना आदि धातु का, लकड़ी का, हड्डी का अथवा बाँस का बनवाना चाहिए। इन नेत्रों का आकार गाय की पूँछ के सदृश (नीचे की ओर को क्रमशः मोटा और आगे की ओर क्रमशः पतला), पतले छेद से युक्त, चिकना, सीधा तथा उसका मुख (अगला) भाग गोलाकार होना चाहिए॥ ९॥

वक्तव्य—बस्तिनेत्र (नली) को 'अच्छिद्र' कहा गया है, किन्तु इस नली के अगले भाग में भीतर ही भीतर एक छिद्र होता है, जो बस्तिपुट से लेकर आगे तक होता है। इसी छिद्र से वह द्रव पदार्थ गुद आदि प्रदेशों में पहुँचाया जाता है। ऊपर जो अच्छिद्र कहा गया है उसका तात्पर्य है—उस नली के अगल-बगल छिद्र न हों। आज का अनीमा यन्त्र इसी का प्रतिनिधि है। इस **'अच्छिद्रं'** का अर्थ श्रीअरुणदत्त 'निर्विवरम्' कहते हैं और श्रीहेमाद्रि मौन हैं। जब कि बस्तिनेत्र में भीतर-ही-भीतर आदि से अन्त तक छिद्र होना परम आवश्यक है, अतः यहाँ 'अच्छिद्रं' का अर्थ सूक्ष्मछिद्र युक्त कर लेना चाहिए; क्योंकि नञ्समस्त पद का अर्थ 'तदल्पता' भी होता है। देखें—'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः'॥ (नञ्प्रकरण-मनोरमाटीका) प्राचीन तन्त्रकारों के वचनों की संगति बैठाना ही व्याख्याकार की योग्यता है, अपनी अयोग्यता का भार तन्त्रकार पर डालना यह उसकी उच्छृंखलता है।

नेत्र-निरुक्ति—'णीञ् प्रापणे' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करके 'नेत्र' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'नयति, नीयते वा अनेन बस्तिकर्मोचितं द्रव्यम्'। अर्थात् इस नेत्रयन्त्र के माध्यम से बस्ति में रखे हुए द्रव्य को गुद के मूत्रमार्ग से भीतर तक पहुँचाया जाता है, अतएव इसे नेत्र कहते हैं।

ऊनेऽब्दे पञ्च, पूर्णेऽस्मिन्नासप्तभ्योऽङ्गुलानि षट्॥ १०॥
सप्तमे सप्त, तान्यष्टौ द्वादशे, षोडशे नव। द्वादशैव परं विंशाद्वीक्ष्य वर्षान्तरेषु च॥ ११॥
वयोबलशरीराणि प्रमाणमभिवर्द्धयेत्।

नेत्र का आकार—नेत्र की लम्बाई किस अवस्था में कितनी होनी चाहिए, इसका विवरण दिया जा रहा है—एक वर्ष से कम अवस्था वालों में उनके अंगुलों के प्रमाण से ५ अंगुल, एक वर्ष से लेकर सात वर्ष के पहले तक की अवस्था वालों में ६ अंगुल, सातवें वर्ष में ७ अंगुल, बारहवें वर्ष में ८ अंगुल,

सोलहवें वर्ष में ९ अंगुल तथा बीस वर्ष पूरा होने से लेकर अगले वर्षों में भी नेत्र का प्रमाण १२ अंगुल होना चाहिए। इनके अतिरिक्त जिन वर्षों का उल्लेख ऊपर नहीं किया गया उन (९, १०, ११ आदि) वर्षों में वयस् (अवस्था), शारीरिक बल तथा शरीर की स्थिति (नाटा, लम्बा, दुबला, मोटा आदि) का विचार कर उक्त नेत्र के परिमाण को बढ़ाया भी जा सकता है॥ १०-११॥

वक्तव्य—श्रीवाग्भट ने 'वयोबलशरीराणि' का जो निर्देश दिया है, वह चिकित्सक के लिए है, वह देखे कि जिसे बस्ति-प्रयोग कराना है उसकी अवस्था, बल तथा शारीरिक स्थिति कैसी है, तदनुसार नेत्र की लम्बाई का निर्धारण करे। ऊपर जो नेत्र की लम्बाई के प्रमाण दिये हैं, वे सामान्य हैं। 'आसप्तभ्यः'—यहाँ पर 'आङ्' उपसर्ग का प्रयोग 'मर्यादा' अर्थ में किया गया है, न कि 'अभिविधि' अर्थ में। वयस्, बल और शरीर की अनुकूल स्थिति को देखकर नेत्र का प्रमाण बढ़ाया जा सकता है, तो विपरीत स्थिति में वह घटाया भी जा सकता है।

स्वाङ्गुष्ठेन समं मूले स्थौल्येनाग्रे कनिष्ठया॥ १२॥

नेत्र की मोटाई—बस्तिनेत्र के मूल भाग की मोटाई जिसे बस्तिप्रयोग कराया जा रहा हो उसके अँगूठा के समान मोटी और उसके अगले भाग की मोटाई उसके कनिष्ठिका अंगुली के समान पतली होनी चाहिए॥ १२॥

पूर्णेऽब्देऽङ्गुलमादाय तदर्द्धार्द्धप्रवर्द्धितम्। त्र्यङ्गुलं परमं छिद्रं मूलेऽग्रे वहते तु यत्॥ १३॥
मुद्गं माषं कलायं च क्लिन्नं कर्कन्धुकं क्रमात्।

बस्तिनेत्र का छिद्र—बस्तिनेत्र का छेद (जिससे बस्ति में रखा हुआ द्रव भीतर प्रवेश कराया जाता है) एक वर्ष की अवस्था पूरी हो जाने पर १ अंगुल से लेकर उसके आधे का आधा अर्थात् चौथाई अंगुल के क्रम से क्रमशः अवस्थानुसार बढ़ाया गया परम (बड़े से भी बड़ा) तीन अंगुल प्रमाण का होना चाहिए। नेत्रछिद्र का यह परिमाण मूल भाग (जो बस्ति के साथ जुटा रहता है, उस) में होना चाहिए। ऊपर कहे गये विषय को इस प्रकार समझें—१ वर्ष से ६ वर्ष तक १ अंगुल छिद्र, ७ से ११ वर्ष तक १$\frac{1}{4}$ (सवा) अंगुल, १२ से १५ वर्ष तक १$\frac{1}{2}$ (डेढ़) अंगुल, १६ वर्ष में १$\frac{3}{4}$ (पौने दो) अंगुल, १७ वर्ष में २ अंगुल, १८ वर्ष में २$\frac{1}{4}$ (सवा दो) अंगुल, १९ वर्ष में २$\frac{1}{2}$ (अढ़ाई) अंगुल, २० वर्ष में २$\frac{3}{4}$ (पौने तीन) अंगुल, तदनन्तर ३ अंगुल का छिद्र होना चाहिए।

बस्तिनेत्र के अगले भाग का छिद्र क्रमशः मूँग के बराबर (१ वर्ष से ६ वर्ष तक के लिए), उड़द के बराबर (७ वर्ष से ११ वर्ष तक के लिए), कलाय (मटर) के बराबर (१६ वर्ष से २० वर्ष तक के लिए) और कर्कन्धु (झड़बेर) के बराबर (२० वर्ष से अन्त तक के लिए) होना चाहिए, जिससे गीले, कच्चे या हरे मूँग आदि आसानी से निकल सकें॥ १३॥

वक्तव्य—'स्वाङ्गुष्ठेन····त्र्यङ्गुलं परमं छिद्रम्'। उपर्युक्त पद्यभाग पर आप विचार करें, इसके लिए सु.चि. ३५।७, ८, ९ उद्धरणों में जो कुछ कहा गया है उससे सहायता लें।

मूलच्छिद्रप्रमाणेन प्रान्ते घटितकर्णिकम्॥ १४॥
वर्त्याऽग्रे पिहितं, मूले यथास्वं द्व्यङ्गुलान्तरम्। कर्णिकाद्वितयं नेत्रे कुर्यात्—

कर्णिका का वर्णन—बस्तिनेत्र के मूल छिद्र के प्रमाण से उसके प्रान्त (अन्तिम) भाग में कर्णिका (कँगनी) बनानी चाहिए। नेत्र के मूल में दो अंगुल की दूरी पर दो-दो कर्णिकाएँ बनायें। इस समय नेत्र के अगले छिद्र में वस्त्र या रुई की बत्ती डालकर उस छिद्र को बन्द कर लें॥ १४॥

—तत्र च योजयेत्॥ १५॥

अजाविमहिषादीनां बस्तिं सुमृदितं दृढम्। कषायरक्तं निश्छिद्रग्रन्थिगन्धशिरं तनुम्॥ १६॥
ग्रथितं साधु सूत्रेण सुखसंस्थाप्यभेषजम्।

बस्तिपुट का वर्णन—नेत्र के अन्तिम भाग में जहाँ कर्णिका बनायी गयी थी, वहाँ बस्तिपुट को बाँधें। यह बस्तिपुट बकरा, भेड़ा, भैंसा आदि के मूत्राशय की जो बस्ति होती है उसे भलीभाँति मलकर बना लिया जाता है, यह मजबूत होती है। बबूल आदि कषायरस-प्रधान द्रव्यों के रस से रँगा गया हो, उसमें कोई छिद्र न हो, कोई गाँठ न हो, दुर्गन्ध न हो, सिराओं से रहित हो, वह चर्म पतला हो तथा वह इतना बड़ा हो जिसमें औषध द्रव भलीभाँति रखे जा सकें, तदनन्तर वह अच्छी तरह से मजबूत धागे से सिली गयी हो॥ १५-१६॥

बस्त्यभावेऽङ्कपादं वा न्यसेद्वासोऽथवा घनम्॥ १७॥

अन्य·बस्तिपुट-विधान—यदि ऊपर कहे गये बकरा आदि के मूत्राशय उपलब्ध न हो सकें तो बकरे के ऊरुचर्म या पादचर्म या ऐसा वस्त्र जिसमें से पानी न चूता हो अथवा वस्त्र में मोम घिसकर उससे बस्तिपुट का निर्माण कर लें॥ १७॥

निरूहमात्रा प्रथमे प्रकुञ्चो वत्सरे परम्। प्रकुञ्चवृद्धिः प्रत्यब्दं यावत्षट्प्रसृतास्ततः॥ १८॥
प्रसृतं वर्द्धयेदूर्ध्वं द्वादशाष्टादशस्य तु। आसप्ततेरिदं मानं, दशैव प्रसृताः परम्॥ १९॥

निरूहणबस्ति की मात्रा—निरूहण (आस्थापन) बस्ति में दिये जाने वाले औषध द्रव की मात्रा प्रथम वर्ष में १ प्रकुंच (१ पल = ४ कर्ष = ४ तोला) होनी चाहिए। एक वर्ष के बाद प्रतिवर्ष १-१ प्रकुंच के अनुपात से मात्रा तब तक बढ़ानी चाहिए जब तक वह ६ प्रसृत (१२ प्रकुंच = ४८ तोला) न हो जाय। तदनन्तर १-१ प्रसृत के प्रमाण से मात्रा बढ़ानी चाहिए। इस प्रकार १८ वर्ष की अवस्था वाले पुरुष के लिए यह मात्रा १२ प्रसृत (२४ प्रकुंच = ९६ तोला) हो जाती है। इसके बाद ७० वर्ष की अवस्था तक यही मात्रा उचित होती है। उसके बाद १० प्रसृत (२० प्रकुंच = २० पल = ८० तोला) की मात्रा होनी चाहिए॥ १८-१९॥

यथायथं निरूहस्य पादो मात्राऽनुवासने।

अनुवासनबस्ति की मात्रा—उक्त निरूहणबस्ति के क्रम से बढ़ाते हुए अनुवासनबस्ति में दिये जाने वाले स्नेहन-द्रव्यों की मात्रा चौथाई भाग होनी चाहिए। अर्थात् निरूहणबस्ति में जहाँ द्रव मात्रा एक पल कही गयी है, वहाँ उस अवस्था में अनुवासन द्रव की मात्रा १ कर्ष होनी चाहिए।

आस्थाप्यं स्नेहितं स्विन्नं शुद्धं लब्धबलं पुनः॥ २०॥
अन्वासनार्हं विज्ञाय पूर्वमेवानुवासयेत्। शीते वसन्ते च दिवा रात्रौ केचित्ततोऽन्यदा॥ २१॥
अभ्यक्तस्नातमुचितात्पादहीनं हितं लघु। अस्निग्धरूक्षमशितं सानुपानं द्रवादि च॥ २२॥
कृतचङ्क्रमणं मुक्तविण्मूत्रं शयने सुखे। नात्युच्छ्रिते न चोच्छीर्षे संविष्टं वामपार्श्वतः॥ २३॥
सङ्कोच्य दक्षिणं सक्थि प्रसार्य च ततोऽपरम्।

बस्ति देने की विधि—निरूहणबस्ति देने योग्य पुरुष को पञ्चकर्मविधि के अनुसार स्नेहन-स्वेदन कराने के बाद वमन तथा विरेचन कराकर उसे शुद्ध करे। जब वह भलीभाँति स्वाभाविक रूप से बलवान् हो जाय तब उसे देखे कि यह अनुवासनबस्ति देने योग्य है, तब उसे पहले अनुवासनबस्ति देनी चाहिए। कुछ आचार्यों का मत है कि यह अनुवासनबस्ति शीतकाल (हेमन्त तथा शिशिर काल) में एवं वसन्त ऋतु में दिन में देनी चाहिए। इनके अतिरिक्त कालों (ग्रीष्म, प्रावृट्, शरद् ऋतुओं) में रात्रि के समय बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

इस प्रकार काल तथा दिन-रात्रि का निर्णय कर लेने पर जिस दिन बस्ति-प्रयोग कराना हो, उस दिन अभ्यंग कराकर उस व्यक्ति को स्नान कराये। आहारमात्रा से चतुर्थांश, हितकर, लघु (सुपच), न अतिस्निग्ध, न अतिरूक्ष तथा उचित अनुपान के साथ द्रव आदि दें। भोजन करने के बाद वह थोड़ा भ्रमण करे। मल-मूत्र का त्याग करके सुखद शय्या पर, जो न अधिक ऊँची हो और न उसमें अधिक ऊँचा सिरहाना ही हो, ऐसी शय्या पर उसे बायीं करवट लेटा दें। उसकी दाहिनी टाँग को मोड़कर तथा बायीं टाँग को सीधी करा दें॥ २०-२३॥

अथास्य नेत्रं प्रणयेत्स्निग्धे स्निग्धमुखं गुदे॥ २४॥

उच्छ्वास्य बस्तेर्वदने बद्धे हस्तमकम्पयन्। पृष्ठवंशं प्रति ततो नातिद्रुतविलम्बितम्॥ २५॥

नातिवेगं न वा मन्दं सकृदेव प्रपीडयेत्। सावशेषं च कुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति॥ २६॥

बस्तिनेत्र के प्रवेश की विधि—उसके बाद औषधद्रव से भरी हुई बस्ति के मुख को चिकना करके चिकना किये गये गुदद्वार में इसका प्रवेश कराना चाहिए। औषधद्रव भरने के पहले बस्तिपुट को दबाकर उसके भीतर जो हवा भरी हुई थी उसे निकाल कर तब उसमें औषधद्रव भरें। बस्तिनेत्र का प्रवेश पीठ की ओर न अधिक शीघ्रता से और न अधिक विलम्ब से करे और औषधद्रव को भीतर प्रवेश कराने की इच्छा से बस्तिपुट को न अधिक वेग से और न अधिक धीरे से दबायें अर्थात् उसे एक बार दबाकर औषधद्रव को भीतर प्रवेश करा दें। यदि कुछ औषधद्रव रह गया हो तो पुनः उसे भीतर प्रवेश न करायें, क्योंकि जो शेष बच जाता है उसमें वायु का प्रवेश हो जाता है। अतः उस बस्तिनेत्र को धीरे-धीरे गुद से बाहर निकाल लें॥ २४-२६॥

दत्ते तूत्तानदेहस्य पाणिना ताडयेत्स्फिजौ। तत्पार्ष्णिभ्यां तथा शय्यां पादतश्च त्रिरुत्क्षिपेत्॥ २७॥

ततः प्रसारिताङ्गस्य सोपधानस्य पार्ष्णिके। आहन्यान्मुष्टिनाऽङ्गं च स्नेहेनाभ्यज्य मर्दयेत्॥

वेदनार्तमिति स्नेहो न हि शीघ्रं निवर्तते। योज्यः शीघ्रं निवृत्तेऽन्यः स्नेहोऽतिष्ठन्नकार्यकृत्॥

बस्ति के पश्चात् कर्म—इस प्रकार बस्तिकर्म कर लेने के बाद उस व्यक्ति को पीठ के बल से चित लिटा दें। उसके बाद उसके स्फिचों (चूतड़ों) को थपथपाये अथवा उससे कहें कि वह अपनी एड़ियों से स्वयं चूतड़ों को थपथपाये तथा उसकी शय्या (पलंग या चारपायी) को धीरे-धीरे तीन बार ऊपर की ओर उठा-उठाकर पटके। तदनन्तर जब वह व्यक्ति तकिया लगाकर और हाथ-पैर फैलाकर लेटा हो तब उसकी एड़ियों को और पसलियों को मुट्ठी से थपथपाये, शरीर पर तेल लगाकर उसके वेदना वाले अंग को विशेष करके मले, ऐसा करने से बस्ति द्वारा दिया गया स्नेह जल्दी नहीं लौट आता। यदि स्नेह लौटकर बाहर निकल आया हो तो शीघ्र ही दूसरी स्नेहबस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। क्योंकि बस्ति द्वारा भीतर प्रवेश कराया गया स्नेह यदि कुछ समय तक मलाशय के भीतर नहीं रुकता तो वह अपना कार्य (लाभ) नहीं करता है॥ २७-२९॥

दीप्ताग्निं त्वागतस्नेहं सायाह्ने भोजयेल्लघु।

स्नेह के लौट आने पर आहार—स्नेहद्रव के लौट आने पर यदि उस व्यक्ति की जठराग्नि प्रदीप्त हो तो उसे लघु (सुपच) आहार खाने के लिए देना चाहिए।

निवृत्तिकालः परमस्त्रयो यामास्ततः परम्॥ ३०॥

अहोरात्रमुपेक्षेत, परतः फलवर्तिभिः। तीक्ष्णैर्वा बस्तिभिः कुर्याद्यत्नं स्नेहनिवृत्तये॥ ३१॥

स्नेह के न लौटने पर चिकित्सा—स्नेह के स्वाभाविक रूप से लौट आने का समय तीन प्रहर (९ घण्टे) होते हैं, किन्तु आप एक दिन एक रात अर्थात् ८ प्रहर (२४ घण्टे) प्रतीक्षा कर लें। इतने समय तक भी यदि वह स्नेह नहीं लौटता है, तब उसे फलवर्तियों के प्रयोग से अथवा तीक्ष्ण (निरूहण) बस्तियों द्वारा लौटाने का प्रयत्न करें॥ ३०-३१॥

अतिरौक्ष्यादनागच्छन्न चेज्जाड्यादिदोषकृत्। उपेक्षेतैव हि ततोऽध्युषितश्च निशां पिबेत्॥

प्रातर्नागरधान्याम्भः कोष्णं, केवलमेव वा।

विशेष चिकित्सा—यदि मलाशय की अत्यन्त रूक्षता के कारण स्नेह लौटकर न आ रहा हो और उसके न आने से शरीर पर जड़ता आदि दोष भी नहीं दिखलायी दे रहे हों तो उसकी उपेक्षा करें अर्थात् उस स्नेह को लौटाने का प्रयत्न ही न करें। अपितु रात्रिभर विश्राम कर लेने के बाद प्रातःकाल सोंठ तथा धनियाँ डालकर उबाला हुआ जल अथवा केवल गुनगुना जल वह पीये॥ ३२॥

अन्वासयेत्तृतीयेऽह्नि पञ्चमे वा पुनश्च तम्॥ ३३॥
यथा वा स्नेहपक्तिः स्यादतोऽत्युल्बणमारुतान्।
व्यायामनित्यान् दीप्ताग्नीन् रूक्षांश्च प्रतिवासरम्॥ ३४॥

पुनः अनुवासन-प्रयोग—तदनन्तर उस व्यक्ति को तीसरे अथवा पाँचवें दिन पुनः अनुवासनबस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। अथवा जैसे-जैसे स्नेह का पाचन होता जाय वैसे-वैसे अनुवासनबस्ति देते रहना चाहिए। यही कारण है कि जिनके शरीरों में वातदोष की अधिकता हो, जो प्रतिदिन व्यायाम करते हों, जिनकी जठराग्नि प्रदीप्त हों तथा जो रूक्ष हों, उन्हें प्रतिदिन अनुवासनबस्ति का प्रयोग कराया जा सकता है॥ ३३-३४॥

इति स्नेहैस्त्रिचतुरैः स्निग्धे स्रोतोविशुद्धये। निरूहं शोधनं युञ्ज्यादस्निग्धे स्नेहनं तनोः॥ ३५॥

निरूहणबस्ति-प्रयोग—इस प्रकार तीन या चार बार दी गयी स्नेहबस्तियों द्वारा शरीर के स्निग्ध हो जाने पर स्रोतों को शुद्ध करने के लिए शोधनकारक निरूहणबस्ति का उपयोग करना चाहिए। यदि उतने पर भी शरीर का भलीभाँति स्नेहन न हो पाया हो तो स्नेहपान आदि विधियों से शरीर को स्निग्ध कर लेना चाहिए॥ ३५॥

पञ्चमेऽथ तृतीये वा दिवसे साधके शुभे। मध्याह्ने किञ्चिदावृत्ते प्रयुक्ते बलिमङ्गले॥ ३६॥
अभ्यक्तस्वेदितोत्सृष्टमलं नातिबुभुक्षितम्। अवेक्ष्य पुरुषं दोषभेषजादीनि चादरात्॥ ३७॥
बस्तिं प्रकल्पयेद्वैद्यस्तद्विद्यैर्बहुभिः सह।

निरूहण-प्रयोगविधि—अनुवासनबस्ति का प्रयोग कर लेने के बाद तीसरे या पाँचवें दिन अथवा जो कार्य में सफलता दिलाने वाला (ज्योतिषशास्त्र के अनुसार) दिन हो, मध्याह्नकाल जब कुछ दिन ढल जाय बलिदान तथा मंगलकार्य करके, उस व्यक्ति को अभ्यंग तथा स्वेदन कराकर जिसने मल-मूत्र का त्याग कर लिया हो, जो अधिक भूखा न हो तथा वात आदि दोषों एवं औषध-द्रव्यों का भलीभाँति विचार करके, बस्तिकर्मकुशल अन्य अनेक चिकित्सकों के साथ विचार-विमर्श करके बस्ति में प्रयुज्यमान द्रव का निर्माण (कल्पना) करें॥ ३६-३७॥

क्वाथयेद्विंशतिपलं द्रव्यस्याष्टौ फलानि च॥ ३८॥
ततः क्वाथाच्चतुर्थांशं स्नेहं वाते प्रकल्पयेत्। पित्ते स्वस्थे च षष्ठांशमष्टमांशं कफेऽधिके॥ ३९॥
सर्वत्र चाष्टमं भागं कल्काद्द्रवति वा यथा। नात्यच्छसान्द्रता बस्तेः पलमात्रं गुडस्य च॥ ४०॥
मधुपट्वादिशेषं च युक्त्या—

बस्तिद्रव-निर्माणविधि—(निरूहणोपयोगी द्रव्यों को आगे कल्पस्थान अध्याय ४ के प्रारम्भ में देखें, क्योंकि यहाँ द्रव्यों का उल्लेख श्रीवाग्भट ने नहीं किया है, केवल बस्तिद्रवकल्पनाविधि का निर्देश किया है।) २० पल = ८० तोला परिमाण में यथोचित द्रव्यों को लेकर और उसमें ८ मैनफलों का चूर्ण करके ८ गुना जल में पकाकर अष्टमांश जल शेष रहने पर उतार कर छान लें। यदि वातदोष की अधिकता हो तो क्वाथ से चतुर्थांश उसमें स्नेह (एरण्ड आदि का समुचित तेल) मिलायें, पित्त की अधिकता होने पर और वात आदि दोषों की समान स्थिति होने पर छठा भाग स्नेह मिलायें और यदि कफदोष की अधिकता हो तो आठवाँ भाग स्नेह मिलायें। इसके अतिरिक्त सभी स्थितियों में कल्क का आठवाँ भाग अथवा उतना कल्क (चटनी की भाँति पिसा हुआ द्रव्य) मिलायें, जिससे ऊपर कहा गया क्वाथ न अधिक पतला हो जाय और न अधिक गाढ़ा। उसमें गुड़ एक पल, मधु तथा लवण आदि शेष द्रव्यों का युक्तिपूर्वक मिश्रण करना चाहिए॥ ३८-४०॥

—सर्वं तदेकतः। उष्णाम्बुकुम्भीबाष्पेण तप्तं खजसमाहतम्॥ ४१॥
प्रक्षिप्य बस्तौ प्रणयेत्पायौ नात्युष्णशीतलम्। नातिस्निग्धं न वा रूक्षं नातितीक्ष्णं न वा मृदु॥
नात्यच्छसान्द्रं नोनातिमात्रं नापटु नाति च। लवणं तद्वदम्लं च—

उक्त सभी द्रव्यों को एक पात्र (बर्तन) में मिलाकर खौलते हुए जल में डालकर उसे भलीभाँति मथानी से मथें। तैयार हो जाने पर तथा गुनगुना होने पर इसे बस्तिपुट में भरें। भरने के पहले इस द्रव को देख लें—यह न अधिक स्निग्ध हो, न अधिक रूक्ष हो, न अधिक तीक्ष्ण हो, न अधिक मृदु हो, न अधिक अच्छ (स्वच्छ द्रव के आकार का) हो, न अधिक गाढ़ा हो, न मात्रा में कम हो, न अधिक हो, न अधिक लवण युक्त हो, न लवण से सर्वथा रहित हो, न अधिक अम्ल (खट्टा) हो और न अम्लरहित ही हो; ऐसे गुनगुने द्रव पदार्थ द्वारा बस्ति दें॥ ४१-४२॥

—पठन्त्यन्ये तु तद्विदः॥ ४३॥

मात्रां त्रिपलिकां कुर्यात्स्नेहमाक्षिकयोः पृथक्। कर्षार्द्धं माणिमन्थस्य स्वस्थे कल्कपलद्वयम्॥

सर्वद्रवाणां शेषाणां पलानि दश कल्पयेत्।

अन्य आचार्यों का मत—इस सम्बन्ध में बस्तिविशेषज्ञ दूसरे आचार्यों का मत इस प्रकार है—इसमें स्नेह तथा मधु की मात्रा ३-३ पल (१२-१२ तोला), माणिमन्थ (सेंधानमक) आधा कर्ष, कल्क २ पल (८ तोला), इनके अतिरिक्त ऊपर जो-जो द्रव पदार्थ कहे गये हैं, उन्हें तथा क्वाथद्रव सहित १० पल (४० तोला) लें। यह प्रमाण स्वस्थ (पूर्ण) पुरुष के लिए कहा गया है॥ ४३-४४॥

माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमिति क्रमात्॥ ४५॥

आवपेत निरूहाणामेष संयोजने विधिः।

बस्तिद्रव्य-मिश्रणविधि—बस्ति में प्रयोग किये जाने वाले द्रव्यों को मिलाने की विधि—पात्र-विशेष में सबसे पहले क्रमशः मधु, लवण (नमक), स्नेह, कल्क, क्वाथ किया हुआ द्रव आदि डालते जाय और मथानी से इन्हें मथता जाय। यह बस्ति में डालने से पहले द्रव्यों को मिलाने की विधि है॥ ४५॥

उत्तानो दत्तमात्रे तु निरूहे तन्मना भवेत्॥ ४६॥

कृतोपधानः सञ्जातवेगश्चोत्कटकः सृजेत्।

निरूहण का पश्चात् कर्म—जिसे निरूहणबस्ति दी गयी हो, वह बस्ति-प्रयोग के तत्काल बाद तकिया लगाकर कब निरूह द्रव्यों का वेग लौट आता है, इसका ध्यान रखता हुआ लेटा रहे और वेग की प्रतीति होते ही पाँवों के बल बैठकर (इसी को उत्कट आसन = उकडूँ बैठना कहते हैं) मल का त्याग कर दें॥ ४६॥

आगतौ परमः कालो मुहूर्तो मृत्यवे परम्॥ ४७॥

तत्रानुलोमिकं स्नेहक्षारमूत्राम्लकल्पितम्। त्वरितं स्निग्धतीक्ष्णोष्णं बस्तिमन्यं प्रपीडयेत्॥ ४८॥

विदद्यात्फलवर्तिं वा स्वेदनोत्त्रासनादि च।

बस्ति के लौटने की अवधि—निरूहणबस्ति के लौट आने का अधिक-से-अधिक समय एक मुहूर्त (२ घड़ी = ४८ मिनट) है। इसके बाद भी यदि नहीं लौटता है तो इसके बाद मृत्यु हो सकती है। इस स्थिति में उन द्रव्यों का अनुलोमन (विरेचन) कराने वाली स्नेह, क्षार, गोमूत्र, अम्ल (काँजी) मिलाकर बनायी गयी स्निग्ध, तीक्ष्ण (क्षार) एवं गरमागरम दूसरी बस्ति का प्रयोग कर देना चाहिए अथवा मदनफलयुक्त फलवर्ति (देखें—अ.हृ.चि. ८।१३७) का प्रयोग कराना चाहिए अथवा पेट के ऊपर स्वेदन करायें अथवा उसे डराने-धमकाने का प्रयत्न करे, इससे भी मल निकल आता है॥ ४७-४८॥

स्वयमेव निवृत्ते तु द्वितीयो बस्तिरिष्यते॥ ४९॥

तृतीयोऽपि चतुर्थोऽपि यावद्वा सुनिरूढता।

अनेक बस्ति-प्रयोग—यदि स्वाभाविक रूप से समय के भीतर बस्तिद्रव लौटकर बाहर न आ जाय तब तक आवश्यकतानुसार दूसरी, तीसरी तथा चौथी बस्ति का प्रयोग करते रहना चाहिए, जब तक उसमें सम्यक् निरूहण के लक्षण न देख लिये जायें॥ ४९॥

विरिक्तवच्च योगादीन्विद्यात्—

सम्यग्योग आदि का संकेत—निरूहणबस्ति के सम्यग्योग, हीनयोग, अतियोग के लक्षणों को विरेचन के समान ही समझें। इनके लक्षण अ.हृ.सू. १८।३८-४१ में कहे गये हैं।

—योगे तु भोजयेत्॥५०॥

कोष्णेन वारिणा स्नातं तनुधन्वरसौदनम्।

सम्यग्योग में पश्चात् कर्म—निरूहणबस्ति का सम्यग्योग हो जाने के बाद उस व्यक्ति को गुनगुने जल से स्नान कराकर धन्व (जांगल) देश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भात खिलाना चाहिए॥५०॥

विकारा ये निरूढस्य भवन्ति प्रचलैर्मलैः॥५१॥
ते सुखोष्णाम्बुसिक्तस्य यान्ति भुक्तवतः शमम्।

विकारों का शमन—निरूहणबस्ति का प्रयोग कराने से मलों के अपने स्थान से इधर-उधर हो जाने के कारण जो तात्कालिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं, वे सब गुनगुने जल द्वारा स्नान करने तथा मांसरस के साथ भोजन कर लेने पर शान्त हो जाते हैं॥५१॥

अथ वातार्दितं भूयः सद्य एवानुवासयेत्॥५२॥

पुनः अनुवासन-प्रयोग—वातरोग से पीड़ित व्यक्ति को निरूहणबस्ति देने के बाद तत्काल ही अनुवासनबस्ति का प्रयोग कराना चाहिए॥५२॥

वक्तव्य—'सद्य एवानुवासयेत्'—यहाँ 'सद्यः' शब्द का अर्थ 'तत्क्षण = तत्काल' ही है, न कि 'सद्योमरणीयमिद्रिय' अध्याय में कहे गये 'सद्यः' के समान समझें। वहाँ तो श्रीचक्रपाणि के अनुसार सात रात या तीन रात तक का समय स्वीकार किया गया है। देखें—च.इ. १०।१-२। यहाँ भी सामान्य रूप से विरेचन के सात दिन बाद अनुवासनबस्ति देने की अनुमति चरक तथा सुश्रुत ने दी है। देखें—सु.चि. ३७।३ तथा च.सू. १५।१६। आवश्यक विधियों में सामान्य वचनों का उपयोग कहीं भी नहीं होता है।

सम्यग्घीनातियोगाश्च तस्य स्युः स्नेहपीतवत्।

अनुवासन के विविध योग—अनुवासनबस्ति के सम्यग्योग, हीनयोग तथा अतियोग स्नेहपान के सम्यग्योग, हीनयोग तथा अतियोग के समान होते हैं। देखें—अ.हृ.सू. १६।३०-३१।

किञ्चित्कालं स्थितो यश्च सपुरीषो निवर्तते॥५३॥
सानुलोमानिलः स्नेहस्तत्सिद्धमनुवासनम्।

सम्यग्योग का वर्णन—अनुवासनबस्ति द्वारा दिया गया जो स्नेह कुछ समय तक मलाशय में रुककर पुरीष (मल) के साथ लौट आता है और जो वायु का अनुलोमन कर देता है, उसे अनुवासनबस्ति का सम्यग्योग कहा जाता है॥५३॥

एकं त्रीन् वा बलासे तु स्नेहबस्तीन् प्रकल्पयेत्॥५४॥
पञ्च वा सप्त वा पित्ते, नवैकादश वाऽनिले। पुनस्ततोऽप्ययुग्मांस्तु पुनरास्थापनं ततः॥५५॥

दोषानुसार बस्तिसंख्या—कफदोष में १ अथवा ३, पित्तदोष में ५ या ७ तथा वातदोष में ९ या ११ स्नेहबस्तियाँ देनी चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो इसके आगे भी अयुग्म (विषम) संख्या में (पहले कही हुई संख्याओं से बढ़ाकर बस्तियाँ देनी चाहिए। उसके बाद फिर आस्थापन (निरूहण) बस्तियों का प्रयोग कराना चाहिए। यह आस्थापनबस्ति स्नेहबस्तियों के साथ-साथ भी दी जाती है॥५४-५५॥

कफपित्तानिलेष्वन्नं यूषक्षीररसैः क्रमात्।

आहार-विधान—बस्ति-प्रयोग के दिनों में आहारविधि का शास्त्रीय निर्देश—कफदोष में यूष (जूस) के साथ, पित्तदोष में दूध के साथ और वातदोष में मांसरस के साथ सुपाच्य भोजन देना चाहिए।

वातघ्नौषधनिष्क्वाथत्रिवृतासैन्धवैर्युतः ॥ ५६ ॥
बस्तिरेकोऽनिले स्निग्धः स्वाद्वम्लोष्णो रसान्वितः ।

वातदोष में बस्ति-प्रयोग—वातनाशक (भद्रदारु अथवा दशमूल आदि) द्रव्यों का क्वाथ बनाकर उसमें निशोथ, सेंधानमक, मधुर तथा अम्लरस एवं उष्णवीर्य पदार्थों को मिलाकर एक बस्ति देनी चाहिए॥ ५६॥

न्यग्रोधादिगणक्वाथपद्मकादिसितायुतौ ॥ ५७ ॥
पित्ते स्वादुहिमौ साज्यक्षीरेक्षुरसमाक्षिकौ ।

पित्तदोष में बस्ति-प्रयोग—न्यग्रोधादि गण के क्वाथ में पद्मकादि गणोक्त द्रव्यों का कल्क, मिश्री, घी, दूध, ईख का रस तथा मधु आदि मधुर एवं शीतल द्रव्यों को मिलाकर एक बस्ति देनी चाहिए॥ ५७॥

आरग्वधादिनिष्क्वाथवत्सकादियुतास्त्रयः ॥ ५८ ॥
रूक्षाः सक्षौद्रगोमूत्रास्तीक्ष्णोष्णकटुकाः कफे ।

कफदोष में बस्ति-प्रयोग—आरग्वधादि गणोक्त द्रव्यों के क्वाथ में वत्सकादि गणोक्त द्रव्यों का कल्क, रूक्षताकारक मधु, गोमूत्र, तीक्ष्ण, उष्ण एवं कटु द्रव्यों को मिलाकर तीन बस्तियाँ देनी चाहिए॥ ५८॥

वक्तव्य—ऊपर कतिपय गणों के नाम आये हैं, उन्हें अ.हृ.सू. १५ में इस प्रकार देखें—वातनाशक गण श्लोक ५, न्यग्रोधादि गण श्लोक ४१-४२, पद्मकादि गण श्लोक १२, आरग्वधादि गण श्लोक ७ तथा १७-१८ तथा वत्सकादि गण श्लोक ३३-३४।

त्रयस्ते सन्निपातेऽपि दोषान् घ्नन्ति यतः क्रमात् ॥ ५९ ॥

सन्निपात में बस्ति-प्रयोग—सन्निपात में भी ऊपर कही गयी तीनों वात, पित्त तथा कफ नाशक बस्तियाँ क्रमानुसार दी जाती हैं। इस क्रम को कुशल चिकित्सक जानते हैं, अतएव ये तीनों दोषों का शोधन करती हैं॥ ५९॥

त्रिभ्यः परं बस्तिमतो नेच्छन्त्यन्ये चिकित्सकाः । न हि दोषश्चतुर्थोऽस्ति पुनर्दीयेत यं प्रति ॥ ६० ॥

तीन ही बस्तियाँ—इस दृष्टिकोण से कुछ चिकित्सक केवन तीन ही बस्तियाँ होती हैं, ऐसा कहते हैं; क्योंकि दोष भी तीन ही होते हैं, चौथा दोष भी नहीं होता, जिसके लिए अन्य बस्ति की कल्पना की जाय॥ ६०॥

उत्क्लेशनं शुद्धिकरं दोषाणां शमनं क्रमात्। त्रिधैव कल्पयेद्बस्तिमित्यन्येऽपि प्रचक्षते ॥ ६१ ॥

बस्तिनाम-भेद—दूसरे आचार्यों का कथन है कि विधिभेद से बस्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं— **१. उत्क्लेशन**, जो भीतर जाकर जमे हुए दोषों को उभार देती है। **२. शुद्धिकर**, विरेचन द्वारा बाहर निकाल देने वाली तथा **३. शमन**, उपस्थित दोषों का शमन करने वाली॥ ६१॥

दोषौषधादिबलतः सर्वमेतत् प्रमाणयेत् ।

उक्त मतों की प्रामाणिकता—उक्त सभी मत प्रामाणिक हैं, ऐसा समझंना चाहिए। क्योंकि वात आदि दोषों का, विविध गुणवाले औषध-द्रव्यों का तथा देश-काल आदि के बल का विचार करने से इनकी प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है। वास्तव में जो भेद दृष्टिगोचर होता है, वह केवल विधिभेद ही है।

सम्यङ्निरूढलिङ्गं तु नासम्भाव्य निवर्तयेत् ॥ ६२ ॥

बस्तिकर्म की अवधि—जब तक इसी अध्याय में कथित सम्यक् निरूहण के लक्षण दिखलायी न दें तब तक बस्तिकर्म के प्रयोगक्रम को रोकना नहीं चाहिए॥ ६२॥

वक्तव्य—निरूहणबस्ति के सम्यग्योग का वर्णन इसी अध्याय के ५०वें पद्य में सूत्ररूप से कहा गया है, अतः वमन एवं विरेचन के सम्यग्योग के समान इसके लक्षणों का भी विचार कर लेना चाहिए।

प्राक्स्नेह एकः पञ्चान्ते द्वादशास्थापनानि च। सान्वासनानि कर्मैवं बस्तयस्त्रिंशदीरिताः ॥ ६३ ॥

बस्तिकर्म का वर्णन—प्रस्तुत बस्तिकर्म के आरम्भ में १ स्नेहबस्ति दी जाती है तथा अन्त में ५ स्नेहबस्तियाँ और बीच में १२ आस्थापन (निरूहण) बस्तियाँ तथा १२ अनुवासनबस्तियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार इन बस्तियों की कुल संख्या ३० हो जाती है। इस क्रम से प्रयुक्त विधि को 'बस्तिकर्म' कहते हैं॥ ६३ ॥

कालः पञ्चदशैकोऽत्र प्राक् स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा। षट् पञ्चबस्त्यन्तरिताः—

बस्तिकाल का वर्णन—बस्तिकाल में सर्वप्रथम १ स्नेहबस्ति का प्रयोग किया जाता है और अन्त में ३ स्नेहबस्तियाँ दी जाती हैं, मध्य में ६ स्नेहबस्तियाँ तथा इनके बीच-बीच में ५ निरूहणबस्तियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार इन कुल बस्तियों की संख्या १५ हो जाती है। इस क्रम से प्रयुक्त विधि को 'बस्तिकाल' कहते हैं।

—योगोऽष्टौ बस्तयोऽत्र तु ॥ ६४ ॥

त्रयो निरूहाः स्नेहाश्च स्नेहावाद्यन्तयोरुभौ।

बस्तियोग का वर्णन—बस्तियोग में सर्वप्रथम १ स्नेहबस्ति और अन्त में १ स्नेहबस्ति दी जाती है। इन दोनों के बीच में ३ निरूहणबस्तियाँ एवं इन्हीं के बीच-बीच में ३ अनुवासनबस्तियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार इन कुल बस्तियों की संख्या ८ हो जाती है। इस क्रम से प्रयुक्त विधि को 'बस्तियोग' कहते हैं॥ ६४॥

स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैकमेवाति शीलयेत् ॥ ६५ ॥
उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहान्निरूहान्मरुतो भयम्।

स्नेह एवं निरूहण प्रयोग—केवल स्नेहबस्तियों अथवा केवल निरूहणबस्तियों का निरन्तर सेवन कराना उचित नहीं है, क्योंकि केवल स्नेहबस्तियों का प्रयोग कराने से दोषों का उत्क्लेश (पित्त एवं कफ दोषों की वृद्धि तथा मल का उभर आना) हो जाता है और मन्दाग्नि हो जाती है। केवल निरूहणबस्तियों का निरन्तर अधिक सेवन कराने से वातदोष की वृद्धि का भय हो सकता है॥ ६५ ॥

तस्मान्निरूढः स्नेह्यः स्यान्निरूह्यश्चानुवासितः ॥ ६६ ॥

बस्तियों का प्रयोगक्रम—इसलिए निरूहणबस्ति-प्रयोग के बाद स्नेहबस्ति का और स्नेहबस्ति के बाद निरूहणबस्ति का प्रयोग अवश्य करना चाहिए॥ ६६ ॥

स्नेहशोधनयुक्त्यैवं बस्तिकर्म त्रिदोषजित्।

बस्ति की त्रिदोषनाशकता—उक्त विधि के अनुसार स्नेहबस्ति द्वारा स्नेहन तथा निरूहण बस्ति द्वारा शोधन कराने से यह बस्ति-प्रयोग त्रिदोषनाशक होता है।

ह्रस्वया स्नेहपानस्य मात्रया योजितः समः ॥ ६७ ॥

मात्राबस्तिः स्मृतः स्नेहः—

मात्राबस्ति का वर्णन—स्नेहपान की ह्रस्वमात्रा (१ कर्ष = १ तोला) के बराबर स्नेह को अनुवासनबस्ति द्वारा जो प्रयुक्त किया जाता है, उसका नाम 'मात्राबस्ति' है॥ ६७ ॥

—शीलनीयः सदा च सः। बालवृद्धाध्वभारस्त्रीव्यायामासक्तचिन्तकैः ॥ ६८ ॥
वातभग्नाबलाल्पाग्निनृपेश्वरसुखात्मभिः। दोषघ्नो निष्परीहारो बल्यः सृष्टमलः सुखः ॥ ६९ ॥

मात्राबस्ति-सेवन—उक्त प्रकार की मात्राबस्ति का निम्नोक्त व्यक्तियों को सदा सेवन करने का निर्देश—बालक, वृद्ध, जो प्रतिदिन पैदल चलते हों, बोझा ढोते हों, स्त्री-सहवास करते हों, व्यायामशील व्यक्तियों को, विचारकों, वातरोगियों, अस्थिभंग से पीड़ितों, दुर्बलों, मन्दाग्निवालों, राजाओं, धनवानों तथा सुख से जीवन बिताने वालों को इसका प्रतिदिन सेवन करना चाहिए। यह मात्राबस्ति सभी दोषों को शान्त करती है, इसमें किसी प्रकार का परहेज (पथ्य-अपथ्य का विचार) नहीं है। यह बलवर्धक है तथा मल-मूत्र को सरलता से निकालने वाली एवं सुखदायक होती है॥ ६८-६९॥

वक्तव्य—उक्त विषय का समर्थन देखें—च.सि. १।२७ में है। मात्राभेद से स्नेहपान तीन प्रकार का होता है— १. उत्तम मात्रा— १ पल = ४ तोला, २. मध्यम मात्रा— ३ कर्ष = ३ तोला तथा ३. जघन्य मात्रा—आधा पल = २ तोला।

मात्राबस्ति की विशेषता—जिस प्रकार प्रतिदिन के भोजन में घृत आदि स्नेहों का सेवन किया जाता है, इसके लिए किसी प्रकार का परहेज नहीं किया जाता है, उसी प्रकार इस मात्राबस्ति के सेवन में भी किसी प्रकार के परीहार (परहेज) की आवश्यकता नहीं होती है। स्नेहपान की ह्रस्वमात्रा वह होती है, जो प्रातःकाल सेवन करने के बाद दोपहर के भोजन करने तक पच जाय। इसमें भी समाग्नि, मन्दाग्नि, विषमाग्नि एवं तीक्ष्णाग्नि का विचार कर लेना चाहिए। ह्रस्वमात्रा में प्रयुक्त स्नेहपान से जो लाभ होते हैं वे समस्त मात्राबस्ति के सेवन से होते हैं।

बस्तौ रोगेषु नारीणां योनिगर्भाशयेषु च। द्वित्रास्थापनशुद्धेभ्यो विदध्याद्बस्तिमुत्तरम्॥ ७०॥

उत्तरबस्ति का वर्णन—नर तथा नारियों के बस्तिगत रोगों में एवं विशेषकर नारियों के योनिगत तथा गर्भाशयगत रोगों में उत्तरबस्ति का प्रयोग तब करना चाहिए जब कि इसके पहले दो-तीन बार आस्थापन (निरूहण) बस्ति का प्रयोग कराकर मलाशय का भलीभाँति शोधन हो जाय॥ ७०॥

वक्तव्य—उत्तरबस्ति उसे कहते हैं जिसका प्रयोग नर एवं नारी के मूत्रमार्ग द्वारा किया जाता है। निरूहणबस्ति को शोधनबस्ति तथा अनुवासनबस्ति को स्नेहनबस्ति भी कहा जाता है।

आतुराङ्गुलमानेन तन्नेत्रं द्वादशाङ्गुलम्। वृत्तं गोपुच्छवन्मूलमध्ययोः कृतकर्णिकम्॥ ७१॥
सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं श्लक्ष्णं हेमादिसम्भवम्। कुन्दाश्वमारसुमनःपुष्पवृन्तोपमं दृढम्॥ ७२॥

उत्तरबस्ति में नेत्र का प्रमाण—मूत्रमार्ग में जो बस्ति दी जाती है, उसके नेत्र की लम्बाई रोगी की अँगुलियों से बारह अंगुल होनी चाहिए। इस नेत्र का अगला भाग गोलाकार तथा शेष भाग गाय की पूँछ की भाँति अर्थात् आगे की ओर पतला और मूल (जड़) की ओर क्रमशः मोटा होना चाहिए। उस नेत्र (नलिका) के मूल भाग में बस्तिपुट को बाँधने के लिए दो कर्णिकाएँ बनी हों। एक मूल में और दूसरी मध्य भाग की ओर। उसके नेत्र के अगले भाग का छिद्र इतना बड़ा हो जिसमें सरलता से सरसों का दाना प्रवेश कर सके। नेत्रनलिका का बाहरी भाग चिकना हो तथा सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुओं से बना हो। इसका अगला भाग कुन्द, कनेर अथवा चमेली के फूल के वृन्त के आकार का हो तथा उसे दृढ़ होना चाहिए॥ ७१-७२॥

तस्य बस्तिर्मृदुलघुर्मात्रा शुक्तिर्विकल्प्य वा।

स्नेहमात्रा का प्रमाण—उस उत्तरबस्ति का बस्तिपुट गुद में दी जाने वाली बस्ति की तुलना में छोटा तथा कोमल होना चाहिए। इसमें स्नेह की मात्रा एक शुक्ति (२ कर्ष = २ तोला) अथवा जिसे उत्तरबस्ति दी जा रही है उसके बल, अवस्था आदि का विचार कर तदनुसार कुछ कम या ज्यादा की जा सकती है।

वक्तव्य—स्त्री-पुरुष भेद से उत्तरबस्ति के विचारणीय विषयों के लिए आप देखें—सु.चि. ३७ श्लोक १०२ से १२१ तक; तभी इस प्रकरण में आवश्यक वय, मात्रा, काल आदि का स्पष्टीकरण हो सकता है, अतः आप उक्त सन्दर्भों का अवलोकन अवश्य कर लें।

अथ स्नाताशितस्यास्य स्नेहबस्तिविधानतः॥ ७३॥
ऋजोः सुखोपविष्टस्य पीठे जानुसमे मृदौ। हृष्टे मेढ्रे स्थिते चर्जौ शनैः स्रोतोविशुद्धये॥ ७४॥
सूक्ष्मां शलाकां प्रणयेत्तया शुद्धेऽनुसेवनि। आमेहनान्तं नेत्रं च निष्कम्पं गुदवत्ततः॥ ७५॥
पीडितेऽन्तर्गते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमो हितः।

उत्तरबस्ति-प्रयोगविधि—उत्तरबस्ति का प्रयोग करने के पहले स्नेहबस्ति की विधि से उस व्यक्ति को गुनगुने जल से स्नान कराकर पथ्य भोजन खिलाकर, जानु (घुटने) भर ऊँचे मुलायम पीठ (आसन) पर सीधा तथा आराम से बैठे हुए पुरुष के हृष्ट एवं सीधे लिंग के मूत्र निकलने वाले छिद्र में स्रोतस् को शुद्ध करने के लिए सूक्ष्म (उस छिद्र में प्रवेश करने योग्य) शलाका (कैथीटर नामक आधुनिक यन्त्र) का धीरे-धीरे प्रवेश कराये। उस उत्तरबस्ति के नेत्र द्वारा मार्ग शुद्ध हो गया है, ऐसा अनुमान हो जाने पर सेवनी की सीध में मूत्रमार्ग के अन्त तक नेत्र का प्रवेश करता जाय। इसमें भी गुदबस्ति की भाँति नेत्र प्रवेश कराते समय चिकित्सक का हाथ हिलना नहीं चाहिए। तदनन्तर बस्तिपुट को दबाना चाहिए। जब स्नेहबस्ति (मूत्राशय) में पहुँच जाय तब बस्तिनेत्र को धीरे-धीरे निकालें। इस प्रकार उत्तरबस्ति-विधि से दिया गया स्नेह हितकर होता है॥ ७३-७५॥

वक्तव्य—इसके बाद जब वह स्नेह लौट आता है, तो उस व्यक्ति को भूख लगने पर इसी अध्याय में कहे गये श्लोक ३० की भाँति उचित भोजन करायें। **शंका**—'हृष्टे मेढ्रे' (अ.सं.सू. २८।६६); सुश्रुत में—'ततः समं स्थापयित्वा **नालमस्य प्रहर्षितम्**'। (सु.चि. ३७।११०) तथा चरक में—'ऋजोः सुखोपविष्टस्य **हृष्टे मेढ्रे** घृताक्तया। शलाकयाऽन्विष्य गतिं यद्यप्रतिहता व्रजेत्'॥ (च.सि. ९।५४) इस प्रकार सभी आचार्यों का पुरुष की मूत्रेन्द्रिय में उत्तरबस्ति देने का एक ही दृष्टिकोण है और होना भी चाहिए। किन्तु चरक को छोड़कर अन्य सभी के वचन इस दृष्टि से तब तक विवादास्पद कहे जा सकते हैं जब तक हम निम्न समाधान पक्ष को प्रस्तुत नहीं करते। क्योंकि हृष्टमेढ्र (स्त्री-सहवास के लिए उद्यत पुरुष की मूत्रेन्द्रिय अर्थात् लिंग) इतना तन जाता है कि उसमें द्रवरूप मूत्र तो निकल ही नहीं पाता, भला उस स्थिति में उसके भीतर बस्तिनेत्र का प्रवेश बाधारहित कैसे किया या कराया जा सकता है?

समाधान—प्राचीन आचार्य-परम्परा पर अपना अज्ञान नहीं लादना चाहिए, अतएव सुश्रुत ने कहा है—'एक ही शास्त्र को पढ़ता हुआ व्यक्ति शास्त्र के रहस्य को नहीं जान सकता, इसलिए जिसने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया है वही शास्त्र के रहस्य को जान सकता है'। देखें—सु.सू. ४।७। जब हम व्याकरण की दृष्टि से विचार करते हैं, तो उक्त स्थलों में कहीं भी शंका नहीं रह जाती। 'हृष तुष्टौ' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर 'हृष्ट' रूप बनता है। जिसका अर्थ होता है—तुष्टि, हर्ष, विस्मित तथा प्रतिघात या प्रतिहत; इसी को मनोहत भी कहते हैं। 'धातूनाम् अनेकार्थत्वात्' उनके प्रसंगवश अनेक अर्थ कर लिए जाते हैं, किन्तु हम उक्त अर्थों को कोश एवं व्याकरण की सहायता से ले रहे हैं। देखें—पाणिनीय सूत्र 'हृषेर्लोमसु' (७।२।२९) 'विस्मितः प्रतिघातयोश्च' (वार्तिक) के तथा 'मनोहतः प्रतिहतः प्रतिबद्धो हतश्च सः'। (अमरकोश) आप ध्यान दें—हृष धातु से **हृष्ट** एवं **हृषित** दो ही रूप निष्पन्न होते हैं, न कि **हर्षित** या **प्रहर्षित,** जिसका प्रयोग सुश्रुत ने किया है। किन्तु 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' के अनुसार जब हम 'हर्षित' रूप को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, तो हमें 'हर्षः सञ्जातः अस्य' इस प्रकार विग्रह करके **'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्'**। (५।२।३६) सूत्र से इतच् प्रत्यय करना होगा, क्योंकि 'तारकादिगण' में हर्ष शब्द का पाठ है। इस दृष्टि से हर्ष शब्द का एक अर्थ प्रतिघात या प्रतिहत भी होता है, अतः लिंग की 'प्रतिहत' स्थिति में नेत्रप्रणयन सरल, स्वाभाविक एवं शास्त्रसम्मत है ही। चरक ने पहले ही कहा है—शलाका का प्रवेश करके देखें कि उसकी गति में कहीं रुकावट तो नहीं आ रही है? यदि आ रही हो तो बस्तिनेत्र का प्रवेश न करायें। क्या सुबोध भाषा है आचार्य चरक की!

इसी प्रसंग में आप आचार्य शार्ङ्गधर के विचारों को देखें—शा.उ.खं. ७।३-५। इन्होंने पुरुषों की उत्तरबस्ति-प्रयोगविधि में इस प्रकार का उलझाने वाला पाठ नहीं दिया है।

बस्तीननेन विधिना दद्यात् त्रींश्चतुरोऽपि वा॥ ७६॥
अनुवासनवच्छेषं सर्वमेवास्य चिन्तयेत्।

उत्तरबस्ति की संख्या—ऊपर कही गयी विधि से तीन या चार बस्तियाँ नर-नारी के मूत्रमार्ग में दें। शेष सभी विषयों (सम्यग्योग, हीनयोग तथा अतियोग, आहार-विहार एवं चिकित्सा आदि) का विचार अनुवासनबस्ति की भाँति करें॥ ७६॥

स्त्रीणामार्तवकाले तु योनिर्गृह्णात्यपावृतेः॥ ७७॥
विदधीत तदा तस्मादनृतावपि चात्यये । योनिविभ्रंशशूलेषु योनिव्यापद्यसृग्दरे॥ ७८॥

स्त्रियों में उत्तरबस्ति—स्त्रियों की योनि का मुख आर्तवकाल (मासिकधर्म के दिनों) में खुला रहता है, अतः उस काल में उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए; क्योंकि इन दिनों दी गयी बस्ति के स्नेह का वह ग्रहण कर लेती है। अत्यन्त आवश्यकता होने पर ऋतुकाल के बीत जाने पर भी उत्तरबस्ति का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे—योनिभ्रंश (काँच की भाँति योनि = गर्भाशय के बाहर निकल आने पर), योनिशूल, योनिव्यापदों तथा रक्तप्रदररोग आदि रोगों के होने पर उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए॥ ७७-७८॥

नेत्रं दशाङ्गुलं मुद्गप्रवेशं चतुरङ्गुलम्। अपत्यमार्गे योज्यं स्याद् द्व्यङ्गुलं मूत्रवर्त्मनि॥ ७९॥
मूत्रकृच्छ्रविकारेषु, बालानां त्वेकमङ्गुलम्।

बस्तिनेत्र का परिमाण—उत्तरबस्ति का नेत्र १० अंगुल लम्बा होना चाहिए। इसके अगले भाग का छिद्र मूँग के दाने के सरलता से आने-जाने योग्य हो, उसका प्रवेश भगमार्ग में चार अंगुल मात्र कराना चाहिए। मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में जब इसे मूत्रमार्ग में प्रवेश कराना हो तो दो अंगुल मात्र प्रवेश करायें। कन्याओं को यदि मूत्रमार्ग में बस्ति देनी हो तो एक अंगुल मात्र प्रवेश करायें॥ ७९॥

प्रकुञ्चो मध्यमा मात्रा, बालानां शुक्तिरेव तु॥ ८०॥

स्नेहमात्रा-निर्देश—स्त्रियों में उत्तरबस्ति-प्रयोग के लिए स्नेह की मध्यम मात्रा १ प्रकुंच = ४ तोला होती है और बालिकाओं के लिए मध्यम मात्रा १ शुक्ति = २ तोला होती है॥ ८०॥

उत्तानायाः शयानायाः सम्यक् सङ्कोच्य सक्थिनी। ऊर्ध्वजान्वास्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत्॥
बस्तींस्त्रिरात्रमेवं च स्नेहमात्रां विवर्द्धयन्। त्र्यहमेव च विश्रम्य प्रणिदध्यात्पुनस्त्र्यहम्॥ ८२॥

उत्तरबस्ति-प्रयोगविधि—स्त्री को चित लेटाकर उसकी जानुओं को भलीभाँति मोड़कर घुटनों को ऊपर की ओर उठाकर एक दिन-रात (२४ घण्टे) में तीन अथवा चार बार बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। इस प्रकार स्नेह की मात्रा को क्रमशः बढ़ाता हुआ तीन दिन तक बस्तियों का प्रयोग कराता रहे। तीन दिन रुककर पहले की भाँति फिर तीन दिन तक बस्ति-प्रयोग कराये॥ ८१-८२॥

वक्तव्य—स्त्रियों को उत्तरबस्ति का प्रयोग कराना केवल स्त्री-चिकित्सक का ही अधिकार है। यही लोकाचार भी है और यही पक्ष न्यायसंहितासम्मत भी है। पुरुष-चिकित्सक इस कार्य को न करें।

इस सम्बन्ध में सुश्रुत ने सु.चि. ३७।११४-११५ में उत्तरबस्ति-प्रयोगकर्ता को 'विचक्षणः' कहा है। यहाँ पर जो पाठभेद दिया है वह है 'समाहितः', जिसकी व्याख्या करते हुए आचार्य डल्हण कहते हैं—'कामसङ्कल्परहितेन अचलचित्तप्रकृतिना'। अर्थ स्पष्ट है। सुश्रुत एवं चरक ने प्रसवकाल में नारियों का अधिकार बतलाया है, यह बस्तिकर्म भी प्रायः उसी प्रकार की स्थिति है।

पक्षाद्विरेको वमिते ततः पक्षान्निरूहणम्। सद्यो निरूढश्चान्वास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः॥ ८३॥

वमन आदि में काल-निर्देश—वमन कराने के १५ दिन के बाद विरेचन करायें, तदनन्तर १५ दिन के बाद निरूहणबस्ति का प्रयोग करें और निरूहणबस्ति का प्रयोग करने के तत्काल बाद उसे अनुवासन-बस्ति दें और विरेचन कराने के एक सप्ताह बाद भी अनुवासनबस्ति का प्रयोग कराना चाहिए॥ ८३॥

यथा कुसुम्भादियुतात्तोयाद्रागं हरेत्पटः । तथा द्रवीकृताद्देहाद्बस्तिर्निर्हरते मलान्॥ ८४॥

बस्ति द्वारा दोषनिर्हरण—जिस प्रकार जल में घुले हुए कुसुम्भी रंग को पट (वस्त्र) ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार शरीर में द्रवीभूत मलों को बस्तिप्रयोग शरीर से बाहर निकाल देता है॥ ८४॥

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च।
ये सन्ति तेषां न तु कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति॥ ८५॥
विट्श्लेष्मपित्तादिमलोच्चयानां विक्षेपसंहारकरः स यस्मात्।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् बस्तेर्विना भेषजमस्ति किञ्चित्॥ ८६॥
तस्माच्चिकित्सार्द्ध इति प्रदिष्टः कृत्स्ना चिकित्साऽपि च बस्तिरेकैः।

बस्ति-प्रयोग की प्रशंसा—जो रोग शाखागत (त्वचा तथा रक्त आदि धातुओं), कोष्ठगत तथा मर्मस्थानों की विकृति द्वारा शरीर के सभी सिर आदि अवयवों में व्याप्त हो जाते हैं अथवा अंग-विशेष में व्याप्त होते हैं, उन सबकी उत्पत्ति में वातदोष के अतिरिक्त कोई दूसरा कारण नहीं होता है। क्योंकि मल, मूत्र, कफ, पित्त आदि शरीर के अन्य मलों को इधर-उधर करना तथा संहार (शमन) करना—ये सब वातदोष के कार्य हैं। अतः बढ़े हुए अथवा विकारयुक्त वातदोष की शान्ति के लिए बस्तिप्रयोग के अतिरिक्त और कोई चिकित्सा नहीं है। इसलिए बस्तिचिकित्सा को आधी चिकित्सा माना जाता है, कुछ आचार्य इसे सम्पूर्ण चिकित्सा स्वीकार करते हैं॥ ८५-८६॥

तथा निजागन्तुविकारकारिरक्तौषधत्वेन शिराव्यधोऽपि॥ ८७॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने बस्तिविधिर्नामैकोनविंशतितमोऽध्यायः॥ १९॥

सिरावेध का महत्त्व—इसी प्रकार शारीरिक तथा आगन्तुज रोगों का उत्पादक होने के कारण विकृत रक्तधातु की प्रधान चिकित्सा सिरावेध है। शल्यतन्त्र में सिरावेध को आधी चिकित्सा अथवा दूसरे विद्वानों के मत में इसे सम्पूर्ण चिकित्सा भी कहा गया है॥ ८७॥

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार शल्यतन्त्र में सिरावेध को जिस प्रकार आधी चिकित्सा कहा गया है, वैसा ही महत्त्व कायचिकित्सा में बस्तिचिकित्सा का है। देखें—सु.शा. ८।२३ और च.सि. १।४०।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
निर्मला हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में
बस्तिविधि नामक उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त॥ १९॥

विंशोऽध्यायः

अथातो नस्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब हम यहाँ से नस्यविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—पञ्चकर्मों के वर्णन-प्रसंग में क्रमशः वमन, विरेचन, अनुवासनबस्ति तथा निरूहणबस्तियों का वर्णन करने के बाद अब यहाँ नस्यविधि का वर्णन किया जा रहा है। इन्हीं पाँच कर्मों को पंचकर्म कहा जाता है। वमन-विरेचन के पूर्व किये जाने वाले स्नेहन तथा स्वेदन कर्म इन्हीं के उपांग अथवा पृष्ठपोषक अंग हैं। यह पञ्चकर्म-विधान एक ऐसा उपक्रम है, इसकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी कम ही कही जायेगी। आज चिकित्सक इसे भूल चुके हैं अथवा चिकित्सकों ने इस विधि की प्रायः उपेक्षा कर दी है; अथवा ऐसा कहें—इस कल-युग में इसके प्रयोग का किसी के पास समय ही नहीं है। जब समाज नहीं चाहता तो चिकित्सकों ने भी इसे भुला-सा दिया है।

नस्य—नासिका शब्द को 'नस्' आदेश तथा यत् प्रत्यय करने से 'नस्य' शब्द की निष्पत्ति होती है। उक्त 'यत्' प्रत्यय 'हित' अर्थ में प्रयुक्त है। इसके पर्याय हैं—नावन तथा नस्त। नासा को सिर का दरवाजा कहा गया है; अतएव नासिकाछिद्र द्वारा भीतर प्रवेश करायी गयी औषधि शृंगाटक नामक मर्म में पहुँचकर और वहाँ अपना प्रभाव दिखाकर सिर, नेत्र, श्रोत्र, कण्ठ आदि की सिराओं से दोषों को शीघ्र निकालती है। देखें शृंगाटक मर्म—अ. हृ. शा. ४।३४ तथा सु. शा. ६।७। यह शृंगाटक सिरामर्म है। यही कारण है कि नस्य के प्रयोग से नेत्र, कर्ण, नासा, मुख एवं शिरो रोगों में शीघ्र लाभ होता है। सुश्रुत के अनुसार—'औषधमौषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यम्'। (सु.चि. ४०।२१)

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च. सि. १, २, ९; सु. चि. ४० तथा अ. सं. सू. २९ में देखें।

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते। नासा हि शिरसो द्वारं तेन तद्व्याप्य हन्ति तान्॥ १॥

नस्य का वर्णन—जत्रु अस्थि (Collar bone) के ऊपरी भाग अर्थात् गरदन से लेकर ऊपर सिर तक के रोगों में नस्यकर्म विशेषरूप से लाभदायक होता है, क्योंकि नासिका के छिद्रों को शिरःप्रदेश का द्वार (दरवाजा) कहते हैं। अतः उस द्वार से दी गयी नस्य भीतरी अवयवों में व्याप्त होकर उन-उन अवयवों में होने वाले रोगों का विनाश कर देती है॥ १॥

विरेचनं बृंहणं च शमनं च त्रिधाऽपि तत्।

नस्यकर्म के भेद—उक्त नस्यकर्म विधिभेद से तीन प्रकार का होता है—**१. विरेचन**—जो सिर में स्थित कफ आदि दोषों को नासिका के छिद्रों से बाहर निकाल देता है, इसे आप वमन कहें अथवा विरेचन। **२. बृंहण**—जो शिरःप्रदेश में स्थित समस्त अवयवों को पुष्ट करता है। **३. शमन**—जो वात आदि दोषों का शमन (शान्ति) करता है।

विरेचनं शिरःशूलजाड्यस्यन्दगलामये॥ २॥
शोफगण्डकृमिग्रन्थिकुष्ठापस्मारपीनसे ।

विरेचन-नस्य का प्रयोग—शिरःशूल, बुद्धि, मन तथा नासिका आदि की जड़ता (अकर्मण्यता) में, अभिष्यन्द नामक नेत्ररोग में, गलरोगों (शोथ, स्वरभेद आदि) में, सूजन में, गलगण्ड में, क्रिमिरोगों

में, कफज ग्रन्थिरोग में, कुष्ठरोग, अपस्माररोग तथा पीनस (प्रतिष्याय) रोग में इसका प्रयोग किया जाता है॥ २॥

बृंहणं वातजे शूले सूर्यावर्ते स्वरक्षये॥ ३॥
नासास्यशोषे वाक्सङ्गे कृच्छ्रबोधेऽवबाहुके।

बृंहण-नस्य का प्रयोग—वातजनित शूल में, सूर्यावर्तरोग में, स्वरक्षयरोग में, नासिकाशोथ में, मुखशोथ में, वाणी की रुकावट में, बड़े कष्ट से नींद के खुलने में तथा अवबाहुक नामक वातरोग में इसका प्रयोग करना चाहिए॥ ३॥

शमनं नीलिकाव्यङ्गकेशदोषाक्षिराजिषु॥ ४॥

शमन-नस्य का प्रयोग—नीलिका (क्षुद्ररोग-विशेष), व्यंग, बालों का अकाल में पकना या झड़ना तथा आँखों में रेखा के आकार की सिराओं का उभर आना आदि रोगों में करना चाहिए॥ ४॥

यथास्वं यौगिकैः स्नेहैर्यथास्वं च प्रसाधितैः। कल्कक्वाथादिभिश्चाद्यं मधुपद्वासवैरपि॥ ५॥

विरेचन-नस्य के द्रव्य—रोगों को ध्यान में रखकर सरसों आदि स्नेह (तेल) से सिद्ध किये गये स्नेहन-द्रव्यों द्वारा मधु, लवण तथा आसव आदि के संयोग से प्रथम विरेचन-नस्य का प्रयोग किया जाता है॥ ५॥

बृंहणं धन्वमांसोत्थरसासृक्खपुरैरपि । शमनं योजयेत्पूर्वैः क्षीरेण सलिलेन वा॥ ६॥

बृंहण-नस्य के द्रव्य—धन्व (जांगल) देशीय पशु-पक्षियों के मांसरस से या उनके रक्त से अथवा राल तथा गुग्गुलु आदि द्रव्यों के प्रयोग से बृंहण-नस्य देनी चाहिए।

शमन-नस्य के द्रव्य—घृत आदि मृदु स्नेहों से अथवा कोमल द्रव्यों के कल्क या क्वाथों से अथवा गाय या बकरी के दूध से अथवा जल से नस्य देनी चाहिए॥ ६॥

वक्तव्य—जल द्वारा जो नस्य-प्रयोग किया जाता है, उसे नासिका-छिद्र से जलपान करना भी कहते हैं। योगशास्त्र में इसे 'नेतिक्रिया' कहते हैं। इसके प्रयोग से ऊर्ध्वजत्रुगत रोग कभी नहीं होते। इसका अभ्यास योग्य गुरु की देख-रेख में करना चाहिए।

मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्विधा स्नेहोऽत्र मात्रया। कल्काद्यैरवपीडस्तु स तीक्ष्णैर्मूर्द्धरेचनः॥ ७॥
ध्मानं विरेचनश्चूर्णो—

नस्य के भेद—स्नेहन (बृंहण) नस्य मात्राभेद से दो प्रकार का होता है— १. मर्श नस्य तथा २. प्रतिमर्श नस्य। शिरोविरेचन-नस्य भी दो प्रकार का होता है— १. अवपीड या अवपीडन नस्य और २. ध्मान या प्रधमन नस्य। अवपीड़-नस्य उसे कहते हैं जो कल्क को निचोड़ कर उससे निकले हुए रस से दिया जाता है अथवा क्वाथ आदि के रस से दिया जाता है। ध्मान-नस्य उसे कहते हैं जिसमें शिरोविरेचक चूर्णों को नासिका-छिद्र के भीतर फूँककर प्रवेश कराया जाता है॥ ७॥

—युञ्ज्यात्तं मुखवायुना। षडङ्गुलद्विमुखया नाड्या भेषजगर्भया॥ ८॥
स हि भूरितरं दोषं चूर्णत्वादपकर्षति।

ध्मान (प्रधमन) नस्य की प्रयोग-विधि—कट्फल आदि के कपड़छन चूर्ण को ६ अंगुल लम्बी एक ऐसी नाली जिसके दोनों ओर छिद्र हों, उसमें मात्रानुसार औषधचूर्ण भरकर उस नाली को नासिकाछिद्र में डालकर दूसरी ओर से फूँककर भीतर प्रवेश करा दें। इस प्रकार वह चूर्ण नासिकाछिद्र के भीतर पहुँचकर सिर के अनेक वात-कफ आदि दोषों को बाहर की ओर निकाल देता है॥ ८॥

वक्तव्य—यह प्रधमन-नस्य की शास्त्रीय विधि है। इसी का एक भेद है—सुँघनी। इसका सामान्य प्रयोग इस प्रकार भी देखा जाता है—चुटकीभर चूर्ण को नाक के भीतर प्रवेश कराकर ऊपर की ओर को श्वास द्वारा खींच लिया जाता है। इससे कफ आदि विकार छींक के द्वारा बाहर निकल जाते हैं।

प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुद्धृतात् ॥ ९॥
यावत्पतत्यसौ बिन्दुर्दशाष्टौ षट् क्रमेण ते। मर्शस्योत्कृष्टमध्योना मात्रास्ता एव च क्रमात्॥ १०॥
बिन्दुद्वयोनाः कल्कादेः—

नस्य की मात्रा—नस्य के योग्य किसी द्रव में प्रदेशिनी (तर्जनी) अंगुली के दो पर्वों (गाँठों) को डुबाकर निकालने पर जो बूँदें गिरती हैं, उसे बिन्दु कहते हैं। उसके परिमाण से मर्श नामक नस्य की तीन मात्राएँ उत्तम, मध्यम, हीन भेद से इस प्रकार निर्धारित की गयी हैं— १. उत्तम मात्रा १० बूँदें अर्थात् दोनों नासिकाछिद्रों में ५-५ बूँदें, २. मध्यम मात्रा ८ बूँदें अर्थात् दोनों में ४-४ बूंदें और ३. हीन मात्रा ६ बूँदें अर्थात् दोनों में ३-३ बूँदें। ऊपर कहे गये विरेचन तथा शमन नामक नस्यों की मात्रा, जिनमें कल्क, क्वाथ, जल आदि द्रव द्रव्यों का प्रयोग निर्दिष्ट है, उनकी मात्रा उक्त मात्राक्रम में से प्रत्येक में दो संख्या कम कर देने से इस प्रकार हो जायेगी। यथा— ८ बूँदों की उत्तम मात्रा, ६ बूँदों की मध्यम मात्रा और ४ बूँदों की हीन मात्रा होती है॥ ९-१०॥

वक्तव्य—प्रतिमर्शनस्य की मात्रा आदि का विस्तृत विवेचन सु. चि. ४०।५२-५३ में तथा च. सि. ९।९३ में देखें। सामान्य रूप से प्रतिमर्श-नस्य की मात्रा एक-एक बूँद है। स्नान करने के पहले जो नासिकाछिद्र में तेल डाला या सूँघा जाता है, यही उक्त नस्य का वास्तविक स्वरूप है।

—योजयेन्न तु नावनम्। तोयमद्यगरस्नेहपीतानां पातुमिच्छताम्॥ ११॥
भुक्तभक्तशिरःस्नातस्नातुकामस्रुतासृजाम् । नवपीनसवेगार्तसूतिकाश्वासकासिनाम्॥ १२॥
शुद्धानां दत्तबस्तीनां तथाऽनार्तवदुर्दिने। अन्यत्रात्ययिकाद्व्याधेः—

नस्य के अयोग्य व्यक्ति—इन्हें नस्यकर्म का प्रयोग न करायें—जिन्होंने तत्काल जलपान, मद्यपान तथा गर (दूषीविष) का पान किया हो अथवा जो इन्हें पीना चाहते हों, जिन्होंने भात आदि का भोजन किया हो, शिरःस्नान किया हो अथवा जो नहाने के लिए तैयार हों, जिन्होंने रक्तमोक्षण कराया हो, जिन्हें अभी-अभी प्रतिश्याय हुआ हो, जो मल-मूत्र के वेग से पीड़ित हों, जो सूतिका हो, श्वास तथा कास रोग से पीड़ित हों, जिन्हें वमन तथा विरेचन का प्रयोग कराकर शुद्ध किया गया हो, जिन्हें बस्तिप्रयोग कराया गया हो तथा वर्षा ऋतु के अतिरिक्त ऋतुओं में जब बादल छाये हों; इन स्थितियों में नस्य का प्रयोग न करायें। यदि आवश्यक हो तो नस्य-प्रयोग किया जा सकता है॥ ११-१२॥

—अथ नस्यं प्रयोजयेत्॥ १३॥
प्रातः श्लेष्मणि, मध्याह्ने पित्ते, सायंनिशोश्चले। स्वस्थवृत्ते तु पूर्वाह्णे शरत्कालवसन्तयोः॥ १४॥
शीते मध्यन्दिने, ग्रीष्मे सायं वर्षासु सातपे। वाताभिभूते शिरसि हिध्मायामपतानके॥ १५॥
मन्यास्तम्भे स्वरभ्रंशे सायंप्रातर्दिने दिने। एकाहान्तरमन्यत्र—

नस्य के योग्य काल—कफज रोगों में प्रातःकाल, पित्तज रोगों में दोपहर के समय तथा वातज रोगों में सायंकाल नस्य का सेवन कराना चाहिए। यदि स्वस्थ (नीरोग) पुरुष को नस्य-प्रयोग कराना हो तो शरद् तथा वसन्त ऋतुओं में प्रातःकाल, शीतकाल (हेमन्त तथा शिशिर ऋतु) में दोपहर के समय, ग्रीष्म ऋतु में सायंकाल और वर्षा ऋतु में जब या जिस दिन धूप निकली हुई हो नस्य-सेवन कराना चाहिए।

रोगानुसार नस्य-प्रयोग—शिरःप्रदेश में वातदोष का प्रकोप होने पर, हिक्का (हिचकी) में, अपतानक (देखें—माधवनिदान-वातव्याधि), मन्यास्तम्भ एवं स्वरभ्रंश (स्वरभेद) आदि में प्रतिदिन प्रातः तथा सायं काल नस्य-प्रयोग कराना चाहिए। इनके अतिरिक्त दूसरे रोगों में एक दिन का अन्तर देकर नस्य दें॥ १३-१५॥

—सप्ताहं च तदाचरेत्॥ १६॥

नस्य-सेवन की सीमा—और उस (नस्य) का सेवन एक सप्ताह तक करना चाहिए॥ १६॥

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट का कथन है कि तब तक नस्य का प्रयोग करता या कराता रहे, जब तक उसके सम्यग्योग के लक्षण दिखलायी न दें, उसमें भले ही ५, ७ अथवा ९ दिन क्यों न लग जायें। यह निर्देश तर्कसंगत तथा व्यवहारोचित है। देखें—अ. सं. सू. २९।१७। इसी के आगे उसमें नस्य के सम्यग्योग आदि का भी वर्णन किया है। अष्टांगहृदय में उक्त विषय आगे श्लोक २४-२५ में दिया है।

स्निग्धस्विन्नोत्तमाङ्गस्य प्राक्कृतावश्यकस्य च। निवातशयनस्थस्य जत्रूर्ध्वं स्वेदयेत् पुनः॥ १७॥
अथोत्तानर्जुदेहस्य पाणिपादे प्रसारिते। किञ्चिदुन्नतपादस्य किञ्चिन्मूर्द्धनि नामिते॥ १८॥
नासापुटं पिधायैकं पर्यायेण निषेचयेत्। उष्णाम्बुतप्तं भैषज्यं प्रणाड्या पिचुनाऽथवा॥ १९॥
दत्ते पादतलस्कन्धहस्तकर्णादि मर्दयेत्। शनैरुच्छिद्य निष्ठीवेत्पार्श्वयोरुभयोस्ततः॥ २०॥
आभेषजक्षयादेवं द्विस्त्रिर्वा नस्यमाचरेत्।

नस्य का पूर्वकर्म—नस्य का प्रयोग कराने के पहले शिरःप्रदेश का स्नेहन तथा स्वेदन कराना चाहिए, उसके बाद अन्य आवश्यक कार्य (मल-मूत्र आदि का त्याग) कर लेने चाहिए। फिर उस व्यक्ति को ऐसी शय्या पर लेटायें जहाँ सीधे हवा का प्रवेश न होता हो। जब वह भलीभाँति लेट जाय तो फिर उसके शिरःप्रदेश का स्वेदन कराकर उसे निम्नलिखित विधि से नस्य-प्रयोग कराना चाहिए।

नस्य-प्रयोगविधि—नस्य देने के लिए उस व्यक्ति को चित (सीधा) लिटाकर उसके हाथ-पाँव फैला दें और कुछ पैरों को उठा दें तथा उसके सिर को झुका दें। पहले नासिका के एक छिद्र को ढककर दूसरे छिद्र में, फिर उस छिद्र को ढककर पहले वाले छिद्र में डालें। नासिका में डालने योग्य औषधद्रव को किसी पात्र में रखकर उसे गरम पानी वाले पात्र में रखकर गुनगुना कर लें, तदनन्तर नाली से या पिचु (रुई के फाहा) से नाक में डालें। औषधद्रव को डाल देने के बाद पाँव के तलुओं को, कन्धों को, हथेलियों तथा कर्णपालियों को मसलते रहें। इसी बीच वह व्यक्ति उस औषधद्रव को ऊपर की ओर खींचे और दोनों नासापुटों के मल को दोनों ओर तब तक निकाले जब तक पूरा औषधद्रव निकल न जाय। इसी विधि से दो या तीन बार उक्त औषधद्रव को नासापुटों में डालें। यह मर्शनस्य की प्रयोगविधि है॥ १७-२०॥

मूर्च्छायां शीततोयेन सिञ्चेत्परिहरन् शिरः॥ २१॥

मूर्च्छा-शान्ति की विधि—नस्य का प्रयोग कराते समय उस व्यक्ति को मूर्च्छा (बेहोशी) आ जाय तो उसके सिर को बचाकर शेष अंगों में शीतल जल का छिड़काव कराना चाहिए। इस उपचार से वह होश में आ जाता है॥ २१॥

स्नेहं विरेचनस्यान्ते दद्याद्दोषाद्यपेक्षया।

स्नेहनस्य-प्रयोग—शिरोविरेचन-नस्यप्रयोग के अन्त में वात आदि दोष तथा देश एवं काल का विचार करके किसी स्नेह नस्य का प्रयोग कराना चाहिए (दोष एवं देश-काल का विवेचन पीछे १३ से १५ पद्यों में देखें)।

नस्यान्ते वाक्शतं तिष्ठेदुत्तानः—

नस्य-प्रयोग की प्रतीक्षा—नस्य का प्रयोग कर लेने के बाद वह व्यक्ति वाक्शतपरिमित (३-४ मिनट) समय तक चित लेटकर उसकी प्रतीक्षा करे।

—धारयेत्ततः॥ २२॥
धूमं पीत्वा कवोष्णाम्बुकवलान् कण्ठशुद्धये।

धूमपान-प्रयोग—उसके बाद विधिवत् धूमपान करके गला को शुद्ध करने के लिए गुनगुने जल से कुल्ला करें॥ २२॥

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने विशेष करके नस्य शब्द का प्रयोग कहाँ किया है, इसके लिए देखें—सु. चि. ४०।२२। वृद्धवाग्भट ने नस्य-प्रयोगकाल में क्रोध, हँसना, बोलना, शरीर के अवयवों को हिलाना आदि न करे, ऐसा निर्देश दिया है। देखें—अ. सं. सू. २९।१६।

सम्यक्स्निग्धे सुखोच्छ्वासस्वप्नबोधाक्षपाटवम्॥ २३॥

स्नेहन-नस्य का समयोग—स्नेहन-नस्य का सम्यग्योग होने पर ये लक्षण होते हैं—श्वास-प्रश्वास की गति का सुखपूर्वक होना, निद्रा का भलीभाँति आना, सुख से जागना और श्रोत्र आदि सभी ज्ञानेन्द्रियों में अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने की शक्ति का होना॥ २३॥

रूक्षेऽक्षिस्तब्धता शोषो नासास्ये मूर्द्धशून्यता।

रूक्ष-नस्य का हीनयोग—रूक्ष-नस्य के हीनयोग होने पर ये लक्षण होते हैं—आँखों में जकड़न, नासिका के छिद्रों तथा मुखप्रदेश में सूखापन तथा शिरःप्रदेश में सूनेपन का अनुभव होना।

स्निग्धेऽति कण्डूगुरुताप्रसेकारुचिपीनसाः॥ २४॥

स्नेहन-नस्य का अतियोग—स्नेहन-नस्य के अतियोग होने पर ये लक्षण होते हैं—नासिका में खुजली का होना, भारीपन, नासिका से तथा नेत्रों से लगातार स्राव का निकलना, भोजन के प्रति अरुचि तथा पीनस (प्रतिश्याय) का होना॥ २४॥

सुविरिक्तेऽक्षिलघुतावक्त्रस्वरविशुद्धयः ।

विरेचन-नस्य का सम्यग्योग—विरेचन-नस्य के सम्यग्योग होने पर ये लक्षण होते हैं—आँखों में हलकापन, मुख की शुद्धि तथा स्वर में स्पष्टता की प्रतीति होना।

दुर्विरिक्ते गदोद्रेकः, क्षामताऽतिविरेचिते॥ २५॥

मिथ्यायोग, हीनयोग के लक्षण—विरेचन-नस्य के मिथ्यायोग होने पर रोगों की वृद्धि तथा विरेचन के हीनयोग होने पर शरीर में कृशता तथा दुर्बलता ये लक्षण होते हैं॥ २५॥

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने कहा है कि स्नेहविधि का सभी कार्य पूरा हो जाने पर उस व्यक्ति को स्नेहोक्त आचार के पालन का आदेश दें। देखें—अ. सं. सू. २९।१७। इसका विस्तार से वर्णन अ. सं. सू. २५।४१ से ४४ तक के श्लोकों में दिया गया है।

प्रतिमर्शः क्षतक्षामबालवृद्धसुखात्मसु। प्रयोज्योऽकालवर्षेऽपि—

प्रतिमर्शनस्य-प्रयोग—उरःक्षत, कृशता, बालक, वृद्ध तथा सुकुमार व्यक्तियों में अकाल में अर्थात् निर्दिष्ट समय के आगे-पीछे भी और वर्षाकाल में भी कराया जा सकता है।

—न त्विष्टो दुष्टपीनसे॥ २६॥

मद्यपीतेऽबलश्रोत्रे कृमिदूषितमूर्द्धनि। उत्कृष्टोत्क्लिष्टदोषे च, हीनमात्रतया हि सः॥ २७॥

प्रतिमर्श-नस्य का निषेध—दुष्ट पीनस (प्रतिश्याय) में, मद्यपान करने के बाद या मदात्ययरोग में, कर्णविकारों में, शिरःप्रदेश में क्रिमियों के उत्पन्न हो जाने पर, बढ़े हुए दोषों में तथा उभड़े हुए दोषों में इस प्रतिमर्श-नस्य का प्रयोग न करे। क्योंकि इसकी मात्रा कम होती है, अतः वह रोगों को दूर नहीं कर सकती॥ २६-२७॥

निशाहर्भुक्तवान्ताहःस्वप्नाध्वश्रमरेतसाम् । शिरोऽभ्यञ्जनगण्डूषप्रस्रावाञ्जनवर्चसाम्॥ २८॥
दन्तकाष्ठस्य हासस्य योज्योऽन्तेऽसौ द्विबिन्दुकः।

प्रतिमर्श-नस्य के पन्द्रह काल—१. रात्रि के अन्त में (प्रातः उठते ही), २. दिन के अन्त में, ३. भोजन करने के अन्त में, ४. वमन करने के अन्त में, ५. दिन में सोकर उठने के बाद, ६. मार्ग चलने के अन्त में, ७. परिश्रम करने के अन्त में, ८. स्त्री-सहवास के अन्त में, ९. सिर में अभ्यंग कराने के अन्त

में, १०. कवलधारण के अन्त में, ११. प्रस्राव (पेशाब करने) के अन्त में, १२. अंजन लगाने के बाद, १३. मलत्याग करने के बाद, १४. दातौन करने के बाद तथा १५. हँसी-मजाक करने के बाद २ बूँद की मात्रा में प्रतिमर्श की एक नस्य लें॥ २८॥

पञ्चसु स्रोतसां शुद्धिः, क्लमनाशस्त्रिषु क्रमात्॥ २९॥
दृग्बलं पञ्चसु, ततो दन्तदार्ढ्यं मरुच्छमः।

प्रतिमर्श-नस्य के लाभ—ऊपर कहे गये प्रथम पाँच कालों में नस्य लेने से स्रोतों की शुद्धि होती है। क्रमशः अगले तीन कालों में नस्य का प्रयोग करने से क्लम (थकावट) का नाश, उसके आगे पुनः पाँच कालों में नस्य का सेवन करने से दृष्टि की शक्ति बढ़ती है, इसके आगे शेष दो (१४ तथा १५) कालों में नस्य लेने से क्रमशः दाँतों में स्थिरता एवं वातदोष की शान्ति होती है। वृद्धवाग्भट ने इसकी मात्रा १ या २ बूँद स्वीकार की है॥ २९॥

न नस्यमूनसप्ताब्दे नातीताशीतिवत्सरे॥ ३०॥
न चोनाष्टादशे धूमः, कवलो नोनपञ्चमे। न शुद्धिरूनदशमे न चातिक्रान्तसप्ततौ॥ ३१॥

अवस्था का विचार—प्रायः सात वर्ष की अवस्था के पहले तथा अस्सी वर्ष की अवस्था के बाद मर्श नस्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए। १८ वर्ष की अवस्था के पहले धूमपान का प्रयोग, ५ वर्ष की अवस्था के पहले कवल का प्रयोग न करे। १० वर्ष की अवस्था के पहले तथा ७० वर्ष की अवस्था के बाद शोधन (वमन, विरेचन तथा सिरावेध) का प्रयोग नहीं करना चाहिए॥ ३०-३१॥

वक्तव्य—उक्त अवस्था की सीमा स्वस्थ पुरुष को चिर-स्वस्थ रखने के दृष्टिकोण से कही गयी है। रुग्णावस्था में इन नियमों का पालन हो पाना सम्भव नहीं होता, अपितु आवश्यकता पड़ने पर उक्त सभी कर्म करने ही पड़ते हैं।

आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु बस्तिवत्। मर्शवच्च गुणान् कुर्यात्स हि नित्योपसेवनात्॥ ३२॥
न चात्र यन्त्रणा नापि व्यापद्भ्यो मर्शवद्भयम्।

प्रतिमर्श-नस्य का प्रयोग जन्म से लेकर मरण के पूर्व तक किया जाना श्रेयस्कर होता है। इसी प्रकार मात्राबस्ति का प्रयोग भी जीवनभर किया जाता है। प्रतिमर्श-नस्य का यदि प्रतिदिन सेवन किया जाता है, तो वह मर्श नस्य के समान ही गुणदायक होती है। इसमें किसी प्रकार की यन्त्रणा (आहार-विहार आदि का बन्धन) नहीं है और इससे मर्श नस्य के समान रोगों की उत्पत्ति होने का भय भी नहीं है॥ ३२॥

तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते॥ ३३॥
शिरसः श्लेष्मधामत्वात्स्नेहाः स्वस्थस्य नेतरे।

नस्य में तेल का प्रयोग—स्वस्थ पुरुष को प्रतिदिन नस्य (प्रतिमर्श) करने के लिए तेल (सरसों का तेल) की ही प्रशंसा की गयी है, क्योंकि सिर कफ का घर है। अतः दूसरे स्नेह कफकारक होते हैं, अतएव उनका प्रयोग उचित नहीं माना गया॥ ३३॥

आशुकृच्चिरकारित्वं गुणोत्कर्षापकृष्टता॥ ३४॥
मर्शे च प्रतिमर्शे च विशेषो न भवेद्यदि। को मर्शं सपरीहारं सापदं च भजेत्ततः॥ ३५॥
अच्छपानविचाराख्यौ कुटीवातातपस्थिती। अन्वासमात्राबस्ती च तद्वदेव विनिर्दिशेत्॥ ३६॥

मर्श-प्रतिमर्श में फलभेद—मर्श नस्य शीघ्र अपना फल देती है, अधिक काल तक गुणकारक होती है और प्रतिमर्श नस्य विलम्ब से फल देती है तथा उससे कम गुणकारक होती है। यदि मर्श तथा प्रतिमर्श नस्य में इस प्रकार का परस्पर फलभेद न होता, तो कौन आहार-विहार के परिहार (नियन्त्रण) वाले मर्श नस्य का सेवन करता। क्योंकि मर्श नस्य के प्रयोग में हीनयोग तथा अतियोग होने का भय बना

रहता है। इसी प्रकार स्नेहपान के अच्छपान तथा विचारणा में, रसायन-विधान के कुटीप्रावेशिक तथा वातातपिक के प्रयोगों में और बस्ति-विधान के अनुवासनबस्ति एवं मात्राबस्ति के प्रयोगों में परस्पर भेद का कारण तथा उनके लाभों पर ध्यान देना चाहिए। शास्त्रकारों ने जो प्रत्येक विधि के भेदों का वर्णन किया है वे सब सहेतुक हैं, लाभदायक हैं, भले ही उनमें पथ्य-परहेज अनिवार्य होता है॥ ३४-३६॥

जीवन्तीजलदेवदारुजलदत्वक्सेव्यगोपीहिमं
दार्वीत्वङ्मधुकप्लवागुरुवरीपुण्ड्राह्वबिल्वोत्पलम्। ।
धावन्यौ सुरभिं स्थिरे कृमिहरं पत्रं त्रुटिं रेणुकां
किञ्जल्कं कमलाद्बलां शतगुणे दिव्येऽम्भसि क्वाथयेत्॥ ३७॥
तैलाद्रसं दशगुणं परिशेष्य तेन तैलं पचेत सलिलेन दशैव वारान्।
पाके क्षिपेच्च दशमे सममाजदुग्धं नस्यं महागुणमुशन्त्यणुतैलमेतत्॥ ३८॥

अणुतैल-निर्माणविधि—जीवन्ती, नेत्रबाला, देवदारु, केवटीमोथा, दालचीनी, खस, सारिवा, चन्दन, दारुहल्दी, मुलेठी, नागरमोथा, अगरु, त्रिफला, पुण्डेरिया, बेलगिरी, कमल, कण्टकारी, वनभण्टा, रासना, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, वायविडंग, तेजपत्ता, छोटी इलायची, रेणुका, कमल का केसर तथा बला—उक्त सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर जौकुट कर लें। द्रव्यों के परिमाण से सौ गुना वर्षा के जल में क्वाथ करें। जब पकते-पकते दसवाँ हिस्सा जल शेष रह जाय तो इसे छान लें। तदनन्तर क्वाथ से दशमांश तेल लें और बराबर का क्वाथजल उस तैल में डालकर पाक करें। इसी प्रकार और आठ बार समान भाग क्वाथ जल डाल-डालकर कुल मिलाकर नौ बार उस तैल का पाक करें। दसवीं बार पाक करते समय क्वाथ के साथ समान भाग बकरी का दूध भी उसमें डाल कर पाक करें। यह 'अणुतैल' है। इसका नस्य अत्यन्त गुणकारी होता है॥ ३७-३८॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह-सूत्रस्थान २९।९ तथा १० में दो अणुतैलों का वर्णन है। उक्त योग दूसरे योग से मिलता-जुलता है। यही पाठ चरक के अनुकूल भी है। देखें—च. सू. ५।६३-७०। चरकोक्त योग तथा दोनों वाग्भटों के योग नस्य के प्रयोग में आते हैं। ऊपर दिये गये 'बला' शब्द से 'बरियारा' का ग्रहण करना चाहिए।

घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कन्धग्रीवास्यवक्षसः । दृढेन्द्रियास्तपलिता भवेयुर्नस्यशीलिनः॥ ३९॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने नस्यविधिर्नाम विंशोऽध्यायः॥ २०॥

स्नेहन-नस्य से लाभ—जो प्रतिदिन स्नेहन-नस्य का प्रयोग करते हैं, उनकी त्वचा, कन्धे, गरदन, मुखमण्डल तथा वक्षस् (छाती) घन (ठोस), उन्नत (ऊँचे), प्रसन्न (प्रसादगुणयुक्त) हो जाते हैं। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हो जाती हैं और उनके बाल समय से पहले सफेद नहीं होते हैं॥ ३९॥

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
निर्मला हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में
नस्यविधि नामक बीसवाँ अध्याय समाप्त॥ २०॥

एकविंशोऽध्याय:

अथातो धूमपानविधिमध्यायं व्याख्यास्याम: ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय: ॥

अब हम यहाँ से धूमपानविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—ऊर्ध्वजत्रुविकारों के प्रशमन (चिकित्सा) के लिए २०वें अध्याय में नस्य के भेद-उपभेदों का वर्णन, उनकी सेवन-विधि तथा उससे होने वाले लाभ-हानियों का वर्णन किया गया है। उसके बाद वर्णन किया जाने वाला यह धूमपान भी उक्त विकारों में हितकर होता है, इसका वर्णन इस अध्याय में किया जायेगा। यह धूमपान बीड़ी, सिगरेट, सिगार तथा चरस आदि विकारकारक धूमपानों से सर्वथा भिन्न एवं उपयोगी है। इसके पर्याय हैं—धूम्र, धूमल।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. ५; सु.चि. ४० तथा अ.सं.सू. ३०। सभी संहिताकारों ने अपनी-अपनी संहिताओं में कुछ-कुछ विशेषताओं का वर्णन किया है, अतः उक्त स्थलों का आप अवश्य अवलोकन करें।

जत्रूर्ध्वकफवातोत्थविकाराणामजन्मने। उच्छेदाय च जातानां पिबेद्धूमं सदाऽऽत्मवान्॥ १॥

धूमपान-विधि का वर्णन—आत्मवान् (मानसिक बल से परिपूर्ण) मानव को जत्रुअस्थि के ऊपरी भाग में होने वाले कफज तथा वातज रोगों की उत्पत्ति ही न हो इसलिए और यदि उक्त प्रकार के रोग हो गये हों तो उन्हें उखाड़ कर फेंकने के लिए सदा धूमपान करना चाहिए॥ १॥

वक्तव्य—महर्षि वाग्भट ने नस्य, गण्डूष के साथ-साथ धूमपान आदि का वर्णन अ. हृ. सू. २।६ में किया है, यहाँ उसी धूम का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है। धूमपान स्वयं में एक दुर्व्यसन है, किन्तु दुर्व्यसनों का प्रभाव आत्मवान् पुरुषों पर नहीं पड़ता, अस्तु। अष्टांगसंग्रह सू. ३०।३ में इस बात का स्पष्ट निर्देश दिया है कि इसका सेवन कब, किन्हें करना चाहिए और कब, किन्हें नहीं करना चाहिए।

स्निग्धो मध्यः स तीक्ष्णश्च, वाते वातकफे कफे। योज्यः—

धूम के भेद तथा प्रयोग—धूमपान विधिभेद से तीन प्रकार का होता है—१. स्निग्ध, २. मध्य तथा ३. तीक्ष्ण। दोषभेद से इनका प्रयोग—स्निग्ध धूम वातविकारों में, मध्य धूम वातकफज विकारों में तथा केवल कफज विकारों में तीक्ष्ण धूम का प्रयोग विहित है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अ. सं. सू. ३०।४ में धूमभेदों का वर्णन इस प्रकार किया है—१. शमन, २. बृंहण, ३. शोधन। पुनः इनके पर्याय—१. शमन, प्रायोगिक, मध्यम। २. बृंहण, स्नेहन, मृदु। ३. शोधन, विरेचन, तीक्ष्ण। तीन अन्य भेदों की चर्चा—१. कासघ्न, २. वामक, ३. व्रणधूमन। इसी विषय को सुश्रुत ने चि. ४०।१४ में इस प्रकार कहा है—धूमपान पाँच प्रकार का होता है—१. प्रायौगिक, २. स्नैहिक, ३. वैरेचनिक, ४. कासघ्न तथा ५. वामनीय।

—न रक्तपित्तार्तिविरिक्तोदरमेहिषु॥ २॥
तिमिरोर्ध्वानिलाध्मानरोहिणीदत्तबस्तिषु । मत्स्यमद्यदधिक्षीरक्षौद्रस्नेहविषाशिषु॥ ३॥
शिरस्यभिहते पाण्डुरोगे जागरिते निशि।

धूमपान का निषेध—रक्तपित्तज रोगों में, विरेचन कराने के बाद होने वाले उदररोगों में, प्रमेहरोग में, तिमिर नामक नेत्ररोग में, ऊर्ध्वग वात (उदावर्त) में, आध्मान होने पर, रोहिणी नामक कण्ठरोग में, बस्ति-प्रयोग कराने पर, मछली खाने पर, दही, दूध, मधु तथा स्नेहपान करने पर, विष खाने या पीने पर, सिर पर चोट आ जाने पर, पाण्डुरोग में तथा रात्रि में जागने पर धूमपान का प्रयोग न करें। इन स्थितियों पर न केवल शास्त्रीय धूमपान का ही नहीं अपितु बीड़ी, तमाखू आदि का भी सेवन न करें॥ २-३॥

रक्तपित्तान्ध्यबाधिर्यतृण्मूर्च्छामदमोहकृत् ॥ ४॥
धूमोऽकालेऽतिपीतो वा—

धूमपान से हानि—अकाल (असमय) में अथवा अधिक धूमपान कर लेने पर रक्तपित्तजनित विकार, अन्धापन, बहरापन, बार-बार प्यास का लगना, मूर्च्छा, मद तथा मोह (बेहोशी)—ये विकार हो जाते हैं॥ ४॥

—तत्र शीतो विधिर्हितः।

धूमपानजनित रोगों की चिकित्सा—इस प्रकार के विकारों की शान्ति के लिए सभी प्रकार की शीत चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने इस प्रकार की धूमविकृतियों को धूमोपहत संज्ञा दी है। देखें—सु.सू. १२।२९-३७। वृद्धवाग्भट का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में देखें—अ.सं.सू. ३०।७।

क्षुतजृम्भितविण्मूत्रस्त्रीसेवाशस्त्रकर्मणाम् ॥ ५॥
हासस्य दन्तकाष्ठस्य धूममन्ते पिबेन्मृदुम्। कालेष्वेषु निशाहारनावनान्ते च मध्यमम्॥ ६॥
निद्रानस्याञ्जनस्नानच्छर्दितान्ते विरेचनम्।

त्रिविध धूम के सेवन का काल— १. छींक होने, जँभाई लेने, मल-मूत्र त्याग करने, स्त्रीसहवास, शस्त्रकर्म, हँसने तथा दातून करने के अन्त में मृदु धूमपान करे। २. उक्त समयों में, रात में भोजन करने के बाद तथा नस्य-प्रयोग करने के अन्त में मध्य धूमपान करे। ३. निद्रा, स्नेहन-नस्य, अञ्जन, स्नान तथा वमन करने के अन्त में विरेचक धूमपान करें। कारण यह है कि इन समयों में धूमपान करने से कफ अपने स्थान को छोड़ देता है, अतः उसका निर्हरण हो सकता है॥ ५-६॥

बस्तिनेत्रसमद्रव्यं त्रिकोशं कारयेदृजु॥ ७॥
मूलाग्रेऽङ्गुष्ठकोलास्थिप्रवेशं धूमनेत्रकम्।

धूमनेत्रक—इसका निर्माण भी बस्तिनेत्र की भाँति स्वर्ण आदि धातुओं से कराना चाहिए। (इसका वर्णन १९वें अध्याय श्लोक ९ में देखें।) इस नेत्रक में तीन कोश (मोड़) हों, यह नेत्र सीधा हो, इसके मूलभाग (जहाँ धूमोपयोगी द्रव्य रखे जाते हैं) में अँगूठा के बराबर छिद्र हो और जहाँ से धूमपान किया जाता है, वहाँ जंगली बेर की गुठली के प्रवेश योग्य छेद हो॥ ७॥

तीक्ष्णस्नेहनमध्येषु त्रीणि चत्वारि पञ्च च॥ ८॥
अङ्गुलानां क्रमात्पातुः प्रमाणेनाष्टकानि तत्।

धूमनेत्र की लम्बाई—तीक्ष्ण धूमपान करने के लिए तीन अष्टक अर्थात् २४ अंगुल, स्नेह धूमपान करने के लिए चार अष्टक अर्थात् ३२ अंगुल और मध्यम धूमपान करने के लिए पाँच अष्टक अर्थात् ४० अंगुल लम्बाई धूमपान करने वाले व्यक्ति की अंगुलियों के प्रमाण से होनी चाहिए॥ ८॥

वक्तव्य—यह धूमनेत्रक हुक्का की नली का नाम है। राजा, रईस, साहूकारों के घरों में, बड़ी-बड़ी महफिलों में इसके दर्शन होते हैं। च.चि. १७।७९ में इसे 'मल्लकसम्पुट' और च.चि. १८।६६ में 'शरावसम्पुट' कहा गया है।

ऋजूपविष्टस्तच्चेता विवृतास्यस्त्रिपर्ययम्॥ ९॥
पिधाय च्छिद्रमेकैकं धूमं नासिकया पिबेत्।

नासिका से धूमपान की विधि—सीधा बैठकर धूमपान की ओर मन लगाकर नासिका के एक छिद्र को अंगुली से दबाकर दूसरे छिद्र पर नेत्र को लगाकर मुख खोलकर तीन बार नासिका द्वारा धूमपान करे अर्थात् उसी विधि से फिर दूसरे छिद्र द्वारा धूमपान करे, फिर पहले वाले छिद्र से। इस प्रकार त्रिपर्यय हो जाता है॥ ९॥

वक्तव्य—उक्त श्लोक में दिया गया **'विवृतास्यः'** पाठ विचारणीय है। इसका अर्थ है—जिस पुरुष का मुख खुला हो। आप प्रयोग करके देखें—मुख के खुले रहने पर नासिकाछिद्र से धूमपान नहीं हो पायेगा। अतः उक्त प्रयोग की चरितार्थता इस रूप में की जा सकती है कि नासिका से किये गये धूम को मुख से निकालें। देखें—श्रीअरुणदत्त तथा श्रीहेमाद्रि ने इस पर टीका ही नहीं लिखी। इस दृष्टि से अ.सं.सू. ३०।१२ का पाठ अधिक स्पष्ट है।

पर्यय—धूमपान करना और धूम को निकालना एक पर्यय है, इसी को आगे चलकर **आक्षेप** तथा **मोक्ष** की संज्ञा दी गयी है।

प्राक् पिबेन्नासयोत्क्लिष्टे दोषे घ्राणशिरोगते॥ १०॥
उत्क्लेशनार्थं वक्त्रेण, विपरीतं तु कण्ठगे।

नासा एवं मुख से धूमपान—नासिका तथा शिरःप्रदेश में दोषों के उभड़े हुए होने पर सबसे पहले नासिका के छिद्रों द्वारा धूमपान करना चाहिए और यदि दोष उभड़ा हुआ न हो तो उसे उभाड़ने के लिए पहले मुख द्वारा धूमपान करके फिर नासिका से धूमपान करे। यदि कण्ठप्रदेश में स्थित दोष को उभाड़ना हो तो पहले नासिका से और फिर मुख से धूमपान करे॥ १०॥

मुखेनैवोद्वमेद्धूमं—

धूम का निर्हरण—धूमपान नासिका के छिद्र से और मुख से करने का ऊपर विधान किया गया है, किन्तु इन दोनों धूमों को मुख से ही निकालना चाहिए।

—नासया दृग्विघातकृत्॥ ११॥

नासिका से धूम न निकालें—नासिका के छिद्रों से धूम निकालने से नेत्रों को हानि हो सकती है॥ ११॥

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में इसका वर्णन सु. चि. ४०।७-८ में देखें।

आक्षेपमोक्षैः पातव्यो धूमस्तु त्रिस्त्रिभिस्त्रिभिः।

तीन बार धूमपान करें—आक्षेप (धूमपान करना) और मोक्ष (धुआँ को बाहर निकालना) यह एक पर्यय है। इसी प्रकार दो बार और अर्थात् एक बार के धूमपान काल में कुल मिलाकर तीन बार धूमपान करना चाहिए।

अह्नः पिबेत्सकृत् स्निग्धं, द्विर्मध्यं, शोधनं परम्॥ १२॥

त्रिश्चतुर्वा—

धूमपान की संख्या—दिनभर में स्निग्ध धूमपान एक बार, मध्यम धूमपान दो बार तथा शोधन (तीक्ष्ण) धूमपान तीन अथवा चार बार करना चाहिए॥ १२॥

—मृदौ तत्र द्रव्याण्यगुरुगुग्गुलु। मुस्तस्थौणेयशैलेयनलदोशीरवालकम्॥ १३॥
वराङ्गकौन्तीमधुकबिल्वमज्जैलवालुकम् । श्रीवेष्टकं सर्जरसो ध्यामकं मदनं प्लवम्॥ १४॥
शल्लकी कुङ्कुमं माषा यवाः कुन्दुरुकस्तिलाः। स्नेहः फलानां साराणां मेदो मज्जा वसा घृतम्॥

मृदु धूम के द्रव्य—अगुरु, गुग्गुलु, मोथा, थुनेर, शैलेय (छरीला), जटामांसी, खस, नेत्रबाला, दालचीनी, रेणुका, मुलेठी, बेल की गिरी, एलवालुक, श्रीवेष्टक (चीड़ की गोंद = विरौजा या लीसा), सर्जरस (राल), ध्यामक (कत्तृण), मदन (मोम), नागरमोथा, शल्लकी (सलाई = चीड़ की लकड़ी), कुंकुम, उड़द, जौ, कुन्दुरुक गोंद, तिल, बादाम आदि फलों के तेल, चन्दन आदि सार वाले काष्ठों के स्नेह (तेल), मेदस्, मज्जा, वसा और घृत इन द्रव्यों से मृदु धूम का निर्माण किया जाता है॥ १३-१५॥

शमने शल्लकी लाक्षा पृथ्वीका कमलोत्पलम्। न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षरोध्रत्वचः सिता॥ १६॥
यष्टीमधु सुवर्णत्वक् पद्मकं रक्तयष्टिका। गन्धाश्चाकुष्ठतगराः—

मध्य धूम के द्रव्य—इसी को शमन धूम भी कहते हैं। शल्लकी (सलाई), लाख, पृथ्वीका, कमल, नीलकमल, बरगद, गूलर, पीपल, पाकर, लोध (इन वृक्षों) की छालें, मिश्री, मुलेठी तथा अमलतास की छाल, पद्मकाष्ठ, मजीठ, कूठ तथा तगर अथवा कूठ एवं तगर को छोड़कर एलादि गण में कहे गये सभी सुगन्धिद्रव्यों का ग्रहण किया जाता है॥ १६॥

—तीक्ष्णे ज्योतिष्मती निशा॥ १७॥
दशमूलमनोह्वालं लाक्षा श्वेता फलत्रयम्। गन्धद्रव्याणि तीक्ष्णानि गणो मूर्द्धविरेचनः॥ १८॥

तीक्ष्ण धूम के द्रव्य—मालकाँगुनी, हल्दी, दशमूल, मैनसिल, हरिताल, लाख, अपामार्ग (चिरचिटा), त्रिफला, तीक्ष्ण गन्धद्रव्य तथा शिरोविरेचन गण के द्रव्यों का प्रयोग (देखें—अ.हृ.सू. १५।४) इस योग में किया जाता है॥ १७-१८॥

जले स्थितामहोरात्रमिषीकां द्वादशाङ्गुलाम्। पिष्टैर्धूमौषधैरेवं पञ्चकृत्वः प्रलेपयेत्॥ १९॥
वर्तिरङ्गुष्ठकस्थूला यवमध्या यथा भवेत्। छायाशुष्कां विगर्भां तां स्नेहाभ्यक्तां यथायथम्॥
धूमनेत्रार्पितां पातुमग्निप्लुष्टां प्रयोजयेत्।

धूमवर्ति-निर्माणविधि—सरपत की १२ अंगुल लम्बी नली को १ दिन-रात पानी में डाल दें। जब वह भीगने से फूल जाय तब उसके ऊपर उक्त धूमद्रव्यों को पीसकर ५ बार लेप करें। प्रत्येक बार का लेप सूख जाने पर तब दूसरा लेप करें। जब यह लेप अँगूठाभर मोटा हो जाय और उसका आकार जौ के सदृश (आगे-पीछे पतला बीच में मोटा) हो तब इसे छाया में सुखा लें। जब वह भलीभाँति सूख जाय तो उसके बीच में से सरपत की नली निकाल लें। उस धूमवर्ति को घी आदि से चुपड़ कर धूमनेत्र में लगाकर बीड़ी-सिगरेट की भाँति उसे जलाकर धूमपान करे॥ १९-२०॥

वक्तव्य—बीड़ी, सिगरेट, चुरुट, सिगार आदि इसी धूमवर्ति के अद्यतन प्रतिनिधि द्रव्य हैं। अन्तर इतना ही है कि इनमें मादक द्रव्य होते हैं और धूमवर्ति में रोगनाशक औषध-द्रव्य हैं।

शरावसम्पुटच्छिद्रे नाडीं न्यस्य दशाङ्गुलाम्॥ २१॥
अष्टाङ्गुलां वा वक्त्रेण कासवान् धूममापिबेत्।

कासघ्न धूमपान-विधि—शरावसम्पुट के छिद्र में १० अँगुल अथवा ८ अँगुल लम्बी नली लगाकर कासरोगी धूमपान करे। इस यन्त्र से मृदु, मध्य तथा तीक्ष्ण सभी प्रकार का धूमपान किया जा सकता है॥

वक्तव्य—शरावसम्पुट का वर्णन अ.सं.सू. ३०।१४ में देखें।

कासः श्वासः पीनसो विस्वरत्वं पूतिर्गन्धः पाण्डुता केशदोषः।
कर्णास्याक्षिस्रावकण्ड्वर्तिजाड्यं तन्द्रा हिध्मा धूमपं न स्पृशन्ति॥ २२॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने धूमपानविधिर्नामैकविंशतितमोऽध्यायः॥ २१॥

धूमपान के लाभ—कास, श्वास, पीनस (प्रतिश्याय), स्वरभेद, मुख एवं नासिका की दुर्गन्ध, मुख का पीला पड़ जाना, केशदोष (बालों का झड़ना, टूटना, अकाल में सफेद हो जाना आदि), कान, मुख, आँख में से स्राव का निकलना, खुजली होना, पीड़ा होना, जड़ता, उँघाई का आना और हिक्का या हिचकी—ये विकार धूमपान करने वाले व्यक्ति को छूते भी नहीं, ये रोग हुए हों तो दूर हो जाते हैं॥ २२॥

वक्तव्य—धर्मशास्त्र में जो धूमपान का निषेध है, सम्भवतः तमाखू, बीड़ी, सिगरेट, गाँजा आदि का ही है। ये तो वैसे भी हानिकारक ही होते हैं। अतएव ऐसा कहा गया है—**'धूमपानरता विप्रा भवन्ति ग्रामसूकराः'**। आयुर्वेद चिकित्साशास्त्र है, इसमें तो—**'औषधार्थे सुरां पिबेत्'** ऐसी व्यवस्था है, क्योंकि **'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्'**, अस्तु। चरक में धूमपान के कालों का इस प्रकार वर्णन किया गया है—१. स्नान, २. भोजन, ३. वमन, ४. छींक, ५. दतवन, ६. नस्य, ७. अंजन तथा ८. नींद से जगने के बाद धूमपान करना चाहिए।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में धूमपानविधि नामक इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त॥ २१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

अथातो गण्डूषादिविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।

इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से गण्डूष, कवल आदि की विधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—पञ्चकर्म की परिधि में आने के कारण धूमपान का वर्णन करने के अनन्तर अब इस बाईसवें अध्याय में गण्डूष (कुल्ला करना), कवलग्रह (मुख के भीतर ग्रास या कौर की भाँति औषध-द्रव्य को रखना), प्रतिसारण, मुखालेपन, मूर्धतैल तथा कर्णपूरण विषयों का वर्णन किया जायेगा।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.सू. ५; सु.चि. ४०; सु.उ. १८ तथा अ.सं.सू. ३१ में देखें।

चतुष्प्रकारो गण्डूषः स्निग्धः शमनशोधनौ। रोपणश्च—

गण्डूष के भेद—यह चार प्रकार का होता है— १. स्निग्ध (जो मुख के भीतरी अवयवों को चिकना कर देता है), २. शमन (दोषशामक), ३. शोधन तथा ४. रोपण (मुख के भीतर उत्पन्न घावों तथा छालों को भर देने वाला)।

—त्रयस्तत्र त्रिषु योज्याश्चलादिषु॥ १॥

अन्त्यो व्रणघ्नः—

गण्डूषों के प्रयोग—प्रथम तीन गण्डूष वात आदि दोषों में इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं—स्निग्ध गण्डूष वातदोष में, शमन गण्डूष पित्तदोष में, शोधन गण्डूष कफदोष में और अन्तिम रोपण गण्डूष मसूड़ा, जीभ एवं तालुप्रदेश में उत्पन्न व्रणों (घावों) को भरने के लिए होता है॥ १॥

—स्निग्धोऽत्र स्वाद्वम्लपटुसाधितैः।

स्नेहैः—

स्निग्ध गण्डूष—यह मधुररस तथा अम्लरस प्रधान द्रव्यों एवं विविध प्रकार के लवणों के संयोग से पकाये गये तैल, घृत, वसा आदि स्नेहों से तैयार किया जाता है।

—संशमनस्तिक्तकषायमधुरौषधैः॥ २॥

शमन गण्डूष—यह तिक्त, कषाय तथा मधुररस-प्रधान औषध-द्रव्यों के क्वाथों से तैयार कराकर प्रयोग किया जाता है। इनमें औषधद्रव्य का चुनाव चिकित्सक पर निर्भर होता है॥ २॥

शोधनस्तिक्तकट्वम्लपटूष्णैः—

शोधन गण्डूष—इसका निर्माण तिक्त (नीम आदि), कटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली आदि), अम्ल, लवण तथा उष्णवीर्य द्रव्यों के संयोग से किया जाता है।

—रोपणः पुनः।

कषायतिक्तकैः—

रोपण गण्डूष—इसका निर्माण कसैले तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों के संयोग से किया जाता है।

—तत्र स्नेहः क्षीरं मधूदकम्॥ ३॥

शुक्तं मद्यं रसो मूत्रं धान्याम्लं च यथायथम्। कल्कैर्युक्तं विपक्वं वा यथास्पर्शं प्रयोजयेत्॥ ४॥

गण्डूषों में द्रव्य-योग—उक्त चार प्रकार के गण्डूषों में घी-तेल आदि स्नेह, गाय का दूध, मधु और जल का घोल, विभिन्न प्रकार के सिरके, मद्य, मांसरस अथवा औषधद्रव्यों के स्वरस, विभिन्न मूत्र और धान्याम्ल (काँजी)—इनका रोग के अनुसार विविध प्रकार के कल्कों से युक्त या क्वाथों से युक्त उष्णस्पर्श अथवा शीतस्पर्श युक्त द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए॥ ३-४॥

दन्तहर्षे दन्तचाले मुखरोगे च वातिके। सुखोष्णमथवा शीतं तिलकल्कोदकं हितम्॥ ५॥
गण्डूषधारणे—

रोगानुसार गण्डूष-प्रयोग—दन्तहर्ष (दाँतों में पानी लगने) में, दाँतों के हिलने में तथा वातज मुखरोगों में गुनगुना अथवा शीतल तिलकल्क से युक्त जल का गण्डूष (कुल्ली या कुल्ला) करना लाभदायक होता है॥ ५॥

—नित्यं तैलं मांसरसोऽथवा।

स्वस्थ के लिए गण्डूष—स्वस्थ व्यक्ति के लिए प्रतिदिन कड़ुवा तैल का अथवा मांसरस का गण्डूष करना हितकर होता है।

ऊषादाहान्विते पाके क्षते चागन्तुसम्भवे॥ ६॥
विषे क्षाराग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोऽथवा।

घी या दूध का गण्डूष—मिर्च या मिर्चा की जलन में, दाह युक्त मुखपाक में, आगन्तुज क्षत में, विषप्रयोग के कारण होने वाले दाह में, क्षार से अथवा आग से जल जाने पर मुख के भीतर घी अथवा शीतल दूध का गण्डूष धारण करना चाहिए॥ ६॥

वैशद्यं जनयत्याशु सन्दधाति मुखे व्रणान्॥ ७॥
दाहतृष्णाप्रशमनं मधुगण्डूषधारणम्।

मधु का गण्डूष-प्रयोग—मधु अथवा मधु युक्त जल का गण्डूष धारण करने से मुख में स्वच्छता आ जाती है। मुख के भीतर उत्पन्न घावों को यह भर देता है और यह दाह एवं प्यास को शान्त कर देता है॥ ७॥

धान्याम्लमास्यवैरस्यमलदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥ ८॥

लवण युक्त काञ्जी के गण्डूष—लवण युक्त काँजी के गण्डूष मुख के फीकेपन को, मुख के भीतर की गन्दगी तथा दुर्गन्धि को नष्ट करते हैं॥ ८॥

तदेवालवणं शीतं मुखशोषहरं परम्।

लवण रहित काञ्जी के गण्डूष—लवण रहित काँजी के गण्डूष शीतल होने के कारण मुख की जलन को तथा मुखशोष (मुख का बार-बार सूखना) का नाश करते हैं।

आशु क्षाराम्बुगण्डूषो भिनत्ति श्लेष्मणश्चयम्॥ ९॥

क्षाराम्बु गण्डूष—चूना आदि क्षार मिले हुए जल के गण्डूष मुख के भीतर संचित कफ को निकाल देते हैं॥ ९॥

सुखोष्णोदकगण्डूषैर्जायते वक्त्रलाघवम्।

सुखोष्णोदक गण्डूष—गुनगुने जल के गण्डूष करने से मुख के भीतर हलकापन आ जाता है।

निवाते सातपे स्विन्नमृदितस्कन्धकन्धरः॥ १०॥
गण्डूषमपिबन् किञ्चिदुन्नतास्यो विधारयेत्।

गण्डूष करने की विधि—हवा रहित स्थान में तथा जहाँ धूप लग रही हो ऐसे स्थान में बैठकर कन्धों तथा गरदन पर स्वेदन कराने के बाद मर्दन कराकर गण्डूषद्रव को बिना पिये मुख को उठाकर धारण करे। ऐसा करने से उस गण्डूषद्रव का प्रभाव गले के छिद्र से लेकर सम्पूर्ण मुखगुहा पर पड़ता रहेगा॥ १०॥

कफपूर्णास्यता यावत्स्रवद्घ्राणाक्षताऽथवा॥ ११॥

गण्डूष-धारण की अवधि—जब तक मुख के भीतर पूरा कफ न भर जाय और जब तक नासिका तथा आँखों से स्राव न होने लग जाय, तब तक उस गण्डूष को मुख में रखें, फिर थूक दें। ऐसा ५ अथवा ७ बार करें॥ ११॥

असञ्चार्यो मुखे पूर्णे गण्डूषः, कवलोऽन्यथा।

गण्डूष एवं कवल परिभाषा—गण्डूष में औषधद्रव से पूरा मुख इतना भर लिया जाता है कि वह फिर मुख के भीतर हिलाया नहीं जा सकता, इसे 'गण्डूष' कहते हैं और 'कवल' उसे कहते हैं जो द्रव मुख में भर लेने पर इधर-उधर हिलाया जा सके। यही दोनों में भेद है।

वक्तव्य—शार्ङ्गधराचार्य का कथन है कि द्रव द्रव्य से 'गण्डूष' और कल्क द्रव्य से 'कवल' प्रयोग किया जाता है। पान को मुख में लेकर बहुत समय तक रखना या घुलाना यह 'कवल' का ही एक भेद है। 'कवल' का एक पर्याय 'ग्रास' (कौर) भी है।

मन्याशिरःकर्णमुखाक्षिरोगाः प्रसेककण्ठामयवक्त्रशोषाः॥ १२॥
हृल्लासतन्द्रारुचिपीनसाश्च साध्या विशेषात्कवलग्रहेण।

कवल-धारण के लाभ—मन्यास्तम्भ, शिरोरोग, कर्णरोग, मुखरोग, नेत्ररोग, लालास्राव, कण्ठरोग, मुखशोष, हृल्लास (जी मिचलाना), तन्द्रा (उँघाई), भोजन के प्रति अरुचि एवं प्रतिश्याय नामक रोग कवलधारण करने पर सुखसाध्य होते हैं॥ १२॥

कल्को रसक्रिया चूर्णस्त्रिविधं प्रतिसारणम्॥ १३॥

प्रतिसारण के भेद—प्रतिसारण (मंजन) तीन प्रकार का होता है—१. कल्क, २. रसक्रिया तथा ३. चूर्ण॥ १३॥

वक्तव्य—प्रतिसारण शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है—'प्रति + सृ + णिच् + ल्युट्। इसका अर्थ है—मंजन, मलहम लगाना आदि। इसका उल्लेख सु. चि. २२ (मुखरोग-चिकित्सा) में अनेक स्थलों में आया है। देखें—श्लोक ५, १३, १४, २० आदि। **कल्क** = चटनी। **रसक्रिया**—'क्वाथादीनां पुनः क्वाथाद् घनत्वं सा रसक्रिया'। अर्थात् क्वाथ किये गये रस को पकाते-पकाते गाढ़ा (अवलेह जैसा) करना। **चूर्ण**—सूखे द्रव्यों को कूट-छानकर तैयार किये गये द्रव्य को चूर्ण कहते हैं। जैसे—त्रिफला के क्वाथ से गण्डूष, कल्क से कवल, चूर्ण से प्रतिसारण और रसक्रिया का मलहम की भाँति प्रयोग।

युञ्ज्यात्तत् कफरोगेषु गण्डूषविहितौषधैः।

प्रतिसारण का प्रयोग—गण्डूष के लिए निर्दिष्ट औषधद्रव्यों द्वारा निर्मित प्रतिसारणों का प्रयोग कफजनित मुखरोगों में करना चाहिए।

मुखालेपस्त्रिधा दोषविषहा वर्णकृच्च—

मुखालेप के तीन भेद—मुखमण्डल पर लगाने योग्य लेप तीन प्रकार का होता है— १. **दोषहा**—वात आदि दोषों का नाशक, २. **विषहा**—विषविकारनाशक तथा ३. **वर्णकृत्**—मुखमण्डल की सुन्दरता को बढ़ाने वाला।

—सः ॥ १४॥

उष्णो वातकफे शस्तः, शेषेष्वत्यर्थशीतलः।

मुखालेप का उपयोग—वह (मुखालेप) वातज तथा कफज विकारों में उष्णवीर्य औषधद्रव्यों द्वारा बनाकर गरम करके लगाया जाता है। शेष (विषनाशक तथा वर्णकारक) स्थितियों में शीतवीर्य द्रव्यों से तैयार करके शीतल ही लगाया जाता है॥ १४॥

त्रिप्रमाणश्चतुर्भागत्रिभागार्द्धाङ्गुलोन्नतिः ॥ १५॥

मुखालेप का प्रमाण—उस मुखालेप की मोटाई के तीन प्रमाण हैं— १. चौथाई अंगुल मोटा, २. तिहाई अंगुल मोटा तथा ३. आधा अंगुल मोटा॥ १५॥

अशुष्कस्य स्थितिस्तस्य, शुष्को दूषयतिच्छविम्। तमार्द्रयित्वाऽपनयेत्तदन्तेऽभ्यङ्गमाचरेत्॥

लेप सम्बन्धी निर्देश—जब तक वह लेप गीला हो तब तक उसे लगा रहने दें, सूखने पर उसे उतार दें। क्योंकि सूख जाने पर लेप को उतारने से मुख की छवि मलिन पड़ जाती है। यदि लेप सूख जाय तो उसे गीला करके हटाना चाहिए और उसे हटाकर लेप लगे स्थान पर अभ्यंग लगाना चाहिए॥ १६॥

विवर्जयेद्दिवास्वप्नभाष्याग्न्यातपशुक्क्रुधः ।

मुखालेप में अपथ्य—जब तक मुख में लेप लगा रहे तब तक दिन में सोना, अधिक बोलना, आग सेंकना, धूप सेंकना, शोक करना तथा क्रोध करना अपथ्य है। अतः इन्हें छोड़ देना चाहिए।

न योज्यः पीनसेऽजीर्णे दत्तनस्ये हनुग्रहे॥ १७॥
अरोचके जागरिते—

मुखालेप का निषेध—पीनसरोग में, अजीर्ण में, नस्य का प्रयोग करने पर, हनुग्रहरोग में, अरोचक में तथा रात को अधिक जागने पर मुखालेप का प्रयोग नहीं करना चाहिए॥ १७॥

—स तु हन्ति सुयोजितः। अकालपलितव्यङ्गवलीतिमिरनीलिकाः॥ १८॥

मुखालेप का सम्यग्योग—इससे अकालपलित (असमय में बालों का पक जाना), व्यंग, वली (मुखमण्डल पर झुर्रियों का दिखलायी पड़ना), तिमिररोग एवं नीलिकारोग (मुख या गालों पर झाँई का दिखलायी पड़ना) ये रोग नष्ट हो जाते हैं॥ १८॥

कोलमज्जा वृषान्मूलं शाबरं गौरसर्षपाः। सिंहीमूलं तिलाः कृष्णा दार्वीत्वङ्निस्तुषा यवाः॥
दर्भमूलहिमोशीरशिरीषमिशितण्डुलाः । कुमुदोत्पलकह्लारदूर्वामधुकचन्दनम्॥ २०॥
कालीयकतिलोशीरमांसीतगरपद्मकम् । तालीसगुन्द्रापुण्ड्राह्वयष्टीकाशनतागुरु॥ २१॥
इत्यर्द्धार्द्धोदिता लेपा हेमन्तादिषु षट् स्मृताः।

मुखालेप के ६ योग—(१) **हेमन्त ऋतु में**—बेर की मज्जा (गिरी), अडूसा की जड़, पठानीलोध तथा पीली सरसों का लेप। (२) **शिशिर ऋतु में**—सिंहीमूल (वनभण्टा की जड़), काले तिल, दारुहल्दी

(किरमोड़ा) की छाल तथा भूसी निकाले हुए जौ के आटा का लेप। (३) **वसन्त ऋतु में**—दर्भ (डाभ) की जड़, कपूर, खस, शिरीष के बीज, सौंफ के बीज और चावल के आटा का लेप। (४) **ग्रीष्म ऋतु में**—कुमुद (कुई), उत्पल (नीलकमल), लालकमल, दूब, मुलेठी तथा चन्दन का लेप। (५) **वर्षा ऋतु में**—काला अगुरु, तिल, खस, जटामांसी, तगर तथा पद्मकाष्ठ का लेप। (६) **शरद् ऋतु में**—तालीसपत्र, गुन्द्रपटेर, पुण्डेरिया, मुलेठी, कास (कुशभेद) की जड़, तगर तथा अगुरु का लेप। इस प्रकार आधे-आधे श्लोकों द्वारा कहे गये इन छः लेपों का प्रयोग क्रमशः हेमन्त आदि छः ऋतुओं में करना चाहिए॥ १९-२१॥

मुखालेपनशीलानां दृढं भवति दर्शनम्॥ २२॥
वदनं चापरिम्लानं श्लक्ष्णं तामरसोपमम्।

मुखालेप से लाभ—जो प्रतिदिन मुखमण्डल के ऊपर उक्त लेपों का प्रयोग करते रहते हैं, उनकी दृष्टि (दर्शनशक्ति) मजबूत बनी रहती है, मुखमण्डल कभी मुरझाता नहीं, चिकना तथा कमल के सदृश सदा खिला (प्रसन्न) रहता है॥ २२॥

वक्तव्य—नर-नारी की प्रवृत्ति सौन्दर्योपासन के प्रति देखी जाती है। आयुर्वेदशास्त्र इसमें भी उपकारक है। इसी दृष्टिकोण को अपनाकर आज व्यवसायियों ने अनेक प्रकार के सौन्दर्य-प्रसाधन प्रस्तुत किये हैं। उनके प्रयोग करने पर कुछ हानियाँ भी होती हैं, किन्तु ये आयुर्वेदीय योग सर्वथा निर्दोष सिद्ध होते हैं।

अभ्यङ्गसेकपिचवो बस्तिश्चेति चतुर्विधम्।॥ २३॥
मूर्द्धतैलम्—

मूर्धतैल के ४ भेद—मूर्धतैल ४ प्रकार का होता है— १. अभ्यंग (सिर पर तेल मलना), २. सेक (सिर को तेल से सींचना), ३. पिचु (रुई के फाहा को तेल में भिगाकर माथे पर रखना) तथा ४. शिरोबस्ति का प्रयोग॥ २३॥

—बहुगुणं तद्विद्यादुत्तरोत्तरम्।

उत्तरोत्तर गुणवत्ता—उक्त चार प्रकार के जो मूर्धतैलों का ऊपर वर्णन किया है, ये उत्तरोत्तर अधिक गुणवाले होते हैं।

तत्राभ्यङ्गः प्रयोक्तव्यो रौक्ष्यकण्डूमलादिषु॥ २४॥

अभ्यंग का प्रयोग—उन चारों में से अभ्यंग के प्रयोगस्थल—शिर:प्रदेश की रूक्षता, खुजली तथा मलिनता आदि में अभ्यंग का प्रयोग करना चाहिए॥ २४॥

अरूंषिकाशिरस्तोददाहपाकव्रणेषु तु। परिषेकः—

परिषेक का प्रयोग—सेक या परिषेक के प्रयोगस्थल—अरूंषिका (सिर में उत्पन्न छोटी-छोटी फुन्सियों) में, सिर की पीड़ा में, दाह में, पाक में तथा व्रणों में तेल का परिषेक करना चाहिए।

—पिचुः केशशातस्फुटनधूपने॥ २५॥

नेत्रस्तम्भे च—

पिचु के प्रयोगस्थल—बालों के झड़ने तथा टूटने पर, सिर की त्वचा के फटने पर, धुआँ-सा निकलने का अनुभव होने पर एवं नेत्रगोलकों की जड़ता होने पर पिचु का प्रयोग करना चाहिए॥ २५॥

—बस्तिस्तु प्रसुप्त्यर्दितजागरे। नासास्यशोषे तिमिरे शिरोरोगे च दारुणे॥ २६॥

बस्ति के प्रयोगस्थल—सिर की शून्यता, मुखप्रदेश के लकवा, निद्रानाश, नासिका तथा मुख के सूखने पर, तिमिररोग, शिरोरोग एवं दारुण नामक रोग में इसका प्रयोग करें॥ २६॥

वक्तव्य—श्रीहेमाद्रि ने 'दारुणे' शब्द का अर्थ 'तीव्रे' करके इसे 'शिरोरोगे' का विशेषण माना है। पाठक ध्यान दें—वाग्भट ने इसका वर्णन शिरोरोगों में किया है। सुश्रुत ने निदानस्थान के १३वें अध्याय में और माधवकर ने क्षुद्ररोगनिदान श्लोक ३० में किया है। प्रसंगोचित होने से हमने यहाँ इसका स्पष्टीकरण उपस्थित किया है। इसे बोलचाल की भाषा में 'रूसी' (Dandrufe) कहते हैं।

विधिस्तस्य निषण्णस्य पीठे जानुसमे मृदौ। शुद्धाक्तस्विन्नदेहस्य दिनान्ते गव्यमाहिषम्॥ २७॥
द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरःसमम्। आकर्णबन्धनस्थानं ललाटे वस्त्रवेष्टिते॥ २८॥
चैलवेणिकया बद्ध्वा माषकल्केन लेपयेत्। ततो यथाव्याधि शृतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत्॥ २९॥
ऊर्ध्वं केशभुवो यावदङ्गुलं—

शिरोबस्ति-सेवनविधि—जिस व्यक्ति को इसका प्रयोग कराना हो, सबसे पहले उसका वमन-विरेचन आदि से शोधन कराकर स्नेहन एवं स्वेदन करे। उसके बाद सायंकाल उसे घुटनेभर ऊँचे तथा कोमल आसन (कुर्सी) पर बैठाकर बारह अंगुल चौड़ी तथा सिर की गोलाई के समान लम्बी गाय या भैंस के चमड़े की पट्टी के दोनों छोरों को कान के पास ले जाकर बाँध दें; बाँधने के पहले सिर के चारों ओर कपड़ा लपेटकर बाँधा हो। फिर उसकी दरारों अर्थात् छिद्रों को उड़द के सने हुए आटे से लीप दें। तदनन्तर रोग के अनुसार औषधकल्क को डालकर पकाये गये स्नेह को गुनगुना करके सिर के ऊपर उस शिरोबस्ति में उतना भर दें जिससे वह स्नेह केशभूमि से एक अंगुल ऊपर तक भर जाय॥ २७-२९॥

—धारयेच्च तम्। आवक्त्रनासिकोत्क्लेदाद्दशाष्टौ षट् चलादिषु॥ ३०॥
मात्रासहस्राण्यरुजे त्वेकं—

शिरोबस्ति-धारणकाल—उस स्नेह को तब तक धारण करे जब तक मुख एवं नासिका से जल का स्राव न होने लग जाय और वातरोग में दस हजार मात्रा, पित्तविकार में आठ हजार मात्रा, कफरोग में छः हजार मात्रा और स्वस्थ पुरुष में एक हजार मात्रा काल तक इसे धारण करना चाहिए॥ ३०॥

—स्कन्धादि मर्दयेत्। मुक्तस्नेहस्य—

पश्चात्कर्म—इतनी देर धारण कर लेने के बाद उस तेल को निकाल लें और सिर में बाँधी गयी बस्ति को खोल लें। तदनन्तर उसके कन्धे आदि अवयवों पर मालिश करें।

—परमं सप्ताहं तस्य सेवनम्॥ ३१॥

शिरोबस्ति-सेवन की अवधि—इस प्रकार शिरोबस्ति का प्रयोग (स्नेहपान की भाँति) अधिक-से-अधिक एक सप्ताह तक करना चाहिए॥ ३१॥

धारयेत्पूरणं कर्णे कर्णमूलं विमर्दयन्। रुजः स्यान्मार्दवं यावन्मात्राशतमवेदने॥ ३२॥

कर्णपूरण का काल—रोगी को किसी एक करवट लेटाकर कान के छिद्र में तेल डालना या भरना चाहिए और साथ ही वह कान की जड़ में अंगुली से मसलता रहे। जब तक कान में उत्पन्न पीड़ा शान्त न हो तब तक लेटे रहना चाहिए। स्वस्थ पुरुष के कान में यदि तेल डाला गया हो तो एक मात्रा परिमित काल तक लेटे रहना चाहिए॥ ३२॥

यावत्पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलम्। निमेषोन्मेषकालेन समं मात्रा तु सा स्मृता॥ ३३॥

मात्राकाल की परिभाषा—जितना समय घुटना के ऊपर हाथ घुमाने में लगता है अथवा आँख की पलक उठाने तथा गिराने में लगता है, उतने समय का नाम एक मात्रा है। यह समय प्रायः ३ मिनट का होता है॥ ३३॥

कचसदनसितत्वपिञ्जरत्वं परिफुटनं शिरसः समीररोगान्।
जयति, जनयतीन्द्रियप्रसादं स्वरहनुमूर्द्धबलं च मूर्द्धतैलम्॥ ३४॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने गण्डूषादिविधिर्नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

मूर्धतैल का फल—सिर के ऊपर निरन्तर तैल के प्रयोग से बालों का टूटना, झड़ना, सफेद अथवा पीला पड़ना, सिर की त्वचा का फटना तथा सिर सम्बन्धी वातरोगों का विनाश हो जाता है। यह इन्द्रियों की अपने-अपने विषय की ग्रहणशक्ति को बढ़ाता है और इन्द्रियों को प्रसन्न रखता है। स्वर, हनु, सिर को बलवान् बनाता है॥ ३४॥

वक्तव्य—अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान अध्याय २।९ में इसका संकेत पहले किया जा चुका है, वहाँ देखें।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
निर्मला हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में
गण्डूषादि विधि नामक बाईसवाँ अध्याय समाप्त॥ २२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

अथात आश्चोतनाञ्जनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से आश्चोतनाञ्जनविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—पिछले अध्यायों में ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों तथा उनके प्रतीकारों का निर्देश किया गया है, अतएव गण्डूषादिविधि के बाद अब यहाँ नेत्ररोगों के प्रतिषेध के लिए आश्चोतन तथा अञ्जन विधानों को प्रस्तुत किया जा रहा है। महर्षि सुश्रुत तथा चरक ने 'आश्च्योतन' शब्द का और श्रीवाग्भट ने 'आश्चोतन' शब्द का प्रयोग किया है। इसे व्याकरण की दृष्टि से देखें—**'इरितो वा'** (३।१।५७)—'यकाररहितोऽप्ययम्'। अर्थात् उक्त शब्द 'य' सहित एवं 'य' रहित दोनों ही प्रकार से शुद्ध है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च.चि. २६; सु.उ. १८ तथा अ.सं.सू. ३२ में देखें।

सर्वेषामक्षिरोगाणामादावाश्चोतनं हितम् । रुक्तोदकण्डूघर्षाश्रुदाहरागनिबर्हणम्॥ १॥

आश्चोतन का वर्णन—सभी प्रकार के नेत्ररोगों में सबसे पहले आश्चोतनविधि हितकारक होती है। इसके प्रयोग से नेत्रों में होने वाली पीड़ा, गड़ने या सुई चुभने की-सी पीड़ा, खुजली, घर्ष (रगड़—मानो आँख के भीतर बालू के कण घुस गये हों, उस प्रकार का कष्ट), आसुँओं का बहना, दाह तथा लालिमा हट जाती है॥ १॥

उष्णं वाते, कफे कोष्णं, तच्छीतं रक्तपित्तयोः।

दोषानुसार आश्चोतन—वातज नेत्ररोगों में उष्णवीर्य तथा उष्णस्पर्श युक्त, कफ़ज विकारों में गुनगुना और रक्तज तथा पित्तज विकारों में शीतवीर्य तथा शीतस्पर्श द्रव का आश्चोतन कराना चाहिए।

निवातस्थस्य वामेन पाणिनोन्मील्य लोचनम्॥ २॥
शुक्तौ प्रलम्बयाऽन्येन पिचुवर्त्या कनीनिके। दश द्वादश वा बिन्दून् द्व्यङ्गुलादवसेचयेत्॥ ३॥
ततः प्रमृज्य मृदुना चैलेन, कफवातयोः। अन्येन कोष्णपानीयप्लुतेन स्वेदयेन्मृदु॥ ४॥

आश्चोतन-विधि—नेत्ररोगी को निवातस्थान (जहाँ सीधा हवा का प्रकोप न हो) में लिटाकर चिकित्सक अपने बाँये हाथ से उसकी आँख को खोलकर दाहिने हाथ से लम्बी सीप में रखी हुई औषधि को अथवा दूसरी पिचु (रुई के फाहा) की बत्ती से दोनों नेत्रों की कनीनिकाओं (नासिका के समीप के नेत्रसन्धियों) को दो अंगुल ऊपर से १० या १२ बूँदों से सींचे। तदनन्तर मुलायम तथा साफ वस्त्र से उसे साफ कर दे। यदि कफज अथवा वातज विकार हो तो गुनगुने जल में भिगाये हुए दूसरे फाहा से हलका-सा नेत्रों के ऊपर स्वेदन करना चाहिए॥ २-४॥

वक्तव्य—'श्च्युतिर् क्षरणे' धातु का अर्थ बूँद-बूँद गिरना, टपकना, बहना तथा रिसना आदि होता है, किन्तु सेचन-क्रिया भी इसी से सम्बन्धित है। जैसे—नेत्रों पर पोटली रखना, धारा गिराना आदि ये सब उसी के अर्थ हैं। ऊपर महर्षि वाग्भट ने **'शुक्तौ प्रलम्बया'** पाठ स्वीकार कर द्रविड़ प्राणायाम किया है और श्रीहेमाद्रि ने उसका 'शुक्तिस्थद्रवनिमग्नार्द्धया' यह अर्थ किया है। यदि यहाँ **'शुक्त्या'** पाठ स्वीकार कर लिया जाय तो 'प्रलम्बया' इसका विशेषण हो जायेगा। 'अन्येन' पद का अर्थ है—'दक्षिणकरेण'।

रक्तज-पित्तज विकारों में स्वेदन कर्म का निषेध है, अतः नेत्रों का प्रक्षालन गुनगुना जल में भिगाये हुए रुई के फाहा या सुकोमल वस्त्र से करना चाहिए।

अत्युष्णतीक्ष्णं रुग्रागदृङ्नाशायाक्षिसेचनम्। अतिशीतं तु कुरुते निस्तोदस्तम्भवेदनाः ॥ ५ ॥
कषायवर्त्मतां घर्षं कृच्छ्रादुन्मेषणं बहु। विकारवृद्धिमत्यल्पं संरम्भमपरिस्रुतम् ॥ ६ ॥

आश्च्योतन का निषेध—अधिक गरम अथवा अधिक तीक्ष्ण द्रव्यों से निर्मित अक्षिसेचन (आश्च्योतन) के प्रयोग से आँखों में पीड़ा, लालिमा की उत्पत्ति तथा दृष्टिनाश का कारण हो जाता है। इसके विपरीत अत्यन्त शीतवीर्य वाले द्रव्यों से निर्मित या स्पर्श में अत्यन्त शीतल आश्च्योतन के प्रयोग से आँखों में चुभन, जकड़न, विविध प्रकार की वेदनाएँ होना, वर्त्मों में रूक्षता, पलकों का आपस में सट जाना तथा अत्यन्त कठिनाई से पलकों का खुलना—अधिक आश्च्योतन करने के कारण ये लक्षण हो जाते हैं और बहुत कम मात्रा में किया गया आश्च्योतन नेत्रविकारों को बढ़ाता है। आश्च्योतन करने के बाद आँखों में से द्रव का न निकालना आँखों में शोथ को उत्पन्न करता है॥ ५-६ ॥

वक्तव्य—अन्य संहिताओं में नेत्ररोगनाशक उपचारों में सेचन, आश्च्योतन, पिण्डिका-विधान, बिडालक-विधि, तर्पण, अंजन, वर्ति आदि का विधान दिया गया है। प्रस्तुत संहिता में बिडालक-विधि का उल्लेख नहीं हुआ है। **बिडालक-परिचय**—बरौनियों को छोड़कर आँख की पलकों में जो लेप किया जाता है, उसे बिडालक कहते हैं। इसकी मोटाई तथा धारणकाल मुखलेप के समान होता है। इसका प्रयोग केवल दिन में, वह भी प्रातःकाल करें।

गत्वा सन्धिशिरोघ्राणमुखस्रोतांसि भेषजम्। ऊर्ध्वगान्नयने न्यस्तमपवर्तयते मलान् ॥ ७ ॥

आश्च्योतन के लाभ—आश्च्योतन क्रिया द्वारा नेत्रों में डाला गया औषधद्रव नेत्रसन्धियों, सिर, नासिका तथा मुख से सम्बन्धित स्रोतों में पहुँचकर जत्रु से ऊपरी भागों के मलों को बाहर की ओर निकाल देता है॥ ७ ॥

अथाञ्जनं शुद्धतनोर्नेत्रमात्राश्रये मले। पक्वलिङ्गेऽल्पशोफातिकण्डूपैच्छिल्यलक्षिते ॥ ८ ॥
मन्दघर्षाश्रुरागेऽक्ष्णि प्रयोज्यं घनदूषिके। आर्ते पित्तकफासृग्भिर्मारुतेन विशेषतः ॥ ९ ॥

अञ्जन-प्रयोग के लाभ—अब यहाँ से अञ्जन का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है। अञ्जन-प्रयोग का काल—वमन-विरेचन द्वारा शिरःप्रदेश के शुद्ध हो जाने के बाद जब मल (दोष-विशेष) केवल नेत्र में स्थित हो और जब उसके परिपक्व होने के लक्षण दिखलायी दें, तब अञ्जन का प्रयोग करें। दोष या दोषों के परिपक्व हो जाने के लक्षण—पहले की अपेक्षा शोथ (सूजन) में कमी का दिखलायी देना, खुजली की अधिकता, चिपचिपापन का होना, घर्ष (आँख का गड़ना या बालू की जैसी करकराहट) में कमी का होना तथा आँखों में लालिमा का कम होना और आँख के मैल का गाढ़ा होकर निकलना। इनके अतिरिक्त पित्त, कफ तथा रक्त दोष से पीड़ित नेत्रों में, विशेष रूप से वातदोष से पीड़ित नेत्रों में अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए॥ ८-९ ॥

वक्तव्य—ऊपर के श्लोकों में कहे गये लक्षण सामदोष तथा निरामदोष दोनों के हैं। दूसरे आचार्यों ने अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की है कि साम-नेत्ररोगों में अञ्जन का प्रयोग न करें और निराम-नेत्ररोगों में अञ्जन का प्रयोग करें, इस प्रकार का वचन युक्तिसंगत है। इसके लिए आप देखें—**साम-नेत्ररोग के लक्षण**—अधिक वेदना, लालिमा, शोथ, घर्ष, चुभन, शूल तथा अश्रुप्रवाह। **निराम-नेत्ररोग के लक्षण**—वेदना में कमी, मन्द कण्डू, आँसुओं का कम गिरना तथा आँखों का साफ दिखलायी देना।

लेखनं रोपणं दृष्टिप्रसादनमिति त्रिधा। अञ्जनं—

अंजन के तीन भेद—कार्यभेद से अंजन तीन प्रकार का होता है—१. लेखन, २. रोपण और ३. दृष्टिप्रसादन।

—लेखनं तत्र कषायाम्लपटूषणैः॥ १०॥

लेखन अंजन—यह कसैले, खट्टे, नमकीन तथा कटुरस-प्रधान द्रव्यों द्वारा बनाया जाता है॥ १०॥

रोपणं तिक्तकैर्द्रव्यैः—

रोपण अंजन—तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों द्वारा रोपण अंजन का निर्माण किया जाता है।

—स्वादुशीतैः प्रसादनम्। तीक्ष्णाञ्जनाभिसन्तप्ते नयने तत्प्रसादनम्॥ ११॥
प्रयुज्यमानं लभते प्रत्यञ्जनसमाह्वयम्।

प्रसादन अंजन—मधुररस-प्रधान तथा शीतवीर्य द्रव्यों से निर्मित अंजन को प्रसादन अंजन कहते हैं।

प्रत्यञ्जन—तीक्ष्ण (लेखन) अंजन का प्रयोग करने से सन्तप्त (जिसमें जलन हो रही हो) नेत्र में जलन की शान्ति के लिए चूर्ण रूप जिस अंजन का प्रयोग किया जाता है, उसे प्रत्यञ्जन कहते हैं॥ ११॥

वक्तव्य—'प्रसादन अंजन' को 'स्नेहन अंजन' भी कहा गया है। अंजन के अन्य तीन भेद इस प्रकार हैं— १. गुटिका, जैसे—चन्द्रोदयावर्ति आदि। २. रस, जैसे—नेत्रबिन्दु आदि और ३. चूर्ण, सुरमा आदि। प्रत्यञ्जन का प्रयोग स्वस्थ नेत्रों में प्रतिदिन किया जा सकता है। इसे देखें—अ.सं.सू. ३२।८।

दशाङ्गुला तनुर्मध्ये शलाका मुकुलानना॥ १२॥
प्रशस्ता, लेखने ताम्री, रोपणे काललोहजा। अङ्गुली च, सुवर्णोत्था रूप्यजा च प्रसादने॥ १३॥

अञ्जन-शलाका—इसकी लम्बाई १० अंगुल, मध्य भाग कुछ मोटाई युक्त तथा अगला भाग गोल होना चाहिए। लेखन अंजन लगाने के लिए ताँबा की, रोपण अंजन लगाने के लिए काललौह (इस्पाती लोह) की शलाका अथवा अंगुली और प्रसाद अंजन लगाने के लिए सोने की अथवा चाँदी की शलाका (सलाई) होनी चाहिए। शलाका के अभाव में सभी अंजन अंगुली से लगाये जा सकते हैं॥ १२-१३॥

वक्तव्य—बरेली के बाजार में अथवा सर्वत्र शृंगार-साधन की दूकानों में विभिन्न धातुओं की सलाई सहित सुरमादानियाँ मिलती हैं। प्रायः मटर या राजमाष की गोलाई के समान मोटी सलाई सुरमा लगाने के लिए उत्तम मानी जाती है। सलाई का चिकना होना अति आवश्यक होता है। सुरमादानी तथा सलाई सोना, चाँदी, पीतल, कांसा, जस्ता (यशद), शीशा तथा काँच की बनायी जाती हैं। सुरमा के साथ उक्त धातुओं का भी उपयोग नेत्रों को लाभ पहुँचाता है। इसके लिए धातुओं के गुण-धर्मों पर विचार करें।

पिण्डो रसक्रिया चूर्णस्त्रिधैवाञ्जनकल्पना। गुरौ मध्ये लघौ दोषे तां क्रमेण प्रयोजयेत्॥ १४॥

अञ्जनों की त्रिविध कल्पना—अंजनों के निर्माण तीन प्रकार से किये जाते हैं— १. पिण्ड (गोली या बत्ती के रूप में), २. रसक्रिया (मधु या काजल के रूप में) तथा ३. चूर्ण (नयनामृत, ममीरा का सुरमा आदि)। **इनके प्रयोग**—दोषों के बढ़ जाने पर पिण्ड अंजनों का, मध्यम दोष होने पर रसक्रिया का तथा लघु दोष में चूर्ण रूप में प्रयुक्त होने वाले अंजनों का प्रयोग करना चाहिए॥ १४॥

हरेणुमात्रा पिण्डस्य वेल्लमात्रा रसक्रिया। तीक्ष्णस्य, द्विगुणं तस्य मृदुनः—

अञ्जनों की मात्रा—तीक्ष्ण पिण्ड (वर्ति) रूप अंजन की मात्रा हरेणु (बड़े चने) के बराबर, रसक्रिया नामक अंजन की मात्रा वेल्ल (वायविडंग) के बराबर होती है। मृदु पिण्ड अंजन की मात्रा दो हरेणु के बराबर और मृदु रसक्रिया नामक अंजन की मात्रा दो वेल्ल के बराबर होती है।

—चूर्णितस्य च॥ १५॥

द्वे शलाके तु तीक्ष्णस्य, तिस्रस्तदितरस्य च।

तीक्ष्ण अञ्जनों की मात्रा—तीक्ष्ण चूर्ण अंजन की मात्रा दो सलाई में जितना चूर्ण (सुरमा या अंजन) उठ जाय उतनी मात्रा होती है तथा मृदु चूर्णाञ्जन की मात्रा तीन सलाईभर होती है॥ १५॥

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में इसका पाठभेद मिलता है, किन्तु अर्थ की दृष्टि से दोनों पाठ समान नहीं हैं।

निशि स्वप्ने न मध्याह्ने म्लाने नोष्णगभस्तिभिः ॥ १६ ॥

अक्षिरोगाय दोषाः स्युर्वर्धितोत्पीडितद्रुताः। प्रातः सायं च तच्छान्त्यै व्यभ्रेऽर्केऽतोऽञ्जयेत्सदा॥

अञ्जनप्रयोग-निर्देश—रात में, सोते समय, दोपहर में, सूर्य की तेज किरणों से आँखों के मलिन होने पर अंजन का प्रयोग न करें; क्योंकि उक्त अवसरों तथा स्थितियों में दोष बढ़े रहते हैं, उत्पीड़ित तथा पिघले हुए रहते हैं। अतः इन समयों में अंजन का प्रयोग करने से अंजन नेत्ररोगों को पैदा करने में कारण हो सकते हैं। अतएव नेत्ररोगों की शान्ति के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल, सायंकाल तथा जब आकाश में बादल छाये न हों तब अंजन-प्रयोग करना चाहिए॥ १६-१७॥

वदन्त्यन्ये तु न दिवा प्रयोज्यं तीक्ष्णमञ्जनम्। विरेकदुर्बलं चक्षुरादित्यं प्राप्य सीदति॥ १८॥

अन्य आचार्यों का मत—अंजन-प्रयोग के सन्दर्भ में आचार्यों का मतभेद—कुछ आचार्यों का कथन है कि तीक्ष्ण अंजन का प्रयोग दिन में करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि तीक्ष्ण अंजन को दिन में लगाने से आँखों से आँसुओं का अधिक स्राव हो जाने पर आँखें दुर्बल पड़ जाती हैं। इस स्थिति में वे सूर्य के प्रकाश को पाकर पीड़ित हो जाती हैं॥ १८॥

स्वप्नेन रात्रौ कालस्य सौम्यत्वेन च तर्पिता। शीतसात्म्या दृगाग्नेयी स्थिरतां लभते पुनः॥ १९॥

तीक्ष्णाञ्जन का रात्रि-प्रयोग—रात्रि में सोने से तथा काल के सोमगुणसम्पन्न होने से तृप्त हुई आग्नेय गुण-प्रधान होने पर भी शीतसात्म्य गुणवाली आँखें तीक्ष्ण अंजन द्वारा विरिक्त होने पर भी पुनः स्थिरता को प्राप्त कर लेती हैं॥ १९॥

अत्युद्रिक्ते बलासे तु लेखनीयेऽथवा गदे। काममह्न्यपि नात्युष्णे तीक्ष्णमक्ष्णि प्रयोजयेत्॥ २०॥

उष्णकाल में तीक्ष्णाञ्जन-निषेध—कफदोष की अधिक वृद्धि होने पर अथवा लेखनीय नेत्ररोग होने पर दिन में तीक्ष्ण अंजन का प्रयोग समशीतोष्ण ऋतुओं में भले ही कर लें, परन्तु अत्यन्त उष्णकाल में कभी भी दिन में तीक्ष्णांजन का प्रयोग न करें॥ २०॥

अश्मनो जन्म लोहस्य तत एव च तीक्ष्णता। उपघातोऽपि तेनैव तथा नेत्रस्य तेजसः॥ २१॥

लौह एवं नेत्र की समानता—जिस प्रकार लौहधातु की उत्पत्ति पत्थर से होती है, उस पत्थर से ही उस लौह में तीक्ष्णता भी आती है और वह लौहधातु पत्थर के उपघात (चोट) से टूट भी जाता है; ठीक यही स्थिति नेत्र की उत्पत्ति आदि की है। यथा—नेत्र की उत्पत्ति तेजस् तत्त्व से होती है, उसमें जो तेजोमयता अर्थात् तीक्ष्णता होती है, वह भी तेजस् तत्त्व से ही होती है और वह नेत्र का उपघात (विनाश) भी तेजस् तत्त्व से ही होता है॥ २१॥

वक्तव्य—नेत्र का यह आलंकारिक परिचय हमें यह समझा रहा है कि तेजोगुण-प्रधान नेत्र में कभी भी दिन में उसमें भी उष्णकाल में तीक्ष्णाञ्जन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी से मिलता-जुलता एक उदाहरण ज्योतिषशास्त्र में है—'त्रिज्येष्ठं नैव युक्तं कदापि'। अर्थात् वर-वधू अपने-अपने घर में सबमें बड़े हों तो उनका विवाह ज्येष्ठ में न करें। यहाँ भी 'तेजसः' से सम्बन्ध है, अस्तु।

न रात्रावपि शीतेऽति नेत्रे तीक्ष्णाञ्जनं हितम्। दोषमस्रावयेत्स्तब्धं कण्डूजाड्यादिकारि तत्॥

तीक्ष्ण अञ्जन का निषेध—अधिक शीतकाल में रात के समय में भी तीक्ष्ण अंजन हितकारक नहीं होता, क्योंकि शीतकाल में कालप्रभाव से जमे हुए दोष को वह अंजन निकाल तो पाता नहीं, इसके विपरीत वह नेत्र में स्तब्धता, खुजली तथा जड़ता आदि विकारों को पैदा कर देता है॥ २२॥

नाञ्जयेद्भीतवमितविरिक्ताशितवेगिते । क्रुद्धज्वरिततान्ताक्षिशिरोरुक्शोकजागरे॥ २३॥
अदृष्टेऽर्के शिरःस्नाते पीतयोर्धूममद्ययोः। अजीर्णेऽग्न्यर्कसन्तप्ते दिवासुप्ते पिपासिते॥ २४॥

अञ्जन के अयोग्य व्यक्ति—भयभीत पुरुष, जिसने अभी वमन किया हो, जिसने अभी विरेचन किया हो, जिसने तत्काल भोजन किया हो, मल-मूत्र आदि के वेग के समय, क्रोध की स्थिति में, ज्वर होने पर, तान्त (सूक्ष्मदर्शन, तेजोमय पदार्थों को देखने के बाद अथवा अभिघात) होने पर, नेत्ररोग में, शिरोरोग में, शोक की स्थिति में, अधिक जागरण होने पर, सूर्य के ढके होने पर, शिरःस्नान करने के बाद, धूमपान तथा मद्यपान करने पर, अजीर्ण की स्थिति में, आग या सूर्य से आँखों के सन्तप्त होने पर, दिन में सोने के बाद तथा प्यास लगी हो उस समय भी अंजन का प्रयोग नहीं करना चाहिए॥ २३-२४॥

वक्तव्य—उक्त व्यक्तियों को अंजन का प्रयोग क्यों नहीं करना चाहिए, यदि कर दिया जाता है तो उसका क्या प्रतिफल होता है, इसका विवेचन सु.उ. १८।६८ से ७४ तक दिया गया है, देखें।

अतितीक्ष्णमृदुस्तोकबह्वच्छघनकर्कशम् । अत्यर्थशीतलं तप्तमञ्जनं नावचारयेत्॥ २५॥

निषिद्ध अंजन का वर्णन—अतितीक्ष्ण, अत्यन्त मृदु, बहुत कम, बहुत अधिक, अत्यन्त द्रव, बहुत गाढ़ा, कर्कश (खुरदरा), अत्यन्त शीतल तथा अत्यन्त तपा हुआ (गरम) इस प्रकार के अंजन प्रयोग करने योग्य नहीं होते, अतएव इन्हें निषिद्ध कहा गया है॥ २५॥

अथानुन्मीलयन् दृष्टिमन्तः सञ्चारयेच्छनैः। अञ्जिते वर्त्मनी किञ्चिच्चालयेच्चैवमञ्जनम्॥ २६॥
तीक्ष्णं व्याप्नोति सहसा, न चोन्मेषनिमेषणम्। निष्पीडनं च वर्त्मभ्यां क्षालनं वा समाचरेत्॥

अंजन-प्रयोगविधि—अंजन लगाने के बाद पलकों को बिना खोले हुए नेत्रगोलक को धीरे-धीरे भीतर-ही-भीतर नीचे, ऊपर, दाहिने तथा बायें घुमाता रहे और थोड़ा-थोड़ा पलकों को भी कुछ-कुछ टपटपाता रहे। इस प्रकार करने से आँख में लगाया हुआ अंजन आँख के चारों ओर फैल जाता है। विशेष करके यह विधि तीक्ष्ण अंजन के प्रयोग की है। अंजन लगाने के तत्काल बाद सहसा उन्मेष (पलक को उठाना) तथा निमेष (पलक को गिराना) क्रिया नहीं करनी चाहिए। आँख की पलकों द्वारा अक्षिगोलक को दबाना अथवा आँख को धोना नहीं चाहिए॥ २६-२७॥

वक्तव्य—अंजन लगाने की सुश्रुतसम्मत विधि को देखें—सु.उ. १८।६४-६५।

अपेतौषधसंरम्भं निर्वृतं नयनं यदा। व्याधिदोषर्तुयोग्याभिरद्भिः प्रक्षालयेत्तदा॥ २८॥

नेत्र-प्रक्षालनविधि—अंजन लगाने के बाद जब औषध का लगना एवं गड़ना बन्द हो जाय तब रोग, दोष, ऋतु (काल) के अनुकूल अर्थात् शीतकाल में गुनगुने जल से तथा गर्मी में शीतल जल से नेत्र को धो देना चाहिए॥ २८॥

दक्षिणाङ्गुष्ठकेनाक्षि ततो वामं सवाससा। ऊर्ध्ववर्त्मनि सङ्गृह्य शोध्यं वामेन चेतरत्॥ २९॥

नेत्र-शोधनविधि—उसके बाद दाहिने अँगूठा पर कोमल एवं साफ वस्त्र लपेट कर उससे बायें नेत्र के ऊपर के पलक को पकड़ कर उसे साफ कर देना चाहिए और वस्त्र लपेटे हुए बायें अँगूठा से उसके दाहिने नेत्र के ऊपर के पलक को पकड़ कर दाहिने नेत्र को साफ कर देना चाहिए॥ २९॥

वर्त्मप्राप्तोऽञ्जनाद्दोषो रोगान् कुर्यादतोऽन्यथा।

नेत्र-शोधन में हेतु—अंजन का प्रयोग करने के पश्चात् उक्त विधि से प्रक्षालन (धोना) तथा शोधन न करने से पलकों के भीतर बचे हुए अंजन से कुपित हुए दोष रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—इसका स्पष्टीकरण देखें—'अति विरेकात्''''दौर्बल्यानि'। (अ.सं.सू. ३२।१९)

कण्डूजाड्येऽञ्जनं तीक्ष्णं धूमं वा योजयेत् पुनः॥ ३०॥

तीक्ष्णाञ्जन या धूमपान—यदि नेत्रमण्डल में खुजली अथवा जड़ता का अनुभव हो रहा हो तो तीक्ष्ण अंजन का अथवा तीक्ष्ण धूमपान का प्रयोग कराना चाहिए॥ ३०॥

तीक्ष्णाञ्जनाभितप्ते तु चूर्णं प्रत्यञ्जनं हिमम्॥ ३१॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां प्रथमे सूत्रस्थान आश्चोतनाञ्जनविधिर्नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

प्रत्यञ्जन का वर्णन—तीक्ष्ण अञ्जन का प्रयोग करने पर यदि आँख में जलन प्रतीत हो रही हो तो चूर्ण (सुरमा) का प्रत्यञ्जन करना चाहिए॥ ३१॥

वक्तव्य—प्रतिदिन आँख में जो सुरमा लगाया जाता है, इसी को प्रत्यञ्जन कहते हैं। देखें—अ.हृ.सू. २।५। नेत्र से खूब आँसू गिरे इसके लिए रसाञ्जन का प्रयोग एक-एक सप्ताह में करना चाहिए। सुश्रुत में भी देखें—सु.उ. १८।६८।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में आश्चोतनाञ्जनविधि नामक तेईसवाँ अध्याय समाप्त॥ २३॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

अथातस्तर्पणपुटपाकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से तर्पण एवं पुटपाक विधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—तेईसवें अध्याय में नेत्ररोगों की शान्ति के लिए जिन आश्च्योतन तथा अञ्जन विधियों का वर्णन किया था, उनसे प्रायः नेत्रों में दुर्बलता आ जाती है। अतएव उसके बाद इस अध्याय में नेत्रतर्पण आदि विधियों का वर्णन किया जा रहा है। तर्पण का अर्थ है—नेत्रों को द्रव औषधों के सेचन से तृप्त करना। इस कार्य में पुटपाक-विधि उपकारक होती है। गीले या सूखे औषध-द्रव्यों से विधिभेद से स्वरस निकाला जाता है और केवल सूखे द्रव्यों का पुटपाक-विधि से स्वरस निकाला जाता है। इसका ज्ञान महाकवि भवभूति को भी था। देखें—**'पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः'**। इन दोनों विधियों से प्राप्त रस का सेचन आँखों में किया जाता है और इससे नेत्र तृप्त होते हैं।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—सु.उ. १८ तथा अ.सं.सू. ३३ में देखें। चरक ने इस शालाक्यतन्त्र को पराधिकार समझकर इसका वर्णन अपनी संहिता में नहीं किया है।

नयने ताम्यति स्तब्धे शुष्के रूक्षेऽभिघातिते। वातपित्तातुरे जिह्मे शीर्णपक्ष्माविलेक्षणे॥ १॥
कृच्छ्रोन्मीलशिराहर्षशिरोत्पाततमोऽर्जुनैः। स्यन्दमन्थान्यतोवातवातपर्यायशुक्रकैः॥ २॥
आतुरे शान्तरागाश्रुशूलसंरम्भदूषिके। निवाते तर्पणं योज्यं शुद्धयोर्मूर्द्धकाययोः॥ ३॥
काले साधारणे प्रातः सायं वोत्तानशायिनः।

तर्पणविधि-वर्णन—जब आँखों के सामने अन्धेरा प्रतीत हो, जब आँखें स्तब्ध हों, सूखी हों, रूखी हों, उन पर किसी प्रकार का आघात लगा हो, नेत्र पर वात या पित्त दोष की विकृति हो, नेत्रगोलक टेढ़े हो गये हों (जिसे ऐंचा-ताना कहते हैं), पक्ष्म (बरौनियों) के बाल उखड़ गये हों, दृष्टि मलिन हो गयी हो, नेत्रों को खोलने में कष्ट होता हो; जब नेत्र सिराहर्ष, सिरोत्पात, तिमिररोग, अर्जुनरोग, अभिष्यन्द, अधिमन्थ, अन्यतोवात, वातपर्यय अथवा शुक्ररोग से पीड़ित हों तब तर्पण का प्रयोग करना चाहिए। जब आँखों की लालिमा, आँसू बहना, शूल, संरम्भ (शोथ) तथा दूषिका (नेत्रमल) ये शान्त हो जायें तब तर्पण का प्रयोग करना चाहिए। नस्य से सिर का तथा वमन-विरेचन आदि द्वारा शरीर का शोधन कराकर निवातस्थान में, समशीतोष्ण काल में प्रातःकाल अथवा सायंकाल में रोगी को चित लिटाकर तर्पण का प्रयोग कराना चाहिए॥ १-३॥

यवमाषमयीं पालीं नेत्रकोशाद्बहिः समाम्॥ ४॥
द्व्यङ्गुलोच्चां दृढां कृत्वा यथास्वं सिद्धमावपेत्। सर्पिर्निमीलिते नेत्रे तप्ताम्बुप्रविलायितम्॥ ५॥
नक्तान्ध्यवाततिमिरकृच्छ्रबोधादिके वसाम्। आपक्ष्माग्रात्—

तर्पण की दूसरी विधि—इस विधि में भी रोगी को चित लिटाकर उसके नेत्रकोश से बाहर जौ या उड़द के आटे के समान आकार की एक पाली बनवाये, जो दो अंगुल ऊँची हो और दृढ़ हो, जो तर्पण

द्रव डालने पर टूट न जाय। उसमें दोष तथा रोग के अनुसार सिद्ध किये हुए स्नेह को भर दें। इस सिद्ध स्नेह को भरते समय नेत्रों को बन्द कर लें। यदि स्नेह में घृत है तो उसे गरम पानी में पात्र सहित रखकर पिघला लें। यदि रतौंधी, वातदोष-प्रधान तिमिररोग हो तथा कठिनायी से नींद खुलती हो तो इन रोगों में वसा का प्रयोग करना चाहिए। यह वसा उस पाली में उतनी भरनी चाहिए, जिससे बरौनी के बाल उसमें डूब जायें॥ ४-५॥

—अथोन्मेषं शनकैस्तस्य कुर्वतः ॥ ६॥

मात्रा विगणयेत्तत्र वर्त्मसन्धिसितासिते। दृष्टौ च क्रमशो व्याधौ शतं त्रीणि च पञ्च च॥ ७॥

शतानि सप्त चाष्टौ च, दश मन्थे, दशानिले। पित्ते षट्, स्वस्थवृत्ते च बलासे पञ्च धारयेत्॥ ८॥

स्नेह-धारणकाल—स्नेह के भर जाने के बाद वह रोगी धीरे-धीरे आँख या आँखों को खोलने का प्रयत्न करे। तदनन्तर चिकित्सक रोगी के समीप बैठकर मात्रा की गणना इस प्रकार करे—वर्त्मगत रोग में १००, सन्धिगत रोगों में ३००, सफेदमण्डल के रोगों में ५००, कृष्णमण्डल के रोगों में ७००, दृष्टिमण्डल के रोगों में ८००, अधिमन्थरोग में १०००, वातज नेत्ररोगों (वातपर्यय आदि) में १०००, पित्तज नेत्ररोगों में ६००, स्वस्थवृत्त अर्थात् स्वस्थ पुरुष के प्रति प्रयोग किये जाने पर भी ६०० तथा कफज रोगों में ५०० मात्रा तक का समय स्नेह धारण करने के लिए पर्याप्त है॥ ६-८॥

वक्तव्य—जिस कालप्रमाण को महर्षि वाग्भट ने 'मात्रा' कहा है, उसे श्रीसुश्रुत ने (सु.उ. १८।८ में) 'वाक्' कहा है। ये शब्द प्राचीन काल में काल को नापने के लिए प्रयुक्त किये जाते थे। यहाँ मात्रा शब्द से लघुमात्रा उच्चारण के बराबर काल का ही ग्रहण करना चाहिए। १०० मात्रा के उच्चारण में प्रायः ३ मिनट लग जाते हैं, यही स्थिति वाक् की भी है।

कृत्वाऽपाङ्गे ततो द्वारं स्नेहं पात्रे निगालयेत्। पिबेच्च धूमं, नेक्षेत व्योम रूपं च भास्वरम्॥ ९॥

तर्पण का पश्चात् कर्म—अपांग (आँख का बाहरी कोर) की ओर द्वार करके अर्थात् उस ओर सिर सहित आँख को झुकाकर नेत्र-तर्पण के लिये डाले गये स्नेह को किसी पात्र में निकाल लें (सुश्रुत के अनुसार—'स्विन्नेन यवपिष्टेन शोधयेत्' (सु.उ. १८।१०) अर्थात् जौ के सने हुए आटा को उबाल कर उससे नेत्र के अवयवों का उबटन करके उसे शुद्ध करें।), तदनन्तर उसे धूमपान करायें। यह व्यक्ति आकाश की ओर अर्थात् दूरी में स्थित वस्तुओं को देखने का प्रयत्न न करे और सूर्य आदि चमकीली वस्तुओं को न देखें॥ ९॥

इत्थं प्रतिदिनं वायौ, पित्ते त्वेकान्तरं, कफे। स्वस्थे च द्व्यन्तरं दद्यादातृप्तेरिति योजयेत्॥ १०॥

दोषानुसार तर्पण—इस प्रकार वातदोष में प्रतिदिन, पित्तदोष में एक दिन छोड़कर अर्थात् प्रति तीसरे दिन और कफदोष में तथा स्वस्थ पुरुष के नेत्रों में दो-दो दिन का अन्तर देकर तर्पण का प्रयोग तब तक करता रहे जब तक सम्यक् तर्पण के लक्षण उत्पन्न न हो जायें॥ १०॥

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने कुछ अधिक स्पष्ट निर्देश दिये हैं—नेत्रतर्पण के लिए जो आधार (चहार-दिवारी) बनाया था उसे हटाकर कल्क से आँख के अवयवों को पोंछ कर उसे धूमपान करायें और गुनगुने जल से उसका मुख धुलवा कर रोगानुसार उसे समुचित भोजन करायें। देखें—अ.सं.सू. ३३।५।

प्रकाशक्षमता स्वास्थ्यं विशदं लघु लोचनम्। तृप्ते, विपर्ययोऽतृप्तेऽतितृप्ते श्लेष्मजा रुजः॥

तर्पण का समयोग—इसमें रोगी के नेत्रों में प्रकाश की ओर देखने की शक्ति हो जाती है, नेत्र की स्वस्थता का अनुभव, नेत्र में स्वच्छता तथा आँखों में हलकापन प्रतीत होता है। **तर्पण का हीनयोग**—इसमें

समयोग के लक्षणों के विपरीत लक्षण होते हैं। **तर्पण का अतियोग**—इसमें कफज रोगों की उत्पत्ति हो जाती है॥ ११॥

वक्तव्य—तर्पण के हीनयोग में तब तक तर्पण कराना चाहिए जब तक समयोग के लक्षण दृष्टिगोचर न हों और तर्पण के अतियोग में कफनाशक विधियों (नस्य, धूमपान, अञ्जन, सेक, गण्डूष, कवल आदि) का प्रयोग कराना चाहिए। कफनाशक विधियों का वर्णन यहाँ भी किया गया है तथा सुश्रुत में भी। देखें—सु.उ. १८।१६।

स्नेहपीता तनुरिव क्लान्ता दृष्टिर्हि सीदति। तर्पणानन्तरं तस्माद्दृग्बलाधानकारिणम्॥ १२॥
पुटपाकं प्रयुञ्जीत पूर्वोक्तेष्वेव यक्ष्मसु।

पुटपाक का वर्णन—जिस प्रकार स्नेहपान कर लेने पर शरीर ढीला पड़ जाता है, वैसे ही स्नेह द्वारा तर्पण करने पर दृष्टि भी ढीली पड़ जाती है। अतएव तर्पण-प्रयोग के बाद दृष्टि को बलवती बनाने के लिए पुटपाक-विधि से निकाले गये रसों का यथोचित प्रयोग करना चाहिए। इसका प्रयोग पहले श्लोक २-३ में कहे गये वातज एवं कफज रोगों में करना चाहिए॥ १२॥

स वाते स्नेहनः, श्लेष्मसहिते लेखनो हितः॥ १३॥
दृग्दौर्बल्येऽनिले पित्ते रक्ते स्वस्थे प्रसादनः।

दोषानुसार पुटपाक-प्रयोग—पुटपाक तीन प्रकार के होते हैं— १. स्नेहन, २. लेखन तथा ३. प्रसादन। इनका उपयोग—स्नेहन पुटपाक का प्रयोग वातज नेत्ररोगों में, लेखन पुटपाक का प्रयोग कफयुक्त वातज नेत्ररोगों में तथा प्रसादन पुटपाक का प्रयोग दृष्टि की दुर्बलता में, वातज, पित्तज तथा रक्तप्रकोपज नेत्र-रोगों में और स्वस्थ नेत्रों में इनको सदा स्वस्थ रखने की दृष्टि से किया जाता है॥ १३॥

भूशयप्रसहानूपमेदोमज्जवसामिषैः ॥ १४॥
स्नेहनं पयसा पिष्टैर्जीवनीयैश्च कल्पयेत्।

स्नेहन पुटपाक के द्रव्य—भूशय (लोमड़ी आदि प्राणी), प्रसह (अ.हृ.सू. ६।४८ इसमें प्रसहवर्ग के प्राणियों की गणना की गयी है) तथा अनूप ('बहूदकनगोऽनूपः'—शा.सं.पू.खं. १।६४) देश में रहने वाले मृग एवं पक्षियों की मेदा, मज्जा, मांस तथा जीवनीय गण के द्रव्यों को दूध में पीसकर स्नेहन पुटपाक बनाना चाहिए॥ १४॥

मृगपक्षियकृन्मांसमुक्तायस्ताम्रसैन्धवैः ॥ १५॥
स्रोतोजशङ्खफेनालैर्लेखनं मस्तुकल्कितैः।

लेखन पुटपाक के द्रव्य—जांगलदेशीय मृग एवं पक्षियों के यकृत्, मांस, मोती, लौहभस्म, ताम्रभस्म, सेंधानमक, काला तथा सफेद सुरमा, शंख, समुद्रफेन और हरिताल—इन द्रव्यों को मस्तु (दही के पानी) में पीसकर लेखन पुटपाक बनाना चाहिए॥ १५॥

मृगपक्षियकृन्मज्जवसान्त्रहृदयामिषैः ॥ १६॥
मधुरैः सघृतैः स्तन्यक्षीरपिष्टैः प्रसादनम्।

प्रसादन पुटपाक के द्रव्य—साधारणदेशीय मृग एवं पक्षियों के यकृत्, मज्जा, वसा, अन्त्र (आँत), हृदय, मांस तथा मधुरवर्ग में परिगणित द्रव्य एवं घी—इन सबको स्त्री के दूध में पीसकर प्रसादन पुटपाक बनाना चाहिए॥ १६॥

बिल्वमात्रं पृथक् पिण्डं मांसभेषजकल्कयोः ॥ १७ ॥
उरुबूकवटाम्भोजपत्रैः स्नेहादिषु क्रमात्। वेष्टयित्वा मृदा लिप्तं धवधन्वनगोमयैः ॥ १८ ॥
पचेत्प्रदीप्तैरग्न्याभं पक्वं निष्पीड्य तद्रसम्। नेत्रे तर्पणवद्युञ्ज्यात्—

पुटपाक-रचनाविधि—ऊपर तीन प्रकार के पुटपाकों के निमित्त कहे गये मांस आदि द्रव्यों तथा औषधद्रव्यों का बिल्वभर (१-१ पल = ४ तोला) कल्क (चटनी) लेकर गोला जैसा बनायें। फिर क्रमशः स्नेहन पुटपाक के लिए एरण्ड के पत्तों से, लेखन पुटपाक के लिए बरगद के पत्तों से तथा प्रसादन पुटपाक के लिए कमल के पत्तों से लपेट कर उन सबके ऊपर दो अंगुल मोटा मिट्टी का लेप करके उसी क्रम से स्नेहन को धव की लकड़ियों में, लेखन को धामिन की लकड़ियों में तथा प्रसादन को उपलों (गोहरी) की आग में पकायें। जब मिट्टी ऊपर से लाल हो जाय तो पका हुआ समझें। शीतल हो जाने पर मिट्टी को धीरे से हटाकर उसका रस निचोड़ कर तर्पण-विधि की भाँति इस रस का भी प्रयोग करना चाहिए ॥ १७-१८ ॥

—शतं द्वे त्रीणि धारयेत् ॥ १९ ॥
लेखनस्नेहनान्त्येषु—

धारणकाल-अवधि—पुटपाक से प्राप्त रस को नेत्रों में डालने के बाद लेखन पुटपाक के रस को १०० मात्रा तक रखें। स्नेहन पुटपाक के रस को २०० मात्रा तक रखें और अन्तिम प्रसादन पुटपाक के रस को ३०० मात्रा तक रखें ॥ १९ ॥

—कोष्णौ पूर्वौ, हिमोऽपरः।

उष्ण-शीतप्रयोग भेद—इन पुटपाक के रसों में पहले के दो (स्नेहन तथा लेखन) पुटपाकों का रस गुनगुना करके प्रयोग करना चाहिए और बाद वाला अर्थात् प्रसादन पुटपाक का रस शीतल ही प्रयोग करना चाहिए।

धूमपोऽन्ते तयोरेव—

पश्चात् कर्म—स्नेहन तथा लेखन पुटपाक से निकले हुए रसों के प्रयोग करने के बाद रोगी को धूमपान कराना चाहिए। इससे स्नेह द्वारा उभड़े हुए कफ की शान्ति हो जाती है। 'एव' शब्द प्रसादन पुटपाक के अन्त में धूमपान-सेवन का निषेध करता है।

—योगास्तत्र च तृप्तिवत् ॥ २० ॥

योगों का निर्देश—इस पुटपाक के प्रयोग में योग (समयोग, हीनयोग तथा अतियोग) तर्पण के समान ही होते हैं (देखें—अ.हृ.सू. २४।११) ॥ २० ॥

तर्पणं पुटपाकं च नस्यानर्हे न योजयेत्।

तर्पण एवं पुटपाक का निषेध—जिनको अ.हृ.सू. २०।११-१३ में नस्य-सेवन के अयोग्य कहा गया है, उन्हें तर्पण एवं पुटपाक का प्रयोग भी नहीं कराना चाहिए।

यावन्त्यहानि युञ्जीत द्विस्ततो हितभाग्भवेत् ॥ २१ ॥
मालतीमल्लिकापुष्पैर्बद्धाक्षो निवसेन्निशाम्।

तर्पण एवं पुटपाक की अवधि—जितने दिनों तक तर्पण अथवा पुटपाक का प्रयोग कराया गया हो उससे दुगुने दिनों तक पथ्य का सेवन कराना चाहिए और इन दिनों रात्रि में मालती (चमेली) तथा मल्लिका के फूलों को आँखों पर बाँधकर सोना चाहिए ॥ २१ ॥

वक्तव्य—तर्पण तथा पुटपाक के अनुचित प्रयोग से जो रोग पैदा हो जाता है, उसकी चिकित्सा अंजन, आश्चोतन तथा स्वेदन आदि द्वारा तत्काल करें। देखें—सु.उ. १८।३०।

सर्वात्मना नेत्रबलाय यत्नं कुर्वीत नस्याञ्जनतर्पणाद्यैः ॥ २२ ॥
दृष्टिश्च नष्टा विविधं जगच्च तमोमयं जायत एकरूपम् ॥ २३ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां प्रथमे सूत्रस्थाने तर्पणपुटपाकविधिर्नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

नेत्ररक्षा की आवश्यकता—नेत्ररक्षा के उपाय—नस्य, अंजन, तर्पण आदि (इस अध्याय में कहे गये) उपचारों द्वारा सभी प्रकार से नेत्रों की शक्ति को बलवान् बनाये रखने के लिए सर्वदा प्रयत्न करते रहना चाहिए। यदि किसी प्रकार की असावधानी से नेत्रों में विकार उत्पन्न हो जाता है और उससे नेत्र की दर्शनशक्ति नष्ट हो जाती है तो यह विश्व रूप संसार उस नेत्रहीन के लिए अन्धकारमय एकरूप का होकर रह जाता है ॥ २२-२३ ॥

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में तर्पणपुटपाकविधि नामक चौबीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्याय:

अथातो यन्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से यन्त्रविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वक्तव्य—प्रस्तुत अध्याय से पहले अध्यायों में बस्ति, नस्य, अञ्जन, क्षार आदि के प्रयोग भी यन्त्रों की अपेक्षा रखते हैं, अतः उनका वर्णन करने के बाद अब यहाँ यन्त्रविधि नामक अध्याय का वर्णन किया जा रहा है। इस २५वें अध्याय में ४८ यन्त्रों का वर्णन किया गया है, इनका प्रयोग विविध प्रकार के रोगों की चिकित्साओं के लिए किया जाता है। वृद्धवाग्भट ने अ.सं.सू. ३४।३ में ये यन्त्र असंख्य होते हैं, इस प्रकार **'अतः कर्मवशात् तेषामियत्ताऽवधारणमशक्यम्'** कहा है। वृद्धवाग्भट ने एक ही अध्याय में यन्त्र तथा शस्त्रों का वर्णन किया है, जिसे अष्टाङ्गहृदय में २५वें तथा २६वें अध्यायों में अलग कहा है। यन्त्र उन उपकरणों को कहते हैं, जिनसे चुभा हुआ काँटा, उखाड़ने योग्य दाँत, निकालने योग्य मृतगर्भ आदि को पकड़ कर निकाला जाता है। इनके अतिरिक्त गुद, भग, मुख आदि को चौड़ा करके भीतर देखने, औषध प्रयोग करने आदि का कार्य भी लिया जाता है, जिनका वर्णन आगे यथास्थान किया जायेगा। सुश्रुत ने 'मन तथा शरीर को पीड़ित करने वाले शल्य होते हैं, इनको निकालने के उपाय यन्त्र होते हैं', ऐसा कहा है। देखें—सु.सू. ७।४।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—सु. सू. ७ तथा अ. सं. सू. ३४ में देखें।

विशेष—चरक ने यन्त्र तथा शस्त्रों का वर्णन यह कहकर कि 'तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ'। (च.चि. ५।४४) अर्थात् चरककायचिकित्सा-प्रधान संहिता है और यन्त्र-शस्त्र के प्रयोग में धन्वन्तरि के अनुयायी चिकित्सकों का अधिकार है। फिर भी च.चि. २५।५५ से ६० तक छः प्रकार के शस्त्रकर्मों का वर्णन करते हुए कहा है—**'इति षड्विधमुद्दिष्टं शस्त्रकर्म मनीषिभिः'**। यहाँ यह मनीषि शब्द सुश्रुत आदि शल्यशास्त्रज्ञों की ओर संकेत करता है।

नानाविधानां शल्यानां नानादेशप्रबाधिनाम्। आहर्तुमभ्युपायो यस्तद्यन्त्रं यच्च दर्शने॥ १॥
अर्शोभगन्दरादीनां शस्त्रक्षाराग्नियोजने। शेषाङ्गपरिरक्षायां तथा बस्त्यादिकर्मणि॥ २॥
घटिकालाबुशृङ्गं च जाम्बवौष्ठादिकानि च।

यन्त्रों का वर्णन—शरीर के विभिन्न देशों (अवयवों) में गढ़े हुए या चुभे हुए शल्यों, जो कष्ट पहुँचा रहे हों, को निकालने का जो उपाय है, उसे यन्त्र कहते हैं और जो अर्श, भगन्दर आदि को देखने में सहायक होते हैं उन्हें भी यन्त्र कहते हैं। शस्त्र, क्षार तथा अग्निकर्म का प्रयोग करते समय शेष अंगों की सुरक्षा के लिए भी इन यन्त्रों की आवश्यकता पड़ती है। बस्ति (गुदबस्ति, उत्तरबस्ति) आदि कर्मों में भी इनका प्रयोग होता है। ये यन्त्र घटिका (घड़ा, लोटा), अलाबु (तुम्बी), शृंगी (सिंगी) इनका प्रयोग वातदोष तथा दूषित रक्त को चूसकर निकालने में होता है। जाम्बवौष्ठ यन्त्र का प्रयोग क्षार लगाने में और काँटा आदि निकालने में सदंश (चिमटी) आदि का प्रयोग होता है॥ १-२॥

अनेकरूपकार्याणि यन्त्राणि विविधान्यतः॥ ३॥
विकल्प्य कल्पयेद्बुद्ध्या—

यन्त्रों की विविधता—उक्त यन्त्रों के विविध आकार-प्रकार तथा अनेक कार्य होते हैं अर्थात् योग्य चिकित्सक इनसे अनेक कार्य ले सकते हैं। अतः अपनी विवेकबुद्धि से विचार करके इनका प्रयोग किया जा सकता है॥ ३॥

—यथास्थूलं तु वक्ष्यते।

सामान्य वर्णन—सामान्य दृष्टि से उक्त यन्त्रों का वर्णन आगे किया जायेगा।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने १०१ यन्त्रों का होना स्वीकार कर उनका विभाजन इस प्रकार ६ भागों में किया है। यथा—(क) स्वस्तिकयन्त्र २४, (ख) सन्दंशयन्त्र २, (ग) तालयन्त्र २, (घ) नाड़ीयन्त्र २०, (ङ) शलाकायन्त्र २८ तथा (च) उपयन्त्र २५; योग—१०१। देखें—सु.सू. ७।६। वाग्भट ने सुश्रुतोक्त उपयन्त्र को अनुयन्त्र संज्ञा दी है। देखें—अ.हृ.सू. २५।३९-४०। ये सभी यन्त्र लौहधातु से अथवा लौह जैसे दृढ़ पदार्थ से बनाये जाते हैं। देखें—सु.सू. ७।७। लौह शब्द से सभी धातुओं का ग्रहण किया जाता है। देखें—'सर्वं स्यात्तैजसं लोहम्'। (अमरकोष २।९।९९)

तुल्यानि कङ्कसिंहर्क्षकाकादिमृगपक्षिणाम्॥ ४॥
मुखैर्मुखानि यन्त्राणां कुर्यात्तत्संज्ञकानि च। अष्टादशाङ्गुलायामान्यायसानि च भूरिशः॥ ५॥
मसूराकारपर्यन्तैः कण्ठे बद्धानि कीलकैः। विद्यात्स्वस्तिकयन्त्राणि मूलेऽङ्कुशनतानि च॥ ६॥
तैर्दृढैरस्थिसंलग्नशल्याहरणमिष्यते।

स्वस्तिकयन्त्र-परिचय—स्वस्तिकयन्त्रों के मुख (अग्रभाग) कंकपक्षी, सिंह, ऋक्ष (भालू), कौआ आदि मृग, पक्षियों के मुखों की आकृति वाले होते हैं, अतएव इन यन्त्रों के नाम भी उन्हीं प्राणियों के नामों के अनुसार रखे गये हैं। यथा—कंकमुख, सिंहमुख आदि। अधिकांश इन यन्त्रों की लम्बाई १८ अंगुल होनी चाहिए और इनका निर्माण लोहा धातु से होना चाहिए। इनके कण्ठ (मुख के निचले भाग) में मसूर की आकृति वाली कीलों से बँधे हों और इनका अन्तिम भाग (छोर) अंकुश की भाँति मुड़ा होना चाहिए। क्योंकि इसे पकड़े रहने से हाथ फिसलता नहीं। ये यन्त्र दृढ़ बने हों। इनसे अस्थियों में चुभे हुए शल्यों का आहरण करना चाहिए॥ ४-६॥

कीलबद्धविमुक्ताग्रौ सन्दंशौ षोडशाङ्गुलौ॥ ७॥
त्वक्शिरास्नायुपिशितलग्नशल्यापकर्षणौ।

सन्दंशयन्त्र-परिचय—सन्दंशयन्त्र दो प्रकार के होते हैं—१. कीलबद्ध (पेंच या कील से जुड़े हुए, जैसे—सँडसी), जिन्हें अन्यत्र सनिग्रह अथवा सनिबन्धन भी कहते हैं तथा २. विमुक्ताग्र (जैसे—चिमटा या चिमटी), जिन्हें अन्यत्र अनिग्रह या अनिबन्धन भी कहा जाता है। इन दोनों की लम्बाई सोलह अंगुल होती है। इनका उपयोग त्वचा, सिरा (धमनी), स्नायु तथा मांस में धँसे, गढ़े शल्य (काँटा) आदि को निकालने में किया जाता है॥ ७॥

षडङ्गुलोऽन्यो हरणे सूक्ष्मशल्योपपक्ष्मणाम्॥ ८॥

सन्दंशयन्त्र का भेद—ऊपर जो दो सोलह अंगुल वाले सन्दंशयन्त्र कहे हैं, उनसे अतिरिक्त इसका एक भेद और होता है, जिसकी लम्बाई छः अंगुल होती है। इसका उपयोग सूक्ष्म शल्य तथा उपपक्ष्म अर्थात् परबालों को निकालने में किया जाता है॥ ८॥

मुचुण्डी सूक्ष्मदन्तर्जुर्मूले रुचकभूषणा। गम्भीरव्रणमांसानामर्मणः शेषितस्य च॥ ९॥

मुचुण्डी यन्त्र का वर्णन—उक्त षडंगुल सन्दंश यन्त्र का नाम 'मुचुण्डी' है। इसके मुख के भीतरी भाग में छोटे-छोटे दाँत जैसे होते हैं, यह सीधी होती है। इसके अन्तिम छोर में रुचक (अँगूठी) का

आभूषण पहनाया जाता है। इसका कोई उपयोग न होने के कारण ही इसे भूषण कहा गया है। इसका उपयोग गहरे व्रणों (घावों) के मांसों तथा शेष बचे हुए अर्म नामक नेत्ररोग-विशेष का आहरण के लिए किया जाता है॥ ९॥

द्वे द्वादशाङ्गुले मत्स्यतालवत् द्व्येकतालके। नालयन्त्रे स्मृते कर्णनाडीशल्यापहारिणी॥ १०॥

तालयन्त्र-परिचय—तालयन्त्र दो होते हैं— १. एकतालक तथा २. द्वितालक। इनके ताल मछली के गले के ताल के सदृश होते हैं। इनकी दोनों लम्बाई १२-१२ अंगुल होती है। इनका उपयोग कान, नासिका तथा नाड़ीव्रण के भीतर का शल्य (पूय = मवाद तथा गर्भ को भी शल्य कहा गया है) को निकालने में होता है॥ १०॥

नाड़ीयन्त्राणि सुषिराण्येकानेकमुखानि च। स्रोतोगतानां शल्यानामामयानां च दर्शने॥ ११॥
क्रियाणां सुकरत्वाय कुर्यादाचूषणाय च। तद्विस्तारपरीणाहदैर्घ्यं स्रोतोऽनुरोधतः॥ १२॥

नाडीयन्त्र-परिचय—नाडीयन्त्र सुषिर (खोखले) होते हैं। बाहर की ओर उनमें अनेक छिद्र बनाये जाते हैं। इनका उपयोग गुद तथा भग (योनि तथा गर्भाशय) आदि स्रोतों में गये हुए शल्यों को एवं उनके भीतर पैदा हुए अर्श के मस्सों को देखने के लिए किया जाता है। उक्त स्थानों में क्षारकर्म, अग्निदाह आदि चिकित्सा करने में उक्त यन्त्रों से सुविधा होती है। इनका प्रयोग रक्त-आचूषण आदि के लिए भी होता है। (आचूषण क्रिया में प्रयुक्त नाडीयन्त्र अनेक छिद्रों वाला नहीं होता। आप ध्यान दें—छिद्रों के होने पर आचूषण क्रिया नहीं हो सकेगी।) स्रोतों के आकार-प्रकार का विचार कर तदनुसार उन यन्त्रों के विस्तार, परिणाह (मोटा या पतलापन) तथा दीर्घता (लम्बा-छोटापन) का निर्धारण कर लेना चाहिए॥ ११-१२॥

वक्तव्य—'क्रियाणां सुकरत्वाय' इस पद्यांश में महर्षि वाग्भट का 'सुकरत्वाय' यह प्रयोग वैदिक प्रकिया के अनुसार ही ठीक माना जा सकता है। जैस—**'क्त्वो यक्'** (७।१।४७) पाणिनि के इस सूत्र का उदाहरण है—**'दिवं सुपर्णो गत्वाय'**। (ऋग्वेद) और अव्ययान्त शब्दों से 'सु' का लोप होकर वह शब्द सदा एक ही रूप में बना रहता है, क्योंकि **'यन्नव्येति तदव्ययम्'** अर्थात् जिस शब्द के रूप विभक्तियों के अनुसार परिवर्तित नहीं होते उसे 'अव्यय' कहते हैं।

दशाङ्गुलाऽर्धनाहाऽन्तःकण्ठशल्यावलोकिनी। नाड़ी—

कण्ठशल्यावलोकनी नाडी—कण्ठ के भीतर गये हुए शल्य को देखने के लिए जिस नाडीयन्त्र का निर्माण कराया जायेगा, वह १० अंगुल लम्बी और ५ अंगुल मोटी होनी चाहिए।

—पञ्चमुखच्छिद्रा चतुष्कर्णस्य सङ्ग्रहे॥ १३॥
वारङ्गस्य, द्विकर्णस्य त्रिच्छिद्राः तत्प्रमाणतः।

द्विकर्ण, चतुष्कर्ण नाडीयन्त्र—चार कर्ण वाले वारंग (मूठ) को पकड़ने के लिए पाँच मुखों वाली नाडी तथा दो कर्ण वाले वारंग को पकड़ने के लिए तीन छेदों (मुखों) वाली नाडी उसी प्रमाण से बनायी जाती है॥ १३॥

वारङ्गकर्णसंस्थानानाहदैर्घ्यानुरोधतः ॥ १४॥
नाडीरेवंविधाश्चान्या द्रष्टुं शल्यानि कारयेत्।

विविध नाडीयन्त्र—शल्य के वारंग (मूठ), कर्ण (फर), संस्थान (आकार, स्वरूप), आनाह (मोटाई) तथा लम्बाई के अनुसार उसे (शल्य को) देखने के लिए विविध प्रकार के नाडीयन्त्र तैयार करवाने चाहिए॥ १४॥

पद्मकर्णिकया मूर्ध्नि सदृशी द्वादशाङ्गुला॥ १५॥
चतुर्थसुषिरा नाड़ी शल्यनिर्घातिनी मता।

शल्यनिर्घातिनी नाडी—जिसका ऊपरी भाग कमल की कर्णिका के सदृश हो, लम्बाई १२ अंगुल हो और जिसका चौथाई भाग (३ अंगुल) खोखला हो, उस नाडीयन्त्र को 'निर्घातिनी नाडी' कहते हैं॥ १५॥

वक्तव्य—शल्य का जिस ओर से प्रवेश हुआ हो उसके प्रवेश के अनुरूप निकालने में इसका प्रयोग किया जाता है। इसका खोखला भाग शल्य में फँसाकर विपरीत दिशा से यन्त्र को ठोंककर शल्य को सुगमता से निकाल लिया जाता है।

अर्शसां गोस्तनाकारं यन्त्रकं चतुरङ्गुलम्॥ १६॥
नाहे पञ्चाङ्गुलं पुंसां प्रमदानां षडङ्गुलम्। द्विच्छिद्रं दर्शने व्याधेरेकच्छिद्रं तु कर्मणि॥ १७॥
मध्येऽस्य त्र्यङ्गुलं छिद्रमङ्गुष्ठोदरविस्तृतम्। अर्धाङ्गुलोच्छ्रितोद्वृत्तकर्णिकं च तदूर्ध्वतः॥

अर्शोयन्त्र-परिचय—अर्शों को देखने तथा उनमें औषध-प्रयोग करने की दृष्टि से यह यन्त्र दो प्रकार का होता है। इसका आकार गाय के स्तन के सदृश होता है, इसकी लम्बाई चार अंगुल, मोटाई पुरुषों के लिए पाँच अंगुल और स्त्रियों के लिए छः अंगुल होती है। जो यन्त्र अर्शों (मस्सों) को देखने के लिए प्रयुक्त होता है उसमें लम्बे आकार के दो छिद्र बनाये जाते हैं। जिस यन्त्र द्वारा मस्सों पर क्षार आदि औषध-द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, उसमें एक छिद्र होता है। ये छिद्र यन्त्र के पार्श्व (अगल-बगल) में तीन अंगुल लम्बे अँगूठा के बराबर चौड़े होते हैं। इन यन्त्रों के मुखद्वार में आधा अंगुल ऊँची बाहर की ओर को मुड़ी हुई कर्णिका होती॥ १६-१८॥

वक्तव्य—अर्शों (मस्सों) को देखने के लिए दो छिद्र किन्तु औषध-प्रयोग के लिए एक छिद्र वाला यन्त्र होता है। इसकी उपादेयता बतलाते हुए भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है—'एक छिद्र (द्वार) होने से शस्त्र, क्षार तथा अग्निकर्म दूसरे स्थान पर न हो जाय, इसका भय नहीं रहता'। देखें—सु.चि. ६।११।

शम्याख्यं तादृगच्छिद्रं यन्त्रमर्शःप्रपीडनम्।

शमीयन्त्र-परिचय—अर्शोयन्त्र की आकृति के सदृश ही एक शमीयन्त्र होता है, इसमें छेद नहीं होता। इसका प्रयोग अर्शों को प्रपीड़न (दबाना, मसलना) के लिए किया जाता है।

सर्वथाऽपनयेदोष्ठं छिद्रादूर्ध्वं भगन्दरे॥ १९॥

भगन्दरयन्त्र—इस यन्त्र का प्रयोग भगन्दर में क्षार या क्षारसूत्र आदि का प्रयोग करने के लिए किया जाता है। इसमें अर्शोयन्त्र की भाँति छिद्र तो होता है किन्तु ओष्ठ (कर्णिका) नहीं होता॥ १९॥

घ्राणार्बुदार्शसामेकच्छिद्रा नाड्यङ्गुलद्वया। प्रदेशिनीपरीणाहा स्याद्भगन्दरयन्त्रवत्॥ २०॥

घ्राणयन्त्र-परिचय—घ्राणयन्त्र के पार्श्व में एक छिद्र होता है, इस यन्त्र की नाड़ी (नाली) दो अंगुल लम्बी और इसकी मोटाई प्रदेशिनी (तर्जनी) अंगुली के बराबर होती है। इसका आकार भगन्दर यन्त्र के सदृश होता है, अतएव इसमें भी कर्णिका नहीं होती है। इसका प्रयोग नासिकाछिद्र के भीतर पैदा हुए अर्बुद तथा अर्श पर क्षार-प्रयोग के लिए होता है॥ २०॥

अङ्गुलित्राणकं दान्तं वार्क्षं वा चतुरङ्गुलम्। द्विच्छिद्रं गोस्तनाकारं तद्वक्त्रविवृतौ सुखम्॥ २१॥

अंगुलित्राणक यन्त्र—इस यन्त्र का निर्माण हाथीदाँत से अथवा सुदृढ़ शीशम आदि लकड़ी से कराया जाता है। इसकी लम्बाई चार अंगुल तथा इसके दोनों ओर छिद्र बनवाया जाता है। इसकी आकृति गाय

के स्तन के जैसी होती है। इसका उपयोग मुख को खोलने के लिए होता है। इसे अंगुलित्राणक इसलिए कहा जाता है कि दूसरे रोगी के मुख के खोलने पर उसके दाँतों से चिकित्सक की अँगुलियों की रक्षा हो जाती है॥ २१॥

योनिव्रणेक्षणं मध्ये सुषिरं षोडशाङ्गुलम्। मुद्राबद्धं चतुर्भित्तमम्भोजमुकुलाननम्॥ २२॥
चतुःशलाकमाक्रान्तं मूले तद्विकसेन्मुखे।

योनिव्रणेक्षण यन्त्र—योनि (भग तथा गर्भाशय) के भीतर उत्पन्न हुए व्रण आदि को देखने के लिए इस यन्त्र का प्रयोग होता है। **यन्त्र-परिचय**—यह बीच में खाली (खोखला) होता है। इसकी लम्बाई सोलह अंगुल होती है। यह चार भित्तियों (पत्तियों या पाटियों) से बना हुआ बाहर से मुद्रा (कँगनी) द्वारा बँधा हुआ, मुकुलित कमल के सदृश मुख वाला तथा भित्तियों के मूल भाग में चार शलाकाओं से घिरा हुआ होता है। इन शलाकाओं पर दबाव पड़ने पर उसका मुखभाग खुल जाता है, जिसके कारण योनि का मुख खुलकर उसके भीतरी अवयव स्पष्ट देखे जा सकते हैं॥ २२॥

यन्त्रे नाडीव्रणाभ्यङ्गक्षालनाय षडङ्गुले॥ २३॥
बस्तियन्त्राकृती मूले मुखेऽङ्गुष्ठकलायखे। अग्रतोऽकर्णिके मूले निबद्धमृदुचर्मणी॥ २४॥

नाडीव्रण के यन्त्र—नाड़ीव्रण का अभ्यञ्जन (नाड़ीव्रण के भीतर स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) पहुँचाने) करने के लिए तथा नाड़ीव्रण को धोने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले ये दो यन्त्र हैं। इनकी लम्बाई छः अंगुल होती है। ये यन्त्र आकार में बस्तियन्त्र के सदृश होते हैं। इनके मूल में अँगूठा के बराबर और मुख (अगले भाग) में मटर के दाने के बराबर छेद होना चाहिए। इसके मुख की ओर कर्णिका नहीं होती किन्तु मूलभाग में दो कर्णिकाएँ होती हैं और उन पर कोमल चमड़े की बस्ति बाँधी जाती है। इसे व्रणबस्ति भी कहते हैं॥ २३-२४॥

द्विद्वारा नलिका पिच्छनलिका वोदकोदरे।

नाडीयन्त्र—यह नाडीयन्त्र पिच्छनलिका अर्थात् मोर या गीध के पंख की नली के खोखले भाग से बनाया जाता है। इसके दोनों ओर छेद होते हैं। इसका प्रयोग जलोदर के जल को निकालने के लिए किया जाता है। देखें—अ.हृ.चि. १५।११४।

धूमबस्त्यादियन्त्राणि निर्दिष्टानि यथायथम्॥ २५॥

अन्य यन्त्र—धूमयन्त्र, बस्तियन्त्र आदि अन्य अनेक यन्त्रों का वर्णन यथास्थान कर दिया गया है॥ २५॥

वक्तव्य—बस्तियन्त्र का वर्णन अ.हृ.सू.अ. १९ में, प्रधमननस्य यन्त्र का अ. २० में, धूमयन्त्र का अ. २१ में और आश्चोतन के लिए नाड़ीयन्त्र का अ. २३ में वर्णन क्रमशः किया गया है।

त्र्यङ्गुलास्यं भवेच्छृङ्गं चूषणेऽष्टादशाङ्गुलम्। अग्रे सिद्धार्थकच्छिद्रं सुनद्धं चूचुकाकृति॥ २६॥

शृंगनाडीयन्त्र—शृंगनाड़ी (सिंगी) यन्त्र का मुखभाग तीन अंगुल चौड़ा और इसकी लम्बाई अठारह अंगुल होती है। इसके अगले भाग में सरसों के बीज के आने-जाने लायक छेद होता है। यह भाग स्त्री के स्तन के चूचुक के सदृश होता है। यह यन्त्र भलीभाँति बँधा हुआ होता है, जिसमें कहीं से हवा न निकल सके। इसका प्रयोग दूषित रक्त तथा वायु को चूसने के लिए किया जाता है॥ २६॥

वक्तव्य—प्राचीन काल में सिंगी का प्रयोग करने वाले 'जर्राह' लोग इधर-उधर घूमा करते थे और उनके निश्चित स्थान भी होते थे। वें सिंगी लगाने में कुशल होते थे। इस सिंगीयन्त्र के दोनों ओर छिद्र होते हैं। चौड़े छिद्र को वेदनास्थान पर लगाकर एक हाथ से उस यन्त्र को दबाकर मुख द्वारा जोर से वहाँ की हवा खींच ली जाती है और उस मुख वाले छिद्र को बन्द कर दिया जाता है। थोड़ी देर में वहाँ की हवा उस यन्त्र में भर जाती है तब उस यन्त्र को खींचकर निकाल लिया जाता है, इससे उस स्थान की पीड़ा शान्त हो जाती है। इसे कच्ची सिंगी कहते हैं।

पक्की सिंगी से दूषित रक्त को निकाला जाता है। पीड़ित स्थान पर उस्तरा से पच्छ लगाकर (छीलकर) उसके ऊपर सिंगी रखकर उक्त प्रकार से सिंगी का चौड़ा भाग रखकर दूसरी ओर मुख से चूसें। इस विधि से उस स्थान का दूषित रक्त निकल जाता है, फलतः वेदना शान्त हो जाती है। इस विषय पर सुश्रुत के विचार—'गाय के सींग से निर्मित सिंगी उष्णवीर्य, मधुर, स्निग्ध गुणवाली होती है। अतः इससे वातदूषित रक्त निकाला जाता है। जौंक लगाकर पित्तदूषित रक्त निकलवाना चाहिए। अलाबु (तुम्बी) द्वारा कफदूषित रक्त को निकलवाना चाहिए। देखें—सु.सू. १३।५-७। इसी का समर्थन चरक ने भी किया है। देखें—च.चि. २१।६९।

स्याद्द्वादशाङ्गुलोऽलाबुर्नाहे त्वष्टादशाङ्गुलः।
चतुस्त्र्यङ्गुलवृत्तास्यो दीप्तोऽन्तः श्लेष्मरक्तहृत्॥ २७॥

तुम्बीयन्त्र-परिचय—अलाबु (तुम्बी) १२ अंगुल लम्बी, १८ अंगुल मोटी तथा ३ या ४ अंगुल चौड़े मुख वाली होनी चाहिए। उसके भीतर दीपक जलाकर उसके गरम हो जाने पर प्रयोग करने से कफदूषित रक्तविकार समाप्त हो जाते हैं॥ २७॥

वक्तव्य—सुश्रुतसम्मत उक्त विचार को महर्षि वाग्भट ने प्रस्तुत किया है। देखें—'सान्तर्दीपयाऽलाब्वा'। (सु.सू. १३।८) इस अलाबु में छिद्र नहीं किया जाता। **प्रयोग-विधि**—जहाँ तुम्बी का प्रयोग करना हो वहाँ गीली मिट्टी या सने हुए आटा का दीपक बनाकर उसमें कपूर या घी की बत्ती जलाकर रख देते हैं। उस बत्ती के ऊपर उस छेदरहित तुम्बी को रखकर दबा दें, तत्काल दीपक बुझ जायेगा और तुम्बी में खिंचाव प्रतीत होने लगेगा। घड़ी-दो-घड़ी के बाद तुम्बी को निकाल कर उस स्थान को मसल देना चाहिए, स्थानीय वातजनित वेदना शान्त हो जाती है।

तद्वद्घटी हिता गुल्मविलयोन्नमने च सा।

घटीयन्त्र-परिचय—इसी के आकार वाला घटीयन्त्र भी होता है। इससे गुल्म का विलयन तथा उन्नमन भी किया जाता है।

वक्तव्य—श्रीहेमाद्रि ने **'चकारात् श्लेष्मरक्तावचूषणे च'** कहा है। यह घटीयन्त्र तुम्बीयन्त्र के समान छिद्ररहित होता है, तब बिना छिद्र के आचूषण क्रिया नहीं हो सकती। पाठक इस पर विचार करें।

शलाकाख्यानि यन्त्राणि नानाकर्माकृतीनि च॥ २८॥
यथायोगप्रमाणानि—

शलाकायन्त्र—शलाका नामक यन्त्रों का प्रयोग अनेक चिकित्सा-कर्मों के रूप में होता है। इनके आकार अनेक प्रकार के होते हैं। इनका जिस कर्म के लिए उपयोग होता है तदनुसार इनकी लम्बाई-मोटाई होती है॥ २८॥

—तेषामेषणकर्मणी।
उभे गण्डूपदमुखे—

एषणी शलाका—इनमें दो एषणी नामक शलाकायन्त्र होते हैं। इनसे व्रणवास्तु का अन्वेषण किया जाता है। इन दोनों यन्त्रों का मुख गण्डूपद (केंचुए) के सदृश होता है।

—स्रोतोभ्यः शल्यहारिणी॥ २९॥
मसूरदलवक्त्रे द्वे स्यातामष्टनवाङ्गुले।

स्रोतःशल्यहारिणी शलाका—स्रोतों से शल्य का आहरण करने वाले दो शलाकायन्त्र होते हैं। इनके मुख (अग्रभाग) मसूर की दाल के समान गोल तथा चपटे होते हैं। इन दोनों की लम्बाई ८ तथा ९ अंगुल होती है॥ २९॥

शङ्कवः षट्—

छः शंकुयन्त्र—ये शंकु नामक शलाकाएँ संख्या में छः होती हैं।

—उभौ तेषां षोडशद्वादशाङ्गुलौ ॥ ३० ॥

व्यूहनेऽहिफणावक्त्रौ—

व्यूहन शंकुयन्त्र—उनमें से एक १६ अंगुल लम्बा और दूसरा १२ अंगुल लम्बा होता है। इन दोनों यन्त्रों के मुख साँप के फण के सदृश टेढ़े होते हैं। इनका उपयोग व्यूहन-कर्म (इधर-उधर फैले हुए मांस आदि को यथास्थान रखने) के लिए होता है॥ ३० ॥

—द्वौ दशद्वादशाङ्गुलौ।

चालने शरपुङ्खास्यौ—

चालन शंकुयन्त्र—उनमें से एक १० अंगुल लम्बा और दूसरा १२ अंगुल लम्बा होता है। इन दोनों यन्त्रों के मुख शरपुंख (बाण के फर) के सदृश होते हैं। इनका उपयोग चालन-कर्म (शल्य को हिलाने-डुलाने) में किया जाता है।

—आहार्ये बडिशाकृती ॥ ३१ ॥

आहार्य शंकुयन्त्र—दो शंकुयन्त्र बडिश (मछली पकड़ने के काँटे) जैसे होते हैं। इनका उपयोग शल्य का आहरण करने (खींचने) के लिए किया जाता है॥ ३१ ॥

नतोऽग्रे शङ्कुना तुल्यो गर्भशङ्कुरिति स्मृतः। अष्टाङ्गुलायतस्तेन मूढगर्भं हरेत् स्त्रियाः ॥

गर्भशंकुयन्त्र—एक गर्भशंकुयन्त्र होता है। जिसका अगला भाग शंकु (काँटा) के सदृश झुका रहता है। यह ८ अंगुल लम्बा होता है। उससे नारी का मूढ़गर्भ (जो सही मार्ग की ओर प्रवृत्त न हुआ हो, उसे) निकाला जाता है॥ ३२ ॥

वक्तव्य—देखें—अ.हृ.शा. २।२९-३०। यहाँ गर्भशंकुयन्त्र की प्रयोग-विधि दिखलायी गयी है।

अश्मर्याहरणं सर्पफणावद्वक्रमग्रतः।

अश्मरीहरण यन्त्र—अश्मरी (पथरी) को निकालने के लिए जिस यन्त्र का प्रयोग किया जाता है, उसका अगला भाग साँप के फण के सदृश आगे की ओर झुका अतएव टेढ़ा होता है।

शरपुङ्खमुखं दन्तपातनं चतुरङ्गुलम् ॥ ३३ ॥

दन्तपातनयन्त्र—शरपुंख (बाण के फर) के सदृश मुखभाग वाला तथा ४ अंगुल लम्बा एक यन्त्र होता है। इसका प्रयोग दाँतों को निकालने (उखाड़ने) के लिए किया जाता है॥ ३३ ॥

कार्पासविहितोष्णीषाः शलाकाः षट् प्रमार्जने।

प्रमार्जनी शलाकायन्त्र—व्रण आदि को साफ करने के लिए जिन शलाकायन्त्रों का प्रयोग किया जाता है, उनकी संख्या ६ है। प्रमार्जन करते समय इनके अगले भाग पर रुई लपेट दी जाती है, जिसे वाग्भट ने 'विहितोष्णीष' कहा है। 'उष्णीष' का अर्थ है—पगड़ी।

पायावासन्नदूरार्थे द्वे दशद्वादशाङ्गुले ॥ ३४ ॥

पायुयन्त्र—पायु (गुद) यन्त्र दो प्रकार के होते हैं— १. जो यन्त्र बाहरी गुद के समीप के व्रण को साफ करने के लिए होता है, उसकी लम्बाई १० अंगुल होती है। २. जो यन्त्र दूर के (भीतरी) गुदव्रण को साफ करने के लिए प्रयुक्त होता है, उसकी लम्बाई १२ अंगुल होती है॥ ३४ ॥

द्वे षट्सप्ताङ्गुले घ्राणे, द्वे कर्णेऽष्टनवाङ्गुले।

घ्राण एवं कर्ण यन्त्र—घ्राणयन्त्र दो प्रकार के होते हैं— १. समीप के लिए ६ अंगुल लम्बा तथा २. दूर के लिए ७ अंगुल लम्बा। कर्णयन्त्र दो प्रकार के होते हैं— १. समीप के लिए ८ अंगुल लम्बा तथा २. दूर के लिए ९ अंगुल लम्बा।

कर्णशोधनमश्वत्थपत्रप्रान्तं स्रुवाननम्॥ ३५॥

कर्णशोधन यन्त्र—इसका आकार पीपल के पत्र के अग्रभाग की भाँति नुकीला किन्तु उसका मुख स्रुव (चमची) के सदृश कुछ गहरा होना चाहिए। इससे कान की मैल निकाली जाती है॥ ३५॥

शलाकाजाम्बवौष्ठानां क्षारेऽग्नौ च पृथक् त्रयम्।
युञ्ज्यात् स्थूलाणुदीर्घाणां—

विविध शलाकायन्त्र—क्षार तथा अग्नि कर्मों के लिए तीन शलाकायन्त्र तथा तीन जाम्बवौष्ठ (जामुन के फल के सदृश मुख वाले) यन्त्र होते हैं। ये यन्त्र कोई मोटे, कोई पतले तथा कोई दीर्घ (लम्बे) आकार के होते हैं। इस प्रकार इन शलाकायन्त्रों की संख्या १२ होती है।

—शलाकामन्त्रवर्ध्मनि॥ ३६॥
मध्योर्ध्ववृत्तदण्डां च मूले चार्धेन्दुसन्निभाम्।

उक्त शलाकायन्त्रों में से एक का प्रयोग अन्त्रवृद्धिरोग में प्रयुक्त होता है। उसका स्वरूप इस प्रकार होता है—मध्यभाग से ऊपर की ओर डण्डे के आकार वाला और मूल भाग में अर्धचन्द्राकार होता है॥ ३६॥

कोलास्थिदलतुल्यास्या नासार्शोर्बुददाहकृत्॥ ३७॥

एक शलाकायन्त्र का प्रयोग नासिका के भीतर उत्पन्न अर्श तथा अर्बुद पर दाहकर्म करने के लिए होता है। इस शलाका का मुखभाग बेर की गुठली के आधे भाग के सदृश होता है॥ ३७॥

अष्टाङ्गुला निम्नमुखास्तिस्रः क्षारौषधक्रमे। कनीनीमध्यमानामीनखमानसमैर्मुखैः॥ ३८॥

तीन अन्य शलाकायन्त्रों का प्रयोग क्षारौषध का प्रयोग करने के लिए होता है। इनकी लम्बाई आठ अंगुल होती है। इनके मुखभाग में स्रुव (चम्मच) के जैसा गढ़ा होता है। इनके मुख कनीनिका (कनिष्ठिका), मध्यमा (बीच की अँगुली) और अनामिका (अँगूठे से चौथी) अँगुलियों के नखों के सदृश होते हैं॥ ३८॥

स्वं स्वमुक्तानि यन्त्राणि मेढ्रशुद्ध्यञ्जनादिषु।

मूत्रमार्ग की शुद्धि के लिए तथा अंजन लगाने के लिए अनेक शलाकायन्त्रों का वर्णन यथास्थान इस ग्रन्थ में किया गया है।

वक्तव्य—मूत्रमार्ग की शुद्धि के लिए देखें—अ.हृ.सू. १९।७०,७३-८२। अंजन-प्रयोग के लिए देखें—अ.हृ.उ. १० सम्पूर्ण। शलाकायन्त्र की सहायता से जिन रोगों की चिकित्सा की जाती है, वे सभी शालाक्यतन्त्र के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं।

अनुयन्त्राण्ययस्कान्तरज्जुवस्त्राश्ममुद्गराः ॥ ३९॥
वध्रान्त्रजिह्वाबालाश्च शाखानखमुखद्विजाः। कालः पाकः करः पादो भयं हर्षश्च, तत्क्रियाः॥
उपायवित्प्रविभजेदालोच्य निपुणं धिया।

अनुयन्त्रों का वर्णन—अनु(णु)यन्त्रों (उपयन्त्रों) का परिगणन—अयस्कान्त (चुम्बक लौह), रस्सी (डोरा या धागा), वस्त्र, पत्थर, मुद्गर, वध्र (लकड़ी या बाँस की पट्टियाँ), आँत की रस्सी, जीभ (यह दाँतों के बीच में फँसे हुए अन्नकणों या बाल आदि को निकालने में सहायता करती है), बाल (लम्बे बाल स्त्रियों अथवा घोड़े की पूँछ आदि के), वृक्षशाखा, नख, मुख (ओष्ठ-आचूषणार्थ), दाँत, कालपाक (पकने पर पूयशल्य स्वयं निकल जाता है, यही इसके निकलने का काल होता है), हाथ, पैर, भय

(इससे क्रोधशल्य निकल जाता है) और हर्ष (इससे शोकशल्य निकल जाता है)—ये १९ अनुयन्त्र हैं। शल्यों को निकालने के उपायों को जानने वाले चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह समय पर अपनी बुद्धि से विचार करके भी अनुयन्त्रों का विभाजन करे; यही उनका उपयोग है॥ ३९-४०॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने इन्हें उपयन्त्र कहा है। देखें—सु. सू. ८।१५।

निर्घातनोन्मथनपूरणमार्गशुद्धिसंव्यूहनाहरणबन्धनपीडनानि ।
आचूषणोन्नमननामनचालभङ्गव्यावर्तनर्जुकरणानि च यन्त्रकर्म॥ ४१॥

यन्त्रों के विविध कर्म—निर्घातन, उन्मथन, पूरण (बस्ति में द्रव का), मार्गशुद्धि, संव्यूहन (इकट्ठा करना), आहरण, बन्धन, पीड़न (दबाना), आचूषण, उन्नमन (उठाना), नामन (झुकाना), चालन, भंग (तोड़ना), व्यावर्तन (घुमाना) तथा ऋजुकरण (सीधा करना)—ये सभी कर्म यन्त्रसाध्य होते हैं॥ ४१॥

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इनके अतिरिक्त ९ यन्त्रकर्मों का परिगणन इस प्रकार किया है—१. विवरण, २. एषण, ३. प्रमार्जन, ४. प्रक्षालन, ५. प्रधमन, ६. विकर्षण, ७. व्यंजन (व्यक्त करना), ८. अञ्जन और ९. दारण—इस प्रकार ये कुल मिलाकर १५ + ९ = २४ यन्त्र हो जाते हैं। देखें—अ.सं.सू. ३४।२०। सुश्रुत ने १२ यन्त्रदोषों का भी उल्लेख किया है। इस प्रसंग में इनका भी अवलोकन कर लेना चाहिए। देखें—सु.सू. ८।१९। वृद्धवाग्भट ने ८ यन्त्रदोषों का वर्णन किया है। देखें—अ.सं.सू. ३४।३३।

विवर्तते साध्ववगाहते च ग्राह्यं गृहीत्वोद्धरते च यस्मात्।
यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानं स्थानेषु सर्वेष्वधिकारि यच्च॥ ४२॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने यन्त्रविधिर्नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

कंकमुखयन्त्र—कंकमुख नामक यन्त्र उक्त सभी यन्त्रों में प्रधान माना जाता है, क्योंकि यह आवश्यकतानुसार घुमाया जा सकता है, स्रोतों में इसका सरलता से प्रवेश हो जाता है, ग्रहण करने योग्य शल्य को पकड़कर यह निकाल देता है और सभी अवयवों में प्रविष्ट होकर साधिकार अपना कर्म करता है॥ ४२॥

वक्तव्य—उक्त पद्य अविकल रूप से अष्टांगसंग्रह (सू. ३४।२१) में भी सुलभ है। सभी यन्त्र अपने-अपने कार्यक्षेत्र में प्रशंसा पाते ही हैं। कंकमुख यन्त्र पर वाग्भटद्वय की विशेष अनुकम्पा है, अतएव उसकी प्रशंसा यहाँ की गयी है। इस अध्याय में उक्त यन्त्रों के कर्मों का संक्षेप में वर्णन कर दिया है। वास्तव में जहाँ-जहाँ इनके प्रयोगस्थल हैं, वहाँ-वहाँ इनके प्रयोगों का विस्तारपूर्वक वर्णन है।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
निर्मला हिन्दी व्याख्या विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टांगहृदय-सूत्रस्थान में
यन्त्रविधि-वर्णन नामक पचीसवाँ अध्याय समाप्त॥ २५॥

षड्विंशोऽध्याय:

अथातः शस्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से शस्त्रविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि इस विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—इसके पहले अध्याय में यन्त्रों का वर्णन किया जा चुका है, तदनन्तर अब इस अध्याय में शस्त्रों का भेद-उपभेद सहित वर्णन किया जायेगा।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—सु.सू. ८ तथा १३ में और अ.सं.सू. ३४ एवं ३५ में देखे। चरकसंहिता में शस्त्रों का वर्णन नहीं किया गया है, तथापि च.चि. २५ में षड्विध शस्त्रकर्म का उल्लेख श्लोक ५५ से ६० तक किया गया है।

षड्विंशतिः सुकर्मा रैर्घटितानि यथाविधि। शस्त्राणि रोमवाहीनि बाहुल्येनाङ्गुलानि षट्॥ १॥
सुरूपाणि सुधाराणि सुग्रहाणि च कारयेत्। अकरालानि सुध्मातसुतीक्ष्णावर्तितेऽयसि॥ २॥
समाहितमुखाग्राणि नीलाम्भोजच्छवीनि च। नामानुगतरूपाणि सदा सन्निहितानि च॥ ३॥
स्वोन्मानार्धचतुर्थांशफलान्येकैकशोऽपि च। प्रायो द्वित्राणि, युञ्जीत तानि स्थानविशेषतः॥ ४॥
(मण्डलाग्रं वृद्धिपत्रमुत्पलाध्यर्द्धधारके। सर्पैषण्यौ वेतसाख्यं शरार्यास्यत्रिकूर्चके॥ १॥
कुशास्यं साटवदनमन्तर्वक्त्रार्धचन्द्रके (कम्)। ब्रीहिमुखं कुठारी च शलाकाङ्गुलिशस्त्रके॥ २॥
बडिशं करपत्राख्यं कर्तरी नखशस्त्रकम्। दन्तलेखनकं सूच्यः कूर्चो नाम खजाह्वयम्॥ ३॥
आरा चतुर्विधाकारा तथा स्यात्कर्णवेधनी (नम्)।)

शस्त्रों का वर्णन—सामान्यतः शस्त्रों की संख्या २६ है, जिनका आगे परिगणन किया गया है। इन शस्त्रों का निर्माण कुशल कर्मारों (कारीगरों) द्वारा विधिपूर्वक करवाना चाहिए। ये शस्त्र इतने तेज धार वाले हों जिससे वे रोमों को भी काट सकें, इनकी लम्बाई छः अंगुल होनी चाहिए, शस्त्र देखने में सुन्दर (सुडौल), सुन्दर धार वाले हों और इनकी मूठ भी अच्छी बनी हो, जिससे वे अच्छी तरह पकड़े जा सकें। इनकी आकृति डरावनी न हो, जिस लोहे से बनाये जायें वह लोहा आग में खूब धमाया (तपाया) गया हो और तीक्ष्णायस (फौलाद) से बनाये जायें। इन शस्त्रों के मुखाग्र (फल) मजबूत हों, इनका वर्ण नीलकमल की आकृति का हो। इन शस्त्रों के आकार आगे वर्णित शस्त्रों के नामों के अनुरूप हों, ये शस्त्र सदा (चिकित्साकाल में) चिकित्सक के पास हों। आधे में उसका फल हो और आधे में उसकी मूठ हो। यह दृष्टिकोण प्रत्येक शस्त्र के निर्माण में होना चाहिए। प्रायः स्थान-विशेष के प्रयोग में एक ही प्रकार के दो-तीन शस्त्रों की आवश्यकता पड़ सकती है॥ १-४॥

(छब्बीस शस्त्रों के नाम— १. मण्डलाग्र, २. वृद्धिपत्र, ३. उत्पल, ४. अध्यर्धधारक, ५. सर्प, ६. एषणी, ७. वेतस या वेतसाग्र, ८. शरार्यास्य, ९. त्रिकूर्चक, १०. कुशास्य, ११. साटवदन, १२. अन्तर्वक्त्रार्धचन्द्रक, १३. ब्रीहिमुख, १४. कुठारी, १५. शलाका, १६. अंगुलिशस्त्र, १७. बडिश, १८. करपत्र, १९. कर्तरी, २०. नखशस्त्र, २१. दन्तलेखनक, २२. सुइयाँ, २३. कूर्च, २४. खज (मथानी), २५. आरा (ये चार प्रकार के होते हैं) तथा २६. कर्णवेधन॥ १-३॥)

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में आरम्भ से ४ श्लोकों के आगे कहे गये ३ श्लोक नहीं मिलते। प्रसंगोचित होने के कारण यहाँ इनका समावेश क्षेपक के रूप में कर लिया गया है। सुश्रुत ने इन शस्त्रों की संख्या २० दी है। देखें—सु.सू. ८।३। सुश्रुतोक्त शस्त्रों के नाम इस प्रकार हैं—१. मण्डलाग्र (Circular knife या Roundhead knife), २. करपत्र (Saw), ३. वृद्धिपत्र (Scalpel), ४. प्रयताग्र (Abscess knife), ५. नखशस्त्र (Nail pairs), ६. मुद्रिका (Finger-knife), ७. उत्पलपत्र (Lancel), ८. अर्धधार (Single edged knife), ९. सूची (Needle), १०. कुशपत्र (Bistoury), ११. आटीमुख (Tardus ginginiamos), १२. शरीरीमुख (Pair of scissors), १३. अन्तर्मुख (Curved bistoury), १४. त्रिकूर्चक (Brush), १५. कुठारिका (Ave shaped), १६. व्रीहिमुख (Trocar), १७. आरा (Owl like knife), १८. बडिश (Hooks), १९. दन्तशंकु (Tooth pick) तथा २०. एषणी (Sharp proves)।

वाग्भट ने सुश्रुत से अधिक जिन शस्त्रों का वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं—सर्पवक्त्र, शलाका, कर्तरि, सूचीकूर्च, खज एवं कर्णव्यधन। विशेष अष्टाङ्गसंग्रह-सू.अ. ३४ में देखें।

मण्डलाग्रं फले तेषां तर्जन्यन्तर्नखाकृति। लेखने छेदने योज्यं पोथकीशुण्डिकादिषु॥५॥

मण्डलाग्र शस्त्र—ऊपर कहे गये शस्त्रों में से सर्वप्रथम यहाँ मण्डलाग्र शस्त्र का वर्णन किया जा रहा है। इसके फल (अग्रभाग) का स्वरूप तर्जनी (अँगूठा के बगल वाली) अँगुली के नख के भीतरी भाग के सदृश होता है। इसका उपयोग पोथकी (रोहा) तथा गलशुण्डी आदि रोगों के लेखन (छीलना, खुरचना) तथा छेदन (काटना) में होता है॥५॥

वृद्धिपत्रं क्षुराकारं छेदभेदनपाटने। ऋज्वग्रमुन्नते शोफे गम्भीरे च तदन्यथा॥६॥
नताग्रं पृष्ठतो दीर्घह्रस्ववक्त्रं यथाश्रयम्।

वृद्धिपत्र शस्त्र—वृद्धिपत्र शस्त्र छुरा (उस्तरा) के आकार का होता है, इसका अगला भाग ऋजु (सीधा) होता है। इसका प्रयोग ऊँचे (उभार युक्त) व्रणशोथ को छेदने, भेदने तथा पाटन (चीरने) कर्म के लिए होता है। इससे विपरीत गम्भीर व्रणशोथ के छेदने आदि कर्मों के लिए प्रयुक्त होता है। उस वृद्धिपत्र शस्त्र का आकार पीछे की ओर को झुका हुआ तथा व्रणशोथ की स्थिति के अनुसार लम्बे अथवा छोटे मुखवाला होता है॥६॥

उत्पलाध्यर्धधाराख्ये भेदने छेदने तथा॥७॥

उत्पल एवं अध्यर्धधारक शस्त्र—उत्पलपत्रक एवं अध्यर्धधारक ये दो शस्त्र भी भेदन, छेदन तथा पाटन कर्म में प्रयुक्त होते हैं॥७॥

सर्पास्यं घ्राणकर्णार्शश्च्छेदनेऽर्धाङ्गुलं फले।

सर्पवक्त्र शस्त्र—सर्पास्य (सर्पमुख) नामक शस्त्र के फलभाग की लम्बाई आधा अंगुल होती है। इसका प्रयोग नासिकाछिद्रों तथा कानों के भीतर उत्पन्न अर्शांकुरों को काटने के लिए होता है।

गतेरन्वेषणे श्लक्ष्णा गण्डूपदमुखैषणी॥८॥

१. एषणी शस्त्र—एषणी नामक शस्त्र नाड़ीव्रण (नासूर) का घाव कहाँ तक हुआ है, इसको ढूँढने के लिए होता है। इसका मुख केंचुए के मुख जैसा होता है, वह एषणी स्पर्श में कोमल होती है॥८॥

भेदनार्थेऽपरा सूचीमुखा मूलनिविष्टखा।

२. एषणी शस्त्र—एषणी नामक दूसरा शस्त्र भेदन कर्म के लिए प्रयुक्त होता है। इसका मुख सुई के जैसा तीखा होता है। सुई की भाँति उसकी जड़ में भी छिद्र होता है। इसके द्वारा क्षारभावित सूत्र का भगन्दर में प्रवेश किया जाता है।

वक्तव्य—यहाँ दो एषणी शस्त्रों का वर्णन किया गया है। इसमें प्रथम एषणी यन्त्र है और दूसरा एषणी शस्त्र है।

वेतसं व्यधने—

वेतस शस्त्र—वेतसपत्रक नामक शस्त्र वेधन (बींधना, टुकड़े करना, प्रहार करना) कर्म में प्रयुक्त होता है।

—स्राव्ये शरार्यास्यत्रिकूर्चके॥ ९॥

शरारिमुख एवं त्रिकूर्चक शस्त्र—शरारि नामक एक लम्बी चोंच वाला पक्षी होता है, उसी की चोंच के आकार का यह शस्त्र होता है तथा त्रिकूर्चक (पहले इस शस्त्र से टीके लगाये जाते थे, इसको गोदने की कूची भी कह सकते हैं।)—ये दोनों शस्त्र स्रावण कर्म में प्रयुक्त होते हैं॥ ९॥

कुशाटावदने स्राव्ये द्व्यङ्गुलं स्यात्तयोः फलम्।

कुशपत्रक एवं आटामुख शस्त्र—कुशपत्रक तथा आटामुख या आटीमुख शस्त्रों का फलभाग दो अंगुल लम्बाई युक्त होता है। उक्त दोनों शस्त्रों का प्रयोग स्रावण कर्म में किया जाता है।

तद्वदन्तर्मुखं तस्य फलमध्यर्धमङ्गुलम्॥ १०॥
अर्धचन्द्राननं चैतत्—

अन्तर्मुख शस्त्र—अन्तर्मुख नामक शस्त्र का फल आधे चन्द्रमा के आकार का होता है और उसकी धार का मुख भीतर की ओर होता है। इस शस्त्र के मुख की लम्बाई डेढ़ अंगुल होती है॥ १०॥

—तथाऽध्यर्धाङ्गुलं फले।
व्रीहिवक्त्रं प्रयोज्यं च तच्छिरोदरयोर्व्यधे॥ ११॥

व्रीहिमुख शस्त्र—व्रीहिमुख नामक शस्त्र का फल (धार) डेढ़ अंगुल लम्बा होता है। इसका प्रयोग सिरावेध तथा जलोदर के वेधन में किया जाता है॥ ११॥

वक्तव्य—सिरावेध की विधि देखें—अ.हृ.सू. २७।२३ से ३४ तक। अं सं.सू. ३४।२८ में व्रीहिमुख शस्त्र का अन्यत्र प्रयोग भी देखें।

पृथुः कुठारी गोदन्तसदृशार्धाङ्गुलानना। तयोर्ध्वदण्डया विध्येदुपर्यस्थ्नां स्थितां शिराम्॥१२॥

कुठारी शस्त्र—कुठारी नामक शस्त्र का आकार गाय के दाँत के समान आधा अंगुल चौड़ा होता है। इसके ऊपरी भाग में कुल्हाड़ी के जैसा बेंट लगा रहता है। इस प्रकार के कुठारी शस्त्र से अस्थि के ऊपर स्थित सिरा का वेध करना चाहिए॥ १२॥

ताम्री शलाका द्विमुखी मुखे कुरुबकाकृतिः। लिङ्गनाशं तया विध्येत्—

ताम्रशलाका शस्त्र—लिंगनाश को वेधने के लिए एक ताँबे की शलाका होती है। इसके दोनों ओर धार होनी चाहिए। इसके दोनों मुख कुरुबक (लाल कटसरैया) के फूल के सदृश होते हैं। इसके द्वारा कफज लिंगनाश (मोतियाबिन्द) का वेधन किया जाता है।

—कुर्यादङ्गुलिशस्त्रकम्॥ १३॥

मुद्रिकानिर्गतमुखं फले त्वर्धाङ्गुलायतम्। योगतो वृद्धिपत्रेण मण्डलाग्रेण वा समम्॥ १४॥
तत्प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रमाणार्पणमुद्रिकम्। सूत्रबद्धं गलस्रोतोरोगच्छेदनभेदने॥ १५॥

अंगुली शस्त्र—अँगुलि नामक शस्त्र का आकार अँगूठी जैसा होता है। इसका मुख आगे की ओर निकला रहता है। इसका फल आधा अंगुल लम्बा होता है। आकार में यह वृद्धिपत्र अथवा मण्डलाग्र शस्त्र

के जैसा होता है। इसकी मुद्रिका प्रदेशिनी (तर्जनी) अँगुली के अगले पोर में पहनने योग्य होती है। इसमें धागा बाँधकर चिकित्सक इससे गले के भीतरी स्रोत में उत्पन्न गलशुण्डी आदि का छेदन तथा भेदन कर्म करता है॥ १३-१५॥

वक्तव्य—अँगुलि शस्त्र को सुश्रुत एवं वृद्धवाग्भट ने 'मुद्रिकाशस्त्र' की संज्ञा दी है।

ग्रहणे शुण्डिकार्मादेर्बडिशं सुनताननम्।

बडिश शस्त्र—बडिश शस्त्र का स्वरूप मछली पकड़ने के काँटा के सदृश, उसका अगला भाग कुछ मुड़ा या झुका हुआ होता है। इससे गलशुण्डी (गले का एक विशेष रोग), अर्म (नेत्ररोग-विशेष) तथा आदि शब्द से प्रतिजिह्विका रोग का ग्रहण अर्थात् छेदन कर्म किया जाता है।

छेदेऽस्थ्नां करपत्रं तु खरधारं दशाङ्गुलम्॥ १६॥
विस्तारे द्व्यङ्गुलं सूक्ष्मदन्तं सुत्सरुबन्धनम्।

करपत्र शस्त्र—करपत्र नामक शस्त्र की धार खुरदरी होती है। इसकी लम्बाई १० अंगुल और चौड़ाई २ अंगुल होती है। इसके दाँत बहुत छोटे होते हैं। इसके मूलभाग में पकड़ने के लिए लकड़ी की मूठ बँधी रहती है। इससे हड्डियों का छेदन किया जाता है। इसे लोकभाषा में 'छोटी आरी' कहते हैं॥ १६॥

स्नायुसूत्रकचच्छेदे कर्तरी कर्तरीनिभा॥ १७॥

कर्तरी (कैंची) शस्त्र—यह शस्त्र कैंची के सदृश होता है। इससे स्नायुतन्तु तथा केश (बाल) काटे जाते हैं॥ १७॥

वक्रर्जुधारं द्विमुखं नखशस्त्रं नवाङ्गुलम्। सूक्ष्मशल्योद्धृतिच्छेदभेदप्रच्छानलेखने॥ १८॥

नखशस्त्र (नहरनी)—इसके दोनों ओर मुख होता है। इसमें एक मुख (धार) सीधा और दूसरा मुख (धार) टेढ़ा होता है। इसकी लम्बाई ९ अंगुल होती है, इसका मध्य भाग गोल होता है। इसका उपयोग—इससे सूक्ष्म शल्य निकाला जाता है तथा छेदन, भेदन, पच्छ लगाना एवं छीलना आदि कर्म किये जाते हैं॥ १८॥

एकधारं चतुष्कोणं प्रबद्धाकृति चैकतः। दन्तलेखनकं तेन शोधयेद् दन्तशर्कराम्॥ १९॥

दन्तलेखनक शस्त्र—यह एक धार वाला तथा चार कोनों वाला होता है। इसके एक भाग में मूठ होती है। यह भाग कुछ बड़ा होता है। इसका उपयोग दाँतों में जमी हुई शर्करा को खुरच कर निकालना है॥ १९॥

वृत्ता गूढदृढाः पाशे तिस्रः सूच्योऽत्र सीवने।

सूची शस्त्र—सीवन कर्म (सिलाई) के लिए तीन प्रकार के सूचीशस्त्रों (सुइयों) का प्रयोग होता है। ये आकार में गोल, गुप्त अर्थात् धागा डालने वाला भाग अधिक चौड़ा नहीं होता तथा मजबूत पाशों (छेदों) (जिनमें धागा पिरोया जाता है) वाले होते हैं।

मांसलानां प्रदेशानां त्र्यस्रा त्र्यङ्गुलमायता॥ २०॥

मांसल (अधिक मांस वाले) स्थानों (शरीर के अवयवों) को सीने के लिए जिस सूचीशस्त्र की आवश्यकता होती है, वह तीन किनारों वाली और तीन अंगुल लम्बी होती है॥ २०॥

अल्पमांसास्थिसन्धिस्थव्रणानां द्व्यङ्गुलायता।

थोड़े मांस वाले स्थानों, अस्थियों वाले तथा सन्धियों पर उत्पन्न व्रणों (घावों) को सीने के लिए दो अंगुल लम्बा सूचीशस्त्र होना चाहिए।

व्रीहिवक्त्रा धनुर्वक्त्रा पक्वामाशयमर्मसु॥ २१॥
सा सार्धद्व्यङ्गुला—

पक्वाशय, आमाशय तथा अन्य मर्मस्थलों को सीने के लिए जिस सूचीशस्त्र (सुई) का प्रयोग किया जाता है, वह अढ़ाई अंगुल लम्बा, जौ के सदृश मुखवाला और धनुष के सदृश मुड़ा हुआ होता है॥ २१॥

—सर्ववृत्तास्ताश्चतुरङ्गुलाः।
कूर्चो वृत्तैकपीठस्थाः सप्ताष्टौ वा सुबन्धनाः॥ २२॥
स योज्यो नीलिकाव्यङ्गकेशशातेषु कुट्टने।

कूर्च शस्त्र—इसमें सात अथवा आठ गोल एवं चार अंगुल लम्बी (बाहर की ओर को निकली) सुइयाँ एक सुडौल लकड़ी की गोल पीठ में जड़ी हुई, मजबूत बन्धन से बँधी हुई होती हैं। इसी को कूर्च या कूर्चक शस्त्र कहते हैं। इसका प्रयोग नीलिका, व्यंग तथा इन्द्रलुप्त पर रक्त निकालने के उद्देश्य से कुट्टन (बार-बार कूटना) कर्म के लिए किया जाता है॥ २२॥

वक्तव्य—विशेष देखें—अ.हृ.चि. ८।२९। इसी अध्याय के ९वें पद्य में 'त्रिकूर्चक' शस्त्र का वर्णन आया है। इसी शस्त्र से गोदना गोदा जाता है। कुट्टन का अर्थ है—बार-बार कूटना।

अर्धाङ्गुलमुखैर्वृत्तैरष्टाभिः कण्टकैः खजः॥ २३॥
पाणिभ्यां मथ्यमानेन घ्राणात्तेन हरेदसृक्।

खज शस्त्र—खज शस्त्र में आधे-आधे अंगुल के गोल मुखों वाले आठ काँटे होते हैं। इस शस्त्र को नासिका के छिद्रों के भीतर डालकर उसे हाथों से मथनी की भाँति मथे, इससे नासिका से रक्त को निकाले॥ २३॥

व्यधनं कर्णपालीनां यूथिकामुकुलाननम्॥ २४॥

यूथिका शस्त्र—यूथिका शस्त्र का मुख जूही की कली के सदृश होता है। उसके द्वारा कर्णपालियों का वेधन किया जाता है॥ २४॥

आराऽर्धाङ्गुलवृत्तास्या तत्प्रवेशा तथोर्ध्वतः। चतुरस्रा, तया विध्येच्छोफं पक्वामसंशये॥ २५॥
कर्णपालीं च बहलां—

आरा शस्त्र—इसका मुख आधे अँगुल के घेरे में गोल होता है। इसका प्रवेश भी आधा अंगुल किया जाता है, यह मुख के ऊपरी भाग में चौकोर होता है। इससे व्रणशोथ का उस समय वेधन किया जाता है, जब कि व्रण के सम्बन्ध में यह सन्देह हो कि यह पक चुका है या अभी कच्चा ही है। मोटी कर्णपाली का वेधन भी इसी (आरा शस्त्र) से किया जाता है॥ २५॥

—बहलायाश्च शस्यते। सूची त्रिभागसुषिरा त्र्यङ्गुला कर्णवेधनी॥ २६॥

कर्णवेधनी सूची—मोटी कर्णपाली को वेधने के लिए एक और कर्णवेधनी सूची का वर्णन यहाँ किया जा रहा है। यह तीन अंगुल लम्बी तथा इसका एक तिहाई भाग सुषिर (खोखला) होता है॥२६॥

जलौकःक्षारदहनकाचोपलनखादयः। अलौहान्यनुशस्त्राणि, तान्येवं च विकल्पयेत्॥ २७॥
अपराण्यपि यन्त्रादीन्युपयोगं च यौगिकम्।

अनुशस्त्रों का परिगणन—जौंक, क्षार, अग्नि, नुकीले काँच एवं पत्थर तथा नख आदि 'अनुशस्त्र' कहे जाते हैं। इसी प्रकार के और भी अनेक अनुशस्त्र होते हैं, जिनका निर्माण लौहधातु से नहीं किया जाता। उनका प्रयोग भी लौहशस्त्रों की भाँति किया जाता है। इसी प्रकार के अन्य यन्त्रों तथा शस्त्रों का यथोचित उपयोग करना चाहिए॥ २७॥

वक्तव्य—अन्य अनुशस्त्रों में इनका भी परिगणन किया जाता है—बाँस की खपाची, बबूल के काँटे, गाजवाँ आदि की पत्तियाँ, समुद्रफेन और सूखा गोबर (वनोपल) ये सभी शस्त्रक्रिया में उपयोगी होते हैं। यहाँ 'यन्त्रादीनि' पद में आये हुए आदि शब्द से शस्त्रों का भी ग्रहण कर लिया गया है।

उत्पाट्यपाट्यसीव्यैष्यलेख्यप्रच्छानकुट्टनम् ॥ २८ ॥
छेद्यं भेद्यं व्यधो मन्थो ग्रहो दाहश्च तत्क्रियाः ।

शस्त्रकर्मों का वर्णन—१. उत्पाट्य (शल्य को निकालना), २. पाट्य (चीरना), ३. सीव्य (सीना), ४. एष्य (घाव कहाँ तक हुआ है, उसे ढूँढना), ५. लेख्य (लेखन कर्म करना), ६. प्रच्छान (पच्छ लगाना), ७. कुट्टन कर्म (गोदना), ८. छेद्य (छेदन करना), ९. भेद्य (फोड़ना), १०. व्यध (वेधन कर्म), ११. मन्थ (मथना), १२. ग्रह (ग्रहण या चूषण करना) तथा १३. दाह (क्षार अथवा अग्नि से जलाना)—ये शस्त्रों एवं अनुशस्त्रों के कर्म हैं॥ २८॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने आठ प्रकार का शस्त्रकर्म कहा है—छेद्य, भेद्य, लेख्य, वेध्य, एष्य, आहार्य, विस्राव्य तथा सीव्य। देखें—सु.सू. ५।५। इस दृष्टि से महर्षि वाग्भट ने उत्पाटन, कुट्टन, मन्थन, ग्रहण और दाहन कर्म अधिक माने हैं। भगवान् आत्रेय ने पाटन, व्यधन, छेदन, लेपन, प्रच्छन तथा सीवन ये छः शस्त्रकर्म कहे हैं। देखें—च.चि. २५।५५। वास्तव में यह आचार्यों का उक्तिवैचित्र्य ही है।

कुण्ठखण्डतनुस्थूलह्रस्वदीर्घत्ववक्रताः ॥ २९ ॥
शस्त्राणां खरधारत्वमष्टौ दोषाः प्रकीर्तिताः ।

शस्त्रों के आठ दोष—शस्त्रों के ये आठ दोष हैं—१. कुण्ठता (तेज न होना), २. खण्ड (टूट जाना), ३. तनु (पतलापन), ४. स्थूल (आवश्यकता से अधिक मोटा होना), ५. ह्रस्व (प्रमाण से छोटा होना), ६. दीर्घत्व (प्रमाण से लम्बा होना), ७. वक्रता (टेढ़ापन) तथा ८. खरधारत्व (धार में खुरदरापन) होना॥ २९॥

वक्तव्य—शस्त्रों में 'करपत्र' का भी वर्णन है और इसका 'खरधारत्व' गुण है। अतएव भगवान् धन्वन्तरि की स्पष्टवादिता पर ध्यान दें—'अतो विपरीतगुणमाददीत, अन्यत्र करपत्रात्'। (सु.सू. ८।९१)

छेदभेदनलेख्यार्थं शस्त्रं वृन्तफलान्तरे॥ ३०॥
तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठैर्गृह्णीयात्सुसमाहितः। विस्रावणानि वृन्ताग्रे तर्जन्यङ्गुष्ठकेन च॥ ३१॥
तलप्रच्छन्नवृन्ताग्रं ग्राह्यं व्रीहिमुखं मुखे। मूलेष्वाहरणार्थानि क्रियासौकर्यतोऽपरम्॥ ३२॥

शस्त्रग्रहण-विधि—छेदन, भेदन तथा लेखन कर्म करते समय शस्त्र को फल के अन्त एवं वृन्त (मूठ) के मध्यभाग को तर्जनी-मध्यमा अँगुलियों तथा अँगूठा से सावधान होकर पकड़ना चाहिए। विस्रावण कर्म करते समय शस्त्र को वृन्त (मूठ) के अगले भाग में तर्जनी एवं अँगूठे से पकड़ना चाहिए। व्रीहिमुख शस्त्र को मुख पर तर्जनी अँगुली तथा अँगूठा से पकड़ कर उसके वृन्त (बेंट या मूठ) को हाथ के तलुवे से ढाककर शस्त्रकर्म करना चाहिए। आहरण कर्म के लिए शस्त्र को मूलभाग में ग्रहण करना चाहिए। शेष कर्मों में शस्त्र को जहाँ पकड़ने से शस्त्रकर्म करने में सरलता हो वहाँ पकड़कर शस्त्रकर्म करना चाहिए॥ ३०-३२॥

वक्तव्य—शास्त्रों के दोषों को दूर करने के लिए सुश्रुत ने 'पायना' तथा 'निशाणन' कर्मों का वर्णन सु.सू. ८।१२-१३ में किया है। शस्त्रों में तीक्ष्णता आदि गुणों का आधान करने के लिए क्षारोदक, सामान्य जल तथा तेल में बुझाया जाता है। यदि इन शस्त्रों को विषैला बनाना हो तो इन्हें विष के घोल में भी बुझाया जाता है। इनके स्पर्श मात्र से घाव होकर पकने लग जाता है। लोहा द्वारा इस प्रकार तैयार किये गये शस्त्रों की धार को तेज करने के लिए काले चिकने पत्थर (कसौटी) का उपयोग किया जाता है;

आप भी देखें। धार की सही पहचान है—जब वह रोमों को आसानी के काटने लगे तब समझे कि वह तेज हो गयी है। देखें—सु.सू. ८।१४। इसी प्रकार के दोष रहित शस्त्र का प्रयोग करना चाहिए।

स्यान्नवाङ्गुलविस्तारः सुघनो द्वादशाङ्गुलः। क्षौमपत्रोर्णकौशेयदुकूलमृदुचर्मजः॥ ३३॥
विन्यस्तपाशः सुस्यूतः सान्तरोर्णास्थशस्त्रकः। शलाकापिहितास्यश्च शस्त्रकोशः सुसश्चयः॥

शस्त्रकोष का विस्तार—शस्त्रों को रखने की पेटी की चौड़ाई ९ अंगुल और लम्बाई १२ अंगुल होनी चाहिए। उसे घना होना चाहिए, जिससे शस्त्र सुरक्षित रहें, एक-दूसरे से टकरायें नहीं; घन का यही तात्पर्य है। वह शस्त्रकोष क्षौम (अलसी के तारों का बना हुआ) का, पत्तों का, ऊनी कपड़े का, कौशेय (रेशमी वस्त्र)का, सामान्य वस्त्र का अथवा मुलायम चमड़े का बनाया जाना चाहिए। उसमें भीतर से पेटी लगी हुई हो, अच्छी प्रकार सिला गया हो, प्रत्येक शस्त्र दूर-दूर में ऊन के वस्त्र से लपेट कर रखा गया हो तथा शलाकाओं से इनका मुख ढका रहना चाहिए। यह शस्त्रकोष (पेटी) नाई की पेटी के समान इधर-उधर ले जाने योग्य हो॥ ३३-३४॥

जलौकसस्तु सुखिनां रक्तस्रावाय योजयेत्।

जोंकों का प्रयोग—सुख से जीवन-यापन करने वालों (सुकुमारों) का रक्तस्रावण करने के लिए जोंकों का प्रयोग करना चाहिए।

दुष्टाम्बुमत्स्यभेकाहिशवकोथमलोद्भवाः॥ ३५॥
रक्ताः श्वेता भृशं कृष्णाश्चपलाः स्थूलपिच्छिलाः। इन्द्रायुधविचित्रोर्ध्वराजयो रोमशाश्च ताः॥
सविषा वर्जयेत्—

त्याज्य जोंकों का वर्णन—जो जोंकें दूषित जल में अथवा मछली, मेंढक, साँप आदि प्राणियों के शवों की सड़न से अथवा उनके मल-मूत्रमिश्रित कीचड़ में से पैदा होती हैं, जो लाल, सफेद, अधिक काली, चंचल, मोटी अर्थात् आकार में बड़ी तथा चिपचिपी होती हैं, जिनकी पीठ पर इन्द्रधनुष के आकार की विचित्र ऊपर की ओर रेखाएँ होती हैं एवं जिनके शरीर के ऊपर रोएँ होते हैं वे जोंकें जहरीली होती हैं; उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए॥ ३५-३६॥

—ताभिः कण्डूपाकज्वरभ्रमाः। विषपित्तास्रनुत्कार्यं तत्र—

त्याज्य जोंकों का निषेध—उक्त प्रकार की जोंकों का यदि रक्तविस्रावण में उपयोग किया जाता है, तो खुजली, पाक (पकना), ज्वर, चक्करों का आना आदि उपद्रव हो जाते हैं। इस स्थिति में विषनाशक, पित्तशामक तथा रक्तशोधक चिकित्सा करनी चाहिए।

—शुद्धाम्बुजाः पुनः॥ ३७॥

निर्विषाः शैवलश्यावा वृत्ता नीलोर्ध्वराजयः। कषायपृष्ठास्तन्वङ्ग्यः किञ्चित्पीतोदराश्च याः॥

ग्राह्य जोंकों का वर्णन—जो जोंकें साफ जल में पैदा होती हैं, वे निर्विष होती हैं। उनका वर्ण सिवार के सदृश साँवला तथा शरीर लम्बा एवं गोल होता है। उसके ऊपर नीली रेखाएँ ऊपर की ओर को होती हैं। उनकी पीठ का रंग बरगद वृक्ष की छाल का जैसा होता है। ये पतले आकार की होती हैं और इनके पेट का वर्ण कुछ पीताभ होता है॥ ३७-३८॥

ता अप्यसम्यग्वमनात् प्रततं च निपातनात्। सीदन्तीः सलिलं प्राप्य रक्तमत्ता इति त्यजेत्॥ ३९॥

त्याज्य जोंकों के लक्षण—वे अच्छी अर्थात् उपयोग में लाने योग्य जोंकें भी यदि रक्तपान कराने के बाद उन्हें भलीभाँति वमन न कराया गया अथवा रक्तचूषण के लिए उन्हें बार-बार लगाने के बाद जब पानी में डाला जाता है और वे दुःखी जैसी प्रतीत होती हैं तो वे रक्तपान करने से मदमत्त हो गयी हैं, ऐसा समझकर उन्हें छोड़ दें॥ ३९॥

अथेतरा निशाकल्कयुक्तेऽम्भसि परिप्लुताः। अवन्तिसोमे तक्रे वा पुनश्चाश्वासिता जले॥ ४०॥
लागयेद्धृतमृत्स्तन्यरक्तशस्त्रनिपातनैः । पिबन्तीरुन्नतस्कन्धाश्छादयेन्मृदुवाससा॥ ४१॥

जोंक रखने एवं लगाने की विधि—तदनन्तर जो जोंक निर्विष हों उन्हें हल्दी के कल्क से मिले हुए जल से अथवा अवन्तिसोम (काँजी) से या मठा से नहलाकर उसे पानी में छोड़ दें, जिससे वे आश्वस्त हो जायें। यदि वे मनुष्य के शरीर को नहीं पकड़ रही हों तो उस स्थान पर घी, मिट्टी, स्त्री का दूध या रक्त लगा दें अथवा शस्त्र द्वारा पच्छ लगा दें तब वह पकड़ लेगी। जब वह अपने कन्धे को ऊपर की ओर को उठा ले, तो समझ लें वह रक्तपान कर रही है, इस स्थिति में उसे कोमल वस्त्र से ढक देना चाहिए॥ ४०-४१॥

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान के सम्पूर्ण १३वें अध्याय का भलीभाँति अनुशीलन करें, इसका नाम **'जलौकावचारणीय'** है। इसमें उक्त विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

सम्पृक्ताद्दुष्टशुद्धास्राज्जलौका दुष्टशोणितम्। आदत्ते प्रथमं हंसः क्षीरं क्षीरोदकादिव॥ ४२॥
(गुल्मार्शोविद्रधीन् कुष्ठवातरक्तगलामयान्। नेत्ररुग्विषवीसर्पान् शमयन्ति जलौकसः॥ १॥)

दुष्ट रक्तग्रहण-दृष्टान्त—मिले हुए दूषित तथा शुद्ध रक्त में से पहले जोंक दूषित रक्त को चूसती है। जैसे—मिले हुए दूध तथा जल में से हंस पक्षी पहले दूध को पीता है॥ ४२॥ (जोंक लगाने पर जो वह रक्त का आचूषण करती है, उससे गुल्म, अर्श, विद्रधि (बड़े फोड़े), कुष्ठ, वातरक्त, गल सम्बन्धी रक्तज रोग, नेत्रपीड़ा, विषज विकार तथा विसर्परोग शान्त हो जाते हैं॥ १॥)

वक्तव्य—उक्त दृष्टान्त से यह ज्ञात होता है कि जैसे हंस केवल दूध पी लेता है और जल छोड़ देता है, वैसे ही जोंक भी दुष्ट रक्त का पान कर शुद्ध रक्त को छोड़ देती है। परन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है। आप देखें—**'दंशे····वकिरेत्'**॥ (सु.सू. १३।२१) अर्थात् विशुद्ध रक्त के पीने पर दंशस्थान पर पीड़ा, खुजली आदि लक्षणों को देखकर समझ लेना चाहिए कि यह शुद्ध रक्त का पान कर रही है। इस स्थिति में इसे हटा देना चाहिए। हंस भी तो पानी पीता ही है।

कभी-कभी जोंक के काट लेने पर बहुत रक्तस्राव होने लगता है। इसका कारण है—जोंक के सिर में कई छोटी-छोटी गाँठें होती हैं, जिनका रस उसके दंशस्थान में पहुँच जाता है। इस रस में हीरुडीन (Hirudin) नामक द्रव्य होता है। जब इसका रक्त में मिश्रण हो जाता है तो रक्त जल्दी जमता नहीं, अतः वह बहता रहता है।

दंशस्य तोदे कण्ड्वां वा मोक्षयेत्—

जोंक छुड़ाने की स्थिति—जहाँ जोंक लगी हो अर्थात् रक्त चूस रही हो, वहाँ यदि सुई चुभाने की-सी पीड़ा हो अथवा खुजली हो रही हो तो उसे छुड़ा दें—

—वामयेच्च ताम्। पटुतैलाक्तवदनां श्लक्ष्णकण्डनरूषिताम्॥ ४३॥

जोंक का उपचार—तोद एवं कण्डू लक्षणों से यह समझना चाहिए कि वह शुद्ध रक्त पी रही है। अतः उसे हटा दें, यदि वह न छोड़े तो दंशस्थान पर नमक का चूर्ण बुरक दें और उसके मुख पर तेल लगा दें, इससे वह छोड़ देती है। उसके बाद उसके शरीर पर चावल का चूर्ण डाल कर उसे भलीभाँति वमन कराना चाहिए॥ ४३॥

रक्षन् रक्तमदाद्भूयः सप्ताहं ता न पातयेत्।

रक्तमद से रक्षा—समुचित वमन न कराने पर जोंकों को 'रक्तमद' नामक विकार हो जाता है, इससे जोंकों की रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार एक बार लगाने के बाद फिर उस जोंक को एक सप्ताह तक नहीं लगाना चाहिए।

पूर्ववत् पटुता दार्ढ्यं सम्यग्वान्ते जलौकसाम्॥ ४४॥

रक्तवमन का सम्यग्योग—वमन का सम्यक् योग हो जाने पर जोंकों में पहले की भाँति कुशलता तथा दृढ़ता (सबलता) प्राप्त हो जाती है॥ ४४॥

क्लमोऽतियोगान्मृत्युर्वा—

रक्तवमन का अतियोग—वमन का अतियोग हो जाने पर जोंकों में क्लम (सुस्ती या हर्षक्षय) हो जाता है अथवा वे मर जाती हैं।

—दुर्वान्ते स्तब्धता मदः।

रक्तवमन का मिथ्यायोग—वमन का मिथ्यायोग हो जाने पर जोंकों में स्तब्धता (इधर-उधर घूमने-फिरने में रुकावट) तथा उन्हें 'रक्तमद' नामक असाध्य रोग हो जाता है, जिससे प्रायः उनकी मृत्यु भी हो जाती है।

अन्यत्रान्यत्र ताः स्थाप्या घटे मृत्स्नाम्बुगर्भिणि॥ ४५॥
लालादिकोथनाशार्थं, सविषाः स्युस्तदन्वयात्।

जलौकापालन-विधि—जोंकों को उनके स्थानों से लाकर शुद्ध जल में या तालाब के जल में मिट्टी मिलाकर अलग-अलग मिट्टी के घड़ों में रख दें। इनके खाने के लिए सिवार, जलचर प्राणियों के सूखे मांस और कन्दों के चूर्ण दें, सोने के लिए कमलपत्र आदि उसमें डाल दें। तीसरे-तीसरे दिन इस पानी को बदल दें और भोजन-पदार्थ उस जल में डाल दें। सब को अलग रखने का प्रयोजन—इससे जोंकों के परस्पर लालास्राव की सड़न नहीं हो पायेगी, क्योंकि लालास्राव के संयोग से ये विषैली हो जाती हैं॥ ४५॥

अशुद्धौ स्रावयेद्दंशान् हरिद्रागुडमाक्षिकैः॥ ४६॥

जलौकावचारण-पश्चात्कर्म—जोंक को हटा लेने पर भी दंशस्थान से यदि रक्तस्राव हो रहा हो तो रक्त के शुद्ध-अशुद्ध का विचार कर लें। यदि वह दूषित रक्त हो तो उसे बहने दें और उसे बहने देने में हल्दी, गुड़ तथा मधु लगाकर सहायता करें, जिससे वह दूषित रक्त पूर्ण रूप से निकल जाय॥ ४६॥

शतधौताज्यपिचवस्ततो लेपाश्च शीतलाः।

रक्तावरोधक उपचार—यदि शुद्ध रक्त दंशस्थान से बह रहा हो (जैसा हमने श्लोक ४२ के वक्तव्य में कहा है) तो शतधौत घृत के पिचुओं को उन दंशस्थानों में रखें और शीतवीर्यरोपण पदार्थों से निर्मित लेपों को उन स्थानों पर लगायें। इनके प्रयोगों से रक्तस्राव रुक जाता है।

दुष्टरक्तापगमनात् सद्यो रागरुजां शमः॥ ४७॥

रक्तस्रावण का फल—दूषित रक्त के निकल जाने से रोगी की पीड़ाओं तथा उस स्थान पर दिखलायी पड़ने वाली लालिमा का तत्काल शमन हो जाता है॥ ४७॥

अशुद्धं चलितं स्थानात्स्थितं रक्तं व्रणाशये। व्यम्लीभवेत्पर्युषितं तस्मात्तत्स्रावयेत्पुनः॥ ४८॥

पुनः रक्तस्रावण—यदि अशुद्ध (दूषित) रक्त रुग्णस्थान से विचलित होकर जोंक द्वारा किये गये घाव पर आकर रुक गया हो तो वहाँ आया हुआ वह रक्त बासी होकर खट्टा हो जाता है, अतः उसे पुनः तीसरे दिन जोंक लगाकर निकलवा देना चाहिए॥ ४८॥

युञ्ज्यान्नालाबुघटिका रक्ते पित्तेन दूषिते। तासामनलसंयोगात्—

अलाबूयन्त्रप्रयोग-निषिद्ध—पित्तदोष द्वारा दूषित हुए रक्त का स्रावण करने के लिए अलाबुघटिका (तुम्बी) यन्त्र का प्रयोग न करें, क्योंकि उसके प्रयोग में अग्निसंयोग किया जाता है।

—युज्यात्तु कफवायुना॥ ४९॥

अलाबूयन्त्र-प्रयोग विहित—यदि कफ एवं वात दोष से दूषित रक्तधातु को निकालना हो तो उसमें अलाबूयन्त्र का प्रयोग करें॥ ४९॥

कफेन दुष्टं रुधिरं न शृङ्गेण विनिर्हरेत्। स्कन्नत्वात्—

शृंगयन्त्रप्रयोग-निषेध—कफदोष से दूषित रक्तधातु जम जाता है, अतएव इसका निर्हरण भी शृंगयन्त्र से नहीं करना चाहिए। क्योंकि इसमें अग्निसंयोग का अभाव रहता है, अतः कफ पिघल नहीं सकता।

वक्तव्य—विशेष परिस्थिति के लिए देखें—अ.हृ.सू. २५।२७।

—वातपित्ताभ्यां दुष्टं शृङ्गेण निर्हरेत्॥ ५०॥

शृंगयन्त्रप्रयोग-निर्देश—वातदोष तथा पित्तदोष से दूषित रक्त का निर्हरण शृंगयन्त्र द्वारा करना चाहिए॥ ५०॥

गात्रं बद्ध्वोपरि दृढं रज्ज्वा पट्टेन वा समम्। स्नायुसन्ध्यस्थिमर्माणि त्यजन् प्रच्छानमाचरेत्॥
अधोदेशप्रविसृतैः पदैरुपरिगामिभिः। न गाढघनतिर्यग्भिर्न पदे पदमाचरन्॥ ५२॥
प्रच्छानेनैकदेशस्थं ग्रथितं जलजन्मभिः। हरेच्छृङ्गादिभिः सुप्तमसृग्व्यापि शिराव्यधैः॥ ५३॥

प्रच्छानकर्म-निर्देश—प्रच्छान कर्म अर्थात् पच्छ लगाने की विधि—यदि शाखाओं (हाथ-पैरों) से पच्छ लगाकर रक्त निकालना हो तो उस स्थान से ५-७ अंगुल ऊपर के अवयव को रस्सी या पट्टी से कसकर बाँधकर तब पच्छ लगाना चाहिए। ध्यान रहे, यह प्रच्छानकर्म स्नायु, सन्धि तथा अस्थि मर्मों के स्थानों को छोड़कर ही लगाना चाहिए। पच्छ लगाते समय नीचे भाग से ऊपर की ओर को पद करने चाहिए। वे (पद) न बहुत गहरे हों, न पास-पास में हो, न तिरछे हों और न पद के ऊपर दूसरा पद (शस्त्र द्वारा घाव) बनाना चाहिए। एक स्थान स्थित रक्त को पच्छ लगाकर, ग्रन्थि तथा अर्बुद आदि के गठीले रक्त को जोंक लगाकर, जहाँ का रक्त सुन्न पड़ गया हो, उसे शृंगयन्त्र द्वारा और सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए दूषित रक्त को सिरावेध द्वारा निकालना चाहिए॥ ५१-५३॥

प्रच्छानं पिण्डिते वा स्यात्—

प्रच्छान आदि का विकल्प—पिण्डित (गाढ़े) रक्त में प्रच्छान क्रिया अर्थात् पच्छ लगाना चाहिए।

—अवगाढे जलौकसः।

जलौका-प्रयोग—अवगाढ अर्थात् गम्भीर रक्त में जोंक को लगाकर रक्त-निर्हरण करना चाहिए।

त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृङ्गम्—

तुम्बी एवं शृंगी यन्त्र—त्वचागत रक्त को निकालने में पच्छ लगाकर तुम्बीयन्त्र और शृंगीयन्त्र का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—प्रच्छान कर्म सामान्य-विशेष भेद से दो प्रकार का होता है—१. सामान्य खुरचना और २. विशेष छुरा (उस्तरा) आदि से गहरा घाव बनाना।

—शिरैव व्यापकेऽसृजि॥ ५४॥

सिरावेध-प्रयोग—सम्पूर्ण शरीर में दूषित रक्त के फैल जाने पर सिरामोक्षण अर्थात् सिरावेध का प्रयोग करना चाहिए॥ ५४॥

वातादिधाम वा शृङ्गजलौकोलाबुभिः क्रमात्।

रक्तस्रावणविधि-विकल्प—वातदूषित रक्त का श्रृंगीयन्त्र द्वारा, पित्तदूषित रक्त का जोंक द्वारा तथा कफदूषित रक्त का अलाबु (तुम्बी) यन्त्र द्वारा रक्तस्रावण करना चाहिए।

स्रुतासृजः प्रदेहाद्यैः शीतैः स्याद्वायुकोपतः ॥ ५५ ॥
सतोदकण्डूः शोफस्तं सर्पिषोष्णेन सेचयेत्।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने शस्त्रविधिर्नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

रक्तस्रावण में उपद्रव एवं शान्ति—रक्तस्रावण कर्म करने के बाद भी जब रक्त निकलता रहता है तो उसे रोकने के लिए शीतल लेप आदि का प्रयोग करने से कभी वात प्रकुपित हो जाता है, तब उस स्थान पर तोद, कण्डू, सूजन आदि उपद्रव हो जाते हैं। उनकी शान्ति के लिए उस स्थान पर गुनगुने घी का सेचन करना चाहिए॥ ५५॥

वक्तव्य—इस प्रकार की वेदनाओं की शान्ति का उपाय भगवान् धन्वन्तरि ने सु.सू. ५।४१ में दिया है, देखें।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
निर्मला हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में
शस्त्रविधि नामक छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त॥ २६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

अथातः सिराव्यधविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से सिराव्यध (सिरावेध) विधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—इसके पहले अध्याय में अलाबु (तुम्बी), शृंगी, जलौका (जोंक) तथा पच्छ लगाना आदि विधियों द्वारा रक्तावसेचन (रक्तनिर्हरण अथवा रक्ताहरण) के उपायों का वर्णन किया था, उसी क्रम में आने वाले सिरावेध-विधि का स्वतन्त्र वर्णन प्रस्तुत अध्याय में किया जा रहा है, क्योंकि इसका विषय अधिक विस्तृत है।

वात आदि दोषों द्वारा दूषित रक्तधातु जब कभी रोगोत्पत्ति का प्रधान कारण हो जाता है, तब रक्तस्राव किया एवं कराया जाता है और सिरावेध रक्तस्रावण की प्रमुख विधि है। पञ्जाब आदि देशों में जहाँ रक्तसार मनुष्य होते हैं, वहाँ वमन-विरेचन की भाँति सिरावेध भी कराया जाता है। ऋतुचर्या के क्रम में जहाँ सिरावेध कराया जाता है उसका उत्तम काल है—शरद् ऋतु। ध्यान रहे, जहाँ रक्तविकार में सिरावेध कराने में किसी प्रकार की बाधा प्रतीत होती है, वहाँ विरेचन कराने से भी लाभ होता है, फिर भी रक्तजनित विकारों की सिरावेध उत्तम चिकित्सा कही गयी है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—सु.सू. १४; सु.शा.८; च.सू. २४ तथा अ.सं.सू.३६ में देखें।

मधुरं लवणं किञ्चिदशीतोष्णमसंहतम्। पद्मेन्द्रगोपहेमाविशशलोहितलोहितम्॥ १॥
लोहितं प्रभवः शुद्धं, तनोस्तेनैव च स्थितिः।

शुद्ध रक्त का वर्णन—शुद्ध रक्त का परिचय—यह मधुररस युक्त, हलका नमकीन, समशीतोष्ण, असंहत अर्थात् गाँठरहित (द्रवरूप), कमल की पंखुड़ी, इन्द्रगोप (बीरबहूटी), तपाये गये सोने तथा अवि, शश (भेड़ एवं खरगोश) के रक्त के सदृश लाल वर्ण वाले रक्त को शुद्धरक्त कहते हैं। (हेम शब्द से कुछ आचार्य 'मजीठ' का ग्रहण करते हैं।) इसी रक्त से शरीर स्थित (स्वस्थ) रहता है॥ १॥

वक्तव्य—रक्त के पर्याय—लाल वर्ण वाला होने से इसे 'रक्त', इसमें लोहधातु के पाये जाने से इसे 'लोहित', गतिशील होने से इसे 'शोणित' तथा शरीर में घाव लगने पर दिखलायी देने के कारण इसे 'क्षतज' कहा जाता है। ऊपर इसे सोने के समान वर्ण वाला कहा गया है, यद्यपि सामान्य सोना पीला दिखता है किन्तु जब इसे तपाया जाता है, तब इसका वर्ण हलका लाल हो जाता है। अतएव सुवर्ण का एक नाम 'तपनीय' भी है। जैसा कि भगवान् आत्रेय ने च.सू. २४।२२ में कहा है। ऊपर शुद्ध रक्त को मधुर कहा है, यही कारण है कि उसे कुत्ता भी चाटता है, अशुद्ध को नहीं। भगवान् धन्वन्तरि ने इस शरीर का मूल आधार रक्त को ही माना है, अतएव इसकी रक्षा करनी चाहिए। इस बात को कहने के लिए उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि—**'रक्त ही जीव है'**। देखें—सु.सू. १४।४४।

तत्पित्तश्लेष्मलैः प्रायो दूष्यते—

रक्तदूषक तत्त्व—वह शुद्ध रक्त प्रायः पित्तदोष तथा कफदोष को बढाने वाले आहार-विहारों के सेवन से दूषित हो जाता है।

—कुरुते ततः ॥ २ ॥

विसर्पविद्रधिप्लीहगुल्माग्निसदनज्वरान् । मुखनेत्रशिरोरोगमदतृड्लवणास्यताः ॥ ३ ॥
कुष्ठवातास्रपित्तास्रकट्वम्लोद्गिरणभ्रमान्। शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः ॥ ४ ॥
सम्यक्साध्या न सिध्यन्ति ते च रक्तप्रकोपजाः।

रक्तज रोग—इस प्रकार दूषित हुआ वह रक्तधातु विसर्प, विद्रधि, प्लीहाविकार, गुल्मरोग, अग्निमान्द्य, ज्वर, मुखरोग, नेत्ररोग, शिरारोग, मद, तृषा, मुख का नमकीन बना रहना, कुष्ठरोग, वातरक्त, पित्तरक्त या रक्तपित्त, कडुवे एवं खट्टे डकारों का आना, वमन तथा चक्करों का आना—इन रोगों को उत्पन्न कर देता है। और जो सम्यक्साध्य रोग शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष उपचारों के करने पर भी शान्त नहीं हो पाते वे रोग भी रक्तदोष के प्रकोप से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए॥ २-४॥

वक्तव्य—उक्त रक्तज रोगों की चिकित्सा रक्तशोधक औषध-द्रव्यों के प्रयोग से करें। यदि इनसे भी लाभ न हो तो सिरावेध द्वारा रक्तस्रावण कराना चाहिए।

तेषु स्रावयितुं रक्तमुद्रिक्तं व्यधयेत्सिराम्॥ ५ ॥

सिरावेध का निर्देश—उक्त रक्तज रोगों में विकारयुक्त अतएव उभड़े हुए रक्त को निकालने के लिए निम्नलिखित विधि से सिरावेध कराना चाहिए॥ ५॥

न तूनषोडशातीतसप्तत्यब्दस्रुतासृजाम् । अस्निग्धास्वेदितात्यर्थस्वेदितानिलरोगिणाम्॥ ६ ॥
गर्भिणीसूतिकाजीर्णपित्तास्रश्वासकासिनाम् । अतीसारोदरच्छर्दिपाण्डुसर्वाङ्गशोफिनाम्॥ ७ ॥
स्नेहपीते प्रयुक्तेषु तथा पञ्चसु कर्मसु। नायन्त्रितां सिरां विध्येन्न तिर्यङ्नाप्यनुत्थिताम्॥ ८ ॥
नातिशीतोष्णवाताभ्रेष्वन्यत्रात्ययिकाद्गदात्।

सिरावेध-विधि—सिरावेध में आयुसीमा—१६ वर्ष की अवस्था से पहले और ७० वर्ष की अवस्था के बाद सिरावेध नहीं कराना चाहिए। जिनका अन्य कारणों से रक्त निकल चुका हों, जिनका स्नेहन तथा स्वेदन न किया गया हो अथवा जिनका अधिक स्वेदन हो गया हो, जो वातरोगी हों, गर्भिणी, सूतिका, अजीर्णरोगी, रक्तपित्त के रोगी, श्वास, कास, अतिसार, उदररोगी, छर्दि (वमन) रोगी, पाण्डुरोगी, जिनके सम्पूर्ण शरीर में शोथ हो गया हो, जिसने अभी-अभी स्नेहपान किया हो तथा पंचकर्म कराने के तत्काल बाद सिरावेधन नहीं कराना चाहिए। सिरावेध करने के पहले उसे भलीभाँति बाँध देना चाहिए तभी सिरावेध करें अर्थात् बिना बाँधे सिरावेध न करें। टेढ़ी तथा बिना उभरी सिरा का भी वेधन न करें। अधिक शीत तथा अधिक उष्ण कालों में, जब तेज हवा चल रही हो, बादल छाये हों इन स्थितियों में भी सिरावेध न करें। यदि अत्यन्त आवश्यकता हो तो सावधानीपूर्वक सिरावेध कर डालना चाहिए। यहाँ आत्ययिक रोग से तात्पर्य है—जब अन्य विधियों से लाभ न हो रहा हो तो ऐसी स्थिति को आत्ययिक कहते हैं, ऐसे में सिरावेध कर लेना चाहिए॥६-८॥

वक्तव्य—सिरायन्त्रण की विधि आगे इसी अध्याय के १८ से २२ तक के पद्यों में दी गयी है।

शिरोनेत्रविकारेषु ललाटद्यां मोक्षयेत्सिराम्॥ ९ ॥
अपाङ्ग्यामुपनास्यां वा—

रोग-विशेष में सिरावेध—शिरोरोग तथा नेत्ररोगों में माथा पर की सिरा का अथवा अपांगी (नेत्र के बाहर के कोण की) अथवा नासिका के समीप की सिरा का वेधन करे॥ ९॥

—कर्णरोगेषु कर्णजाम्।

कर्णरोग में सिरावेध—कान के रोगों में कान के समीप वाली सिरा का वेधन करना चाहिए।

नासारोगेषु नासाग्रे स्थितां—

नासारोग में सिरावेध—नासारोगों में नासिका के अग्रभाग की सिरा का वेधन करना चाहिए।

—नासाललाटयोः॥ १०॥

पीनसे—

पीनसरोग में सिरावेध—पीनस (प्रतिश्यांय) रोग में नासिका के अग्रभाग की तथा ललाट (माथा) की सिरा का वेधन करें॥ १०॥

—मुखरोगेषु जिह्वौष्ठहनुतालुगाः।

मुखरोग में सिरावेध—मुख सम्बन्धी रोगों में जीभ, ओष्ठ (होंठ), हनु (ठुड्डी) अथवा तालु की सिरा का वेधन करें।

जत्रूर्ध्वग्रन्थिषु ग्रीवाकर्णशङ्खशिरःश्रिताः॥ ११॥

ऊर्ध्वजत्रु के रोगों में—जत्रुअस्थि के ऊपर की ग्रन्थियों में होने वाले रोगों में ग्रीवा (गरदन), कर्ण, शंख (कनपटी) तथा सिर की सिराओं का वेधन करना चाहिए॥ ११॥

उरोपाङ्गललाटस्था उन्मादे—

उन्मादरोग में—उन्मादरोग में उरस् (छाती), अपांग (आँख का कोण) तथा ललाट की सिरा का वेधन करें।

—ऽपस्मृतौ पुनः।
हनुसन्धौ समस्ते वा शिरां भ्रूमध्यगामिनीम्॥ १२॥

अपस्माररोग में—अपस्माररोग में हनुसन्धि में अथवा सम्पूर्ण हनुप्रदेश की सिराओं में अथवा दोनों भौंहों के बीच में स्थित सिरा का वेधन करना चाहिए॥ १२॥

विद्रधौ पार्श्वशूले च पार्श्वकक्षास्तनान्तरे।

विद्रधि तथा पार्श्वशूल में —विद्रधि तथा पार्श्वशूल में पसलियों में, कक्षाओं में तथा स्तनों के बीच में स्थित सिराओं का वेधन करना चाहिए।

तृतीयकेंऽसयोर्मध्ये—

तृतीयकज्वर में—तृतीयकज्वर में दोनों अंसफलकों के बीच में स्थित सिरा का वेधन करना चाहिए।

—स्कन्धस्याधश्चतुर्थके॥ १३॥

चतुर्थकज्वर में—चतुर्थकज्वर में दोनों स्कन्धसन्धियों के निचले भाग में सिरावेधन करना चाहिए।

प्रवाहिकायां शूलिन्यां श्रोणितो द्व्यङ्गुले स्थिताम्।

प्रवाहिकारोग में—शूल युक्त प्रवाहिकारोग में किसी एक श्रोणि (नितम्ब या चूतड़) में कमर के नीचे दो अंगुल दूरी पर स्थित सिरा का वेधन करना चाहिए।

शुक्रमेढ्रामये मेढ्रे—

शुक्र एवं शिश्न रोगों में—शुक्र सम्बन्धी रोगों में तथा शिश्न (पुरुष-मूत्रेन्द्रिय) सम्बन्धी (शूकदोष, उपदंश एवं परिवर्तिका आदि) रोगों में शिश्न (लिंग) की सिरा का वेधन करना चाहिए।

—ऊरुगां गलगण्डयोः॥ १४॥

गलगण्डरोग में—गलगण्ड (घेघा) तथा गण्डमाला रोगों में ऊरुमूलगत सिरा का वेधन करना चाहिए॥ १४॥

गृध्रस्यां जानुनोऽधस्तादूर्ध्वं वा चतुरङ्गुले।

गृध्रसीरोग में—गृध्रसीरोग में जानुसन्धि के चार अंगुल नीचे अथवा चार अंगुल ऊपर में स्थित सिरा का वेधन करना चाहिए।

इन्द्रबस्तेरधोऽपच्यां द्व्यङ्गुले—

अपचीरोग में—अपचीरोग में इन्द्रबस्ति नामक मर्म के दो अंगुल नीचे सिरावेधन करना चाहिए।

वक्तव्य—इन्द्रबस्ति-मांसमर्म तथा कालान्तर प्राणहरमर्म है, 'पार्ष्णिं प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रबस्तिः' अर्थात् पार्ष्णि (एड़ी) के ऊपर जंघा के बीच में 'इन्द्रबस्ति' नामक मर्म है। इसी से दूसरी टाँग और बाँह के मर्मों को भी समझ लेना चाहिए। देखें—सु. शा. ६।२४। इसका वर्णन सु.चि. १८।२५ में भी किया है। और देखें—अ.हृ.शा. ४।५। गण्डमाला और अपची में भेद हैं। देखें—सु.नि. ११।११।

—चतुरङ्गुले॥ १५॥

ऊर्ध्वं गुल्फस्य सक्थ्यर्तौ, तथा क्रोष्टुकशीर्षके।

प्रमुख वातरोगों में—सक्थिगत वातज रोगों (खंजता, पंगुता आदि) में और क्रोष्टुशीर्षक रोग में गुल्फ (एड़ी के ऊपर की गाँठ, टखना या घुट्ठी की) सन्धि के चार अंगुल ऊपर सिरावेध करना चाहिए॥ १५॥

पाददाहे खुडे हर्षे विपाद्यां वातकण्टके॥ १६॥
चिप्पे च द्व्यङ्गुले विध्येदुपरि क्षिप्रमर्मणः।

पाददाह आदि में—पाददाह, खुड (वातरक्त) रोग, पादहर्ष, विपादिका, वातकण्टक तथा चिप्प नामक नखरोग में क्षिप्र नामक मर्म (अंगुष्ठ एवं अंगुलि के बीच में स्थित) के दो अंगुल ऊपर सिरावेध करना चाहिए॥ १६॥

गृध्रस्यामिव विश्वाच्यां—

विश्वाचीरोग में—विश्वाचीरोग में गृध्रसीरोग के समान कूर्पर सन्धि के नीचे या ऊपर चार अंगुल पर सिरावेध करना चाहिए।

—यथोक्तानामदर्शने॥ १७॥

मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्यां व्यधयेत् सिराम्।

अन्यत्र सिरावेध-निर्देश—ऊपर कहे गये रोगों में निर्दिष्ट सिराएँ उभार युक्त न दिखलायी दें, तो समीप में स्थित एवं मर्मरहित किसी अन्य सिरा का वेधन सावधानी से कर लेना चाहिए॥ १७॥

अथ स्निग्धतनुः सज्जसर्वोपकरणो बली॥ १८॥
कृतस्वस्त्ययनः स्निग्धरसान्नप्रतिभोजितः। अग्नितापातपस्विन्नो जानूच्चासनसंस्थितः॥ १९॥
मृदुपट्टात्तकेशान्तो जानुस्थापितकूर्परः। मुष्टिभ्यां वस्त्रगर्भाभ्यां मन्ये गाढं निपीडयेत्॥ २०॥
दन्तप्रपीडनोत्कासगण्डाध्मानानि चाचरेत्। पृष्ठतो यन्त्रयेच्चैनं वस्त्रमावेष्टयन्नरः॥ २१॥
कन्धरायां परिक्षिप्य न्यस्यान्तर्वामतर्जनीम्। एषोऽन्तर्मुखवर्ज्यानां सिराणां यन्त्रणे विधिः॥

सिरायन्त्रण-विधि—सिरावेधन करने के पहले स्वस्तिवाचन आदि मांगलिक कार्य कराकर तब उस व्यक्ति (रोगी) का भलीभाँति स्नेहन करना चाहिए और सिरावेधन के उपयोग में आने वाली सभी सामग्री (रस्सी, पट्टी, कुठारिका आदि शस्त्र, रक्तस्रावक तथा रोधक औषध-द्रव्य) तैयार रखें; साथ ही स्निग्ध

सिरावेधन करना है, वह बलवान् हो। उसे स्निग्ध रस (मांसरस) युक्त भोजन करा दिया हो, अग्निताप से अथवा आतप (धूप) से उसका स्वेदन कराकर जानुभर ऊँचे आसन (कुर्सी) पर उसे बैठायें। उसके बालों को कोमल वस्त्र से बाँध दें, उसकी दोनों कोहनियों को दोनों घुटनों पर रख दें और दोनों हाथों में कपड़े के टुकड़े देकर मुट्ठियाँ बाँधकर उनसे दोनों मन्याओं (गरदन की दोनों ओर की धमनियों) को जोर से दबायें। इस समय रोगी दाँतों को कसकर दबाये, खाँसने का प्रयत्न न करे और अपने गालों को फुलाये। इसी समय परिचारक (कम्पाउण्डर) पीठ की ओर खड़ा होकर कपड़े से इसके गला को लपेटता हुआ अपने बायें हाथ की तर्जनी अँगुली को कपड़ा के दोनों भागों के मध्य में रखकर उसके गले को कसकर बाँधे। यह मुख के भीतरी सिराओं के अतिरिक्त शिरःप्रदेश में स्थित सभी शिराओं को उभाड़ने के लिए यन्त्रणविधि कही गयी है। १८-२२॥

वक्तव्य—इस सिरायन्त्रण कार्य में यह सावधानी रखनी चाहिए कि कहीं अधिक रोगी के श्वास-प्रश्वास न रुकें। इस प्रकार यन्त्रित कर देने पर रोगी का मुखमण्डल लाल होकर सभी सिराएँ उभरी हुई दिखलायी देती हैं, इसके बाद ही सिरावेध किया जाता है।

ततो मध्यमयाऽङ्गुल्या वैद्योऽङ्गुष्ठविमुक्तया। ताडयेत्—

सिरावेधन-विधि—समुचित विधि से सिरायन्त्रण कर देने के बाद चिकित्सक अँगूठा द्वारा छटकायी हुई मध्यम अँगुली से निर्दिष्ट सिरा का ताड़न करें।

—उत्थितां ज्ञात्वा स्पर्शाद्वाऽङ्गुष्ठपीडनैः॥ २३॥
कुठार्या लक्षयेन्मध्ये वामहस्तगृहीतया। फलोद्देशे सुनिष्कम्पं सिरां, तद्वच्च मोक्षयेत्॥ २४॥
ताडयन् पीडयंश्चैनां—

कुठारिका-प्रयोग—जब सिरा उभर आये तब उसे मसल कर अथवा अँगूठा से दबाकर उसे और भी उभार ले, उसके बाद बायें हाथ से मूठ पर पकड़ी गयी कुठारिका को उस उठी हुई सिरा के ऊपर रखकर अँगूठा द्वारा छटकायी गयी मध्यम अँगुली से उस कुठारिका पर आघात करे (चोट मारे), जिससे सिरावेध हो जाता है, फिर रक्तस्राव होने दें॥ २३-२४॥

—विध्येद्व्रीहिमुखेन तु। अङ्गुष्ठेनोन्नमय्याग्रे नासिकामुपनासिकाम्॥ २५॥

उपनासिका-सिरावेध—नासिका के अगले भाग को अँगूठा से ऊपर की ओर उठाकर उपनासिका सिरा का वेधन व्रीहिमुख नामक शस्त्र से करना चाहिए॥ २५॥

अभ्युन्नतविदष्टाग्रजिह्वस्याधस्तदाश्रयाम्।

जिह्वा-सिरावेध—जीभ को तालु की ओर ले जाकर उसे दाँतों से दबाकर जीभ के निचले भाग में स्थित सिरा का वेधन करना चाहिए।

यन्त्रयेत्स्तनयोरूर्ध्वं ग्रीवाश्रितसिराव्यधे॥ २६॥॥

ग्रीवा-सिरावेध—ग्रीवाप्रदेश में आश्रित सिरा का वेधन करने के लिए दोनों स्तनों के ऊपर की ओर यन्त्रणा करें॥ २६॥

पाषाणगर्भहस्तस्य जानुस्थे प्रसृते भुजे। कुक्षेरारभ्य मृदिते विध्येद्बद्धोर्ध्वपट्टके॥ २७॥

फिर रोगी दोनों हाथों में पत्थर के टुकड़ों को पकड़कर दोनों भुजाओं को घुटनों के ऊपर रख कर और उन्हें फैलाकर बैठ जाय तथा उसके पेट से लेकर गरदन तक के अंगों को मसला जाय और उसके ऊपर पट्टी बाँध दी जाय, तदनन्तर ग्रीवा में सिरावेध करें॥ २७॥

वक्तव्य—पेट तथा छाती की सिराओं के वेधन के लिए देखें—'उदरो····देहस्य'। (सु.शा. ८।८)

विध्येद्धस्तशिरां बाहावनाकुञ्चितकूर्परे। बद्ध्वा सुखोपविष्टस्य मुष्टिमङ्गुष्ठगर्भिणम्॥ २८॥
ऊर्ध्वं वेध्यप्रदेशाच्च पट्टिकां चतुरङ्गुले।

बाहु-सिरावेध—बाँह को फैलाकर तथा अँगूठा को बीच में रखकर मुट्ठी बाँधकर सुख (आराम) से बैठे हुए रोगी के बाँह पर वेधन योग्य स्थान से चार अंगुल ऊपर पट्टी बाँधकर सिरावेध करे॥ २८॥

विध्येदालम्बमानस्य बाहुभ्यां पार्श्वयोः सिराम्॥ २९॥

पार्श्वस्थ सिरावेध—बाहुओं के बल से लटकते हुए दाहिने तथा बायें पार्श्व की किसी एक सिरा का वेधन करें॥ २९॥

प्रहृष्टे मेहने—

लिंग का सिरावेध—मेहन (पुरुष-मूत्रेन्द्रिय) के उत्तेजित होने पर इसकी सिरा का वेधन करें।

—जङ्घासिरां जानुन्यकुञ्चिते।

जंघा-सिरावेध—पाँवों को फैलाकर जंघा की सिरा का वेधन करना चाहिए।

पादे तु सुस्थितेऽधस्ताज्जानुसन्धेर्निपीडिते॥ ३०॥
गाढं कराभ्यामागुल्फं चरणे तस्य चोपरि। द्वितीये कुञ्चिते किञ्चिदारूढे हस्तवत्ततः॥ ३१॥
बद्ध्वा विध्येत्सिराम्—

पाद-सिरावेध—पैरों को समतल भूमि पर रखकर जानुसन्धि के नीचे से लेकर गुल्फसन्धि तक हाथों से दबाकर उस पैर के ऊपर दूसरे पैर को कुछ मोड़कर रखें और उसे कुछ ऊँचा करके बाँह के सिरावेध की भाँति जहाँ सिरावेध करना है उससे चार अंगुल ऊपर पट्टी बाँधकर सिरावेधन करें। यह पादसिराओं के यन्त्रण-विधि से लेकर सिरावेध तक का वर्णन कर दिया है॥ ३०-३१॥

—इत्थमनुक्तेष्वपि कल्पयेत्। तेषु तेषु प्रदेशेषु तत्तद्यन्त्रमुपायवित्॥ ३२॥

सिरावेध-निर्देश—उक्त निर्देशों के अनुसार उपाय को जानने वाला चिकित्सक शरीर के उन-उन अनुक्त अंगों का बन्धन कर सिरा को उभाड़ कर उसका वेधन करें॥ ३२॥

मांसले निक्षिपेद्देशे व्रीह्यास्यं व्रीहिमात्रकम्। यवार्धमस्थ्नामुपरि सिरां विध्यन् कुठारिकाम्॥

वेध का परिमाण—मांसल शरीर के अवयवों में व्रीहिमुख नामक शस्त्र से जौ के बराबर गहरा घाव बनाना चाहिए। अस्थियों के ऊपर से गई हुई सिरा का वेधन करना हो तो कुठारिका नामक शस्त्र से आधा जौ के बराबर गहरा घाव करना चाहिए॥ ३३॥

सम्यग्विद्धा स्रवेद्धारां यन्त्रे मुक्ते तु न स्रवेत्।

सम्यक् वेध का वर्णन—सिरावेध समुचित रूप से हो जाने पर उसमें से रक्त की तेज धारा निकलती है और ज्यों ही यन्त्रण (बन्धन) खोल दिया जाता है, फिर रक्त नहीं निकलता या थोड़ा निकलता है।

अल्पकालं वहत्यल्पं, दुर्विद्धा तैलचूर्णनैः॥ ३४॥
सशब्दमतिविद्धा तु स्रवेद् दुःखेन धार्यते।

दुर्वेध आदि का वर्णन—सिरा का मिथ्यावेध होने पर थोड़ा-सा रक्त थोड़े समय तक बहता है अथवा तैलमिश्रित चूर्णों के प्रयोग करने पर थोड़ा निकलता है। अतिवेध होने पर अव्यक्त शब्द के साथ रक्त बहने लगता है और रोकने का प्रयास करने पर वह (रक्त) रुक पाता है॥ ३४॥

भीमूर्च्छायन्त्रशैथिल्यकुण्ठशस्त्रातितृप्तयः ॥ ३५॥
क्षामत्ववेगितास्वेदा रक्तस्यास्रुतिहेतवः।

रक्त न बहने के कारण—भय, मूर्च्छा, यन्त्रण कर्म का ढीलापन, यन्त्र के कुण्ठित होने से सिरा का समुचित वेध न हो पाना, अधिक भोजन करने के बाद सिरावेध करना, शरीर की क्षीणता, मल-मूत्र आदि के वेग की तीव्र प्रवृत्ति तथा सिरावेध के पहले समुचित स्वेदन कर्म का अभाव—ये सभी सिरावेध में से रक्त न निकल पाने में प्रमुख कारण माने गये हैं॥ ३५॥

असम्यगस्रे स्रवति वेल्लव्योषनिशानतैः॥ ३६॥
सागारधूमलवणतैलैर्दिह्याच्छिरामुखम् ।

रक्तस्रावण के उपाय—यदि सिरावेध करने पर उचित रूप से रक्त न निकल रहा हो तो जिस स्थान पर सिरावेध किया गया है उसके मुखमार्ग पर वायविडंग, सोंठ, मरिच, पीपल, हल्दी, तगर, गृहधूम तथा नमक के चूर्ण को तेल में मिलाकर लेप लगा दें॥ ३६॥

सम्यक्प्रवृत्ते कोष्णेन तैलेन लवणेन च॥ ३७॥

जब समुचित ढंग से रक्त निकल रहा हो तो भी सिरामुख में गुनगुना तेल में नमक मिलाकर लेप कर दें। इस उपाय से रक्त के निकलने में कोई बाधा (रुकावट) नहीं होती॥ ३७॥

अग्रे स्रवति दुष्टास्रं कुसुम्भादिव पीतिका।

रक्तस्राव का वर्णन—सिरावेध करते ही सबसे पहले दोषदूषित रक्त उस प्रकार निकलता है, जैसे कुसुम्भ के फूलों में से पीला रंग।

सम्यक्स्रुत्वा स्वयं तिष्ठेच्छुद्धं तदिति नाहरेत्॥ ३८॥

स्रावण-उपायों का निषेध—यदि सिरावेध करने पर उचित मात्रा में दूषित रक्त निकल कर स्वयं रुक जाय तो फिर ऊपर श्लोक ३६-३७ में कहे गये रक्तस्रावण के उपायों का उपयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्वयं रक्तस्राव के रुक जाने के बाद उक्त प्रयत्न करने पर जो रक्त निकलेगा वह शुद्ध रक्त होगा, उसकी रक्षा करें॥ ३८॥

यन्त्रं विमुच्य मूर्च्छायां वीजिते व्यजनैः पुनः। स्रावयेन्मूर्च्छति पुनस्त्वपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा॥ ३९॥

मूर्च्छा में कर्तव्य—यदि सिरावेध करते समय रोगी को रक्तदर्शन से मूर्च्छा (बेहोशी) आ जाय तो शीघ्र ही बन्धन को खोलकर उसे पंखे से हवा करनी चाहिए, इससे उसकी मूर्च्छा शान्त हो जाती है। इतने पर भी शान्त न हो तो मूर्च्छानाशक अन्य उपाय करें। स्वास्थ्य-लाभ हो जाने पर पुनः सिरावेध करें, यदि फिर मूर्च्छित हो जाय तो दूसरे अथवा तीसरे दिन फिर सिरावेध करें॥ ३९॥

वक्तव्य—रक्तदर्शन का प्रभाव ऐसा होता है कि इससे डरपोक तथा साहसी दोनों भी मूर्च्छित होते देखे जाते हैं। देखें—'वातादिभिः शोणितेन' (सु.उ. ४६।८) अर्थात् छः प्रकार से होने वाली मूर्च्छा में शोणित (रक्त) भी अन्यतम कारण होता है। सिरावेध द्वारा साध्य रोगों में इसे कराना आवश्यक होता है। रक्त को देखकर आने वाली मूर्च्छा बार-बार नहीं आती। इससे सम्बन्धित सु.शा. ८।१३-१५ के इन पद्यों का भी परिशीलन अवश्य कर लेना चाहिए।

वाताच्छ्यावारुणं रूक्षं वेगस्राव्यच्छफेनिलम्।

वातदूषित रक्त के लक्षण—वातदोष से दूषित रक्त का वर्ण श्याव तथा अरुण (ईंट के वर्ण का), रूक्ष, वेग से निकलने वाला, पतला तथा झागदार होता है।

पित्तात् पीतासितं विस्रमस्कन्द्यौष्ण्यात्सचन्द्रिकम्॥ ४०॥

पित्तदूषित रक्त के लक्षण—पित्तदोष से दूषित रक्त का वर्ण कुछ पीला, कुछ काला, विस्र (आमगन्ध वाला), शीघ्र न जमने वाला, उष्ण होने के कारण चन्द्रिकाओं (चमकीली रेखाओं) से युक्त देखा जाता है॥ ४०॥

कफात् स्निग्धमसृक्पाण्डु तन्तुमत्पिच्छिलं घनम्।

कफदूषित रक्त के लक्षण—कफदोष से दूषित रक्त स्निग्ध (चिकना), पीले वर्ण वाला, तन्तुमत् (लार के सदृश), पिच्छिल (चिपचिपा) तथा गाढ़ा होता है।

संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्—

द्वन्द्वज रक्त के लक्षण—दो-दो दोषों द्वारा दूषित रक्त में उन-उन दोषों के लक्षण दिखलायी देते हैं, जिनसे वह रक्त युक्त होता है।

—त्रिदोषं मलिनाविलम्॥ ४१॥

त्रिदोषज रक्त के लक्षण—वात आदि तीनों दोषों से दूषित रक्त मलिन वर्ण वाला तथा आविल (गदला) होता है॥ ४१॥

अशुद्धौ बलिनोऽप्यस्रं न प्रस्थात्स्रावयेत्परम्। अतिस्रुतौ हि मृत्युः स्याद्दारुणा वा चलामयाः॥

सिरावेध में रक्त का परिमाण—बलवान् रोगी का भी अशुद्ध रक्त एक बार में एक प्रस्थ से अधिक नहीं निकालना चाहिए, क्योंकि अधिक मात्रा में रक्त के निकल जाने पर अत्यन्त कष्टकारक वातरोग हो सकते हैं अथवा मृत्यु भी हो सकती है॥ ४२॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने भी रक्तमोक्षण का १ प्रस्थ परिमाण माना है। 'बलवान्, प्रचुर दोष वाले तथा युवा पुरुष का अधिक-से-अधिक १ प्रस्थ रक्त निकालना चाहिए'। देखें—सु. शा. ८।१६। इस सम्बन्ध में कहा गया है—'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः'॥ (शा.सं.उ. ३।१८) इसके अनुसार १ प्रस्थ ६४ तोला का नहीं अपितु १३½ पल = ५४ तोला का होता है। सिरावेध से निकले हुए रक्त का किसी चौड़े पात्र में संग्रह करके देखें कि कहीं अधिक रक्त तो नहीं निकल गया। क्योंकि अधिक रक्त न निकल जाय, अतएव कहा है—'देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते। तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः'॥ (सु.सू. १४।४४)

तत्राभ्यङ्गरसक्षीररक्तपानानि भेषजम्।

विविध चिकित्सा—यदि अधिक मात्रा में रक्त निकल गया हो तो शीघ्र ही अभ्यंग, मांसरस, दूध अथवा बकरा आदि नीरोग प्राणी का रक्त उसे पिलाना चाहिए। इसे 'स्वयोनिवर्धन' चिकित्सा कहते हैं।

स्रुते रक्ते शनैर्यन्त्रमपनीय हिमाम्बुना॥ ४३॥
प्रक्षाल्य तैलप्लोताक्तं बन्धनीयं सिरामुखम्।

उपचार-विधि—यदि रक्त का स्राव अधिक मात्रा में हो गया हो तो तत्काल बन्धन को खोलकर उस सिरा के मुख को बरफ के पानी से धोकर उसके ऊपर तेल में भिगाया हुआ रुई का फाहा रखकर पट्टी बाँध दें॥ ४३॥

अशुद्धं स्रावयेद्भूयः सायमह्न्यपरेऽपि वा॥ ४४॥
स्नेहोपस्कृतदेहस्य पक्षाद्वा भृशदूषितम्।

पुनः सिरावेध—यदि कुछ अशुद्ध रक्त शेष रह गया हो तो उसका पुनः सिरावेध-विधि से उसी दिन सायंकाल अथवा दूसरे दिन रक्त-निर्हरण करा दें। अधिक रक्त दूषित हो तो रोगी को स्नेहन कराकर १५ दिन में फिर सिरावेध कराना चाहिए॥ ४४॥

किञ्चिद्धि शेषे दुष्टास्रे नैव रोगोऽतिवर्तते॥ ४५॥
सशेषमप्यतो धार्यं न चातिस्रुतिमाचरेत्।

अधिक रक्तस्राव का निषेध—यदि कुछ दूषित रक्त बच भी जाता है तो रोग बढ़ता नहीं, अतः भले ही दूषित रक्त शेष रह जाता है तो बुरा नहीं है; किन्तु रक्त का अधिक स्राव नहीं होना चाहिए॥ ४५॥

हरेच्छृङ्गादिभिः शेषम्—

शृंगयन्त्र का प्रयोग—जो दूषित रक्त पहली बार में नहीं निकल पाया उसका निर्हरण सिंगी आदि यन्त्रों के प्रयोग से करें।

—प्रसादमथवा नयेत्॥ ४६॥

शीतोपचारपित्तास्रक्रियाशुद्धिविशोषणैः । दुष्टं रक्तमनुद्रिक्तमेवमेव प्रसादयेत्॥ ४७॥

रक्तशुद्धि के उपाय—अथवा जो अशुद्ध रक्त शेष रह गया है, उसे शुद्ध करने के लिए निम्नलिखित उपायों का प्रयोग करें। शीतल उपचारों (आहार-विहार तथा औषध-प्रयोगों) से, रक्तपित्त-अधिकार में कही गयी चिकित्सा-विधि से, वमन-विरेचन आदि शोधन उपायों से, लंघन आदि सुखाने के उपायों से वह दूषित रक्त, जो बाहर नहीं निकल पाया है, उसे इन विधियों से शुद्ध करें॥ ४६-४७॥

रक्ते त्वतिष्ठति क्षिप्रं स्तम्भनीमाचरेत्क्रियाम्।

स्तम्भनक्रिया-निर्देश—यदि रक्त का स्राव न रुक रहा हो तो शीघ्र ही निम्नलिखित स्तम्भनकारक (रोकने वाली) चिकित्सा करें।

रोध्रप्रियङ्गुपत्तङ्गमाषयष्ट्याह्वगैरिकैः ॥ ४८॥
मृत्कपालाञ्जनक्षौममषीक्षीरित्वगङ्कुरैः। विचूर्णयेद्व्रणमुखं पद्मकादिहिमं पिबेत्॥ ४९॥
तामेव वा सिरां विध्येद्व्यधात्तस्मादनन्तरम्। सिरामुखं वा त्वरितं दहेत्तप्तशलाकया॥ ५०॥

रक्तस्तम्भन-उपचार—व्रणमुख (जहाँ सिरावेध किया है) पर लोध, प्रियंगु, पतंग, उड़द, मुलेठी, गेरू, मृत्कपाल (मिट्टी के घड़े के टुकड़े), सफेद या काला सुरमा, रेशमी वस्त्र की राख, क्षीरी वृक्षों (जिन वृक्षों की छाल से दूध निकलता हो) की छाल तथा अंकुरों का चूर्ण बनाकर डालें या बुरक दें अथवा पद्मकादि गण (अ.हृ.सू. १५।१२) के द्रव्यों का हिम पीना चाहिए अथवा पहले किये हुए वेधस्थल से ३-४ अंगुल ऊपर की ओर सिरावेध कर दें अथवा आग में तपाई हुई लोहे की शलाका से उस सिरावेध वाले छिद्र को जला दें। इन उपचारों से रक्त का निकलना बन्द हो जाता है॥ ४८-५०॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने भी प्रायः ये ही उपाय रक्तस्राव को रोकने के लिए बतलाये हैं। देखें—सु. सू. १५।३९-४०।

उन्मार्गगा यन्त्रनिपीडनेन स्वस्थानमायान्ति पुनर्न यावत्।
दोषाः प्रदुष्टा रुधिरं प्रपन्नास्तावद्धिताहारविहारभाक् स्यात्॥ ५१॥

रक्तस्रावण का पश्चात्कर्म—रक्तधातु में गये हुए दूषित वात आदि दोष यन्त्रण (बन्धन) क्रिया द्वारा जब उलटी ओर को गतिशील हो जाते हैं और जब तक वे दोष अपने स्थान में नहीं आ जाते, तब तक उक्त रोगी को हितकर आहार-विहार का सेवन करते रहना चाहिए॥ ५१॥

नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।
तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृगग्निर्विशेषादिति रक्षितव्यः॥ ५२॥

रक्तस्रावण में पथ्य—सिरावेध-विधि से रक्त-निर्हरण करने के बाद वह अन्न (आहार), पान (पेय) हितकर होता है, जो न अधिक गरम हो और न जो अधिक शीतल हो, लघु (सुपाच्य) तथा दीपनीय (अग्निवर्धक) हो; क्योंकि उस समय अर्थात् रक्तमोक्षण काल में रक्तधातु अव्यवस्थित हो जाता है, अतएव पाचक आदि शरीरस्थ अग्नियों की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए॥ ५२॥

वक्तव्य—सुश्रुत में उक्त विषय को इस प्रकार कहा गया है—'रक्तधातु के क्षीण हो जाने पर, रक्त का स्राव हो जाने पर पाचकाग्नि मन्द पड़ जाता है और वातदोष प्रकुपित हो जाता है। इसलिए न अधिक गरम, न अधिक शीतल, हलके, स्निग्ध, रक्तवर्धक, खट्टे तथा मीठे भोजन उसे खिलायें'। चरक सू. २४ में उक्त ५१ तथा ५२ श्लोक अविकलरूप से क्रम संख्या २३ तथा २४ में दिये हैं।

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम् ।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति॥५३॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने शिराव्यधविधिर्नाम सप्तविंशोऽध्यायः॥२७॥

रक्तशुद्धि के लक्षण—जिसका वर्ण प्रसन्न (कान्ति = प्रभासम्पन्न) हो, ज्ञानेन्द्रियाँ प्रसन्न हों अर्थात् अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ हों, जो श्रोत्र आदि विषयों के अर्थों (विषयों) को ग्रहण करना चाहता हो, जिसकी पाचन क्रिया में किसी प्रकार की रुकावट न हो, जो सुख, पुष्टि तथा बल से युक्त हो, उस पुरुष को विशुद्ध रक्त वाला कहते हैं॥५३॥

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में सिराव्यधविधि नामक सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

अथातः शल्याहरणविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से विविध प्रकार के शल्यों को निकालने की विधियों का व्याख्यान करेंगे। जैसा कि इस विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—सुश्रुत ने शल्य का परिचय इस प्रकार दिया है—'तत्र मनःशरीराऽऽबाधकराणि शल्यानि'। (सु.सू. ७।४) तथा 'सर्वशरीराऽऽबाधकरं शल्यम्'। (सु.सू. २६।५) अर्थात् जो सम्पूर्ण शरीर तथा मन को पीड़ित करता है, उसे शल्य कहते हैं। आशुगमनार्थक शल् धातु से यत् प्रत्यय जोड़कर शल्य शब्द निष्पन्न होता है। इसके उपादान ये हैं—बर्छी, सींग, बाण, काँटा, हड्डी, दूषित रक्त, गर्भ, शोक, शत्रु, विषाद आदि। सिरावेध-विधि के बाद अब यहाँ से शल्याहरण-विधि का वर्णन प्रारम्भ किया जा रहा है, क्योंकि पहले अध्याय में सम्पूर्ण शरीरव्यापी दूषित रक्त रूप शल्य को निकालने का उपक्रम किया गया था। अब इस अध्याय में शरीर के प्रत्येक अवयव में प्रविष्ट लोह आदि शल्य के लक्षणों तथा उनको निकालने के उपायों का वर्णन किया जायेगा।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—सु.सू. २६-२७ तथा अ.सं.सू. ३७ में देखें। इस विषय का वर्णन चरकसंहिता में उनके सिद्धान्तानुसार नहीं है।

वक्रर्जुतिर्यगूर्ध्वाधः शल्यानां पञ्चधा गतिः।

शल्य की गतियाँ—शरीरावयवों में प्रविष्ट होते समय शल्यों की गति पाँच प्रकार से होती है। यथा—१. वक्र (टेढ़ी), २. ऋजु (सीधी), ३. तिर्यक् (तिरछी), ४. ऊर्ध्व (ऊपर की ओर) तथा ५. अधः (नीचे की ओर)।

वक्तव्य—उक्त पाठ के आधारस्थलों का अवलोकन करें—सु.सू. २६।८ तथा अ.सं.सू. ३७।३ पर। शल्यशास्त्र में शल्य शारीर एवं आगन्तुज भेद से दो प्रकार का माना जाता है। इनको निकालने की विधियों का इस अध्याय में वर्णन किया गया है।

ध्यामं शोफरुजावन्तं स्रवन्तं शोणितं मुहुः॥ १॥
अभ्युद्गतं बुद्बुदवत्पिटिकोपचितं व्रणम्। मृदुमांसं च जानीयादन्तःशल्यं समासतः॥ २॥

अन्तःशल्य के लक्षण—संक्षेप से अन्तःशल्य (भीतर गये हुए शल्य) के ये लक्षण होते हैं—ध्याम (काला या मलिन) वर्ण वाला, उस स्थान पर शोथ तथा पीड़ा का होना, जिस स्थान से बार-बार रक्तस्राव हो रहा हो, जो स्थान बुलबुला की भाँति उभार युक्त हो, जिसके आस-पास में अनेक छोटी-छोटी पिडकाएँ हो गयी हों और जहाँ का मांस मृदु (कोमल) हो गया हो, ये अन्तःशल्य के लक्षण हैं॥ १-२॥

विशेषात्त्वग्गते शल्ये विवर्णः कठिनायतः। शोफो भवति—

त्वचागत शल्य के लक्षण—विशेष करके यदि शल्य त्वचा में प्रविष्ट होता है, तो उस स्थान की त्वचा का रंग बदल जाता है। वह स्थान स्पर्श में कठोर तथा चौड़ा हो जाता है।

—मांसस्थे चोषः शोफो विवर्द्धते॥ ३॥

पीडनाक्षमता पाकः शल्यमार्गो न रोहति।

मांसगत शल्य के लक्षण—यदि शल्य मांसधातु में प्रविष्ट होता है तो चोष (चूसने की जैसी पीड़ा) होता है, उस स्थान पर शोथ बहने लगता है, उस स्थान को छूने में कष्ट होता है, वह स्थान पक जाता है और चिकित्सा करने पर शल्यमार्ग (जहाँ से शल्य भीतर घुसा वह) शीघ्र भरता नहीं है॥ ३॥

पेश्यन्तरगते मांसप्राप्तवच्छ्वयथुं विना॥ ४॥

पेशीगत शल्य के लक्षण—यदि शल्य मांसपेशियों (मांसधातु में ही प्रविष्ट होकर वायुपेशियों का विभाजन करता है) के भीतर प्रविष्ट हो जाता है, तो इसमें भी मांसगत शल्य के उक्त सभी लक्षण हो जाते हैं, किन्तु इसमें सूजन नहीं होती॥ ४॥

आक्षेपः स्नायुजालस्य संरम्भस्तम्भवेदनाः। स्नायुगे दुर्हरं चैतत्—

स्नायुगत शल्य के लक्षण—यदि शल्य स्नायुओं में प्रविष्ट हो जाता है तो स्नायुजाल में आक्षेप (खिंचाव), संरम्भ (क्षोभ—हलचल), स्तम्भ (जड़ता) तथा पीड़ा होती है और यह शल्य बड़े कष्ट से निकाला जा सकता है।

वक्तव्य—स्नायु-परिचय—इनसे शरीर में स्थित मांसपेशियाँ, अस्थियाँ, मेदोधातु तथा सन्धियाँ दृढता से बँधी रहती हैं। ये शिराओं से अधिक मजबूत होती हैं। देखें—शा. सं. पू. खं. ५।५५।

—सिराध्मानं सिराश्रिते॥ ५॥

सिरागत शल्य के लक्षण—यदि शल्य सिराओं में प्रविष्ट हो जाता है तो सिराएँ आध्मान युक्त हो जाती हैं अर्थात् फूल जाती हैं॥ ५॥

स्वकर्मगुणहानिः स्यात्स्रोतसां स्रोतसि स्थिते।

स्रोतोगत शल्य के लक्षण—यदि शल्य स्रोतों में प्रविष्ट हो जाता है तो स्रोतों के कर्मों तथा गुणों की हानि हो जाती है।

वक्तव्य—स्रोतस्-परिचय—सु.शा. ५।६; सु.शा. ९।१२ तथा च.शा. ७।१२ में देखें। शरीर के भीतर मन, प्राण, अन्न, जल, दोष, धातु, उपधातु, धातुओं के मल तथा मूत्र आदि जिन मार्गों में से होकर संचार करते हैं, उन्हें स्रोतस् कहते हैं। इनका निर्माण—वायु ऊष्मा से युक्त होकर यथायोग्य इन स्रोतों का निर्माण करता है।

धमनीस्थेऽनिलो रक्तं फेनयुक्तमुदीरयेत्॥ ६॥
निर्याति शब्दवान् स्याच्च हृल्लासः साङ्गवेदनः।

धमनीगत शल्य के लक्षण—यदि शल्य धमनी में प्रविष्ट हो तो वायु झागदार रक्त को बाहर की ओर निकालता है तथा शब्द करता हुआ वायु भी उसमें से निकलता है और सम्पूर्ण शरीर में वेदना होती है, जी मिचलाता है॥ ६॥

सङ्घर्षो बलवानस्थिसन्धिप्राप्तेऽस्थिपूर्णता॥ ७॥

अस्थिसन्धिगत शल्य के लक्षण—यदि शल्य अस्थि की सन्धि में प्रविष्ट होता है तो उसमें जोरदार रगड़ लगती है और अस्थि का वह पोला भाग उस शल्य से भर जैसा जाता है, यही उसकी पूर्णता है॥ ७॥

वक्तव्य—यहाँ महर्षि वाग्भट पूर्णतया सुश्रुत से प्रभावित हैं। देखें—'अस्थिविवरगतेऽस्थि-पूर्णताऽस्थिनिस्तोदः संहर्षो बलवांश्च'। (सु.सू. २६।१०) वाग्भट ने जहाँ 'अस्थिसन्धि' कहा है, उसे सुश्रुत

ने 'अस्थिविवर' कहा है। इस दृष्टि से सुश्रुतोक्त पाठ अधिक समीचीन है, क्योंकि विवर की पूर्णता बाहरी शल्य से हुई है, यह स्थिति अस्थिसन्धि में नहीं होती । क्या यहाँ ऐसा पाठ तो नहीं रहा? 'सङ्घर्षो बलवानस्थिमध्यप्राप्ते'। विद्वान् विचार करें, क्योंकि आगे अस्थिसन्धि का वर्णन दिया है।

नैकरूपा रुजोऽस्थिस्थे शोफः—

अस्थिगत शल्य के लक्षण—यदि शल्य अस्थि में प्रविष्ट (धँसा) होता है तो अनेक प्रकार की (भग्न, रुग्ण, मृदित, पीड़ित, नीचे की ओर को झुकाना आदि) पीड़ाओं की उत्पत्ति होती है और उसके आसपास सूजन भी हो जाती है।

—तद्वच्च सन्धिगे।

चेष्टानिवृत्तिश्च भवेत्—

सन्धिगत शल्य के लक्षण—यदि शल्य सन्धियों में धँसा होता है तो अस्थिशल्य के समान लक्षण इसमें भी होते हैं और उस सन्धि में पहले की भाँति लोच नहीं रह जाती अर्थात् वह सन्धि ठीक से मुड़ नहीं सकती।

—आटोपः कोष्ठसंश्रिते॥ ८॥

आनाहोऽन्नशकृन्मूत्रदर्शनं च व्रणानने।

कोष्ठगत शल्य के लक्षण—यदि शल्य कोष्ठ में प्रविष्ट हुआ हो तो व्रण के मुख में अन्न, मल तथा मूत्र का दिखलायी देना, पेट में हलचल तथा आनाह (अफरा) ये लक्षण दिखलायी पड़ते हैं॥ ८॥

विद्यान्मर्मगतं शल्यं मर्मविद्धोपलक्षणैः॥ ९॥

मर्मगत शल्य के लक्षण—यदि शल्य मर्मस्थान में धँसा हो तो उसमें मर्मविद्ध के लक्षण दिखलायी देते हैं॥ ९॥

वक्तव्य—देखें—सु. सू. २५।३५; सु. शा. ६।१९-२० तथा अ. हृ. शा. ४।४७ में मर्मविद्ध के लक्षण।

यथास्वं च परिस्रावैस्त्वगादिषु विभावयेत्।

सामान्य निर्देश—'यथास्वं' का अर्थ है त्वचा आदि के स्रावों को देखकर शल्य कहाँ धँसा है, उसका निर्णय इस दृष्टि से करें। यथा—त्वचा में लसीकास्राव को देखकर, सिरा में रक्तस्राव से, अस्थि में मज्जास्राव से, आमाशय में अन्न के निकलने से, मलाशय में मल के निकलने से और मूत्राशय में मूत्र के निकलने को देखकर शल्य का निर्णय कर लेना चाहिए।

रुह्यते शुद्धदेहानामनुलोमस्थितं तु तत्॥ १०॥

शल्यव्रण का रोपण—वमन तथा विरेचन आदि शोधन-क्रियाओं द्वारा शुद्ध शरीर वालों का वह शल्य के चुभने से हुआ व्रण शल्य के अनुलोम गति से भीतर स्थित रहने पर भी स्वयं ही भर गया है, ऐसा प्रतीत होता है॥ १०॥

दोषकोपाभिघातादिक्षोभाद्भूयोऽपि बाधते।

पुनः पीडाकर्तृत्व—शल्य के निकल जाने पर ही व्रण को सम्यक् रूढ़ नहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि इस व्रणस्थान पर पुनः कभी दोषों का प्रकोप होने पर, चोट लगने पर या धक्का आदि के लगने पर भीतर स्थित शल्य फिर भी पीड़ा पहुँचा सकता है।

त्वङ्नष्टे यत्र तत्र स्युरभ्यङ्गस्वेदमर्दनैः॥ ११॥

रागरुग्दाहसंरम्भा यत्र चाज्यं विलीयते। आशु शुष्यति लेपो वा तत्स्थानं शल्यवद्वदेत्॥ १२॥

शल्यज्ञान के उपाय—त्वचा आदि स्थानों में अदृश्य हुए शल्य को कैसे जानना चाहिए, इसके उपायों का क्रमशः वर्णन किया जा रहा है। **त्वचागत शल्य**—जहाँ त्वचा में शल्य प्रवेश कर अदृश्य हो गया हो, उसका पता लगाने के ये उपाय हैं—वहाँ अभ्यंग, स्वेदन तथा मर्दन करने से उस स्थान-विशेष पर लालिमा, पीड़ा, दाह तथा संरम्भ (हलचल) होता है; वहाँ घी सरलता से पिघल जाता है और लगाया हुआ लेप शीघ्र सूख जाता है। ऐसे स्थान को शल्य युक्त समझें॥ ११-१२॥

मांसप्रणष्टं संशुद्ध्या कर्शनाच्छ्लथतां गतम्। क्षोभाद्रागादिभिः शल्यं लक्षयेत्—

मांसगत शल्य—मांसपेशियों में खोये हुए शल्य को वमन-विरेचन द्वारा शरीर-शोधन कराने के कारण शरीर के शिथिल हो जाने पर, शरीर के हिलने-डुलने से, लालिमा दिखलायी देने से तथा पीड़ा आदि से यहाँ शल्य होना चाहिए, ऐसा समझना चाहिए।

—तद्वदेव च॥ १३॥

पेश्यस्थिसन्धिकोष्ठेषु नष्टम्—

पेशीगत आदि शल्य—इसी प्रकार मांसपेशियों के मध्य में, अस्थिसन्धियों में तथा कोष्ठप्रदेश के अन्तर्गत अदृश्य शल्य के प्रमुख स्थान को पहचान लेना चाहिए॥ १३॥

—अस्थिषु लक्षयेत्। अस्थ्नामभ्यञ्जनस्वेदबन्धपीडनमर्दनैः॥ १४॥

अस्थिगत शल्य—अस्थियों में अदृश्य हुए शल्य को अभ्यंग, स्वेदन, बन्धन, पीडन तथा मर्दन विधियों से उसका स्थान-निर्धारण कर लें॥ १४॥

प्रसारणाकुञ्चनतः सन्धिनष्टं तथाऽस्थिवत्।

सन्धिगत शल्य—सन्धिगत अदृश्य शल्य का ज्ञान अस्थिगत शल्य की भाँति करें। विशेष करके प्रसारण (फैलाना) तथा आकुंचन (सिकोड़ना या बटोरना) आदि क्रियाओं से समझें।

नष्टे स्नायुशिरास्रोतोधमनीष्वसमे पथि॥ १५॥
अश्वयुक्तं रथं खण्डचक्रमारोप्य रोगिणम्। शीघ्रं नयेत्ततस्तस्य संरम्भाच्छल्यमादिशेत्॥ १६॥

स्नायु आदि गत शल्य—स्नायु, सिरा, स्रोतसों तथा धमनियों में प्रविष्ट शल्य जब अदृश्य हो जाय तो उस रोगी को टूटे पहिये वाले रथ पर बैठाकर उसमें घोड़ा जोतकर शीघ्र ले जाय। उसके संरम्भ से जहाँ शल्य होगा वह स्थान दुःखने लगेगा॥ १५-१६॥

मर्मनष्टं पृथङ्नोक्तं तेषां मांसादिसंश्रयात्।

मर्मगत शल्य—यहाँ मर्मगत शल्य को अलग से नहीं कहा गया है, क्योंकि मर्मस्थलों के आश्रयस्थल मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि तथा सन्धियाँ ही हैं।

सामान्येन सशल्यं तु क्षोभिण्या क्रियया सरुक्॥ १७॥

सामान्य निर्देश—सामान्य रूप से वहाँ शल्य समझना चाहिए, जहाँ हिलाने-डुलाने तथा दबाने से पीड़ा हो॥ १७॥

वृत्तं पृथु चतुष्कोणं त्रिपुटं च समासतः। अदृश्यशल्यसंस्थानं व्रणाकृत्या विभावयेत्॥ १८॥

शल्य के स्वरूपों का अनुमान—अदृश्य (जो देखा गया न हो ऐसे) शल्य के स्वरूप का ज्ञान व्रण (घाव) की आकृति से समझने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि प्रायः सभी शल्यों के आकार अनेक

से चार प्रकार के होते हैं—१. वृत्त (गोल), २. पृथु (चौड़ा), ३. चतुष्कोण (चौकोर) तथा त्रिपुट (तिकोना) ॥ १८॥

वक्तव्य—इन आकृतियों के अनुसार उस-उस शल्य को निकालने का प्रयत्न करना चाहिए।

तेषामाहरणोपायौ प्रतिलोमानुलोमकौ।

शल्य-निर्हरण के उपाय—उन शल्यों को निकालने के उपाय दो प्रकार के हैं—१. प्रतिलोम (वह शल्य शरीर के भीतर जैसे ही घुसा उससे उलटा अर्थात् उसी मार्ग से बाहर को निकालना; जैसे काँटा निकाला जाता है) और २. अनुलोम (जहाँ से निकालना सरल हो, उसे अनुलोम कहते हैं)।

अर्वाचीनपराचीने निर्हरेत्तद्विपर्ययात्॥ १९॥

अर्वाचीन आदि शल्य—अर्वाचीन शल्य को प्रतिलोम-विधि से निकालना चाहिए और पराचीन शल्य को अनुलोम-विधि से निकालना चाहिए॥ १९॥

वक्तव्य—अर्वाचीन शल्य वह है, जो पास में उभार युक्त दिखलायी देता है और पराचीन शल्य वह है जो इस पार से दूसरी ओर को चला जाता है। अतएव कहा गया है कि अर्वाचीन शल्य को उसने जिधर से प्रवेश किया है, उधर से ही निकाल लें और पराचीन शल्य जहाँ तक पहुँच चुका है उसके आगे कुछ अवयव काटकर निकालें, वही उसके लिए अनुलोम होगा। इस प्रसंग में सुश्रुतोक्त निम्न उद्धरणों को भी देखें—सु.सू. २७।६-७।

सुखाहार्यं यतश्छित्त्वा ततस्तिर्यग्गतं हरेत्।

तिर्य्यग्गत शल्य—तिर्यग्गत (तिरछे गये हुए) शल्य को उस ओर से काटकर निकाले, जहाँ से वह सुख से निकल सके।

वक्तव्य—तिर्यग्गत शल्य को निकालने के सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट का भी यही मत है। देखें—अ.सं. सू. ३७।१४।

शल्यं न निर्घात्यमुरःकक्षावङ्क्षणपार्श्वगम्॥ २०॥
प्रतिलोममनुत्तुण्डं छेद्यं पृथुमुखं च यत्।

निर्घातन के अयोग्य शल्य—उरस्, कक्षा, वंक्षण तथा पार्श्व (पर्शुकास्थियों) के भीतरी अवयवों में गये या बिंधे हुए शल्यों का निर्घातन नहीं करना चाहिए। जो शल्य प्रतिलोम हो, जो अनुत्तुण्ड (जिस शल्य का मुख दूसरी ओर न निकला) हो, जो छेदन के योग्य हो तथा जो चौड़े मुखवाला हो—इन शल्यों का भी निर्घातन न करे॥ २०॥

वक्तव्य—निर्घातन नामक एक यन्त्रकर्म है, जिसका वर्णन अ. हृ. सू. २५।४१ में है। इसी अध्याय के १५वें पद्य में 'शल्यनिर्घातनी नाड़ीयन्त्र' का भी उल्लेख है। इस सम्बन्ध में देखें—सु.सू. २७।८-९।

नैवाहरेद्विशल्यघ्नं नष्टं वा निरुपद्रवम्॥ २१॥

विशल्यघ्न शल्याहरण-निषेध—विशल्यघ्न (शल्य को निकाल देने पर मार देने वाले) शल्य को, नष्ट शल्य ('णश् अदर्शने' अर्थात् जो न दिखलायी दे रहा हो और जो पीड़ादायक भी न हो) को अथवा उपद्रव रहित शल्य को निकालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए॥ २१॥

वक्तव्य—उक्त विषय के स्पष्टीकरण के लिए सुश्रुतोक्त निम्न सन्दर्भों का अवलोकन करें—'तान्येतानि पञ्चविकल्पानि भवन्ति; तद्यथा—सद्यः प्राणहराणि, कालान्तरप्राणहराणि, विशल्यघ्नानि, वैकल्यकराणि, रुजाहराणि चेति'। (सु.शा. ६।८) 'तस्मात् सशल्यो जीवत्युद्धृतशल्यो म्रियते (पाकात् पतितशल्यो वा जीवति)'। (सु.शा. ६।१६) तथा 'तत्र सशल्यो जीवेत् पाकात् पतितशल्यो वा नोद्धृतशल्यः'। (सु.शा. ६।२७) इस

प्रकार एक ही विषय का दो स्थानों पर समान वर्णन करना यह प्रमाणित करता है कि विशल्यघ्न शल्य का आहरण नहीं करना चाहिए।

अथाहरेत्करप्राप्यं करेणैव—

शल्यनिर्हरण-विधि—तदनन्तर हाथ से पकड़ने योग्य शल्य को हाथ से ही पकड़कर खींच लेना चाहिए। क्योंकि सुश्रुत ने हाथ को ही प्रधान यन्त्र माना है। देखें—सु.सू. ७।३।

—इतरत्पुनः। दृश्यं सिंहाहिमकरवर्मिकर्कटकाननैः॥ २२॥

दृश्य शल्य-निर्हरण—जो हाथ से न पकड़ा जा रहा हो किन्तु दिखलाई दे रहा हो, उसे सिंहमुख, अहि(सर्प)मुख, मकरमुख, वर्मि(मत्स्य-विशेष)मुख अथवा कर्कटमुख नामक यन्त्रों द्वारा पकड़कर निकालना चाहिए॥ २२॥

अदृश्यं व्रणसंस्थानाद्ग्रहीतुं शक्यते यतः। कङ्कभृङ्गाह्वकुररशरारीवायसाननैः॥ २३॥

अदृश्य शल्य-निर्हरण—अदृश्य शल्य का आहरण व्रण (घाव) की आकृति को देखकर जिन यन्त्रों से पकड़ कर निकाला जा सकता है, वे यन्त्र हैं—कंकमुख, भृंगराजमुख, कुररमुख, शरारिमुख अथवा काकमुख। यहाँ मुख शब्द का अर्थ है—इन पक्षियों की चोंच की आकृति के यन्त्र॥ २३॥

सन्दंशाभ्यां त्वगादिस्थं—

सन्दंशयन्त्र-प्रयोग—त्वचा तथा मांस में धँसे हुए शल्य को संदंश (सँड़सी) नामक यन्त्रों से पकड़कर निकालना चाहिए।

—तालाभ्यां सुषिरं हरेत्।

तालयन्त्र-प्रयोग—त्वचा आदि में स्थित सुषिर (भीतर से छिद्रवाले) शल्य को तालयन्त्रों की सहायता से निकालना चाहिए, न कि सन्दंशयन्त्रों से।

सुषिरस्थं तु नलकैः—

नाड़ीयन्त्र-प्रयोग—सुषिरस्थ (भीतर से पोली अस्थि अथवा अस्थियों में चुभे हुए) शल्य को नाड़ीयन्त्रों से पकड़कर खींचना चाहिए।

शेषं शेषैर्यथायथम्॥ २४॥

शेष यन्त्र-प्रयोग—शेष (ऊपरवर्णित शल्यों से अतिरिक्त) शल्यों को उन यन्त्रों से सोच-समझकर निकालना चाहिए, जिनका वर्णन ऊपर नहीं किया गया है तथा जो यन्त्र जिस शल्य को निकालने में समर्थ हो॥ २४॥

शस्त्रेण वा विशस्यादौ ततो निर्लोहितं व्रणम्। कृत्वा घृतेन संस्वेद्य बद्ध्वाऽऽचारिकमादिशेत्॥

निर्हृत शल्य का पश्चात्कर्म—अथवा (जब शल्य चुभे हुए स्थान को बिना काटे यन्त्रों की सहायता से न निकल सके तो) पहले उस स्थान को जहाँ शल्य धँसा हो, काटकर शल्य को निकालकर उसमें बहते हुए रक्त को रोकने का उपाय कर तदनन्तर घाव में लगे हुए रक्त को धोकर अर्थात् साफ करके गुनगुने घी से उस व्रणस्थान का स्वेदन करके उसमें व्रणरोपण लेप (मलहम) लगाकर उसे व्रणोपचार की विधि समझा देनी चाहिए॥ २५॥

वक्तव्य—अष्टांगहृदय-सूत्रस्थान अध्याय १६।२६-२८ में इसके उपचारों का निर्देश किया गया है।

सिरास्नायुविलग्नं तु चालयित्वा शलाकया।

सिरा-स्नायुगत शल्य—सिरा तथा स्नायु में धँसे हुए शल्य को शलाकायन्त्र से हिला-डुला करके उसे ढीला करके निकालें।

हृदये संस्थितं शल्यं त्रासितस्य हिमाम्बुना॥ २६॥

ततः स्थानान्तरं प्राप्तमाहरेत्तद्यथायथम्। यथामार्गं दुराकर्षम्—

हृदयगत शल्य—जिसके हृदय में शल्य चुभा हो उस व्यक्ति को शीतल जल के छींटों को डालकर उसे घबड़ा दें (यह वित्रासन जाड़े में ही हो सकता है), तब तत्काल उचित यन्त्र की सहायता से उसे निकाल डालें। यदि इसी प्रकार निकालना सम्भव न हो अथवा हानिकारक हो तो शल्य को इधर-उधर ले जाकर जैसे सम्भव हो, उसे निकाल दें। यदि जहाँ से शल्य घुसा है, उस मार्ग से निकालने में कठिनाई हो तो॥ २६॥

—अन्यतोऽप्येवमाहरेत्॥ २७॥

शल्याहरण की अन्य विधि—उसे खींचकर के दूसरी ओर से ऐसे ही निकाल लें॥ २७॥

अस्थिदष्टे नरं पद्भ्यां पीडयित्वा विनिर्हरेत्।

अस्थिगत शल्य—यदि शल्य अस्थि में चुभा हो तो उस पुरुष को पैरों से दबाकर शल्य को पकड़कर जोर से निकाले।

इत्यशक्ये सुबलिभिः सुगृहीतस्य किङ्करैः॥ २८॥

दूसरी विधि—यदि अस्थिगत शल्य को अकेला चिकित्सक न निकाल सके तो बलवान् सेवकों द्वारा उसे पकड़वा कर शल्य को निकलवा दें॥ २८॥

तथाऽप्यशक्ये वारङ्गं वक्रीकृत्य धनुर्ज्यया। सुबद्धं वक्त्रकटके बध्नीयात्सुसमाहितः॥ २९॥
सुसंयतस्य पञ्चाङ्ग्या वाजिनः कशयाऽथ तम्। ताडयेदिति मूर्धानं वेगेनोन्नमयन् यथा॥ ३०॥
उद्धरेच्छल्यम्—

तीसरी विधि—यदि उक्त विधि से शल्य न निकल सके तो शल्य के पकड़ने योग्य ऊपरी भाग वारंग (मूठ) को टेढ़ा करके धनुष की डोरी से भलीभाँति बाँधकर उस डोरी के दूसरे छोर को सावधान होकर पंचांगी (चारों पैर तथा मुख) से बाँधे गये घोड़े के मुखकटक (लगाम) से बाँध दे और फिर उस घोड़े को कोड़े से इस प्रकार मारे जिससे घोड़ा अपने सिर को वेग (झटका) से उठाये और शल्य निकल जाय॥ २९-३०॥

—एवं वा शाखायां कल्पयेत्तरोः।

चौथी विधि—अथवा इसी प्रकार वृक्ष की डाल को नीचे की ओर झुकाकर उस शल्य में बँधी हुई डोरी का दूसरा छोर इस झुकाई हुई डाल में बाँधकर झटके से उस डाल को छोड़ दें, वह अपने वेग से शल्य को निकाल देगी। इन दोनों स्थितियों में शल्यविद्ध रोगी को आत्मीयजन सावधानी से पकड़े रहें।

बद्ध्वा दुर्बलवारङ्गं कुशाभिः शल्यमाहरेत्॥ ३१॥

पाँचवीं विधि—जिस शल्य का वारंग (मूठ) कमजोर हो तो उसे कुश आदि की रस्सियों से कसकर तब शल्य का निर्हरण करना चाहिए॥ ३१॥

श्वयथुग्रस्तवारङ्गं शोफमुत्पीड्य युक्तितः।

छठी विधि—जिस शल्य का वारंग (मूठ) सूजन से ढक जाय तो उसके सूजन को दबाकर यन्त्र द्वारा युक्तिपूर्वक शल्य को निकालें।

मुद्गराहतया नाड्या निर्घात्योत्तुण्डितं हरेत्॥ ३२॥

सातवीं विधि—यदि शल्य फफोले की भाँति सामने आ गया हो तो नाड़ीयन्त्र से उसे इधर-उधर से हिलाकर मुद्गर से उस शल्य का मुख टेढ़ा करके उसे निकालें॥ ३२॥

तैरेव चानयेन्मार्गममार्गोत्तुण्डितं तु यत्।

आठवीं विधि—जो शल्य दूसरे मार्ग से दूसरी ओर को निकल आया हो, उसे सही मार्ग (जहाँ से उसे निकालने में सरलता हो) में ले जाकर निकाल दें।

मृदित्वा कर्णिनां कर्णं नाड्यास्येन निगृह्य वा॥ ३३॥

नवीं विधि—एक, दो अथवा तीन कर्णों (फरों) वाले शल्यों के कर्णों को रेतीयन्त्र से घिसकर और नाड़ीयन्त्र से दबाकर शल्य को निकाल दें॥ ३३॥

अयस्कान्तेन निष्कर्णं विवृतास्यमृजुस्थितम्।

दसवीं विधि—जो लौहनिर्मित शल्य सीधा शरीर के किसी भाग में स्थित हो, जिसमें कर्ण (फर) न हों और जिस व्रण का मुख खुला हो उसे चुम्बक लगाकर खींच लेना चाहिए।

पक्वाशयगतं शल्यं विरेकेण विनिर्हरेत्॥ ३४॥

पक्वाशयगत शल्य—यदि शल्य पक्वाशय में पहुँच गया हो तो उसे विरेचन करा कर निकाल लेना चाहिए॥ ३४॥

दुष्टवातविषस्तन्यरक्ततोयादि चूषणैः।

वात आदि शल्य—दूषित वात, दष्टस्थान का विष, दुष्टस्तन्य (इसी से स्त्रियों को थनेला रोग हो जाता है), दूषित रक्त तथा जल में डूबने से पानी का भर जाना आदि की चिकित्सा चूषणयन्त्रों (सिंगी, तुम्बी आदि) से करें।

कण्ठस्रोतोगते शल्ये सूत्रं कण्ठे प्रवेशयेत्॥ ३५॥
बिसेनात्ते ततः शल्ये बिसं सूत्रं समं हरेत्।

कण्ठस्रोतगत शल्य—कण्ठ (गले) के स्रोतस् में शल्य के फँस जाने पर बिस(कमल)नाल के साथ धागा का प्रवेश करें। धागा या बिसनाल में शल्य के फँस जाने पर उन दोनों को शल्य के साथ बाहर निकाल लें॥ ३५॥

नाड्याऽग्नितापितां क्षिप्त्वा शलाकामप्स्थिरीकृताम्॥ ३६॥
आनयेज्जातुषं कण्ठात्—

जतुशल्य-निर्हरण—यदि कण्ठ (गले) के स्रोतस् में जतु = लाख का टुकड़ा रूपी शल्य फँस गया हो तो आग में तपायी गयी लाख की सींक को नाड़ीयन्त्र के भीतर से उस जतुशल्य तक पहुँचाकर उससे सटा दें और वह शल्य उस सींक के साथ सट जायेगा। उसके बाद उस व्यक्ति को पानी पिला दें, जिससे सींक ठण्डी होकर शल्य को अपने साथ जोड़ लेगी। अब आप उस जतुशल्य को गले से बाहर नाड़ी के साथ निकाल लें॥ ३६॥

—जतुदिग्धामजातुषम्।

अन्य शल्य-निर्हरण—इसी प्रकार लाख से अतिरिक्त अन्य लकड़ी आदि शल्यों को भी लाख की गरम शलाका को नाड़ीयन्त्र के भीतर से डालकर कण्ठस्रोतस् के भीतर धँसे हुए शल्य का भी निर्हरण कर सकते हैं।

केशोन्दुकेन पीतेन द्रवैः कण्टकमाक्षिपेत्॥ ३७॥
सहसा सूत्रबद्धेन वमतः—

गले में फँसे हुए शल्य को निकालना—यदि अस्थि (हड्डी या हड्डी का टुकड़ा) अथवा कण्टक (मछली का काँटा) आदि शल्य गला के भीतर फँस गया हो तो बालों को सुदृढ़ धागा से बाँधकर दूध आदि के साथ निगला दें और फिर उसे उलटी करा कर उसके साथ उक्त शल्य को खींचकर निकाल लें॥ ३७॥

—तेन चेतरत्।

यदि उक्त शल्य ऊपर कही गयी विधि से न निकल सके या न निकाला जा सके तो चिकित्सक अपनी बुद्धि से दूसरी विधि से निकालने का प्रयत्न करें।

अशक्यं मुखनासाभ्यामाहर्तुं परतो नुदेत्॥ ३८॥

कभी-कभी इस प्रकार के प्रयत्नों के द्वारा छोटे शल्य वमन के साथ मुख अथवा नासिका के छिद्रों से निकल जाते हैं। यदि न निकल सकें तो कुछ पेय पदार्थ उसे पिलाकर आहारनलिका से उसे भीतर की ओर प्रेरित कर (ढकेल) दें॥ ३८॥

अप्पानस्कन्धघाताभ्यां ग्रासशल्यं प्रवेशयेत्।

यदि आहारनलिका में ग्रास (कौर) नामक शल्य फँस गया हो तो उसे जल अथवा घी-तेल आदि पिलाकर स्कन्ध भाग में मुट्ठी आदि द्वारा मार या ठोंक कर ग्रास को भीतर की ओर जाने में सहायता करें।

वक्तव्य—प्रायः ऐसी परिस्थिति बालकों के भोजन काल में देखी जाती है। पास में बैठी हुई माता, दादी आदि इसी प्रकार के व्यवहार से 'ग्रासशल्य' को भीतर या बाहर की ओर करते-कराते देखी जाती है। यह वाग्भट की सूक्ष्म दृष्टि है।

सूक्ष्माक्षिव्रणशल्यानि क्षौमवालजलैर्हरेत्॥ ३९॥

आँख एवं व्रण में पड़े शल्य को निकालना—आँख में घुसे तथा घाव में पड़े हुए सूक्ष्म छोटे से छोटे शल्य (बाल या बालू के कण) को रेशमी वस्त्र के कोने से केश (बाल) की सहायता से निकाले अथवा पानी के छींटें डालकर निकालें (इस प्रकार के लघु शल्यों को अनुभवी बूढ़े लोग सरलता से निकाल देते हैं)॥ ३९॥

अपां पूर्णं विधुनुयादवाक्शिरसमायतम्। वामयेच्चामुखं भस्मराशौ वा निखनेन्नरम्॥ ४०॥

उदरगत जल निकालने की विधि—तैरते समय डूब जाने से पेट में पानी भर जाता है। यह जल भी शल्य है, न कि भोजन के साथ पीया गया जल। उक्त जल को निकालने की विधि—जिसके पेट में पानी भर गया हो, उसे तत्काल उलटा करके झकझोरे, लटकाये; जब कुछ शान्त हो जाय तो उसे वमन कराये तथा मुख तक उसे भस्म के ढेर में गाड़ दें। इस विधि से बहुत-सा जल भस्म अपने में सुखा लेता है॥ ४०॥

कर्णेऽम्बुपूर्णे हस्तेन मथित्वा तैलवारिणी। क्षिपेदधोमुखं कर्णं हन्याद्वाऽऽचूषयेत वा॥ ४१॥

कर्णगत जल एवं क्रिमि निकालने की विधि—कान के छिद्रों में जल भर जाने पर तेल और पानी को हाथ से मथकर जब वह घी जैसा हो जाता है तब उसे कान में डालें। उसके कान को उलटा करके हाथ से थपथपायें, ठोकें अथवा कोई दूसरा व्यक्ति उसके कान में मुख लगाकर पानी को चूसकर थूक दें॥ ४१॥

कीटे स्रोतोगते कर्णं पूरयेल्लवणाम्बुना। सुक्तेन वा सुखोष्णेन मृते क्लेदहरो विधिः॥ ४२॥

यदि कान के छेद में कोई कीड़ा या कनखजूरा चला जाय तो उसमें नमक मिला हुआ पानी डाल दें अथवा गुनगुना सिरका डाल दें। इससे कीड़ा स्वयं बाहर चला आता है या मर जाता है। मर जाने पर कान का मैल निकालने के लिए जो विधि निर्दिष्ट है, उसे करें॥ ४२॥

जातुषं हेमरूप्यादिधातुजं च चिरस्थितम्। ऊष्मणा प्रायशः शल्यं देहजेन विलीयते॥ ४३॥

शरीर में शल्य का विलयन—लाख, सोना, चाँदी आदि से सम्बन्धित शल्य यदि छोटे हों और बहुत समय तक शरीर में पड़े रह गये हों तो वे शरीर सम्बन्धी गर्मी से स्वयं ही पिघल जाते हैं॥ ४३॥

मृद्वेणुदारुशृङ्गास्थिदन्तवालोपलानि न । विषाणवेण्वयस्तालदारुशल्यं चिरादपि॥ ४४॥
प्रायो निर्भुज्यते तद्धि पचत्याशु पलासृजी।

विलीन न होने वाले शल्य—मिट्टी, वेणु (बाँस), लकड़ी, सींग, अस्थि (हड्डी), दाँत, बाल, विषाण (हाथीदाँत), वेणु (ईख का छिलका), लोह, ताड़ तथा दारु (कच्चा लोहा या पीतल, देखें—वी. एस्. आप्टे-कोश) इनके शल्य भले ही कुछ समय के बाद टेढ़े तो हो जाते हैं परन्तु विलीन नहीं होते। ये शल्य अपने द्वारा रक्त एवं मांस पका देते हैं॥ ४४॥

वक्तव्य—'मृद्वेणु····पलासृजी'। यहाँ तक कुछ संस्करणों में ४ पंक्तियाँ हैं, वहाँ दूसरी पंक्ति इस प्रकार है—'शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि'। यह पंक्ति अन्य संस्करणों में सम्भवतः इसलिए नहीं ली गयी कि इसका ग्रहण करने से 'मृद्' एवं 'मृण्मय' दोनों एकार्थवाची शब्दों का ग्रहण हो रहा था, किन्तु 'न विशीर्यन्ते' यह क्रिया इसके अभाव में दुर्लभ हो रही है। श्रीअरुणदत्त तथा श्रीहेमाद्रि टीका युक्त वाग्भट में जिन तीन पंक्तियों का ग्रहण किया है, उनमें 'विषाण, वेणु तथा दारु' इन तीन शब्दों की पुनरुक्ति हो रही है। हमने महर्षि वाग्भट की सदाशयता को ध्यान में रखकर उनके दूसरे अर्थ दिये हैं। इस दृष्टि से अष्टांगसंग्रह-सूत्रस्थान ३७।२७-२८ श्लोक निर्भ्रान्त हैं। इसी प्रकार सु.सू. २६।२२ पद्य भी इस प्रसंग में अनुकरणीय है।

शल्ये मांसावगाढे चेत्स देशो न विदह्यते॥ ४५॥
ततस्तं मर्दनस्वेदशुद्धिकर्षणबृंहणैः । तीक्ष्णोपनाहपानान्नघनशस्त्रपदाङ्कनैः॥ ४६॥
पाचयित्वा हरेच्छल्यं पाटनैषणभेदनैः।

शल्य-निर्हरणोपाय—जब शल्य मांसल प्रदेश में धँसा हो और धँसने के बाद भी उसमें विदाह आदि पाक के लक्षण न दिखलायी दे रहे हों तो उस स्थान पर मसलना, स्वेदन, शोधनों (वमन-विरेचन आदि) द्वारा कर्षणकर्म, बृंहणकर्म, तीक्ष्ण उपनाह (जिससे उसका शीघ्र पाक हो), उचित पेय पदार्थों को पिलाना, आहारों को खिलाना तथा शस्त्र द्वारा सघन पदांकन (पच्छ लगाना) आदि विधियों से उसे पकाने का प्रयत्न करना चाहिए। पक जाने पर उस शल्य को निकालें। यदि इस प्रकार भी न निकले तो पाटन, एषण तथा भेदन क्रियाओं द्वारा शल्य को निकाल देना चाहिए॥ ४५-४६॥

वक्तव्य—यहाँ 'पाटनैषणभेदनैः' ये क्रियाएँ उन आशुकारी शल्यों को निकालने के लिए हैं, जिनके शरीर में कुछ समय तक रह जाने से मृत्यु का भय होता है अथवा उस अवयव को काट देना पड़ता है। शेष के लिए तो पकाकर निकालने का शास्त्र ने आदेश दिया ही है। देखें—सु. सू. २७।२७।

शल्यप्रदेशयन्त्राणामवेक्ष्य बहुरूपताम्॥ ४७॥
तैस्तैरुपायैर्मतिमान् शल्यं विद्यात्तथाऽऽहरेत्।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने शल्याहरणविधिर्नामाष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

शल्यनिर्हरण-निर्देश—शल्यों की, शरीर के अवयवों की तथा शल्य निकालने वाले यन्त्रों की विविधरूपता का ध्यान रखकर उन-उन शल्य निकालने के उपायों का प्रयोग कर जो जैसा शल्य हो उसे उस प्रकार निकालना चाहिए॥ ४७॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने मूलतः शल्यों का विभाजन दो प्रकार से किया है—१. अवबद्ध (जो मांस-अस्थि आदि में फँसा हो और दूसरा) २. अनवबद्ध (जो प्रथम के विपरीत हो)। इनमें दूसरे प्रकार के शल्यों को निकालने के पन्द्रह उपायों का इस प्रकार उल्लेख किया है—१. स्वभाव, २. पाचन, ३. भेदन, ४. दारण, ५. पीड़न, ६. प्रमार्जन, ७. निर्ध्मापन, ८. वमन, ९. विरेचन, १०. प्रक्षालन, ११. प्रतिमर्श (यह नस्य वाला नहीं है, इसमें अँगुली आदि से घिसा जाता है), १२. प्रवाहण (गर्भशल्य में इसका उपयोग होता है), १३. आचूषण (पूयशल्य को निकालने में), १४. अयस्कान्त (चुम्बक) और १५. हर्ष (शोकशल्य को दूर करने के लिए)। अष्टांगसंग्रह में शल्य रहित व्रण का लक्षण इस प्रकार दिया है—'व्रणस्थान स्वच्छ हो, उसके आसपास दबाने में कष्ट न हो, शोथ तथा सन्ताप घट रहा हो तो अब व्रणस्थान में शल्य नहीं है, ऐसा समझ लेना चाहिए। देखें—अ. सं. सू. ३७।३२।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में शल्याहरणविधि नामक अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त॥ २८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

अथातः शस्त्रकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से शस्त्रकर्मविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—अब यहाँ से शस्त्रकर्मविधि नामक अध्याय की प्रस्तावना की जा रही है। क्योंकि इसके पहले २५वें अध्याय में वाग्भट ने 'शस्त्रेण वा विशस्यादौ' कहकर शस्त्रकर्म की उपादेयता का निर्देश किया है। अतएव इस अध्याय में शस्त्रकर्म का विधान प्रस्तुत है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—सु.सू. ५, १७, १८, १९, २५; च.चि. २५।५५ से ६० तक तथा अ.सं.सू. ३८ में देखें।

व्रणः सञ्जायते प्रायः पाकाच्छ्वयथुपूर्वकात्। तमेवोपचरेत्तस्माद्रक्षन् पाकं प्रयत्नतः॥ १॥
सुशीतलेपसेकास्रमोक्षसंशोधनादिभिः।

व्रण के उपचार—प्रायः व्रण की उत्पत्ति के पहले स्थान-विशेष पर शोथ होता है। सर्वप्रथम उस व्रणोत्पादक शोथ की ही चिकित्सा करनी चाहिए, जिससे वह शोथ फोड़ा का रूप धारणकर पकने न पाये।

व्रणशोथ-चिकित्सा—उस व्रणशोथ को बैठाने के लिए शीतल लेप, शीतल सेचन, रक्तस्रावण तथा शोधन (वमन-विरेचन) आदि उपायों का प्रयोग करें। यहाँ शीतल का अर्थ है—शीतवीर्य पदार्थ, जो स्पर्श में भी शीत हों॥ १॥

वक्तव्य—व्रण के सम्बन्ध में ऊपर जो सुश्रुत के अध्यायों का निर्देश किया है, उनके अतिरिक्त सु.सू. २१, २२, २८ अध्यायों का भी अवलोकन कर लें। शेष देखें—अ.हृ.उ. २५ में। इसकी प्रस्तावना यहाँ केवल इस उद्देश्य से की है कि व्रणशोथ के दर्शन होते ही उसकी शान्ति के उपाय करने चाहिए, क्योंकि व्रणशोथ का पाक हो जाने पर अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है।

शोफोऽल्पोऽल्पोष्मरुक्सामः सवर्णः कठिनः स्थिरः॥ २॥

आमशोथ के लक्षण—आमशोथ (जो शोथ अभी पका नहीं) उसे कहते हैं जिसमें थोड़ी-थोड़ी ऊष्मता (गर्मी) और पीड़ा होती हो, जिसका वर्ण त्वचा के समान हो, जो स्पर्श करने में कठिन (कड़ा) तथा स्थिर (अचल) हो॥ २॥

वक्तव्य—इसी व्रणशोथ को बैठाने (न पकने) के लिए विम्लापन, सुशीतल लेप, सेक, रक्तमोक्षण, संशोधन आदि का निर्देश ऊपर श्लोक १ में दिया गया है, न कि पच्यमान व्रणशोथ में।

पच्यमानो विवर्णस्तु रागी बस्तिरिवाततः। स्फुटतीव सनिस्तोदः साङ्गमर्दविजृम्भिकः॥ ३॥
संरम्भारुचिदाहोषातृड्ज्वरानिद्रतान्वितः। स्त्यानं विष्यन्दयत्याज्यं व्रणवत्स्पर्शनासहः॥ ४॥

पच्यमान व्रणशोथ के लक्षण—जब पच्यमान वह शोथ फोड़ा का रूप धारण करने लगता है तो वहाँ की त्वचा का वर्ण विशिष्ट वर्ण का हो जाता है। उसमें कुछ लालिमा दिखलायी देती है और वह बस्ति (भरी हुई मशक) की भाँति तन जाता है। उसमें ऐसी पीड़ा होती है मानो वह फूट रहा हो, उस समय अन्य सभी अंगों में पीड़ा होती है और जँभाइयाँ आने लगती हैं। और भी अनेक प्रकार की

पीड़ाएँ होती हैं, अरुचि, दाह, ऊषा (भाप निकलने का-सा अनुभव), प्यास, ज्वर तथा निद्रा का न आना, स्त्यान (ढेर के रूप में संचित अर्थात् रखा या व्रण के ऊपर लगाया हुआ) घी इधर-उधर फैल जाता है और उस स्थान पर व्रण के समान स्पर्श सहन नहीं हो पाता॥ ३-४॥

पक्वेऽल्पवेगता म्लानिः पाण्डुता वलिसम्भवः। नामोऽन्तेषून्नतिर्मध्ये कण्डूशोफादिमार्दवम्॥
स्पृष्टे पूयस्य सञ्चारो भवेद्वस्ताविवाम्भसः।

पक्वशोथ के लक्षण—व्रणशोथ के पक जाने पर वेदनाओं में कमी, शोथ के स्वरूप में मलिनता, पीलापन, झुर्रियों का पड़ जाना, सभी ओर से झुक जाना तथा बीच में (मुखभाग) में उभारयुक्त हो जाना, शोथ के आस-पास खुजली का होना, सूजन में कोमलता का आ जाना, छूने पर पूय का इधर-उधर जाना उस प्रकार का होता है, जैसे मशक को दबाने पर पानी॥ ५॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने पक्वव्रण के लक्षणों को इस प्रकार कहा है—'वेदनोपशान्तिः····पक्वलिङ्गम्'। देखें—सु.सू. १७।५। अवस्था-भेद से व्रणशोथ (व्रणाय शोथः) तीन प्रकार का होता है—१. आम व्रण, २, पच्यमान व्रण तथा ३. पक्व व्रण। इन स्थितियों को ठीक-ठीक जानने वाला ही योग्य चिकित्सक कहा जाता है।

शूलं नर्तेऽनिलाद्दाहः पित्ताच्छोफः कफोदयात्॥ ६॥
रागो रक्ताच्च पाकः स्यादतो दोषैः सशोणितैः।

व्रण में वात आदि के लक्षण—व्रणशोथ में वातदोष के बिना शूल (वेदना), पित्तदोष के बिना दाह, कफदोष के बिना शोथ तथा रक्त के बिना राग (लालिमा) नहीं होता, अतः रक्त युक्त तीनों दोषों से मिलकर व्रण का पाक होता है॥ ६॥

वक्तव्य—महर्षि वाग्भट ने 'रागो रक्ताच्च' यह सुश्रुत से अधिक कहा है, जिसका प्रसंगानुसार औचित्य है। यद्यपि रक्त और पित्त समान धर्म वाले हैं, फिर भी पाक रक्त का ही होता है, उस व्रणस्थान में स्थित मांस तथा वसा आदि का पाक नहीं होता; भले ही वे गल या सड़ जाते हैं। देखें—सु.सू. १७।७।

पाकेऽतिवृत्ते सुषिरस्तनुत्वग्दोषभक्षितः॥ ७॥
वलीभिराचितः श्यावः शीर्यमाणतनूरुहः।

अतिपक्व व्रण के लक्षण—पाक का अतिक्रमण होने पर अर्थात् भीतर से व्रण के पक जाने पर ये लक्षण ऊपर से दिखलायी देते हैं—व्रण के भीतर से खोखला होना, व्रण के ऊपर की त्वचा का पतला पड़ जाना; ये लक्षण पूयदोष के खा जाने से हो जाते हैं, उसके ऊपर से झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, त्वचा का वर्ण काला हो जाता है और उसके ऊपर के रोयें गिरने या झड़ने लगते हैं॥ ७॥

कफजेषु तु शोफेषु गम्भीरं पाकमेत्यसृक्॥ ८॥
पक्वलिङ्गं ततोऽस्पष्टं यत्र स्याच्छीतशोफता। त्वक्सावर्ण्यं रुजोऽल्पत्वं घनस्पर्शत्वमश्मवत्॥
रक्तपाकमिति ब्रूयात्तं प्राज्ञो मुक्तसंशयः।

गम्भीरपाक का वर्णन—कफ-प्रधान व्रणशोथों में रक्तधातु का पाक गहरायी में होता है, इसलिए व्रणपाक के लक्षण भी ऊपर से स्पष्ट दिखलायी नहीं पड़ते। किन्तु कुछ दिन बीत जाने पर जिस व्रणशोथ में स्पर्श करने कर शीतता प्रतीत हो, त्वचा के ऊपर समानवर्णता दिखलायी दे, पीड़ा में कमी आ जाय, स्पर्श में वह स्थान पत्थर की भाँति कठोर लगे वहाँ बुद्धिमान् चिकित्सक निःसन्देह कह दे कि यहाँ रक्त का गम्भीर पाक हो चुका है॥ ८-९॥

वक्तव्य—यह परिस्थिति व्रणचिकित्सक की परीक्षा की घड़ी होती है। इसमें न तो श्लोक ५ में कहे गये पक्व-व्रणशोथ के लक्षण दिखलायी पड़ते हैं और न वात आदि दोषों के ही लक्षणों का प्रभाव

परिलक्षित होता है, अतएव इस रक्तपाक को गम्भीरपाक कहा गया है। इसके लिए आप देखें—सु. सू. १७।९ तथा अ. सं. सू ३८।८। ऐसे पक्व व्रणों की कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, उपेक्षा करने से ये असाध्य नाड़ीव्रण का रूप धारण कर लेते हैं, क्योंकि ऐसे पूयशल्य को बाहर निकलने का मार्ग ही नहीं मिलता। सामान्य रूप से इस व्रण को 'गम्भीर' कहते भी हैं।

अल्पसत्त्वेऽबले बाले पाकाद्वाऽत्यर्थमुद्धते॥ १०॥
दारणं मर्मसन्ध्यादिस्थिते चान्यत्र पाटनम्।

दारण एवं पाटन लेप—यदि रोगी का सत्त्व (मानसिक बल) कम हो, दुर्बल हो अथवा रोगी बालक (असहनशील) हो तथा व्रणपाक भलीभाँति हो गया हो, व्रणशोथ मर्मस्थल में या मर्मसन्धि अथवा केवल सन्धिस्थान में हो तो इन स्थानों में दारणलेपों का प्रयोग करना चाहिए। आवश्यक होने पर पाटनकर्म भी किया जा सकता है, यह अर्थ 'च' के प्रयोग से लिया गया है। उक्त स्थितियों से अन्य स्थलों में पाटनकर्म करना चाहिए॥ १०॥

वक्तव्य—दारण का प्रथम प्रस्ताव होने के कारण एवं सर्वथा निरापद होने के कारण इसका व्रणशोथों में सादर प्रयोग किया जाता है। दारणक्रिया जहाँ अपना प्रभाव नहीं दिखा पाती वहाँ विवश होकर पाटनक्रिया का उपयोग होता है। अ. हृ. उ. २५।३७ में एक दारणलेप दिया है, पहले इसका प्रयोग करें।

आमच्छेदे सिरास्नायुव्यापदोऽसृगतिस्रुतिः॥ ११॥
रुजोऽतिवृद्धिर्दरणं विसर्पो वा क्षतोद्भवः।

शस्त्रकर्म का निषेध—आम-व्रणशोथ का शस्त्र द्वारा पाटन कर देने पर सिरा एवं स्नायु में विकृति हो जाती है, अतएव अधिकाधिक रक्तस्राव होने लगता है। अनेक प्रकार की पीड़ाएँ होती हैं, उस स्थान की त्वचा का फटना अथवा क्षत के कारण विसर्प या विद्रधि नामक रोग हो सकता है॥ ११॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने विसर्प न लिखकर केवल विद्रधि का उल्लेख किया है। देखें—सु. सू. १७।९-१०। अतः आम-व्रणशोथ में शस्त्रकर्म नहीं करना चाहिए, ऐसे मूर्ख चिकित्सक की निन्दा की गयी है।

तिष्ठन्नन्तः पुनः पूयः सिरास्नाय्वसृगामिषम्॥ १२॥
विवृद्धो दहति क्षिप्रं तृणोलपमिवानलः।

शस्त्रकर्म का विधान—व्रणशोथ के भीतर पूय (मवाद) पड़ा रहने पर अर्थात् समय रहते हुए उसे न निकालने पर वह पूय सिरा, स्नायु, रक्त तथा मांस को उस प्रकार शीघ्र जला (सड़ा-गला) देता है, जैसे बढ़ा हुआ अग्नि समीपस्थ घास-फूस को जला देता है॥ १२॥

वक्तव्य—उक्त ११वें पद्य में आमच्छेद का निषेध करने के बाद कहे गये १२वें पद्य में यद्यपि शब्दतः शस्त्रकर्म का विधान नहीं किया गया है तथापि अन्तःस्थित पूय क्या-क्या हानि करता है इसका वर्णन करने से यह आभास होता है कि ग्रन्थकार शस्त्रकर्म द्वारा पूय को निकालने का निर्देश दे रहा है। इसके लिए व्रणशोथ का पाटन कर उसके पूय को निकाल देना चाहिए। उक्त पद्य में 'दहति' प्रयोग के ग्रहण की प्रेरणा वाग्भट को सुश्रुतोक्त सू. १७।१६ से मिली है।

यश्छिनत्त्याममज्ञानाद् यश्च पक्वमुपेक्षते॥ १३॥
श्वपचाविव विज्ञेयौ तावनिश्चितकारिणौ।

अनिश्चितकारी वैद्य की निन्दा—जो व्रणचिकित्सक अपने अज्ञान के कारण आमव्रणशोथ को काटता (चीर देता) है और जो बाहर या भीतर पके व्रणशोथ का दारण अथवा पाटन नहीं करता वे दोनों ही चिकित्सक रोगी को मार डालने के कारण श्वपच (चाण्डाल) के समान होते हैं। क्योंकि इस प्रकार के उन दोनों को ही अनिश्चितकारी कहा जाता है॥ १३॥

वक्तव्य—पाटनकर्म करने के पहले आम अथवा पक्व का ज्ञान अवश्य कर लेना चाहिए, नहीं तो अपयश मिलता है। श्रीवाग्भट ने उक्त पद्य को अविकल रूप से सुश्रुत से लिया है। देखें—सु.सू. १७।१०।

व्रण के सात उपक्रम—१. विम्लापन, २. अवसेचन (जलौकापातन अथवा रक्षमोक्षण), ३. उपनाह (पुल्टिस आदि का बन्धन), ४. पाटन क्रिया, ५. शोधन (पञ्चवल्कल आदि क्वाथों से), ६. रोपण (पूरण = घाव भरने के उपाय) और ७. वैकृतापह (व्रणस्थान की विकृतियों को रोमसंजनन तथा सवर्ण करना आदि क्रियाओं द्वारा दूर करना)। देखें—सु.सू. १७।१८। विशेष देखें—सु. चि. अध्याय १ सम्पूर्ण।

प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदन्नमातुरम्॥ १४॥
पानपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनाक्षमः। न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुध्यते॥ १५॥

शस्त्रकर्म के पूर्व कर्म—शस्त्रकर्म करने के पहले रोगी को उसकी इच्छा के अनुसार किन्तु जो रोगी के लिए हितकर हो, उसे खिलायें, मद्यपान करने वाले उस रोगी को तीक्ष्ण मद्य पिलायें, जो शस्त्रकर्म की वेदना न सह सकता हो, क्योंकि मद्यपान से वेदना को सहने की शक्ति मिलती है। भोजन करा देने पर रोगी मूर्च्छित नहीं हो पाता और मद्य के नशे से उन्मत्त होने के कारण उसे कब शस्त्रकर्म किया इसका ज्ञान नहीं रह पाता॥ १४-१५॥

अन्यत्र मूढगर्भाश्ममुखरोगोदरातुरात्।

आहार एवं मद्यपान का निषेध—मूढगर्भ, अश्मरी, मुखरोग तथा उदररोग इन रोगों में आहार खिलाकर एवं मद्यपान कराकर शस्त्रकर्म नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—आधुनिक सर्जरी में तो संज्ञाहरण (बेहोश करने) के अनेक उपादान सुलभ हैं।

अथाहृतोपकरणं वैद्यः प्राङ्मुखमातुरम्॥ १६॥
सम्मुखो यन्त्रयित्वाऽऽशु न्यस्येन्मर्मादि वर्जयन्। अनुलोमं सुनिशितं शस्त्रमापूयदर्शनात्॥ १७॥
सकृदेवाहरेत्तच्च—

शस्त्रप्रयोग-विधि—शस्त्रप्रयोग करने के पूर्व कर्मों को करने तथा शस्त्रकर्म के उपयोग में आने वाले उपकरणों को एकत्रित करा लेने के बाद शल्यचिकित्सक रोगी को पूरब की ओर मुख करके बैठाये और उसके अंगों को बाँधकर चिकित्सक उसके सामने अथवा उचित स्थान में खड़ा होकर मर्म आदि स्थानों को बचाकर अत्यन्त तीक्ष्ण (तेज) शस्त्र से अनुलोम विधि से एक ही बार में उतना पाटनकर्म करे, जिससे पूय (मवाद) निकलने लगे और फिर शीघ्र शस्त्र को निकाल लेना चाहिए॥ १६-१७॥

—पाके तु सुमहत्यपि। पाटयेत् द्व्यङ्गुलं सम्यग्द्व्यङ्गुलत्र्यङ्गुलान्तरम्॥ १८॥
एषित्वा सम्यगेषिण्या परितः सुनिरूपितम्। अङ्गुलीनालवालैर्वा यथादेशं यथाशयम्॥ १९॥
यतो गतां गतिं विद्यादुत्सङ्गो यत्र यत्र च। तत्र तत्र व्रणं कुर्यात्सुविभक्तं निराशयम्॥ २०॥
आयतं च विशालं च यथा दोषो न तिष्ठति।

महान् व्रणशोथ में कर्तव्य—विस्तृत आकार वाले व्रणशोथ में दो अंगुल लम्बा चीरा लगाना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो दो या तीन अंगुल की दूरी पर दूसरा चीरा लगाये और पूय को निकालने के बाद एषणी यन्त्र से, अँगुली से, कमलनाल से, बालों की वेणी से कहाँ-कहाँ पका है और कहाँ-कहाँ पूय रुका है, इस प्रकार भलीभाँति देखकर जहाँ-जहाँ पूय गया है और जहाँ उत्संग (उभार) दिखलायी देता हो वहाँ-वहाँ चीरा लगा देना चाहिए। वह चीरा लम्बा तथा चौड़े मुख वाला हो और ये सभी चीरे सुविभक्त (आपस में मिले न) हों, जिनके कारण दोष (पूय) भीतर न रह सके॥ १८-२०॥

वक्तव्य—कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक स्थान पर चीरा लगाने पर भीतर का सभी पूय नहीं निकल पाता। ऐसा तब होता है जब व्रणपाक भीतर से टेढ़ा-मेढ़ा होता है, ऐसी स्थिति में एकाधिक

स्थानों पर चीरा लगाना पड़ता है। पूय एक प्रकार का शल्य है, इसका भलीभाँति निर्हरण कर देना चाहिए। यदि पूय भीतर रह जाता है तो यह नाड़ीव्रण (नासूर) को पैदा कर देता है।

शौर्यमाशुक्रिया तीक्ष्णं शस्त्रमस्वेदवेपथू॥ २१॥
असम्मोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते।

शल्यचिकित्सक के गुण—शौर्य (शस्त्रप्रयोग करने में निर्भय होना), आशुक्रिया (लघुहस्तता अर्थात् शीघ्र शस्त्रप्रयोग करने का अभ्यास), शस्त्र का तेज धारवाला होना, पसीना तथा कम्पन का न होना तथा मूर्च्छित न होना या न घबड़ाना—ये शल्यचिकित्सक के गुण कहे गये हैं॥ २१॥

वक्तव्य—यह पद्य अष्टांगसंग्रह में अविकल सुलभ है। देखें—अ. सं. सू. ३८।१८।

तिर्यक्छिन्द्याल्ललाटभ्रूदन्तवेष्टकजत्रुणि ॥ २२॥
कुक्षिकक्षाक्षिकूटौष्ठकपोलगलवङ्क्षणे ।

तिर्यक्छेदन-विधि—तिरछे काटने योग्य स्थान हैं—ललाट, भौंहों, मसूड़ों, जत्रुअस्थि, कुक्षि (उदर का भाग), कक्षा (काँख), अक्षिकूट, ओष्ठ (होंठ), कपोल (गाल), गला तथा वंक्षण (पेडू और जाँघ के बीच का भाग या ऊरुसन्धि)॥ २२॥

अन्यत्र छेदनात्तिर्यक् सिरास्नायुविपाटनम्॥ २३॥

तिर्यक्छेदन-निषेध—उक्त स्थानों के अतिरिक्त अवयवों में तिरछा चीरा नहीं लगाना चाहिए, ऐसा करने से सिरा अथवा स्नायु कट सकते हैं॥ २३॥

शस्त्रेऽवचारिते वाग्भिः शीताम्भोभिश्च रोगिणम्।
आश्वास्य परितोऽङ्गुल्या परिपीड्य व्रणं ततः॥ २४॥
क्षालयित्वा कषायेण प्लोतेनाम्भोऽपनीय च। गुग्गुल्वगुरुसिद्धार्थहिङ्गुसर्जरसान्वितैः॥ २५॥
धूपयेत्पटुषड्ग्रन्थानिम्बपत्रैर्घृतप्लुतैः । तिलकल्काज्यमधुभिर्यथास्वं भेषजेन च॥ २६॥
दिग्धां वर्तिं ततो दद्यात्तैरेवाच्छादयेच्च ताम्। घृताक्तैः सक्तुभिश्चोर्ध्वं घनां कवलिकां ततः.
निधाय युक्त्या बध्नीयात्पट्टेन सुसमाहितम्। पार्श्वे सव्येऽपसव्ये वा नाधस्तान्नैव चोपरि॥ २८॥

पश्चात्कर्म-निर्देश—शस्त्रप्रयोग करने के तत्काल बाद मधुर वाणी से तथा मुख पर शीतल जल के छींटे देकर रोगी को आश्वासन देकर व्रणस्थान को चारों ओर से अँगुली से दबाकर जिससे पूय भलीभाँति निकल जाय, तदनन्तर त्रिफला आदि के काढ़ा से व्रणवास्तु को धोकर, साफ वस्त्र अथवा रुई से जल को पोंछकर (सुखाकर) गुग्गुलु, अगुरु, सरसों, हींग, राल, नमक, बालवच तथा नीम के पत्ते—इन्हें कूटकर बनायी गयी धूप को घी में मिलाकर उस व्रण में धूप देनी चाहिए। उसके बाद व्रणदोषशामक औषधद्रव्यों से मिले हुए तिलकल्क, मधु तथा घी को मिलाकर उसे एक रुई की बत्ती में चुपड़ें और उसे घाव के भीतर भर दें और फिर तिलकल्क आदि से निर्मित मलहम से उसे ढक दें। उसके ऊपर घी मिले हुए सत्तू की मोटी कवलिका (गद्दी) रखकर सावधानी से पट्टी से बाँध दें। इस ग्रन्थि को व्रण के दायीं या बायीं ओर बाँधें, उसके नीचे-ऊपर न बाँधें॥ २४-२८॥

वक्तव्य—सुश्रुत-सूत्रस्थान का १८वाँ अध्याय इस विषय का पूरक है। इसका अवलोकन इस कार्य में प्रवृत्त होने से पहले अवश्य करें।

शुचिसूक्ष्मदृढाः पट्टाः कवल्यः सविकेशिकाः। धूपिता मृदवः श्लक्ष्णा निर्वलीका व्रणे हिताः॥

पट्टी आदि का निर्देश—व्रणबन्धन के पट्ट (पट्टियाँ), कवलिकाएँ (गद्दियाँ) तथा विकेशिकाएँ (औषधलिप्त बत्तियाँ) शुचि (साफ-सुथरी), सूक्ष्म (पतले वस्त्र से निर्मित) किन्तु दृढ होनी चाहिए। इन्हें धूप दी जानी चाहिए और सीलन से बचाने के लिए धूप में भी रखना चाहिए। ये मुलायम तथा

स्पर्श में चिकनी, सिकुड़न (सलवट) रहित हों, तभी ये व्रण को बाँधने के उपयोग में लायी जा सकती हैं॥ २९॥

कुर्वीतानन्तरं तस्य रक्षां रक्षोनिषिद्धये। बलिं चोपहरेत्तेभ्यः—

व्रणरक्षा-विधान—व्रण के ऊपर उचित प्रकार की पट्टी बाँधने के बाद राक्षसों आदि की निवृत्ति के लिए रक्षाकर्म तथा बलिदान भी करें। क्योंकि राक्षस मांसभक्षी होते हैं, वे इस प्रकार आक्रमण न करें, अतएव रक्षा एवं बलि का यहाँ निर्देश किया गया है।

वक्तव्य—रक्षाविधान की विधि देखें—सु. सू. ५।२०-३३ तक। रक्षाकर्म के लिए धूपन आदि भी किया जाता है, इससे बाह्य क्रिमियों का प्रकोप भी नहीं होता। आर्षग्रन्थों में जहाँ राक्षस आदि के निवारण की चर्चा है, उसे आधुनिक विद्वान् क्रिमि (Germs) कहते हैं। राक्षसों तथा क्रिमियों का कार्य आदि समान है। इसी से Sterilization अथवा Aseptic को आधुनिक विद्वान् रक्षाकर्म कहते हैं।

—सदा मूर्ध्ना च धारयेत्॥ ३०॥
लक्ष्मीं गुहामतिगुहां जटिलां ब्रह्मचारिणीम्। वचां छत्रामतिच्छत्रां दूर्वां सिद्धार्थकानपि॥ ३१॥

औषधधारण-निर्देश—निम्नलिखित औषधद्रव्यों को शिरोधार्य करें—लक्ष्मी (पद्मचारिणी), गुहा (पृश्निपर्णी), अतिगुहा (शालपर्णी), जटिला (मांसी), ब्रह्मचारिणी (ब्रह्मयष्टिका), वचा (बालवच), छत्रा (शतपुष्पा), अतिच्छत्रा (विषाणिका), दूब तथा सरसों॥ ३०-३१॥

ततः स्नेहदिनेहोक्तं तस्याचारं समादिशेत्।

आचार-निर्देश—तदनन्तर उस व्रणरोगी को स्नेहविधि नामक अध्याय में निर्दिष्ट आहार-विहार का निर्देश करें और रोगी को उनका आचरण करना चाहिए।

वक्तव्य—अष्टांगहृदय-सूत्रस्थान का स्नेहविधि नामक १६वाँ अध्याय है। देखें—श्लोक २६-२८।

दिवास्वप्नो व्रणे कण्डूरागरुक्शोफपूयकृत्॥ ३२॥

दिन में सोने का निषेध—दिन में सोने से व्रण (घाव) में खुजली, लालिमा, पीड़ा, सूजन तथा पूय हो जाता है॥ ३२॥

स्त्रीणां तु स्मृतिसंस्पर्शदर्शनैश्चलितस्रुते। शुक्रे व्यवायजान् दोषानसंसर्गेऽप्यवाप्नुयात्॥ ३३॥
(व्रणे श्वयथुरायासात् स च रागश्च जागरात्। तौ च रुक् च दिवास्वापात्ताश्च मृत्युश्च मैथुनात्।१।)

अन्य निषिद्ध कर्म—सहवास करने योग्य स्त्रियों का स्मरण, स्पर्श (आलिंगन, चुम्बन आदि), दर्शन आदि से शुक्र का स्खलन तथा स्राव होने पर मैथुन क्रिया न करने पर भी मैथुनकर्म करने के बराबर दोषों की प्राप्ति हो जाती है॥ ३३॥ (परिश्रम करने से व्रणस्थान में सूजन हो जाती है, रात्रि में जागने से शोथ तथा लालिमा, दिन में सोने से शोथ, लालिमा तथा पीड़ा होने लगती है और स्त्री-सहवास (मैथुन) करने से शोथ, राग, वेदना तथा मृत्यु हो जाती है॥ १॥)

वक्तव्य—उक्त ३२वें तथा ३३वें श्लोकों का समर्थन सु. सू. १९।१० एवं १५ वें श्लोकों में देखें। उक्त कोष्ठगत पद्य वाग्भट के अन्य संस्करणों में प्रायः नहीं देखा जाता है। वास्तव में यह पद्य अविकल रूप से सु. सू. १९।३६ में हैं, देखें।

भोजनं च यथासात्म्यं यवगोधूमषष्टिकाः। मसूरमुद्गतुवरीजीवन्तीसुनिषण्णकाः॥ ३४॥
बालमूलकवार्ताकतण्डुलीयकवास्तुकम्। कारवेल्लककर्कोटपटोलकटुकाफलम्॥ ३५॥
सैन्धवं दाडिमं धात्री घृतं तप्तहिमं जलम्। जीर्णशाल्योदनं स्निग्धमल्पमुष्णोदकोत्तरम्॥ ३६॥
भुञ्जानो जाङ्गलैर्मांसैः शीघ्रं व्रणमपोहति।

व्रणरोगी का आहार—व्रणरोगी इस काल में अपनी प्रकृति के अनुकूल भोजन करे। जैसे—जौ, गेहूँ की रोटी, साठी के चावलों का भात, मसूर, मूँग, अरहर की दालें, जीवन्ती, सुनिषण्णक (चौपतिया), कच्ची मूली, बैगन, चौलाई, बथुआ, करेला, खेखसा, परवल, कुटकी के फलों का शाक, सेंधानमक, दाड़िम तथा आँवला के फल, घी, तपाकर शीतल किया गया जल, पुराने शालिचावलों का गरम-गरम भात—जिसमें घी मिलाया गया हो—मात्रा में थोड़ा, बाद में गरम (गुनगुना) जल पीये और इनके साथ जांगल देश के प्राणियों के मांस अथवा मांसरस का भी सेवन करें। इस प्रकार के भोजनों का सेवन करने वाले व्रणरोगी के घाव शीघ्र भर जाते हैं॥ ३४-३६॥

अशितं मात्रया काले पथ्यं याति जरां सुखम्॥ ३७॥

अजीर्णात्त्वनिलादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्। ततः शोफरुजापाकदाहानाहानवाप्नुयात्॥

लाभ एवं हानि—समय पर (भोजन काल में) मात्रा के अनुसार खाया हुआ हितकर आहार सुखपूर्वक पच जाता है। यदि भोजन ठीक प्रकार से पच नहीं पाता अर्थात् अजीर्ण हो जाता है, तो वात आदि दोषों का महान् प्रकोप हो जाता है। जिसके कारण व्रणस्थान में शोथ, पीड़ा, पाक, दाह तथा आनाह (अफरा) आदि विकारों की उत्पत्ति हो जाती है॥ ३७-३८॥

नवं धान्यं तिलान् माषान् मद्यं मांसमजाङ्गलम्। क्षीरेक्षुविकृतीरम्लं लवणं कटुकं त्यजेत्॥ ३९॥

यच्चान्यदपि विष्टम्भि विदाहि गुरु शीतलम्। वर्गोऽयं नवधान्यादिर्व्रणिनः सर्वदोषकृत्॥ ४०॥

मद्यं तीक्ष्णोष्णरूक्षाम्लमाशु व्यापादयेद्व्रणम्।

त्याज्य आहार—नये धान्य, तिल, उड़द, मद्य, अनूपदेशीय प्राणियों (मृग एवं पक्षियों) के मांस, दूध से बना हुआ खोया आदि, ईख से बने हुए गुड़ आदि पदार्थ, आम, इमली आदि खट्टे पदार्थ तथा नमक, सोंठ, मरिच, पीपल आदि पदार्थों का त्याग करें। और भी जो विष्टम्भकारक, विदाहकारक, पचने में देर करने वाले पदार्थ तथा शीतल हों उन सबका परित्याग करें। उक्त नवधान्यवर्ग व्रणरोगियों के सभी दोषों को प्रकुपित कर देता है। जो मद्य तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष तथा अम्ल रसयुक्त होता है, वह पाक आदि उत्पन्न कर व्रण को विकृत कर देता है॥ ३९-४०॥

वालोशीरैश्च वीज्येत न चैनं परिघट्टयेत्॥ ४१॥

न तुदेन्न च कण्डूयेच्चेष्टमानश्च पालयेत्। स्निग्धवृद्धद्विजातीनां कथाः शृण्वन्मनःप्रियाः॥ ४२॥

आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं व्रणमपोहति।

व्रणोपचारार्थ उपदेश—मक्खियाँ आदि उस व्रण पर न बैठें इसलिए बालों से बने हुए चँवर या पंखे से व्रण के ऊपर हवा करता रहे, व्रण के ऊपर किसी प्रकार का दबाव न दें, न उसे सुई आदि से खोदें, न खुजलायें, चलते-फिरते, उठते-बैठते उसकी रक्षा करे। प्रियजनों, महापुरुषों तथा ब्राह्मणों से मनोनुकूल कथाएँ सुना करें। रोग ठीक हो जायेगा—इस विषय में आशा रखे, निराश न हो। ऐसे व्यक्ति का शीघ्र ही व्रण भर जाता है॥ ४१-४२॥

तृतीयेऽह्नि पुनः कुर्याद् व्रणकर्म च पूर्ववत्॥ ४३॥

प्रक्षालनादि, दिवसे द्वितीये नाचरेत्तथा। तीव्रव्यथो विग्रथितश्चिरात्संरोहति व्रणः॥ ४४॥

पुनः प्रक्षालन आदि कर्म—फिर तीसरे दिन व्रणप्रक्षालन आदि कर्म पहले की भाँति करें। दूसरे ही दिन इसलिए न करें क्योंकि व्रणस्थान अभी कमजोर ही रहता है, अतः उसमें अत्यन्त कष्ट होगा। इस प्रकार जल्दी-जल्दी प्रक्षालन आदि कर्म करने से व्रणरोपण देर में हो सकेगा॥ ४३-४४॥

वक्तव्य—देखें—सु. सू. ५।३५। वास्तव में वाग्भट के ये पद्य सुश्रुतोक्त गद्य के ही पद्यानुवाद हैं।

स्निग्धां रूक्षां श्लथां गाढां दुर्न्यस्तां च विकेशिकाम्। व्रणे न दद्यात्कल्कं वा—

विकेशिका-वर्णन—व्रण के भीतर अत्यन्त स्निग्ध (चिकनी), अत्यन्त रूखी, अधिक ढीली, अधिक कठोर तथा अनुचित ढंग से विकेशिका को नहीं रखना चाहिए और इस प्रकार के कल्क को भी न रखे।

—स्नेहात्क्लेदो विवर्द्धते॥ ४५॥
मांसच्छेदोऽतिरुग्रौक्ष्याद्दरणं शोणितागमः। श्लथातिगाढदुर्न्यासैर्व्रणवर्त्मावघर्षणम्॥ ४६॥

इनके दुष्परिणाम—अतिस्नेह से व्रण में गीलापन की वृद्धि, रूक्ष विकेशिका से मांस कटने लगता है, वेदना बढ़ती है, व्रणभूमि फटने लगती है, रक्त बहने लगता है, ढीली, कठोर तथा अनुचित ढंग से रखी हुई विकेशिका के कारण व्रणमार्ग घिसने लगता है॥ ४५-४६॥

वक्तव्य—देखें—सु. सू. १८।२१। यह भी सर्वथा सुश्रुत का ही प्रतिबिम्ब है।

सपूतिमांसं सोत्सङ्गं सगतिं पूयगर्भिणम्। व्रणं विशोधयेच्छीघ्रं स्थिता ह्यन्तर्विकेशिका॥४७॥

विकेशिका का सदुपयोग—दोषरहित विकेशिका (बत्ती) को व्रण के भीतर रखने से उसका सड़ा हुआ मांस बत्ती के साथ बाहर निकल आता है, व्रण के भीतर के खोखले भाग तथा नाड़ियाँ पूयरहित होकर शुद्ध हो जाती हैं और भीतर की ओर से सम्पूर्ण व्रण शुद्ध हो जाता है॥ ४७॥

व्यम्लं तु पाटितं शोफं पाचनैः समुपाचरेत्। भोजनैरुपनाहैश्च नातिव्रणविरोधिभिः॥ ४८॥

विदग्ध व्रण का उपचार—यदि व्यम्ल अर्थात् विदग्ध (अधपका) व्रण का कभी शस्त्र द्वारा पाटन कर दिया जाता है अर्थात् अधपके व्रण को चीर दिया जाता है तो उस व्रणशोथ का उपचार पाचन आहार तथा पेयों और उपनाहों से करना चाहिए, किन्तु वे उपचार अधिक व्रणविरोधी (व्रण को विकृत करने वाले) नहीं होने चाहिए॥ ४८॥

सद्यः सद्योव्रणान् सीव्येद्विवृतानभिघातजान्।
मेदोजांल्लिखितान् ग्रन्थीन् ह्रस्वाः पालीश्च कर्णयोः॥ ४९॥
शिरोऽक्षिकूटनासौष्ठगण्डकर्णोरुबाहुषु । ग्रीवाललाटमुष्कस्फिङ्मेढ्रपायूदरादिषु॥ ५०॥
गम्भीरेषु प्रदेशेषु मांसलेष्वचलेषु च।

सद्योव्रण के उपचार—सद्योव्रणों (जो घाव तलवार आदि के प्रहार से तत्काल हुए हों) को, जिनके मुखभाग खुल गये हों, तत्काल उन्हें साफ करके सीवन-विधि से सी दें अर्थात् उन पर टाँके लगा दें। मेदोज अण्डवृद्धि तथा ग्रन्थियों का लेखन कर्म करने के बाद उनमें टाँके लगा देने चाहिए। कान की छोटी पालियों पर लेखन कर्म करने के बाद सीवन कर्म करें। सिर, नेत्रकूट, नासिका, ओष्ठ, गण्डस्थल (दोनों गालों), कानों, ऊरुओं, बाँहों, ग्रीवा (गरदन), ललाट (माथा), अण्डकोष, स्फिक् (चूतड़), मेढ्र (लिंग), पायु (गुद) तथा उदरप्रदेश में हुए सद्योव्रणों एवं गम्भीर (गहरे) व्रणों, मांसलप्रदेश के और अचलप्रदेशों के सद्योव्रणों में भी शीघ्र सीवनकर्म करना चाहिए॥ ४९-५०॥

न तु वङ्क्षणकक्षादावल्पमांसे चले व्रणान्॥ ५१॥
वायुनिर्वाहिणः शल्यगर्भान् क्षारविषाग्निजान्।

सीवनकर्म का निषेध—वंक्षण (कूल्हा) एवं कक्षा (काँख) के अल्पमांसवाले शरीरावयवों तथा चल-अवयवों के सद्योव्रणों का सीवनकर्म नहीं करना चाहिए। फुफ्फुस आदि, जिनके व्रणों में से वायु निकल रहा हो और जिनके भीतर अभी शल्य है तथा जो व्रण क्षार, विष एवं अग्नि के कारण हुए हों, इस प्रकार के उन सद्योव्रणों का सीवनकर्म नहीं करना चाहिए॥ ५१॥

सीव्येच्चलास्थिशुष्कास्रतृणरोमापनीय तु॥ ५२॥
प्रलम्बि मांसं विच्छिन्नं निवेश्य स्वनिवेशने। सन्ध्यस्थि च स्थिते रक्ते स्नाय्वा सूत्रेण वल्कलैः॥

सीव्येन्न दूरे नासन्ने गृह्णन्नाल्पं न वा बहु।

सीवनकर्म-विधि—टूट या फूट जाने पर अपने स्थान से विचलित अस्थि को, सूखे हुए रक्त को, तृण तथा रोम (लोम) आदि किसी प्रकार के अवांछित द्रव्य को बीच में से निकाल कर सीवनकर्म करना चाहिए। जो मांस का टुकड़ा कटकर लटक रहा हो, उसे उसके स्थान पर रखकर तथा बैठाकर और सन्धि की अस्थि को भी उसके अपने स्थान पर ठीक ढंग से जोड़ से जोड़ को मिलाकर, रक्तस्राव के रुक जाने पर अन्य प्राणी के स्नायु से, रेशम के धागे से अथवा सन, अश्मन्तक आदि के वल्कल से निकाले गये डोरे से सीवनकर्म करे। सीवन के टाँके न बहुत दूर हों और न बहुत पास हों और सीवन कर्म में त्वचा का किनारा भी न बहुत अधिक लिया जाय, न बहुत कम किन्तु इस प्रकार सीयें जिससे त्वचा के दोनों किनारे मिल जायें॥ ५२-५३॥

वक्तव्य—उक्त प्रसंगों को सुश्रुत में देखें—सु.सू. २५।१६ से २६ तक। इन श्लोकों में विषयक्रम इस प्रकार है—१. सीने योग्य रोग, २. सीवनकर्म का निषेध, ३. संशोधन-निर्देश, ४. सीने की विधि, ५. चार प्रकार का सीवनकर्म तथा ६. सुइयों के विविध प्रकार। सीवन के चार भेदों का वर्णन वृद्धवाग्भट ने भी किया है। देखें—अ. सं. सू. ३८।३८। अन्तर केवल इतना है—सुश्रुत ने चतुर्थ सीवन प्रकार को 'ऋजुग्रन्थि' कहा है और वृद्धवाग्भट ने 'ग्रन्थिबन्धन'। बन्धनों के ये भेद व्रण (घाव) की आकृति के आधार पर निर्धारित किये गये हैं। दर्जी फटे हुए वस्त्र को कहाँ कैसे सिलता है, ध्यान से देखें।

सान्त्वयित्वा ततश्चार्तं व्रणे मधुघृतद्रुतैः॥ ५४॥
अञ्जनक्षौमजमषीफलिनीशल्लकीफलैः। सरोध्रमधुकैर्दिग्धे युञ्ज्याद्बन्धादि पूर्ववत्॥ ५५॥

सीवन का पश्चात्कर्म—सीवनकर्म कर लेने के बाद रोगी को सान्त्वना देकर (अब किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा, ऐसा कहकर) और उस घाव पर मधु-घृत में मिलाये गये सफेद या काला सुरमा, रेशम की भस्म, प्रियंगु, सलई के फल, लोध एवं मुलेठी—इन द्रव्यों के कपड़छन चूर्णों का लेप लगाकर पाटनकर्म के समान बन्धन आदि कर्म करें॥ ५४-५५॥

वक्तव्य—'शल्लकी फल'—इसे चिलगोजा कहते हैं। यह सूखा मेवा है। इसे पीसने पर तेल निकलता है, अतः इसे अकेले पीसकर उक्त मलहम में मिलायें। जिस व्रण में सीवनकर्म न करना हो उसमें उक्त द्रव्य के चूर्णों का प्रतिसारण किया जाता है अर्थात् इनके चूर्ण को बुरक दिया जाता है। ये रोपण द्रव्य हैं।

व्रणो निःशोणितौष्ठो यः किञ्चिदेवावलिख्य तम्। सञ्जातरुधिरं सीव्येत्सन्धानं ह्यस्य शोणितम्॥

सीवनकर्म का निर्देश—जिस व्रण के होठों (किनारों) में रक्त न आ रहा हो, उन्हें थोड़ा-सा छील दें, जिससे उनमें रक्त निकलने लगे, तभी सीवनकर्म कर देना चाहिए। क्योंकि रक्त ही व्रण (व्रण के दो छोरों) को जोड़ने में प्रधान कारण होता है॥ ५६॥

बन्धनानि तु देशादीन् वीक्ष्य युञ्जीत तेषु च। आविकाजिनकौशेयमुष्णं, क्षौमं तु शीतलम्॥
शीतोष्णं तूलसन्तानकार्पासस्नायुवल्कजम्। ताम्रायस्त्रपुसीसानि व्रणे मेदःकफाधिके॥ ५८॥
भङ्गे च युञ्ज्यात्फलकं चर्मवल्ककुशादि च।

बन्धन द्रव्यों का वर्णन—शरीर के अवयवों तथा वात आदि दोषों का विचार करके निम्नलिखित विविध बन्धनों का प्रयोग करना चाहिए। आविक (भेड़ के ऊन का), अजिन (मृगचर्म का), कौशेय (रेशमी वस्त्र का) बन्धन (पट्टी) उष्णवीर्य होता है। क्षौम (अलसी के रेशों से बना हुआ) वस्त्र का बन्धन शीतवीर्य होता है। सेमल तथा कपास की रुई से निर्मित वस्त्र का बन्धन, स्नायु तथा वृक्ष की छाल का बन्धन समशीतोष्ण (मादिल) होता है। मेदः-प्रधान एवं कफ-प्रधान व्रणों पर ताँबा, लोहा,

राँगा और सीसा के पत्रकों का बन्धन लगाना चाहिए। अस्थिभंग होने पर काठ की पट्टी, मोटा चमड़ा, वृक्ष की मोटी छाल अथवा कुश (बाँस की पट्टी) ऊपर से रखकर बन्धन लगाना चाहिए॥ ५७-५८॥

स्वनामानुगताकारा बन्धास्तु दश पञ्च च॥ ५९॥
कोशस्वस्तिकमुत्तोलीचीनदामानुवेल्लितम्।खट्वाविबन्धस्थगिकावितानोत्सङ्गगोष्फणाः॥६०॥
यमकं मण्डलाख्यं च पञ्चाङ्गी चेति योजयेत्।
(विदध्यात्तेषु तेष्वेव कोशमङ्गुलिपर्वसु। स्वस्तिकं कर्णकक्षादिस्तनेषूक्तं च सन्धिषु॥ १॥
मुत्तोलीं मेढ्रग्रीवादौ युञ्ज्याच्चीनमपाङ्गयोः। सम्बाधेऽङ्गे तथा दाम, शाखास्वेवानुवेल्लितम्॥
खट्वां गण्डे हनौ शङ्खे, विबन्धं पृष्ठकोदरे। अङ्गुष्ठाङ्गुलिमेढ्राग्रे स्थगिकामन्त्रवृद्धिषु॥ ३॥
वितानं पृथुलाङ्गादौ तथा शिरसि चेरयेत्। विलम्बिनि तथोत्सङ्गं, नासौष्ठचिबुकादिषु॥ ४॥
गोष्फणं सन्धिषु तथा, यमकं यमिके व्रणे। वृत्तेऽङ्गे मण्डलाख्यं च, पञ्चाङ्गीं चोर्ध्वजत्रुषु॥ ५॥)
यो यत्र सुनिविष्टः स्यात्तं तेषां तत्र बुद्धिमान्॥ ६१॥

बन्धन-भेदों का निर्देश—बन्ध (बन्धन) के पन्द्रह भेद अपने-अपने नाम के अनुरूप होते हैं। वे इस प्रकार कहे गये हैं—१. कोश, २. स्वस्तिक, ३. मुत्तोली, ४. चीन, ५. दाम, ६. अनुवेल्लित, ७. खट्वा, ८. विबन्ध, ९. स्थगिका, १०. वितान, ११. उत्संग, १२. गोफणा, १३. यमक, १४. मण्डल तथा १५. पंचांगी। (उन-उन अँगुलियों के पोरों को कोशबन्ध से, कान, कक्षा आदि में तथा स्तनों के बीच में स्वस्तिक बन्ध से, ग्रीवा एवं शिश्न में उत्तोली या मुत्तोली बन्ध से, नेत्रप्रान्तों को चीन बन्ध से, पीड़ित अंगों को दाम बन्ध से, टाँगों तथा बाँहों को अनुवेल्लितक बन्ध से, गण्डस्थल, हनु तथा शंखप्रदेश को खट्वा बन्ध से, पीठ तथा उदर को विबन्ध नामक बन्ध से, अँगूठा, अंगुलि को मेढ्र (लिंग) के अगले भाग तथा अन्त्रवृद्धि को स्थगिका बन्ध से, मूर्धा आदि चौड़े अंगों को वितान बन्ध से, अंग-विशेष को तथा लटकनेवाले हाथ, पैर आदि को उत्संग बन्ध से, नासिका, होंठ तथा ठोढ़ी की अस्थियों को गोष्फणा बन्ध से, यमल व्रणों को यमक बन्ध से, गोलाकार अंगों को यमल बन्ध से और ऊर्ध्वजत्रु के अवयवों को पंचांगी बन्ध से बाँधना चाहिए॥ १-५॥) विशेष निर्देश—उक्त बन्धों में जो बन्ध जिस अवयव पर भलीभाँति बाँधने के बाद स्थिर रह सके बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि उसे उस अवयव पर बाँधे॥ ५९-६१॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने १४ बन्धन स्वीकार किये हैं। देखें—सु. सू.१८।१७-१८। ये पाँच प्रायः अनेक संस्करणों में नहीं पाये जाते। प्रसंगोचित होने के कारण इन्हें यहाँ उद्धृत कर दिया गया है।

बध्नीयाद्गाढमूरुस्फिक्कक्षावङ्क्षणमूर्धसु । शाखावदनकर्णोरःपृष्ठपार्श्वगलोदरे॥ ६२॥
समं मेहनमुष्के च, नेत्रे सन्धिषु च श्लथम्। बध्नीयाच्छिथिलस्थाने वातश्लेष्मोद्भवे समम्॥
गाढमेव समस्थाने, भृशं गाढं तदाशये। शीते वसन्तेऽपि च तौ मोक्षणीयौ त्र्यहात्त्र्यहात्॥ ६४॥
पित्तरक्तोत्थयोर्बन्धो गाढस्थाने समो मतः। समस्थाने श्लथो, नैव शिथिलस्याशये तथा॥ ६५॥
सायं प्रातस्तयोर्मोक्षो ग्रीष्मे शरदि चेष्यते।

पुनः बन्धभेद-निर्देश—विधिभेद से बन्ध (बन्धन) तीन प्रकार के होते हैं—१. गाढ़, २. सम तथा ३. शिथिल। १. गाढ़ बन्धन के स्थल—ऊरु (दोनों टाँगों) में, स्फिक् (चूतड़ों में), कक्षा (काँखों) में, वंक्षण (कूल्हों) में तथा सिर। २. समबन्धन के स्थल—शाखाओं, मुख, दोनों कानों, उरस् (छाती), पीठ, पसलियों, गला, उदर, मेहन (लिंग तथा अण्डकोषों) पर और ३. शिथिल बन्धन के स्थल—नेत्रों तथा सन्धियों में उत्पन्न व्रणों पर इन बन्धनों को बाँधना चाहिए। वातकफज प्रधान व्रणों पर शिथिल बन्धन के स्थान पर सम और सम बन्धन के स्थान पर गाढ़ बन्धन तथा गाढ़ बन्धन के स्थान पर अधिक गाढ़ बन्धन बाँधना चाहिए। शीतकाल में तथा वसन्त ऋतु में तीन-तीन दिन में वे (वात-कफज व्रणबन्धन) खोलने चाहिए। पित्तरक्त-प्रधान व्रणों पर गाढ़ बन्धन करने योग्य स्थान पर सम बन्धन बाँधना चाहिए।

सम बन्धन के स्थान पर शिथिल बन्ध और शिथिल बन्ध के स्थान पर बन्धन लगाना ही नहीं चाहिए, केवल उसे मक्खी, धूल आदि से बचाना चाहिए। पित्तरक्त-प्रधान व्रणों पर बाँधे गये व्रणबन्धनों को ग्रीष्म एवं शरद् ऋतुओं में सायंकाल तथा प्रातःकाल दो बार खोलना, साफ करना और पुनः बाँध देना चाहिए॥ ६२-६५॥

वक्तव्य—सुश्रुत, वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट ने व्रणबन्धन के कालों में पाँच ऋतुओं का नामतः इस प्रकार उल्लेख किया है—शीतऋतु (हेमन्त-शिशिर), वसन्त-ग्रीष्म तथा शरद् किन्तु वर्षा ऋतु को छोड़ दिया है, ऐसा पाठक-वर्ग कह सकता है। उसका समाधान इस प्रकार है—वर्षा ऋतु में जब पानी नहीं बरसता तो वह ग्रीष्म के अनुरूप होती है और जब पानी बरसता रहता है तब वह शीत होती है। इसी दृष्टि से चिकित्सक इस ऋतु में बन्धन खोलने एवं बाँधने का निर्णय लें। ध्यान रहे, बन्धन खोलने के साथ ही विकेशिका (व्रण के भीतर रखी गयी बत्ती) और कवलिका को भी बदल दें। इस विषय में सुश्रुत के उपदेशों पर भी दृष्टिपात कर लें—सु. सू. १८।२२ से २६ तक। शास्त्रीय निर्देशों को न मानने से होने वाले दुष्परिणामों के लिए देखें—सु. सू. १८।२७।

अबद्धो दंशमशकशीतवातादिपीडितः॥ ६६॥
दुष्टीभवेच्चिरं चात्र न तिष्ठेत्स्नेहभेषजम्। कृच्छ्रेण शुद्धिं रूढिं वा याति रूढो विवर्णताम्॥ ६७॥

व्रणबन्धन आवश्यक—व्रण के ऊपर बन्धन न बाँधने से दंश (डाँस), बड़े मच्छर एवं छोटे मच्छर उस स्थान पर बैठकर काटते हैं, ठण्डी लगती है, हवा का उस पर प्रभाव पड़ता है, आदि शब्द से धूल, मिट्टी, मक्खी, तिनका का ग्रहण कर लेना चाहिए। इन सबके सम्पर्क से व्रण दूषित हो जाता है और उस पर लगाया गया घी, औषध (लेप-मलहम आदि) भी स्थिर नहीं रहने पाते। व्रण का अत्यन्त कष्ट से शोधन तथा रोपण हो पाता है और व्रणस्थान का वर्ण सदा के लिए विकृत हो जाता है॥ ६६-६७॥

बद्धस्तु चूर्णितो भग्नो विश्लिष्टः पाटितोऽपि वा। छिन्नस्नायुसिरोऽप्याशु सुखं संरोहति व्रणः॥
उत्थानशयनाद्यासु सर्वेहासु च पीड्यते। उद्वृत्तौष्ठः समुत्सन्नो विषमः कठिनोऽतिरुक्॥ ६९॥
समो मृदुररुक् शीघ्रं व्रणः शुध्यति रोहति।

व्रणबन्धन से लाभ—व्रण के ऊपर पट्टी बाँधने से चूर्णित व्रण, भग्न व्रण, पाटित व्रण तथा जिसकी स्नायु या सिरा कट गयी हो, ऐसा व्रण भी शीघ्र सुखपूर्वक (सरलता से) भर जाता है। उठने, सोने, लेटने, चलने, फिरने आदि सभी प्रकार के व्यवहारों में व्रणरोगी को कष्ट नहीं होता। जिस व्रण के चारों ओर के किनारे उलटे हों, समुत्सन्न अर्थात् चारों ओर से ऊपर की ओर को उभरा हुआ, विषम (जो स्पर्श में कठोर) हो, ज़िसमें अधिक पीड़ा हो वह व्रण अपने अशुभ रूप को छोड़कर शीघ्र भीतर से शुद्ध होकर भर जाता है॥ ६८-६९॥

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार समुचित प्रकार के बन्धन से व्रण सुरक्षित और व्रणरोगी सुखी रहता है। देखें—सु. सू. १८।३१।

स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादनुपरोहताम्॥ ७०॥
प्रच्छाद्यमौषधं पत्रैर्यथादोषं यथर्तु च। अजीर्णतरुणाच्छिद्रैः समन्तात्सुनिवेशितैः॥ ७१॥
धौतैरकर्कशैः क्षीरिभूर्जार्जुनकदम्बजैः।

पत्रदान-उपक्रम—जो व्रण चिरकाल से चला आ रहा हो, जिन व्रणों की भूमि में मांस बहुत थोड़ा हो तथा जिन व्रणों का रोपण रूक्षता के कारण नहीं हो रहा हो, उनमें लगाये जाने वाले औषधद्रव्य (मलहम) को पत्तों द्वारा ऊपर से ढक देना चाहिए। ये पत्र वात आदि दोषों तथा ऋतुओं के अनुरूप हों। वे पत्र पुराने (पके या सूखे) न हों, तरुण (कच्चे) न हों, वे छिद्र युक्त न हों, चारों ओर भलीभाँति रखे हों, वे धुले हों, खुरदरे न हों। वे पत्र क्षीरीवृक्षों के, भोजपत्र के, अर्जुन तथा कदम्ब वृक्ष के हों॥ ७०-७१॥

वक्तव्य—'यथादोषं यथर्तु च'—वातव्रण में शीत ऋतु में स्निग्ध तथा उष्णवीर्य वाले हों, पित्तव्रण तथा उष्णकाल में शीतवीर्य वाले हों, कफव्रण तथा ग्रीष्मकाल में रूक्ष एवं शीतवीर्य हों।

पत्रदान—सुश्रुत ने व्रण के ६० उपक्रमों की चर्चा की है। देखें—सु. चि. १।८। इसी में एक उपक्रम 'पत्रदान' भी है, इसका वर्णन विस्तार से देखें—'पत्रदानं····विजनता'। (सु.चि. १।११२-११८) चरक-संहिता में ३६ व्रणों के ही उपक्रमों का उल्लेख किया गया है। देखें— 'यथाक्रम····समुपक्रमः'॥ (च.चि. २५।३९-४३) इन स्थलों का अवश्य अवलोकन करें।

कुष्ठिनामग्निदग्धानां पिटिकामधुमेहिनाम्॥ ७२॥
कर्णिकाश्चोन्दुरुविषे क्षारदग्धा विषान्विताः। बन्धनीया न मांस्पाके गुदपाके च दारुणे॥ ७३॥
शीर्यमाणाः सरुग्दाहाः शोफावस्थाविसर्पिणः।

व्रणबन्धन का निषेध—कुष्ठरोगियों के, अग्निदाह के, मधुमेह के, मूषिकविष की कर्णिकाएँ, क्षारदग्ध व्रण, विषयुक्त व्रण, दारुण मांसपाक के व्रण, गुदपाक के व्रण, जो व्रण फट या गल रहे हों, जिनमें पीड़ा तथा दाह हो रहा हो, जो शोथ युक्त व्रण हों और विसर्पयुक्त व्रणों में बन्धन नहीं बाँधना चाहिए॥ ७२-७३॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने भी व्रणबन्धन का निषेध किया है। देखें—सु. सू. १८।३२-३४। व्रणवास्तु पर मक्षिकाएँ न बैठें, धूल आदि न पड़े इस दृष्टि से साफ वस्त्र से उसे सदैव ढककर रखें।

अरक्षया व्रणे यस्मिन् मक्षिका निक्षिपेत्कृमीन्॥ ७४॥
ते भक्षयन्तः कुर्वन्ति रुजाशोफास्रसंस्रवान्। सुरसादिं प्रयुञ्जीत तत्र धावनपूरणे॥ ७५॥
सप्तपर्णकरञ्जार्कनिम्बराजादनत्वचः। गोमूत्रकल्कितो लेपः सेकः क्षाराम्बुना हितः॥ ७६॥
प्रच्छाद्य मांसपेश्या वा व्रणं तानाशु निर्हरेत्।

व्रणज क्रिमियों का वर्णन—सुरक्षा (देख-रेख) न होने के कारण जिस व्रण (घाव) में मक्षिकाएँ क्रिमियों को डाल जाती हैं, वे बड़े होकर उस व्रण के मांस आदि को खाते हुए उस स्थान पर पीड़ा, शोथ, रक्तस्राव को पैदा कर देते हैं। इन क्रिमियों को मारने के लिए सुरसादि गण (अ. हृ. सू. १५।३०-३१) का प्रयोग व्रण को धोने तथा रोपण के लिए करें। अथवा—सप्तपर्ण (छतिवन), करंज (डिठौरी), मदार, नीम तथा राजादन (खिरनी) इनकी छालों को गोमूत्र में पीसकर उसका लेप करें अथवा जौखार आदि किसी क्षार के जल से सेक (सेचन) करें अथवा मांसपेशी से व्रण को ढककर क्रिमियों को शीघ्र वहाँ से हटा दें॥ ७४-७६॥

वक्तव्य—'मक्षिका निक्षिपेत् क्रिमीन्'—यहाँ जिस मक्षिका का वर्णन श्रीवाग्भट ने किया है, वह 'जन्तुमाता' है। इसका वर्णन देखें—अ.हृ.नि १४।४२-५६। इसे किरौनी मक्खी भी कहते हैं। 'प्रच्छाद्य मांसपेश्या'—बकरा आदि के मांस का टुकड़ा उस स्थान पर कुछ देर रख देने से वे क्रिमि उस दूषित व्रण को छोड़कर इस मांस में लिपट जाते हैं, अतः इसे उठाकर फेंक दें।

न चैनं त्वरमाणोऽन्तः सदोषमुपरोहयेत्॥ ७७॥
सोऽल्पेनाप्यपचारेण भूयो विकुरुते यतः।

रोपण में शीघ्रता का निषेध—जब तक व्रण (घाव) के भीतर किसी प्रकार का दोष (पूयशोथ आदि) शेष है, तब तक रोपण (घाव को भरने) रूपी कार्य में शीघ्रता (जल्दीबाजी) नहीं करनी चाहिए, अपितु व्रण का भलीभाँति शोधन करता रहे। क्योंकि वह व्रण थोड़ी भी भूल रह जाने के कारण फिर विकृत हो जाता है॥ ७७॥

वक्तव्य—'भूयो विकुरुते' अर्थात् यदि पूय के भीतर रहते हुए उसका रोपण कर दिया जाता है तो यह पुनः नाड़ीव्रण (नासूर) के रूप में भयंकर हो जाता है। अतः पूर्ण शोधन करने के बाद ही रोपण करें।

रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत्॥ ७८॥
हर्षं क्रोधं भयं चापि यावदास्थैर्यसम्भवात्। आदरेणानुवर्त्योऽयं मासान् षट् सप्त वा विधिः॥

रोपण के पश्चात्कर्म—व्रण का भलीभाँति रोपण हो जाने पर भी जब तक व्रणस्थान पर स्थिरता न आ जाय तब तक अजीर्णकारक भोजन से, व्यायाम (अधिक शारीरिक परिश्रम) से तथा स्त्री-सहवास आदि कर्मों से अपने को बचाता रहे; हर्ष (प्रसन्नता), भय, क्रोध आदि से अपने को बचाये। इन नियमों का छः अथवा सात महीनों तक आदर के साथ पालन करना चाहिए अर्थात् इनकी उपेक्षा न करे॥ ७८-७९॥

उत्पद्यमानासु च तासु तासु वार्तासु दोषादिबलानुसारी।
तैस्तैरुपायैः प्रयतश्चिकित्सेदालोचयन् विस्तरमुत्तरोक्तम्॥ ८०॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां
प्रथमे सूत्रस्थाने शस्त्रकर्मविधिर्नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

चिकित्सा-निर्देश—बीच-बीच में उत्पन्न हो जाने वाली व्रण की विविध परिस्थितियों में दोष, देश, काल आदि के बलाबल का विचार करता हुआ चिकित्सक उत्तरस्थान में कही गयी चिकित्सा-विधियों पर ध्यान देता हुआ उन-उन उपायों द्वारा चिकित्सा करे॥ ८०॥

वक्तव्य—अष्टांगहृदय-उत्तरस्थान के २५ से ३० तक के अध्यायों में प्रस्तुत विषय का विस्तार से वर्णन किया गया है। व्रणचिकित्सा के अवसर पर उक्त स्थलों का भी पर्यालोचन अवश्य कर लेना चाहिए, इससे चिकित्सा-कार्य में सहायता मिलेगी। ऐसा ही निर्देश वृद्धवाग्भट ने भी अ. सं. सू. ३८।४७ में दिया है। किसी विषय को पहले सूत्ररूप में कहकर बाद में विस्तार से उसका वर्णन करना यह तन्त्रकारों की परम्परा देखी जाती है।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित
निर्मला हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में
शस्त्रकर्मविधि नामक उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त॥ २९॥

त्रिंशोऽध्याय:

अथातः क्षाराग्निकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब हम यहाँ से क्षारकर्म तथा अग्निकर्म की विधियों की व्याख्या करेंगे। जैसा कि इनके विषय में आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

उपक्रम—'क्षाराग्निकर्म'—क्षार का बाहर तथा भीतर उपयोग होने के कारण इसका पहले निर्धारण किया गया है और अग्नि द्वारा होने वाला चिकित्सा सम्बन्धी दाहकर्म केवल बाहरी अवयवों पर ही होता है। इसी के २९वें अध्याय में शस्त्रसाध्य रोगों में शस्त्रप्रयोग का वर्णन किया गया, उसके बाद अब इस ३०वें अध्याय में क्षारकर्म तथा अग्निकर्म का वर्णन किया जा रहा है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—सु.सू. ११ एवं १२; च.सू. ११।५५; च.वि. १।१५; च.चि. ५।३९ शस्त्र; च.चि. २५।१०१-१०६ शस्त्र; च.चि. २५।१०७ क्षार और अ.सं.सू. ३९ तथा ४० में देखें।

सर्वशस्त्रानुशस्त्राणां क्षारः श्रेष्ठो बहूनि यत्। छेद्यभेद्यादिकर्माणि कुरुते विषमेष्वपि॥ १॥
दुःखावचार्यशस्त्रेषु तेन सिद्धिमयात्सु च। अतिकृच्छ्रेषु रोगेषु यच्च पानेऽपि युज्यते॥ २॥

क्षार-प्रशंसा—उपयोगिता की दृष्टि से क्षार नामक पदार्थ सभी शस्त्रों तथा अनुशस्त्रों में श्रेष्ठ (प्रधान या उत्तम) माना गया है, क्योंकि यह अनेक ऐसे विषम स्थलों में भी छेदन, भेदन तथा लेखन कर्म सरलता से कर देता है, जैसा शस्त्र नहीं कर पाता। नासार्श, अर्बुद आदि रोगों में जहाँ शस्त्रों का प्रयोग बड़ी कठिनाई से किया जा सकता है, वहाँ भी इस क्षारप्रयोग से सफलता मिल जाती है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक कष्टसाध्य रोगों में इसका प्रयोग पानीय क्षार के रूप में किया जाता है॥ १-२॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने कहा है—'स द्विविधः प्रतिसारणीयः पानीयश्च'। (सु.सू.११।६) प्रतिसारणीय क्षार वह है, जो लेपन आदि बाह्य प्रयोगों में लिया जाता है। पानीय क्षार उसे कहते हैं जो मन्दाग्नि आदि में पिलाया जाता है। जैसे—सोडावाटर आदि।

स पेयोऽर्शोऽग्निसादाश्मगुल्मोदरगरादिषु।

पानीय क्षार-प्रयोग—वह पानीय क्षार अर्श, मन्दाग्नि, अश्मरी, गुल्म, उदरविकार, विषविकार; आदि पद से अजीर्ण, अरुचि, अफरा और क्रिमिरोग में पीना चाहिए।

योज्यः साक्षान्मषश्वित्रबाह्यार्शःकुष्ठसुप्तिषु॥ ३॥
भगन्दरार्बुदग्रन्थिदुष्टनाडीव्रणादिषु ।

अन्यत्र क्षार-प्रयोग—इन रोगों में प्रतिसारणीय क्षार का प्रयोग करें—मष या मषक (मस्सा), श्वित्र (किलास या सफेद कोढ़), बाहरी अर्श, कुष्ठ, सुप्ति (त्वचा का सुन्न हो जाना), भगन्दर, अर्बुद, ग्रन्थि (रोग-विशेष), दूषित नाड़ीव्रण तथा आदि शब्द से चर्मकील, न्यच्छ, व्यंग, किटिभकुष्ठ, रोहिणी, उपकुश, अधिजिह्वा, उपजिह्वा, सर्पदंश, वृश्चिकदंश, बाह्यविद्रधि और रोहिणी रोगों में क्षार का साक्षात् प्रयोग करना चाहिए॥ ३॥

न तूभयोऽपि योक्तव्यः पित्ते रक्ते चलेऽबले॥ ४॥

ज्वरेऽतिसारे हृन्मूर्धरोगे पाण्ड्वामयेऽरुचौ। तिमिरे कृतसंशुद्धौ श्वयथौ सर्वगात्रगे॥ ५॥
भीरुगर्भिण्यृतुमतीप्रोद्वृत्तफलयोनिषु । अजीर्णेऽन्ने शिशौ वृद्धे धमनीसन्धिमर्मसु॥ ६॥
तरुणास्थिसिरास्नायुसेवनीगलनाभिषु । देशेऽल्पमांसे वृषणमेढ्रस्रोतोनखान्तरे॥ ७॥
वर्त्मरोगादृतेऽक्ष्णोश्च शीतवर्षोष्णदुर्दिने।

क्षार-प्रयोग का निषेध—निम्नलिखित रोगों में उक्त दोनों प्रकार के क्षारों का निषेध किया गया है—पित्तज रोग, रक्तज रोग, वातज रोग, दुर्बल पुरुष (या स्त्री), ज्वर, अतिसार, हृदयविकार, शिरोरोग, पाण्डुरोग, अरुचि, तिमिररोग, वमन-विरेचन द्वारा संशोधन करने के बाद, सम्पूर्ण शरीर में शोथ होने पर, डरपोक पुरुष (या स्त्री), गर्भिणी, रजस्वला, उदावृत्ता नामक योनिव्यापद् रोग, अजीर्ण, बालक, वृद्ध, धमनी, सन्धिस्थल, मर्मस्थल, तरुणास्थिस्थल, सिरा, स्नायु, सेबनी, गल, नाभि, अल्प मांस वाले स्थानों पर, वृषण (अण्डकोष), मेढ्र (लिंग), नख के भीतर, वर्त्मरोग को छोड़कर अन्य नेत्ररोगों में, शीतकाल, वर्षाकाल, उष्ण (ग्रीष्म) काल तथा दुर्दिन (जब आकाश में बादल छाये हों) में क्षार-प्रयोग न करें॥ ४-७॥

वक्तव्य—श्रीवाग्भट के उक्त निर्देश का आधार सु.सू. ११।७, ८, ९ गद्य हैं। इसी के आगे ११वें गद्य में इन्होंने प्रतिसारणीय क्षार के तीन भेद—मृदु, मध्य तथा तीक्ष्ण का निर्देश करके इनके निर्माण की विधि भी बतलायी है।

कालमुष्ककशम्याककदलीपारिभद्रकान् ॥ ८॥
अश्वकर्णमहावृक्षपलाशास्फोतवृक्षकान् । इन्द्रवृक्षार्कपूतीकनक्तमालाश्वमारकान्॥ ९ ॥
काकजङ्घामपामार्गमग्निमन्थाग्नितिल्वकान्। सार्द्रान् समूलशाखांदीन् खण्डशः परिकल्पितान्॥
कोशातकीश्चतस्रश्च शूकं नालं यवस्य च। निवाते निचयीकृत्य पृथक् तानि शिलातले॥ ११॥
प्रक्षिप्य मुष्ककचये सुधाश्मानि च दीपयेत्। ततस्तिलानां कुतलैर्दग्ध्वाऽग्नौ विगते पृथक्॥ १२॥
कृत्वा सुधाश्मनां भस्म द्रोणं त्वितरभस्मनः। मुष्ककोत्तरमादाय प्रत्येकं जलमूत्रयोः॥ १३॥
गालयेदर्धभारेण महता वाससा च तत्। यावत्पिच्छिलरक्ताच्छस्तीक्ष्णो जातस्तदा च तम्॥ १४॥
गृहीत्वा क्षारनिष्यन्दं पचेल्लौह्यां विघट्टयन्। पच्यमाने ततस्तस्मिंस्ताः सुधाभस्मशर्कराः॥ १५॥
शुक्तीः क्षीरपकं शङ्खनाभीश्चायसभाजने। कृत्वाऽग्निवर्णान्बहुशः क्षारोत्थे कुडवोन्मिते॥ १६॥
निर्वाप्य पिष्ट्वा तेनैव प्रतीवापं विनिक्षिपेत्। श्लक्ष्णं शकृद्दक्षशिखिगृध्रकङ्ककपोतजम्॥ १७॥
चतुष्पात्पक्षिपित्तालमनोह्वालवणानि च। परितः सुतरां चातो दर्व्या तमवघट्टयेत्॥ १८॥
सबाष्पैश्च यदोत्तिष्ठेद् बुद्बुदैर्लेहवद्घनः। अवतार्य तदा शीतो यवराशावयोमये॥ १९॥
स्थाप्योऽयं मध्यमः क्षारो—

मध्यम क्षार के निर्माण की विधि—कालामुष्कक (मोखा), अमलतास, केला, पारिभद्रक (फरहद), अश्वकर्ण (सर्जरस भेद), महावृक्ष (सेहुण्ड वृक्ष), पलाश, आस्फोत (कोविदार भेद), कुटज, इन्द्रवृक्ष (अर्जुन), मदार, पूतिकरञ्ज, नक्तमाल (बृहत् करञ्ज), अश्वमार (कनेर), काकजंघा, अपामार्ग, अरणी, अग्नि (चित्रक) तथा लोध—इन सबके गीले मूल, शाखा आदि को लेकर इनके छोटे-छोटे टुकड़े कर लें और चारों प्रकार की कोशातकी (नेनुआ, घियातोरई) के जड़, पत्ते, फूल लता सहित लें, जौ के शूक तथा नाल लें। इन सबको हवा रहित स्थान में रखकर अलग-अलग ढेर लगायें। मोखा के ढेर में चूने के पत्थरों को रख कर उन्हें तिल की लकड़ियों के साथ सभी द्रव्यों के समूहों को जला डालें। अग्नि के बुझ जाने तथा गर्मी के शान्त हो जाने पर चूना बने हुए उन पत्थरों को उस ढेर में से अलग रख लें। यह चूना की भस्म १ द्रोण = १०२४ तोला हो और अमलतास आदि की भस्म १ द्रोण तथा मोखा की भस्म सवा (१$\frac{1}{4}$) द्रोण होनी चाहिए।

क्षारगालन-विधि—उक्त सभी भस्मों को अलग-अलग लेकर आधा भार = ४-४ हजार तोला जल एवं गोमूत्र में घोलकर कुछ समय तक रहने (टिकने) दें, उसके बाद मोटे वस्त्र में डालकर उसका जलीय भाग अलग कर दें। फिर भी उस शेष भाग में से जब तक पिच्छिल (चिपचिपा), लाल, साफ तथा तीक्ष्ण द्रव निकलता रहे तब तक उसे वस्त्र से छानता रहे, बाद में उस गाढ़े भाग को फेंक दें और उस जलीय क्षार को लोहे की कड़ाही में डालकर पकाना प्रारम्भ कर उसे लोहे की करछुल से चलाता रहे। जब वह क्षारीय जल पक रहा हो उस समय उसमें से १ कुडव = ४ पल = १६ तोला उस क्षारीय द्रव को लेकर दूसरे लोहपात्र में डाल दें। उसमें वे चूने के फूँके हुए पत्थर, शुक्ति, क्षीरपंक (खड़िया मिट्टी का गीला भाग) और शंखनाभि को अग्नि में तपाकर लाल करके उस कुडवभर जल में तीन-तीन बार बुझा-बुझाकर उसी में डालें। फिर उसी क्षारद्रव से इन्हें पीस कर कड़ाही में डाले हुए १ कुड़व क्षारीय जल में मिला दें। तदनन्तर उसमें मुरगा, मोर, गीध, कंक तथा कबूतर की वीट (मल) को पीसकर डालें। गाय आदि चौपायों, मोर आदि पक्षियों के पित्त को; हरिताल, मैनसिल, सभी नमकों को ४-४ तोला पकते हुए उस क्षारद्रव के ऊपर बुरक कर कड़छुल से भलीभाँति मिला दें। जब उस क्षारद्रव के पकते-पकते भापयुक्त बुलबुले उठने लगें और वह क्षार अवलेह के सदृश गाढ़ा हो जाय तब कड़ाही को चूल्हे से नीचे उतार लें, शीतल हो जाने पर उस लौहपात्र को जौ के ढेर में रख दें। यह मध्यम क्षार तैयार हो गया॥ ८-१९॥

—न तु पिष्ट्वा क्षिपेन्मृदौ। निर्वाप्यापनयेत्तीक्ष्णे पूर्ववत् प्रतिवापनम्॥ २०॥
तथा लाङ्गलिकादन्तिचित्रकातिविषावचाः। स्वर्जिकाकनकक्षीरिहिङ्गुपूतीकपल्लवाः॥ २१॥
तालपत्री विडं चेति, सप्तरात्रात्परं तु सः। योज्यः—

मृदु क्षार बनाने की विधि—मृदुक्षार के निर्माण में चूना तथा सीप आदि द्रव्यों को पीसकर मिलाया नहीं जाता, केवल उस क्षारीय जल में मात्र बुझा दिया जाता है। इसे 'मृदु क्षार' कहते हैं।

तीक्ष्ण क्षार बनाने की विधि—इसका निर्माण मध्यम क्षार की ही भाँति किया जाता है। इसमें चूना तथा सीप को बुझाकर पीसकर मिला दिया जाता है। इसमें कलिहारीकन्द, दन्तीमूल, चित्रक के जड़ की छाल, अतीस, बालवच, सज्जीखार, सत्यानाशी की जड़, हींग, पूतीकरंज के पत्ते, मुशली तथा विडनमक का चूर्ण मिला दिया जाता है। इस कड़ाही को सात दिन तक जौ के ढेर में दबाकर रखकर प्रयोग में लाया जाता है॥ २०-२१॥

—तीक्ष्णोऽनिलश्लेष्ममेदोजेष्वर्बुदादिषु॥ २२॥
मध्येष्वेष्वेव मध्योऽन्यः पित्तास्रगुदजन्मसु। बलार्थं क्षीणपानीये क्षाराम्बु पुनरावपेत्॥ २३॥

तीक्ष्ण-मध्य-मृदु क्षारों के प्रयोग : तीक्ष्णक्षार का प्रयोग वातज, कफज तथा मेदोज अर्बुद आदि रोगों में करना चाहिए। **मध्यम क्षार** का प्रयोग मध्यम कोटि के क्षारसाध्य रोगों में करना चाहिए। **मृदुक्षार** का प्रयोग पित्तज एवं रक्तज अर्शों पर करना चाहिए। बल (शक्ति) प्राप्त करने के लिए जब क्षार गाढ़ा हो जाय तो क्षारविधि से निकाला हुआ क्षारजल उसमें मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए॥ २२-२३॥

नातितीक्ष्णमृदुः श्लक्ष्णः पिच्छिलः शीघ्रगः सितः।
शिखरी सुखनिर्वाप्यो न विष्यन्दी न चातिरुक्॥ २४॥
क्षारो दशगुणः शस्त्रतेजसोरपि कर्मकृत्। आचूषन्निव संरम्भाद्गात्रमापीडयन्निव॥ २५॥
सर्वतोऽनुसरन् दोषानुन्मूलयति मूलतः। कर्म कृत्वा गतरुजः स्वयमेवोपशाम्यति॥ २६॥

क्षार के दस गुण—१. अतितीक्ष्ण न होना, २. अतिमृदु न होना, ३. श्लक्ष्ण, ४. पिच्छिल, ५. शीघ्र गति करना, ६. वर्ण से सफेद होना, ७. शिखरों वाला होना, ८. सुनिर्व्यापी (सरलता से शान्त हो जाने

वाला), ९. न विष्यन्दी (पसीजने वाला न होना) तथा १०. न चातिरुक् (अधिक कष्टकारक न होना) ऐसा क्षार शस्त्र तथा अग्नि का भी कर्म कर डालता है।

क्षार का सम्यक् योग—उक्त गुणसम्पन्न क्षार का जहाँ प्रयोग किया जाता है वहाँ वह मानो चूस रहा हो, ऐसा लगता है मानो शरीर के अवयवों को पीड़ित कर रहा हो की भाँति चारों ओर फैलता हुआ दोषों को मानो जड़ से उखाड़ रहा हो, वह अपना लेखन कर्म करने के बाद वेदना रहित होकर बाद में स्वयं शान्त हो जाता है अर्थात् किसी प्रकार के अन्य रोग को पैदा नहीं करता है॥ २४-२६॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने क्षार के आठ गुण एवं आठ दोषों का वर्णन किया है। देखें—सु.सू. ११।१६ तथा १७।

क्षारसाध्ये गदे छिन्ने लिखिते स्रावितेऽथवा। क्षारं शलाकया दत्त्वा प्लोतप्रावृतदेहया॥ २७॥
मात्राशतमुपेक्षेत—

क्षार-प्रयोग की विधि—क्षार-प्रयोग द्वारा ठीक होने वाले अर्बुद आदि रोगों का छेदन, लेखन अथवा रक्तस्रावण करने के बाद अगले भाग में मुलायम वस्त्र लपेटी हुई शलाका द्वारा क्षार को लगाकर १०० मात्रा (तीन मिनट) तक उसे लगा रहने दें॥ २७॥

—तत्रार्शःस्वावृताननम्। हस्तेन यन्त्रं कुर्वीत—

अर्शों पर क्षार-प्रयोग—गुदबलियों के ऊपर अर्शों की उत्पत्ति होने पर अर्शोयन्त्र से गुदद्वार को चौड़ा करके अर्शों पर क्षार-प्रयोग करते ही यन्त्र के मुख को हाथ से ढक दें।

—वर्त्मरोगेषु वर्त्मनी॥ २८॥

निर्भुज्य पिचुनाऽऽच्छाद्य कृष्णभागं विनिक्षिपेत्। पद्मपत्रतनुः क्षारलेपो, घ्राणार्बुदेषु च॥ २९॥

वर्त्मरोगों पर क्षार-प्रयोग—वर्त्मरोग (रोहा आदि) में वर्त्म को उलटा करके नेत्र के काले भाग को रुई के फाहा से ढक कर क्षार का प्रयोग करें। यह क्षार का लेपन कमल की पंखुड़ी बराबर पतला होना चाहिए। इसी प्रकार का पतला लेप नासार्बुद में भी लगाना चाहिए॥ २८-२९॥

प्रत्यादित्यं निषण्णस्य समुन्नम्याग्रनासिकाम्। मात्रा विधार्यः पञ्चाशत्—

नासार्श पर क्षार-प्रयोग—सूर्य की ओर मुख करके लेटे हुए नासार्श के रोगी की नासिका को भलीभाँति ऊपर की ओर उठाकर उस अर्श के ऊपर क्षार का प्रयोग करके ५० मात्राकाल तक उस क्षार को लगा रहने दे।

—तद्वदर्शसि कर्णजे॥ ३०॥

कर्णार्श पर क्षार-प्रयोग—उसी प्रकार कान के ऊपर उत्पन्न अर्श पर भी क्षार-प्रयोग करके ५० मात्रा काल तक उस लगे हुए क्षार की प्रतीक्षा करे॥ ३०॥

क्षारं प्रमार्जनेनानु परिमृज्यावगम्य च। सुदग्धं घृतमध्वक्तं तत्पयोमस्तुकाञ्जिकैः॥ ३१॥
निर्वापयेत्ततः साज्यैः स्वादुशीतैः प्रदेहयेत्। अभिष्यन्दीनि भोज्यानि भोज्यानि क्लेदनाय च॥

क्षार का पश्चात्कर्म—ऊपरनिर्दिष्ट मात्राकाल के बाद कोमल वस्त्र अथवा रुई से क्षारद्रव्य को पोंछकर क्षार का समुचित प्रयोग हो गया है, ऐसा समझ कर उसके ऊपर घी तथा शहद का लेप लगाकर उस क्षारदग्ध स्थान पर दूध, मस्तु (दही का पानी) या काँजी के द्रव से सेचन करके उस दाहजनित पीड़ा का निर्वापण करे। उसके बाद मुलेठी आदि मधुर तथा शीतल द्रव्यों के चूर्णों को घी में मिलाकर उस पर मोटा लेप करे। तदनन्तर रोगी को अभिष्यन्दी (उड़द, दही आदि) पदार्थों को खिलायें, जिससे क्षार से जलाया गया व्रणस्थान क्लेदयुक्त होकर उसमें से दोष बहकर निकल जाय॥ ३१-३२॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने क्षार शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—'तत्र क्षरणात् क्षणनाद् वा क्षारः', (सु.सू. ११।४) अर्थात् यह दूषित मांस को काटता है और जहाँ यह लगाया जाता है वहाँ स्थित विकार का क्षरण (स्रवण) करता है। देखा गया है—इसके प्रयोग से अर्शों के मुख से बहुत-सा द्रव निकलता है और अन्त में वे सूख जाते हैं। यह एक क्षार-प्रयोग का शुभ लक्षण है।

यदि च स्थिरमूलत्वात्क्षारदग्धं न शीर्यते। धान्याम्लबीजयष्ट्याह्वतिलैरालेपयेत्ततः॥ ३३॥
तिलकल्कः समधुको घृताक्तो व्रणरोपणः।

क्षारदग्ध व्रण का रोपण—यदि गहरी जड़ें होने के कारण क्षार द्वारा जलाये गये बवासीर के मस्से क्षीण नहीं होते तो धान्याम्लबीज अर्थात् काँजी के तलहटी में जमा हुआ पदार्थ, मुलेठी तथा तिलों को समभाग लेकर तथा पीसकर बनाया हुआ लेप लगाना चाहिए। इससे अर्शों का मूल मुलायम हो जाता है, तदनन्तर पुनः क्षार-प्रयोग करने से वह मस्सा नष्ट हो जाता है। उस घाव को भरने के लिए तिल तथा मुलेठी को पीसकर घी में मिलाकर बनाया हुला लेप लगाना चाहिए॥ ३३॥

पक्वजम्ब्वसितं सन्नं सम्यग्दग्धं—

सम्यग्दग्ध के लक्षण—भलीभाँति क्षार द्वारा जले हुए के लक्षण—क्षार द्वारा जला हुआ स्थान पके हुए जामुन के समान काला दिखलाई देता है और वह स्थान कुछ दब जाता है।

—विपर्यये॥ ३४॥

ताम्रतातोदकण्ड्वाद्यैर्दुर्दग्धं—

दुर्दग्ध के लक्षण—इसके लक्षण सम्यक् दग्ध के विपरीत होते हैं। यथा—उस व्रण के मुख में ताँबा की-सी लालिमा, चुभन, खुजली आदि लक्षण होते हैं॥ ३४॥

—तं पुनर्दहेत्।

पुनः क्षार-प्रयोग—उस दुर्दग्ध व्रण को पुनः जलाना चाहिए, जिससे वह सम्यग्दग्ध हो जाय।

अतिदग्धे स्रवेद्रक्तं मूर्च्छादाहज्वरादयः॥ ३५॥

अतिदग्ध के लक्षण—अतिदग्ध व्रण में से रक्तस्राव होता है, मूर्च्छा, दाह तथा ज्वर आदि शब्द से पाक, राग, पिपासा, मृत्यु आदि लक्षण होते हैं॥ ३५॥

गुदे विशेषाद्विण्मूत्रसंरोधोऽतिप्रवर्तनम्। पुंस्त्वोपघातो मृत्युर्वा गुदस्य शातनाद्ध्रुवम्॥ ३६॥

अतिदग्ध गुद के लक्षण—विशेष करके गुदप्रदेश के अतिदग्ध हो जाने पर (गुदमार्ग के सिकुड़ जाने से) मल-मूत्र के निकलने में रुकावट अथवा चौड़ा हो जाने से मल-मूत्र का निकलते रहना, नपुंसकता तथा गुदभाग के कट जाने से मृत्यु भी हो जाती है॥ ३६॥

नासायां नासिकावंशदरणाकुञ्चनोद्भवः। भवेच्च विषयाज्ञानं—

अतिदग्ध नासा के लक्षण—नासिका में क्षारकर्म करते समय यदि वह अधिक जल जाती है, तो नासावंश फट जाता है अथवा सिकुड़ जाता है और उसे सुगन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान नहीं होता।

—तद्वच्छ्रोत्रादिकेष्वपि॥ ३७॥

श्रोत्रादि दग्ध के लक्षण—इसी प्रकार कान, नासिका तथा जीभ पर अतिदग्ध हो जाने से शब्द, रूप एवं रस (उन-उन के विषयों) का ज्ञान नष्ट हो जाता है॥ ३७॥

विशेषादत्र सेकोऽम्लैर्लेपो मधु घृतं तिलाः। वातपित्तहरा चेष्टा सर्वैव शिशिरा क्रिया॥ ३८॥
अम्लो हि शीतः स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसंहितः। यात्याशु स्वादुतां तस्मादम्लैर्निर्वापयेत्तराम्॥ ३९॥

क्षार का शमनकर्म—अतिदग्ध हो जाने पर प्रमुख रूप से अम्लद्रवों (काँजी तथा मस्तु आदि) से सेचन करना चाहिए, तिलों को पीसकर मधु-घृत में मिलाकर इसका लेप करें। साथ ही वात एवं पित्त नाशक चिकित्सा और सभी शीतल उपचारों का प्रयोग करें। निश्चय ही अम्लरस स्पर्श में शीतल होता है और क्षार इसके साथ मिलकर मधुरता को प्राप्त हो जाता है, इसलिए क्षार-प्रयोग से हुई जलन की शान्ति अम्लपेय पदार्थों के प्रयोग से करनी ही चाहिए॥ ३८-३९॥

वक्तव्य—यही कारण है कि लू लगने पर भी ये अम्लरस के पेय लाभदायक होते हैं। वृद्धवाग्भट ने तीक्ष्ण अम्लों (तेजाब आदि) के सेवन का निषेध किया है। देखें—अ.सं.सू. ३९।१५-१९।

(विषाग्निशस्त्राशनिमृत्युतुल्यः क्षारो भवेदल्पमतिप्रयुक्तः।
स धीमता सम्यगनुप्रयुक्तो रोगान्निहन्यादचिरेण घोरान्॥ १॥)

(क्षारप्रयोग से हानि-लाभ—अयोग्य चिकित्सक द्वारा प्रयोग किया गया क्षार विष, अग्नि, शस्त्र, वज्र तथा मृत्यु के समान कष्टकारक होता है। वही योग्य चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त भयावह रोगों को शीघ्र ही शान्त कर देता है॥ १॥

वक्तव्य—यह पद्य अविकल रूप में सुश्रुत से लिया गया है। देखें—सु.सू. ११।३१।

अग्निः क्षारादपि श्रेष्ठस्तद्दग्धानामसम्भवात्। भेषजक्षारशस्त्रैश्च न सिद्धानां प्रसाधनात्॥ ४०॥

अग्निकर्म की प्रधानता—अग्निकर्म क्षारकर्म से भी उत्तम माना जाता है, क्योंकि अग्नि द्वारा दागे गये अर्श आदि रोग फिर कभी उभरते नहीं हैं और जो रोग औषध-प्रयोग, क्षारकर्म तथा शस्त्रकर्म करने पर भी सिद्ध नहीं होते अर्थात् जिनमें पूर्ण सफलता नहीं मिलती, उनमें अग्निकर्म से पूर्ण सफलता मिल जाती है॥ ४०॥

वक्तव्य—वास्तव में यह अग्निकर्म, जिसे सामान्य भाषा में दागना कहते हैं, की प्रशंसा है। अपवाद सभी प्रकार की चिकित्सा में देखे जाते हैं, तथापि प्रसंगवश प्रशंसा अथवा निन्दा की जाती है। सभी चिकित्साओं का 'सम्यक् योग' प्रशंसनीय होता है, यह ध्यान रखना चाहिए। देखें—सु.सू. १२।३।

त्वचि मांसे सिरास्नायुसन्ध्यस्थिषु स युज्यते।

अग्निकर्म का प्रयोग—अग्निकर्म (दागना) त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि तथा अस्थि में किया जाता है।

मषाङ्गग्लानिमूर्धार्तिमन्थकीलतिलादिषु ॥ ४१॥
त्वग्दाहो वर्तिगोदन्तसूर्यकान्तशरादिभिः।

त्वचारोगों में अग्निकर्म—मष (मषक या मस्सा), अंगग्लानि (शरीर के किसी अवयव-विशेष का शोष), शिरोरोग, मन्थ (अधिमन्थ, चर्मकील तथा तिल आदि (व्यंग)) में त्वचा का दाह इन द्रव्यों द्वारा किया जाता है—वर्ति (रुई या कपड़ा की बत्ती), गाय के दाँत, सूर्यकान्तमणि (आतशी शीशा या स्फटिक) अथवा शर (लोहे की शलाका); आदि शब्द से पिप्पली, बकरी की मेंगन से करना चाहिए॥ ४१॥

अर्शोभगन्दरग्रन्थिनाडीदुष्टव्रणादिषु ॥ ४२॥
मांसदाहो मधुस्नेहजाम्बवौष्ठगुडादिभिः।

मांसरोगों में अग्निकर्म—अर्श (बवासीर के मस्से), भगन्दर, ग्रन्थिरोग, नाड़ीव्रण, दुष्ट व्रण; आदि शब्द से अर्बुद, गण्डमाला का ग्रहण कर लेना चाहिए। इनमें मांस का दाह मधु से, स्नेहद्रव्यों से, जाम्बवौष्ठ यन्त्र-विशेष से (देखें—अ.हृ.सू. २५।२६) तथा गुड़ से अथवा जिस देश-विशेष में जिस पदार्थ से दाह किया जाता हो, उससे भी दाह करें॥ ४२॥

श्लिष्टवर्त्मन्यसृक्स्रावनीलयसम्यग्व्यधादिषु॥ ४३॥
सिरादिदाहस्तैरेव—

सिरादि रोगों में अग्निकर्म—श्लिष्टवर्त्म (नेत्ररोग-विशेष, देखें—अ.हृ.उ. ८।१७), रक्तस्राव, नीली तथा सिरा का अनुचित वेध हो जाने पर सिरा, आदि शब्द से स्नायु, सन्धि, अस्थि, दन्तनाड़ी, उपपक्ष्मक, लगण का दाह, उन्हीं मांसदाह में कहे गये मधुस्नेह, जाम्बवौष्ठ यन्त्र और गुड से करना चाहिए॥ ४३॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने **'श्लिष्टवर्त्म'** को 'अक्लिन्नवर्त्म' कहा है। देखें—सु.उ. ३।२२। मधुकोशकार ने इसी को **'पिल्ल'** रोग कहा है। आचार्य विदेह ने भी इसे **'पिल्ल'** रोग कहा है। आधुनिक ग्रन्थों में इसके दो भेद देखे जाते हैं—१. वर्त्मशोथ (Oedema of lid) और २. वर्त्मान्तिशोथ (blepheritis)। श्रीवाग्भट ने 'नीली' शब्द का प्रयोग किया है, इसके पूर्व किसी टीकाकार ने इसका अर्थ नहीं लिखा। वृद्धवाग्भट ने इस शब्द के स्थान पर **'लिंगनाश'** शब्द का प्रयोग किया है। देखें—अ.सं.सू. ४०।३। सुश्रुत ने **लिंगनाश** के पर्याय के रूप में **नीलिका** शब्द का प्रयोग किया है, अतः 'नीली' तथा 'लिंगनाश' एक ही रोग हैं। देखें—सु.उ. ७।१८। सुश्रुतोक्त दहनोपकरण—सु.सू. १२।४।

—न दहेत्क्षारवारितान्। अन्तःशल्यासृजो भिन्नकोष्ठान् भूरिव्रणातुरान्॥ ४४॥

अग्निकर्म का निषेध—इसी अध्याय के ४ से ७ श्लोक तक जिन्हें क्षारप्रयोग का निषेध किया गया है, उन रोगियों में अग्निकर्म भी नहीं करना चाहिए। यथा—जिनके शरीर में शल्य का प्रवेश हुआ हो, कोष्ठ में रक्त भरा हो अथवा जिनका कोष्ठ फट गया हो तथा जो व्रणों से अधिक पीड़ित हों॥ ४४॥

सुदग्धं घृतमध्वक्तं स्निग्धशीतैः प्रदेहयेत्।

सम्यग्दग्ध का पश्चात्कर्म—भलीभाँति अग्निकर्म के हो जाने पर उस स्थान पर मुलेठी आदि स्निग्ध एवं शीतवीर्य द्रव्यों के चूर्ण को मधु-घृत में मिलाकर इसका मोटा लेप लगा दें।

तस्य लिङ्गं स्थिते रक्ते शब्दवल्लसिकान्वितम्॥ ४५॥
पक्वतालकपोताभं सुरोहं नातिवेदनम्।

सम्यग्दग्ध का लक्षण—सिरावेध आदि द्वारा किये गये रक्तस्राव का भलीभाँति रुक जाना, अग्निकर्म करते समय त्वचादाह के समान शब्द का सुनायी पड़ना, लसीका युक्त स्राव का होना, पके हुए तालफल के सदृश, कभी कबूतर के जैसे वर्ण वाला और जिसमें अधिक वेदना न हो ऐसा दग्धस्थान जल्दी भर जाता है॥ ४५॥

प्रमाददग्धवत्सर्वं दुर्दग्धात्यर्थदग्धयोः॥ ४६॥

दुर्दग्ध तथा अतिदग्ध के लक्षण—इन दोनों में प्रमाद (असावधानी) से जल जाने के समान सभी लक्षण प्रायः देखे जाते हैं। देखें—आगे श्लोक ४८॥ ४६॥

चतुर्धा तत्तु तुच्छेन सह—

अग्निदग्ध के भेद—अग्निदग्ध के निम्नलिखित चार भेद होते हैं—१. तुच्छ या तुत्थ दग्ध, २. दुर्दग्ध, ३. अतिदग्ध तथा ४. सुदग्ध अथवा सम्यग्दग्ध।

—तुच्छस्य लक्षणम्। त्वग्विवर्णोष्यतेऽत्यर्थं न च स्फोटसमुद्भवः॥ ४७॥

तुच्छ दग्ध के लक्षण—इसमें त्वचा झुलस जाती है तथा अत्यन्त दाह होता है, किन्तु इसमें फफोले नहीं होते। ये सामान्य दग्ध के लक्षण होते हैं॥ ४७॥

सस्फोटदाहतीव्रोषं दुर्दग्धम्—

दुर्दग्ध के लक्षण—इस प्रकार से जलने पर दग्धस्थान पर फफोले पड़ जाते हैं, दाह युक्त स्थान पर अत्यन्त तीव्र पीड़ा होती है। इन लक्षणों वाले दाह को दुर्दग्ध कहते हैं।

—अतिदाहतः। मांसलम्बनसङ्कोचदाहधूपनवेदनाः॥ ४८॥
सिरादिनाशस्तृण्मूर्च्छाव्रणगाम्भीर्यमृत्यवः ।

अतिदग्ध के लक्षण—अधिक जल जाने पर मांस के लोथड़े लटक जाते हैं, जले हुए स्थान पर मांस सिकुड़ जाता है, दाह (जलन), धुँआ-सा निकलने की प्रतीति होना, अनेक प्रकार की पीड़ा का होना, सिरा, स्नायु आदि का नाश, प्यास लगना, मूर्च्छा का आना, गहरे व्रणों (घावों) की उत्पत्ति तथा मृत्यु हो जाती है॥ ४८॥

वक्तव्य—दुर्दग्ध या अतिदग्ध ये दोनों ही भेद व्यक्ति के प्रमाद से अथवा दुर्भाग्य से होते हैं। सुश्रुत ने भी इसके चार भेद माने हैं—१. प्लुष्ट (तुच्छदग्ध), २. दुर्दग्ध, ३. सम्यग्दग्ध तथा ४. अतिदग्ध। देखें—सू.सू. १२।१६। इसके आगे कुछ दग्धों का और वर्णन किया है—१. उष्णवातातपदग्ध, २. शीतवर्षानिलदग्ध तथा ३. इन्द्रवज्राग्निदग्ध। देखें—सु.सू. १२।३८-३९।

तुच्छस्याग्निप्रतपनं कार्यमुष्णं च भेषजम्॥ ४९॥
स्त्यानेऽस्रे वेदनाऽत्यर्थं विलीने मन्दता रुजः।

अग्निदग्ध की चिकित्सा—तुच्छदग्ध में जले हुए शरीरावयव को पुनः आग से सेंकना चाहिए, उस पर लगाने वाला मलहम, लेप आदि भी गरम ही लगाना चाहिए। क्योंकि तुच्छदग्ध स्थान पर शीत चिकित्सा करने पर उस अवयव का रक्त गाढ़ा हो जाता है और पीड़ा अधिक होने लगती है तथा उष्ण चिकित्सा करने पर रक्त के पिघलने के कारण वेदना कम हो जाती है॥ ४९॥

दुर्दग्धे शीतमुष्णं च युञ्ज्यादादौ ततो हिमम्॥ ५०॥

दुर्दग्ध की चिकित्सा—दुर्दग्ध में सर्वप्रथम शीतल चिकित्सा करनी चाहिए, उसके बाद फिर उष्ण चिकित्सा करे। दोनों प्रकार की चिकित्सा कर लेने के बाद शतधौतघृत का लेप करे, फिर शीतल द्रवों द्वारा परिसेचन करना चाहिए॥ ५०॥

सम्यग्दग्धे तवक्षीरिप्लक्षचन्दनगैरिकैः। लिम्पेत्साज्यामृतैरूर्ध्वं पित्तविद्रधिवत्क्रिया॥ ५१॥

सम्यग्दग्ध-चिकित्सा—सम्यग्दग्ध में तवक्षीरी (संगजराहत, तोखाखीर), प्लक्ष (पिल्खन) की छाल, लालचन्दन, गेरू एवं गिलोय के चूर्ण को घी में मिलाकर उस पर लेप करें। यदि इससे लाभ न हो तो पित्तविद्रधि की भाँति इसकी चिकित्सा करनी चाहिए॥ ५१॥

वक्तव्य—तुगाक्षीरी = वंशलोचन है और तवक्षीरी = तोखाखीर या संगजराहत पार्थिव द्रव्य है। देखें—भावप्रकाश प्र.खं. हरीतक्यादि वर्ग ११५-११७। तवक्षीरी, देखें—रा.नि.; वै.नि.।

अतिदग्धे द्रुतं कुर्यात्सर्वं पित्तविसर्पवत्।

अतिदग्ध-चिकित्सा—अतिदग्ध में शीघ्र ही पित्तज विसर्प के समान लेप, शीतल द्रव्यों का सिंचन, शीतल पेयों का सेवन आदि चिकित्सा करनी चाहिए।

स्नेहदग्धे भृशतरं रूक्षं तत्र तु योजयेत्॥ ५२॥

स्नेहदग्ध-चिकित्सा—घी-तेल आदि स्नेहों से जल जाने पर सभी रूक्ष चिकित्सा करनी चाहिए॥ ५२॥

(शस्त्रक्षाराग्नयो यस्मान्मृत्योः परममायुधम्। अप्रमत्तो भिषक् तस्मात्तान् सम्यगवचारयेत्॥)

(**शस्त्र आदि का प्रयोग**—शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म ये मृत्यु के प्रधान आयुध (शस्त्र) हैं अर्थात् इनका समुचित प्रयोग न होने से मृत्यु हो सकती है। अतः इन सबका प्रयोग अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए।)

वक्तव्य—उक्त पद्य अ.सं.सू. ४०।१५ से यहाँ लिया गया है। सुश्रुत ने अग्निकर्म के अन्त में 'धूमोपहत' के लक्षण दिये हैं। चिकित्साकाल में इसकी भी आवश्यकता पड़ सकती है, अतः इस प्रसंग को 'अत ऊर्ध्वं····कल्पयेत्' तक का अवलोकन कर लें। (सु.सू. १२।२९-३७)

समाप्यते स्थानमिदं हृदयस्य रहस्यवत्।

इस अष्टांगहृदय नामक ग्रन्थ का यह सूत्रस्थान हृदय के समान चिकित्सा के गूढ़ रहस्यों का संग्रह है, यहाँ अब इसे समाप्त किया जा रहा है।

अत्रार्थाः सूत्रिताः सूक्ष्माः प्रतन्यन्ते हि सर्वतः ॥ ५३ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां प्रथमे सूत्रस्थाने क्षाराग्निकर्मविधिर्नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

॥ समाप्तं चेदं प्रथमं सूत्रस्थानम् ॥

विविध सूत्रों का वर्णन—इस सूत्रस्थान में चिकित्सा के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विषयों को सूत्रित किया गया है अर्थात् एक धागा में पिरोया गया है। आगे उन्हीं अर्थों (विषयों) का सम्पूर्ण ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायेगा॥ ५३ ॥

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने भी 'सूत्रस्थान' नाम की सार्थकता को इस श्लोक द्वारा स्पष्ट किया है—'सूचनात् सूत्रणाच्चैव सवनाच्चार्थसन्ततेः। ····सूत्रस्थानं प्रचक्षते'॥ (सु.सू. ३।१२) अर्थात् अर्थों को सूचित करने से, अर्थों का यथास्थान सन्निवेश करने से और अर्थसमूह को उत्पन्न करने से इस स्थान को सूत्रस्थान कहते हैं।

इस प्रकार वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** द्वारा विरचित **निर्मला** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से विभूषित अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान में क्षाराग्निकर्मविधि नामक तीसवाँ अध्याय समाप्त॥ ३० ॥

यह प्रथम सूत्रस्थान समाप्त हुआ।

श्लोकानुक्रमणिका

सूत्रस्थानम्

चरकसंहिता

'वैद्यमनोरमा' हिन्दी व्याख्या विशेषवक्तव्यादि संवलित

व्याख्याकार-द्वय

आचार्य विद्याधर शुक्ल	प्रो. रविदत्त त्रिपाठी
अवकाश-प्राप्त रीडर : चरकसंहिता	प्रधानाचार्य एवं अधीक्षक
राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय	राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	मुजफ्फरनगर

आयुर्वेदीय चिकित्सा वाङ्मय में चरकसंहिता विश्वकोष के समान चिकित्सा-विधियों का एक आकर ग्रन्थ है। आयुर्वेद की समस्त प्रतिष्ठा का श्रेय इस एक ग्रन्थरत्न को ही है, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। विज्ञजन चिकित्सक के लिए 'चरकसंहिता' में वर्णित चिकित्सा के व्यावहारिक ज्ञान का होना नितान्त आवश्यक मानते हैं—

सुश्रुते सुश्रुतो नैव वाग्भटे नैव वाग्भटः ।
चरके चतुरो नैव चिकित्सां कां करिष्यति? ।।

इस ग्रन्थ की विद्वज्जनसमादृत टीकाओं में सम्प्रति संस्कृत में जेज्जट, चक्रपाणि, योगीन्द्रनाथ सेन, गंगाधर राय; हिन्दी में जामनगर प्रकाशन, काशीनाथ पाण्डेय व गोरखनाथ चतुर्वेदी तथा ब्रह्मानन्द त्रिपाठी; अंग्रेजी में आचार्य प्रियव्रत शर्मा, रामकरण शर्मा एवं भगवानदास कृत टीका—ये प्रसिद्ध हैं। इसमें कुछ की टीका सम्पूर्ण और कुछ अपूर्ण हैं। इन टीकाकारों ने ग्रन्थ के अभिप्राय के साथ ही अपने विचारों की भी अभिव्यक्ति की है।

वर्तमान काल में आयुर्वेद के अध्येता छात्र संस्कृत के मूलपाठ या संस्कृत टीका के अध्ययन में कठिनाइयों का अनुभव करते हैं। संस्कृत भाषा के अपेक्षित ज्ञान के अभाव में संस्कृत टीकाओं के माध्यम से ग्रन्थ की विषयवस्तु का ज्ञान अर्जित करना उनके लिए असम्भव है।

अद्यावधि उपलब्ध हिन्दी टीकाओं में मूल का अनुवाद करने में टीकाकारों द्वारा जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, उसमें विषय की स्पष्ट अभिव्यक्ति, उचित शब्द-विन्यास, प्रवाह और भाषासौष्ठव का समुचित सामञ्जस्य न बन पाने के कारण इस ग्रन्थ के पढ़ने तथा विषय को ग्रहण करने में नीरसता एवं अन्यमनस्कता की स्थिति हो जाती है। इसलिए समय की पुकार, छात्रों की रुझान और उपयोगिता के विचार-मन्थन से यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि 'चरकसंहिता' की एक ऐसी हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की जाय, जिसमें रमणीयता हो, सरसता हो, सुगम-सुबोध प्रचलित शब्दों का प्रयोग एवं भाषा परिमार्जित हो, चार्ट और सारणी के द्वारा विषयों का स्पष्टीकरण हो, मूल संस्कृत के अभिप्राय को स्पष्टतया व्यक्त किया गया हो और ग्रन्थ के पढ़ने में अध्येता की रुचि का संवर्धन हो तथा जिसके पढ़ने में मन की संलग्नता हो। अस्तु, इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर यह 'वैद्यमनोरमा' नाम की हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है, जिसके अध्येता स्वयमेव इसकी सार्थकता का अनुभव करेंगे।

इस कायचिकित्सा-प्रधान ग्रन्थ की समस्त विशेषता प्रत्येक रोग की चिकित्सा-प्रक्रिया के वर्णन में निहित है। कहीं-कहीं लम्बे अध्याय हैं और उन सम्पूर्ण अध्यायों में कहे गये विषयों को हृदयङ्गम कर पाना कठिन होता है, इसलिए इस व्याख्या में सम्पूर्ण अध्याय के विषयों को सरलतापूर्वक मन में बैठा लेने की दृष्टि से प्रत्येक अध्याय के अन्त में संक्षिप्त सारांश दिया गया है। 'मान' के प्रकरण (चरक. कल्प. अ. १२) में प्राचीन मान के साथ आधुनिक मानों का तुलनात्मक विवरण भी दिया गया है। इस प्रकार यह 'वैद्यमनोरमा' व्याख्या प्रत्येक दृष्टि से अध्येताओं एवं जिज्ञासुओं के मन को आकृष्ट करेगी; और विशेषकर छात्रों की रुचि को जाग्रत् कर विषयवस्तु को सुगमतया बोध कराने में समर्थ होगी। हमें विश्वास है कि छात्रों को विषयबोध कराने और विद्वज्जनों को ऊहापोह का अवसर प्रदान करने में यह व्याख्या सर्वथा समर्थ होगी।

१-२ भाग सम्पूर्ण